राम ही राम !

सर्वेश्वर, सर्वातीत परात्परप्रभु श्री राम! आप की महिमा का हम पामर-जन क्या वर्णन कर सकते हैं ? आप के द्वारा प्रकाशित हमारे शब्द, बुद्धि, कर्मों में आप को जानने और कहने की शक्ति कहाँ ? क्योंकि इन सब कार्यों से, इन के कारणरूप आप बहुत ही बढ़े चढ़े हैं। एक छोटा सा घट अपनी कारणरूप पृथिवी के लाखों योजन विशाल और विचित्र गुण धर्मोवाले स्वरूप को कहाँ तक सूचित कर सकता है ? हम जो आप को सर्वान्तरात्मा, सर्वाध्यक्ष आदि कहते हैं, वह तो एक घड़े के द्वारा उस के लिए खोदी गई मिट्टी के गड्ढे को सूचित करने के समान अति स्वल्प है। हम तो केवल इतना भी जान पाये हैं या नहीं, कि आप वह परमतत्त्व हैं जिस से जगत् के सब पदाथ उत्पन्न होते, जिस में स्थित रहते और जिस में विलीन हो जाते हैं ? आप अनुभव में आनेवाले सभी आनन्दों के उद्गम हैं। आप अपने से उत्पन्न किये हुए सभी पदार्थों से कहीं अधिक सुन्दर और परिपूर्ण होने चाहिएं। क्योंकि कारण सदा अपने कार्य से अधिक पूर्ण, विशाल, विलक्षण होता है। अतः आप का स्वरूप सभी आधिभौतिक पदार्थों, मन, जीव, आत्मा आदि के स्वरूप से अधिक उत्कृष्ट होगा ही। आप ही सब के आत्मा और आप ही सव के अन्तिम आदर्श हैं। यह सब जगत् आप ब्रह्म का बृंहण या राम का रमणमात्र है। यहाँ आप के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं है। अब तो 'अणुस्फोटन' से यह सिद्ध भी हो गया कि 'द्रव्य शक्ति में परिणत' हो जाता है। फिर इस तरह दृश्य का बाध होने पर शक्ति के भी शासक आप की सत्ता के सिवा और जगत् में है ही क्या ? 'अन्तर्बहिश्च यत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' उन्हीं आप नारायण श्री राम के चरणपङ्कजों में हमारे कोटि-अनुकोटि प्रणाम समर्पित हों !

—क्षुद्रतम चञ्चरीक 'चिरञ्जीव'

श्री गोवर्द्धनभाई मङ्गलभाई पटेल द्वारा
गीताधर्म प्रेस, साक्षीविनायक, काशी में मुद्रित और प्रकाशित।

संस्थापक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास श्री १०८ जगद्गुरु
महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

वर्ष १२ } जनवरी-फरवरी, १९४७, काशी { अङ्क १-२

मङ्गलायतन राम !

श्री रामचन्द्र को आत्मरूप ही हम ने माना है भाई !
प्रतिपालक सर्वान्तर्यामी पूर्ण ब्रह्म और जलशायी ॥
श्री चरणों में नत होकर हम बारम्बार प्रणाम करें ।
अखिलेश्वर की अकथ कहानी सुनने को अब ध्यान धरें ॥
हे नाथ दयामय कृपा करो यह जीवन प्राण तुम्हारा है ।
तुम ही प्रियतम, आज हृदय में प्रियतम का प्रेम सँवारा है ॥
यह देह-अंश क्षणभंगुर भी पदधूलि परसने आया है ।
इन नयनों के नीलाम्बर में घनश्याम बरसने छाया है ॥

—श्री सुरेन्द्रनाथ 'विशारद'

निवेदन
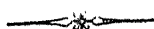
सच्चिदानन्द जगदीश्वर प्रभु की असीम कृपा से आज पाठकों की सेवा में हम 'गीताधर्म' के बारहवें वर्ष का विशेषांक 'श्री अध्यात्मरामायणांक' (तृतीय भाग) लेकर उपस्थित हो रहे हैं। विशाल 'गीतागौरवांक' प्रकाशन के बाद इस रामायण के प्रकाशन की उपयोगिता इस लिए समझी गई थी कि गीता के मुख्य सिद्धान्त भक्ति, ज्ञान (ब्रह्मविद्या) और भगवद्गुण कीर्तन का विशद विवेचन इस ग्रन्थ में है। एवं कथा प्रवचन आदि में श्रद्धालु जनता, संत महात्मा तथा हमारे पूज्य स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज भी इस का समाश्रयण करते रहते हैं। इस लिए सोचा गया था कि गीता के चिन्तन के साथ ही अध्यात्मरामायण का विचारण भी पाठकों को रुचिकर होगा, अतः 'गीतागौरव' की कथाप्रसंगशैली पर 'रामचर्चा' व्याख्यानों में प्रासंगिक विषयों का स्पष्टीकरण करते हुए कई खण्डों में इस रामायण के प्रकाशन का प्रयास किया गया। हमें प्रसन्नता है कि प्रभुकृपा से आज हमारा वह प्रयास पूर्ण हो गया और इस तीसरे भाग द्वारा पूर्ण की हुई अध्यात्मरामायण को हम पाठकों की सेवा में समर्पित कर रहे हैं।

विशेषांक को इस रूप में प्रकाशित करने का सुयोग इस प्रकार मिला कि इस की सामग्री भी पहले विशेषांकों की तरह श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास श्री १०८ जगद्गुरु महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज के इतस्ततः होनेवाले रामायणप्रवचनों से प्राप्त होती रही। स्वामीजी गीता और रामायण पर ही प्रायः कथा करते हैं। उन की कथा जनता को बड़ी ही रुचिकर एवं प्रबोध देनेवाली होती है, यह प्रसिद्ध ही है। लोगों को पुराने प्रवचनों में भी अनूठा रस मिलता है, विशेषता यह है कि इन के द्वारा ऊँचे अध्यात्मविषयों का अध्ययन भी बातों ही बातों में हो जाता है। स्वामीजी के लोकप्रिय प्रवचनों की ओर जनता की उत्कण्ठा देखकर अनेकों लोग उन का संकलन कर लेते हैं और किसी अंश की पूर्ति स्वामीजी महाराज से फिर भी करा लेते हैं। गीतासंबन्धी ऐसे प्रवचनों का संग्रह 'गीतागौरवाङ्क' के रूप में प्रकाशित हो चुका था और अब इस विशेषांक से अध्यात्मरामायण के प्रवचनों की भी पूर्ति हो गई है।

'रामचर्चा' भाष्य के प्रवचनकर्ता

श्रीमत् प० प० न० स्वे० मं० सीतारामाय जगद्गुरु महामण्डलेश्वर

पहले के भागों में लोकप्रसिद्ध चरित्रकथाओं पर 'रामचर्चा' न रखते हुए अध्यात्मभाववाले उपयोगी प्रसंगों पर ही उसे रखा गया था। यदि सभी स्थलों पर 'रामचर्चा' रखी जाती तो उस के लिए स्थान, और आजकल कागज आदि मिलना असंभव था। इतना चुनाव करने पर भी ग्रन्थ की कलेवरवृद्धि काफी हो गई। इस तीसरे खण्ड में (जो इसी वर्ष पूरा करना था) तो श्लोकसंख्या ही पूर्वापेक्षया बहुत अधिक थी, अतः कागजनियन्त्रण के कारण रामचर्चा में भी काफी कमी करनी पडी। और भी, इस ग्रन्थ में अध्यात्मप्रसंग या भक्तों की मनोभावनाओं को अविचल, पुष्ट करने के लिए बारंबार प्रायः एक से ही विचार आवृत्त हुए हैं। और पूर्व स्थलों पर उन में रामचर्चा कई बार आ चुकी है, फिर उन्हीं बातों को बार बार प्रकाशित करने से पिष्टपेषण सा ही होता। इस लिए कहीं कहीं रामचरित्र की चर्चा और कहीं अध्यात्मभाव की चर्चा; अवकाश का ध्यान रखते हुए दोनों ही इस भाग में परिमित रखे गये हैं।

मुद्रणसंबन्धी सामग्री की अकथनीय मूल्यवृद्धि, तिस पर भी दुर्लभता के युग में ऐसा सजिल्द सचित्र रंगबिरंगा विशेषांक निकालना हमारे लिए बहुत कठिन है। फिर भी प्रभुकृपा के बल पर धनहानि सहकर भी यह साहसभरा काम प्रभुप्रेमियों को अर्पण किया गया है। इस में हमें पूज्य स्वामीजी महाराज के कमण्डल की आकस्मिक सहायता और निष्कामप्रेमी अपने गीताधर्मसहायक तथा शाखासंचालक महानुभावों का भरोसा तो है ही, क्योंकि देश विदेश, अफ्रीका आदि के ये सज्जन स्वार्थत्याग कर नये ग्राहक बनाने और प्रचार करने में गीताधर्म की अथक सेवा करते हैं। आशा है इसे प्रभु की ही सेवा मानकर ये सज्जन ऐसे ही तत्पर रहेंगे। हम इन के प्रति धन्यवाद ज्ञापन करते हुए प्रभु से उक्त महानुभावों के लिए आरोग्य, सुख, सद्भाव की कामना करते हैं।

जिन निकटवर्ती सहयोगियों के द्वारा हम विशेषांक पूरा करने में समर्थ हुए, लोकाचार के लिए उन का आभार मानना ही चाहिए। ऐसे पहले महानुभाव 'भोलानाथ दत्त एंड संस' नामक कलकत्ता के कागजव्यवसायी हैं, जिन की बनारसशाखा की सहृदयतापूर्ण तत्परता से हमें कठिन समय में भी सुभीते से सामान मिलता रहा है। 'गीताधर्म' पर इस कृपा के बदले प्रभु इन्हें सुख समृद्धि प्रदान करेंगे। अब के भूमिका लिखने के लिए हमें काशी विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध दर्शनाध्यापक डॉक्टर भी० ला० आत्रेय महोदय का अनुग्रह प्राप्त हुआ। आप ने नाजुक वातावरण में अपने महत्त्व के कार्यों से समय निकालकर भूमिका के रूप में एक गंभीर निबन्ध

इस रामायण पर लिख दिया, जिस के लिए हम आप के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए आप जैसे प्रकाण्ड पण्डित की सेवा में धन्यवाद प्रदान ही कर सकते हैं।

साथ ही श्रीमान् पण्डित चिरंजीवलाल शास्त्री, व्रजवासी 'गीताधर्मसंपादक' भी हमारे धन्यवाद भाजन हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम तत्परता के साथ हिंदीभाषा में इन विशेषांकों को प्रस्तुत किया है। एवं ज्ञानवयोवृद्ध, हरिगुरुभक्तिपरायण श्रीमान् मणिभाई जसभाई देसाईजी ने प्रवासादि का कष्ट स्वीकार करके भी इस को गुजराती भाषा में भावानुवाद करने की जो अमूल्य सेवा की है, उन के हम अत्यन्त आभारी हैं। इसी तरह संपादनविभाग के श्री विश्वनाथ शास्त्रीजी आदि, प्रेसविभाग के सभी (संयोजक, मुद्रक, बन्धक) कर्मचारियों का भी हम आभार मानते हैं, जिन्होंने शक्ति-अतीत श्रम करके इस प्रभु की सेवा में हाथ बँटाया है। गीताधर्म की सेवा प्रभु की ही सेवा है। अन्त में सब के लिए यही चाहना है कि गीताधर्मसेवियों को प्रभु सुख, समृद्धि, यश और सद्बुद्धि प्रदान कर स्वयं पुरस्कृत करें। यही शुभकामना हम अपने निष्काम प्रेमी संचालक, सहायक, अनुग्राहक, पाठक सभी के प्रति प्रकट करते हैं।

निवेदक—

गीताजयन्ती
सं० २००३

प्रकाशक—
गीताधर्मकार्यालय, काशी।

भूमिका

[श्री अध्यात्मरामायण और उसके दार्शनिक सिद्धान्त]

(ले०—दर्शनाचार्य डॉ० भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट्०,
अध्यापक, दर्शन और मनोविज्ञान, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय)

संस्कृत साहित्य में श्री अध्यात्मरामायण एक सुन्दर और आदरणीय ग्रन्थ है। इस में बहुत सरल, सरस और सुन्दर भाषा में मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रजी का जीवनवृत्तान्त एक अपूर्व रीति से वर्णित है, जिस का आदिकवि श्री वाल्मीकिजी की रामायण में अभाव है। कलिसंतारक प्रसिद्ध महाकवि तुलसीदासजी ने अपने अमर और अमृतोपम काव्य 'श्री रामचरितमानस' में प्रायः इसी ग्रन्थ का अनुसरण किया है। श्री अध्यात्मरामायण और श्री रामचरित्रमानस इन दो ग्रन्थों के प्रचार के फलस्वरूप आज भारतवर्ष के कोने कोने में श्री वाल्मीकिजी के आदर्शपुरुष रामचन्द्र को भगवान् का पूर्ण अवतार मानकर, उन की भक्ति से उच्च से उच्च गति को प्राप्त कर लेने की आशा में अनेक स्त्री पुरुष अपना जीवन सन्तोष और शान्तिपूर्वक बिता रहे हैं।

अध्यात्मरामायण केवल एक चरित्रचित्रक काव्य ही नहीं है। न इस में केवल भगवान् राम को परब्रह्म परमात्मा का पूर्ण अवतार होना सिद्ध करके उन की भक्ति का ही उपदेश दिया गया है। बल्कि, जैसा कि इस ग्रन्थ के नाम से ही व्यक्त है, इस में उच्चतम आध्यात्मिक रहस्यों का भी उद्घाटन किया गया है। स्थल स्थल पर संवादों और उपदेशों के द्वारा इस ग्रन्थ में इस देश में प्रचलित आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, जिस से यह ग्रन्थ केवल भगवद्भक्तों को ही नहीं, वरन ज्ञानियों को भी प्रिय हो गया है। प्रस्थानत्रय के सार, श्री शंकराचार्य द्वारा प्रदिपादित तथा प्रचारित, मायावादी अद्वैतवेदान्त को इस महान् ग्रन्थ ने अपूर्व रीति से भक्तिरस में पागकर अत्यन्त मधुर और स्वादिष्ट बना दिया है। श्री कृष्णभक्तों के लिए जितना श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध प्रिय है, उतना ही श्रीरामभक्तों के लिए यह ग्रन्थ है। जिस प्रकार महाभारतान्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीता में भारत

के उच्चतम दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, उसी प्रकार अध्यात्म-रामायण के अन्तर्गत रामहृदय और रामगीता नामक अंशों में उच्चतम दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ को अपनी जीवननौका बनानेवाला व्यक्ति—स्त्री अथवा पुरुष, ब्राह्मण अथवा शूद्र, गृहस्थ अथवा यति, बालक अथवा वृद्ध—परमात्मा के साथ अनन्य भाव प्राप्त करके भगवत्प्रेमरूपी परमानन्ददायक अमृत का पान करते हुए निष्काम कर्म द्वारा भवसागर से सहज में ही पार हो जाता है। आज भी इस ग्रन्थ का उतना ही महत्त्व है जितना कि उस समय में रहा होगा जब पुस्तकों की इतनी अधिक प्रचुरता नहीं थी जितनी आजकल हो गई है।

यह ग्रन्थ कब लिखा गया और किस ने लिखा होगा, ये प्रश्न किसी दृष्टि से कितने ही महत्त्व के क्यों न हों, जनसाधारण और सारग्राही व्यक्तियों के लिए इन का कुछ महत्त्व नहीं। दार्शनिक तथ्यों का जन्म किसी समयविशेष और व्यक्ति-विशेष के मन में होने पर भी वे सनातन हैं। केवल नाम और रूप के भेद से वेही दार्शनिक तथ्य प्रायः सभी देशों और कालों में पाये जाते हैं; कहीं संकेत मात्र से और कहीं विशद रूप में। आजकल पाश्चात्य देशों में जो ऊँचे से ऊँचे दार्शनिक सिद्धान्त नवीन से नवीन रूप लेकर हम लोगों के सामने प्रकट हो रहे हैं, उन को हम भारतवर्ष में पुराने से पुराने समय में प्रचलित देखते हैं।* हमारे पूर्वजों ने, जिनके ग्रन्थलेखनपरिश्रम के हम अत्यन्त ऋणी हैं, अपने व्यक्तित्व को कोई महत्त्व न देकर सिद्धान्तों का प्रतिपादन और प्रचार किया था। वे भली भाँति जानते थे कि नाम और रूप देश और काल से सम्बन्ध रखते हैं; अतएव वे सार्वभौम और सर्वकालीन नहीं हो सकते। सिद्धान्त ही सब देशों और सब समयों में जीवित रह सकते हैं। यह समझकर ही उन्होंने अपने ग्रन्थों में अपना नाम तक नहीं दिया, अपने देश और समय का भी संकेत नहीं किया। यही कारण है कि आज देशकालप्रिय और नामरूपलोलुप विद्वानों के लिए संस्कृत ग्रन्थों के लेखकों के नाम, देश और काल का ठीक ठीक पता लगाना बहुत कठिन हो रहा है। आज तक किसी भी प्राचीन महान् ग्रन्थ के सम्बन्ध में इन विषयों पर विद्वानों का मतैक्य नहीं हो पाया। अतएव हम यहाँ पर इस प्रश्न को नहीं उठाना चाहते कि श्री अध्यात्मरामायण का कौन लेखक था और उस ने कब और कहाँ यह ग्रन्थ लिखा होगा। पाश्चात्य जगत् के एक आधुनिक महान् साहित्यिक लेखक

---

* B. L. Atreya: *Yogavasistha Aad Modern Thought* Indian Bookshop, Benares.

आल्डस हक्सले ने कुछ सिद्धान्तों को "पेरिनियल फिलासोफी" अर्थात् सनातन सिद्धान्तों के नाम से पुकारा है। ‡ ये वे अमर सिद्धान्त हैं जो सभी देशों और सभी कालों में ऊँचे से ऊँचे और गहरे से गहरे विचारवाले व्यक्तियों को मान्य होते हैं। भारत के संस्कृतसाहित्य में प्राचीनकाल के वेद, उपनिषद्, महाभारत और योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों में उन का प्रतिपादन पाया जाता है। मध्यकालीन श्री शंकराचार्य ने भी उन का प्रचार किया है। आधुनिक युग में सत्पुरुष कबीर, गुरु नानक और महाकवि तुलसीदासजी आदि ने हिन्दी भाषा में उन को पुनर्जन्म दिया है। उन्हीं सिद्धान्तों को वर्तमानकाल में स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी जैसे महान् व्यक्तियों ने आज कल की दुनिया के सामने प्रकट किया है। इन्हीं सिद्धान्तों की झलक पाश्चात्य दार्शनिकों और लेखकों; प्लेटो, प्लॉटीनस, एवकहार्ट, वर्कले, काण्ट, हेगल, फिक्टे, शोपेनहावर, ब्रेडले, एमरसन और जेम्स एलन आदि के ग्रन्थों में पाई जाती है। ‡‡

इन सनातन (Perennial) दार्शनिक सिद्धान्तों के विशद विवेचन का यहाँ पर अवसर नहीं है और न इस की आवश्यकता ही है, क्योंकि ये सब सिद्धान्त अब भी प्रत्येक हिन्दू की नाडियों में रक्त की नाईं भरे हुए हैं। कुछ समय पहिले तो हिन्दू माताएँ इन सिद्धान्तों को स्तनपान कराते समय ही अपने शिशुओं को पिला दिया करती थीं और मदालसा की भाँति " शुद्धोऽसि बुद्धोसि निरञ्जनोऽसि " आदि की लोरियाँ सुनाकर उन को सुलाया करती थीं ; ठीक उसी रीति से जिसप्रकार आजकल के मानलिक उपचारक सोने से पहले स्वास्थ्य के भावों (sugegstion) की लोरियाँ देते हैं। पाश्चात्य भौतिक वैभव की चकाचोंध के कारण हमारे युवक और युवतियाँ इन सनातन तथ्यों को नहीं देख रहे हैं, अतएव अब समय आ गया है कि फिर इन का प्रचार किया जाय और भारतवर्ष फिर अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति को पुनः प्राप्त करके जगद्गुरु बनने के लिए उद्यत हो जाय।

अध्यात्मरामायण में वर्णित रामचरित्र से तो महाकवि तुलसीदासजी की कृपा से प्रायः सभी लोग परिचित हैं। यहाँ पर हम पाठकों को उस के दार्शनिक सिद्धान्तों से परिचित करा देना उचित समझते हैं। वे ये हैं—

---

‡ Aldous Huxley : *Perennial Philosophy.*

‡‡ देखो B. L. Atreya, *Yogavesistha and Modern Thonght;* और *Yogavasistha and Its Philosophy.*

१—संसार की निःसारता

भोगा मेघवितानस्थविद्युल्लेखेव चञ्चलाः ।
आयुरप्यग्निसन्तप्तलोहस्थजलबिन्दुवत् ॥ [२।४।२०]
यथा व्यालगलस्थोऽपि भेको दंशानपेक्षते ।
तथा कालाहिना ग्रस्तो लोको भोगानशाश्वतान् ॥ [२।४।२१]
पितृमातृसुतभ्रातृदारबन्ध्वादिसङ्गमः ।
प्रपायामिव जन्तूनां नद्यां काष्ठौघवच्चलः ॥ [२।४।२३]
छायेव लक्ष्मीश्चपला प्रतीता तारुण्यमम्बूर्मिवदध्रुवं च ।
स्वप्नोपमं स्त्रीसुखमायुरल्पं तथापि जन्तोरभिमान एषः ॥ [२।४।२४]
संसृतिः स्वप्नसदृशी सदा रोगादिसंकुला ।
गन्धर्वनगरप्रख्या मूढस्तामनुवर्तते ॥ [२।४।२५]
प्रतिक्षणं क्षरत्येतदायुरामघटाम्बुवत् ।
सपत्ना इव रोगौघाः शरीरं प्रहरन्त्यहो ॥ [२।४।२८]
जरा व्याघ्रीव पुरतस्तर्जयन्त्यवतिष्ठते ।
मृत्युः सदैव यात्येष समयं सम्प्रतीक्षते ॥ [२।४।२९]

(जीवन के) भोग मेघरूपी वितान में चमकती हुई बिजली के समान चञ्चल हैं और आयु अग्नि में तपाये हुए लोहे पर पडी हुई जलबिन्दु के समान क्षणिक है। जिस प्रकार सर्प के मुँह में पड़ा हुआ भी मेंढक मच्छरों को ताकता रहता है उसी प्रकार लोग कालरूप सर्प से ग्रस्त हुए भी अनित्य भोगों को चाहते रहते हैं। पिता, माता, पुत्र, भाई, स्त्री और बन्धु बान्धवों का संयोग प्याऊ पर एकत्रित हुए जीवों अथवा नदीप्रवाह से इकट्ठी हुई लकड़ियों के समान चञ्चल है। यह निःसन्देह दिखाई पडता है कि लक्ष्मी छाया के समान चञ्चल और यौवन जलतरङ्ग के समान अनित्य है; स्त्रीसुख स्वप्न के समान मिथ्या और आयु अत्यन्त अल्प है, तिस पर भी प्राणियों का इन में कितना अभिमान है ? यह संसार सदा रोगादिसंकुल तथा स्वप्न और गन्धर्वनगर के समान मिथ्या है; मूढ जन ही इस को सत्य मानकर इस का अनुसरण करते हैं। कच्चे घडे में भरे हुए जल के समान आयु प्रतिक्षण क्षीण हो रही है और रोगसमूह शत्रुओं के समान शरीर को घुलाये डालते हैं। वृद्धावस्था सिंहिनी के समान डराती हुई सामने खडी है और मृत्यु भी उस के साथ साथ चलती हुई समय की प्रतीक्षा कर रही है।

२—जीवन के सब सुख दुःखमय हैं

सर्वदा सुखदुःखाभ्यां नरः प्रत्यवरुध्यते।
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
सुखमध्ये स्थितं दुःखं दुःखमध्ये स्थित सुखम् ॥ [२।६।१२,१३,१४]

मनुष्य सदा ही सुख और दुःख से घिरा रहता है। सुख के पीछे दुःख और दुःख के पीछे सुख आता है। सुख के भीतर दुःख और दुःख के भीतर सुख सर्वदा वर्तमान रहता है।

३—स्वकर्मानुसार जीव की गति

स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः। [२।६।६]
स्वपूर्वार्जितकर्मैव कारणं सुखदुःखयोः॥ [२।६।५]

लोग अपने अपने कर्मों की डोरी में बँधे हुए हैं। मनुष्य का पूर्वकृत कर्म ही उस के सुख अथवा दुःख का कारण होता है।

४—पुनर्जन्म

देही प्राक्तनदेहोत्थकर्मणा देहवान्पुनः।
तद्देहोत्थेन च पुनरेवं देहः सदात्मनः॥ [२।७।१०३]
यथा त्यजति वै जीर्णं वासो गृहणाति नूतनम्।
तथा जीर्णं परित्यज्य देही देहं पुनर्नवम्॥ [२।७।१०४]

इस जीवात्मा ने अपने पूर्वदेहकृत कर्मों से यह शरीर धारण किया है और फिर इस देह के कर्मों से यह और शरीर धारण करेगा। इसी प्रकार आत्मा को सदा पुनः पुनः देह की प्राप्ति होती रहती है। मनुष्य जिस प्रकार पुराने वस्त्रों को उतारकर फिर नये वस्त्र पहन लेता है उसी प्रकार देहधारी जीव पुराने शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण कर लेता है।

५—मृत्यु के पश्चात् क्या होता है

जीवः करोति कर्माणि तत्फलैर्बध्यतेऽवशः।
ऊर्ध्वाऽधो भ्रमते नित्यं पापपुण्यात्मकः स्वयम्॥
कृतं मयाऽधिकं पुण्यं यज्ञदानादि निश्चितम्।
स्वर्गं गत्वा सुखं भोक्ष्य इति संकल्पवान्भवेत्॥
तथैवाध्यासतस्तत्र चिरं भुक्त्वा सुखं महत्।

क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन्कर्मचोदितः ॥
पतित्वा मण्डले चेन्दोस्ततो नीहारसंयुतः ।
भूमौ पतित्वा व्रीह्यादौ तत्र स्थित्वा चिरं पुनः ॥
भूत्वा चतुर्विधं भोज्यं पुरुषैर्भुज्यते ततः ।
रेतो भूत्वा पुनस्तेन ऋतौ स्त्रीयोनिसिञ्चितः ॥ (४।८।१७-२१)

× × × × ×

जठरे वर्धते गर्भः स्त्रिया एवं विहङ्गम ।
पञ्चमे मासि चैतन्यं जीवः प्राप्नोति सर्वशः ॥
स्मृत्वा सर्वाणि जन्मानि पूर्वकर्माणि सर्वशः ।
जठरानलतप्तोऽयमिदं वचनमब्रवीत् ॥
अकार्याण्येव कृतवान्न कृतं हितमात्मनः ।
इत्येवं बहुधा दुःखमनुभूय स्वकर्मतः ॥
इत्यादि चिन्तयन् जीवो योनियन्त्रप्रपीडितः ।
जायमानोऽतिदुःखेन नरकात्पातकी यथा ॥

[४।८।३१, ३३, ३७, ३९]

जीव नाना प्रकार के कर्मों को करता है और विवश होकर उन के फलों से बँधता है। इस प्रकार पाप पुण्य के वशीभूत होकर सदा ऊँची नीची योनियों में भ्रमता रहता है। वह ऐसी कल्पना करने लगता है कि मैं ने यज्ञ, दान आदि बहुत से पुण्यकर्म किये हैं अतः मैं निश्चय ही स्वर्ग में जाकर सुख भोगूँगा। ऐसे अध्यासवश वह वहाँ (जाकर) चिरकाल तक महान् सुख भोगता है और अन्त में पुण्य क्षीण हो जाने पर प्रारब्ध की प्रेरणा से, इच्छा न रहते हुए भी नीचे गिरता है। पहले वह चन्द्रमण्डल पर गिरता है। वहाँ से (चन्द्र रश्मियों के द्वारा) कुहरे के रूप में पृथ्वी पर आकर बहुत दिनों तक व्रीहि आदि धान्यों में रहता है। फिर वह (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य) चार प्रकार के अन्नों के रूप से पुरुषों द्वारा खाया जाता है और वीर्यरूप में परिणत हो जाता है। तदनन्तर वह उस के द्वारा यथासमय स्त्री के गर्भ में आता है।

इस प्रकार वह स्त्री के गर्भाशय में बढता है। जिस समय पाँचवा महीना होता है उसी समय जीव को चेतनाशक्ति प्राप्त हो जाती है। उस समय अपने संपूर्ण पूर्व-जन्मों का और कर्मों का स्मरण करके जठरानल से सन्तप्त हुआ वह जीव इस प्रकार कहता है—'मैं सदा अकार्य कर्म ही करता रहा, कभी अपना (वास्तविक)

हितसाधन नहीं किया। अतः अपने कर्मानुसार मैं इसी प्रकार बहुत से दुःख भोगता रहा।' ऐसे ही चिंता करते करते वह जीव गर्भ में पीडित होता हुआ अति कष्ट से जन्म लेता है, जैसे कि कोई पापी नरक से निकलता हो।

६—यह सब संसरण और बन्धन मन का खेल है

मन एव हि संसारो बन्धश्चैव मनः शुभे। [४।३।२१]

मन ही संसार है और मन ही बन्धन है।

७-इस दुःख सुखमय संसार के अनुभव का मूल कारण अज्ञान है

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते। [७।५।९]

संसार का मूल कारण अज्ञान ही है और शास्त्रों में उस का नाश ही (संसार से मुक्त होने का) उपाय बताया गया है।

८—ज्ञान के द्वारा ही अज्ञान का नाश हो सकता है

विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी। [७।५।९]
ज्ञाने विलीयेत विरोधतः क्षणात्। [७।५।३६]

अज्ञान का नाश करने में ज्ञान ही समर्थ है। ज्ञान से वह एक क्षण में विलीन हो जाता है क्योंकि ज्ञान और अज्ञान का परस्पर विरोध है।

९—अविद्या का नाश करनेवाले ज्ञान का स्वरूप

ऐक्यज्ञानं यदोत्पन्नं महावाक्येन चात्मनोः।
तदाऽविद्या स्वकार्यैश्च नश्यत्येव न संशयः॥ [१।१।५०]

सर्वगतोऽहमद्वयः। [७।५।३५]

जब ('तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि) महावाक्यों द्वारा जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उस समय अपने कार्यों सहित अविद्या अवश्य नष्ट हो जाती है; इस में कोई संदेह नहीं है। मैं वही अद्वितीय एक हूँ जो सर्वव्यापी है (ऐसा ज्ञान होना चाहिए)।

१०—ज्ञान भगवद्भक्ति बिना उदय नहीं होता और प्रेम-लक्षणा भक्ति से सरलता से उत्पन्न हो जाता है

त्वद्भक्तावुत्पन्नायां विज्ञानं विपुलं स्फुटम्। [३।३।४०]

लोके त्वद्भक्तिनिरता त्वन्मन्त्रोपासकाश्च ये।
विद्या प्रादुर्भवेत्तेषां नेतरेषां कदाचन॥ [३।३।३४]

एवं मद्भक्तियुक्तानामात्मा सम्यक्प्रकाशते। [३।४।४७]

यज्ञदानतपोभिर्वा वेदाध्ययनकर्मभिः ।
नैव द्रष्टुमहं शक्यो मद्भक्तिविमुखैः सदा ॥ [३।१०।२१]
भक्तौ संजातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा । [३।१०।२९]

आप की भक्ति हो जाने पर आप का स्फुट तथा प्रचुर ज्ञान प्राप्त हो जाता है। संसार में जो लोग आप की भक्ति में तत्पर और आप ही के मन्त्र की उपासना करनेवाले होते हैं, उन्हीं के अन्तःकरण में विद्या का प्रादुर्भाव होता है; और किसी को कभी नहीं। मेरी भक्ति से युक्त पुरुषों को ही आत्मा का सम्यक् साक्षात्कार होता है। भक्ति के उत्पन्न होने मात्र से ही मेरे स्वरूप का अनुभव होता है।

११—भगवद्भक्ति का अधिकार सब को है

पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः ।
न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम् ॥ [३।१०।२०]
स्त्रियो वा पुरुषस्यापि तिर्यग्योनिगतस्य वा ।
भक्तिः सञ्जायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे ॥ [३।१०।२८]

पुरुषत्व-स्त्रीत्व का भेद अथवा जाति, नाम और आश्रम ये कोई भी मेरे भजन में कारण नहीं है। उस का कारण तो केवल एक मात्र मेरा प्रेम ही है। पुरुष, स्त्री अथवा पशु पक्षी आदि कोई भी क्यों न हो, उस में प्रेमलक्षणा भक्ति का आविर्भाव हो जाता है।

१२—भक्ति के नौ साधन

सतां संगतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम् । [३।१०।२२]
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम् ।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत् ॥ [३।१०।२३]
आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्याऽमायया सदा ।
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादिनियमादि च ॥ [३।१०।२४]
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम् ।
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते ॥ [३।१०।२५]
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः ।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा ॥ [३।१०।२६]
अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि । [३।१०।२७]

(१) सत्सङ्ग, (२) मेरे (भगवान् के) चरित्रों की कथा, (३) मेरे गुणों की चर्चा करना, (४) (वेद, उपनिषद्, गीता आदि) मेरे वाक्यों की व्याख्या (मनन), (५) अपने गुरुदेव की निष्कपट होकर भगवद्बुद्धि से सेवा करना, (६) पवित्र

स्वभाव, यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) आदि का पालन और मेरी पूजा में प्रेम होना, (७) मेरे मन्त्र की साङ्गोपाङ्ग उपासना, (८) मेरे भक्तों की मुझ से अधिक पूजा करना, समस्त प्राणियों में मेरी भावना रखना, बाह्य पदार्थों में आसक्त न होना और शमादि (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान) से संपन्न होना और (९) तत्त्व विचार करना, ये नौ प्रकार के भक्ति के साधन हैं।

१३—भक्ति के फल ज्ञान द्वारा जीवन्मुक्ति

भक्तौ संजातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा।
ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि॥ [३।१०।२९]
जीवन्मुक्ता बभूव सा। [४।३।३७]

भक्ति के उत्पन्न होते ही मेरे स्वरूप का अनुभव हो जाता है और जिसे मेरे स्वरूप का अनुभव हो जाता है, उसे उसी जन्म में मुक्ति का अनुभव होने लगता है।

वह (तारा भक्ति से) जीवन्मुक्त हो गई।

१४—मोक्ष का स्वरूप

आचार्यशास्त्रोपदेशादैक्यज्ञानं यदा भवेत्। [३।४।४२]
आत्मनो जीवपरयोर्मूलाविद्या तदैव हि।
लीयते कार्यकरणैः सदैव परमात्मनि॥ [३।४।४३]
साऽवस्था मुक्तिरित्युक्ता ह्युपचारोऽयमात्मनि। [३।४।४४]

जिस समय मनुष्य को आचार्य और शास्त्र के उपदेश से जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान हो जाता है, उसी समय (सब दुःख सुखों की) मूल अविद्या अपने कार्य और साधनों सहित परमात्मा में लीन हो जाती है। अविद्या की लय अवस्था को ही मोक्ष कहते हैं। आत्मा में यह (बन्ध और मोक्ष) केवल उपचार मात्र है।

१५—मोक्ष का अनुभव होने पर कर्मफल से छुटकारा

बुद्ध्यादिभ्यो बहिःसर्वमनुवर्तस्व मा खिदः।
भुञ्जन्प्रारब्धमखिलं सुखं वा दुःखमेव वा॥ (२।४।४१)
प्रवाहपतिते कार्ये कुर्वन्नपि न लिप्यसे।
बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव॥ (२।४।४२)
अन्तःशुद्धस्वभावस्त्वं लिप्यसे न च कर्मभिः। (२।४।४३)
तस्माद्धैर्येण विद्वांस इष्टानिष्टोपपत्तिषु।
न हृष्यन्ति न मुह्यन्ति सर्वं मायेति भावनात्॥ (२।६।१५)
साधवः समचित्ता ये निःस्पृहा विगतैषिणः।
दान्ताः प्रशान्तास्त्वद्भक्ता निवृत्ताखिलकामनाः॥ (३।३।३७)

इष्टप्राप्तिविपत्त्योश्च समाः सङ्गविवर्जिताः ।
संन्यस्ताखिलकर्माणः समाः सङ्गविवर्जिताः ॥ (३।३।३८)
यमादिगुणैः सम्पन्नाः सन्तुष्टा येन केनचित् । (३।३।३९)

आत्मा को बुद्धि आदि से भिन्न अनुभव करके इस सर्व व्यवहार का अनुवर्तन करो। बाहर से (इन्द्रियों द्वारा) कर्तृत्व प्रकट करते हुए जो कार्य प्रारब्ध से उपस्थित हो उसे करते रहने पर भी तुम बन्धन में नहीं पड़ोगे ? इसलिए विद्वान् लोग "सब कुछ माया ही है" इस भावना के कारण इष्ट या अनिष्ट की प्राप्ति में धैर्य रखकर हर्ष या शोक नहीं मानते, ऐसे लोग साधु कहलाते हैं जो सम्पत्ति विपत्ति में समान चित्त, स्पृहा से रहित, पुत्र वित्तादि की एषणाओं से रहित, इन्द्रियों को वश में रखनेवाले, शान्तचित्त, आप (भगवान्) के भक्त, सम्पूर्ण कामनाओं से शून्य, इष्ट या अनिष्ट की प्राप्ति में समान रहनेवाले, सङ्गहीन, समस्त (काम्य) कर्मों का त्याग करनेवाले, सर्वदा ब्रह्मपरायण रहनेवाले, यम आदि गुणों से सम्पन्न तथा जो कुछ मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहनेवाले होते हैं।

१६—परमात्मा का स्वरूप

रामः परात्मा प्रकृतेरनादिरानन्द एकः पुरुषोत्तमो हि । (१।१।१७)
स्वमायया कृत्स्नमिदं हि सृष्ट्वा नभोवदन्तर्बहिरास्थितो यः ।
सर्वान्तरस्थोऽपि निगूढ आत्मा स्वमायया सृष्टमिदं विचष्टे ॥ (१।१।१८)

रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम् ॥ (१।१।३२)
आनन्दं निर्मलं शान्तं निर्विकारं निरञ्जनम् ।
सर्वव्यापिनमात्मानं स्वप्रकाशमकल्मषम् ॥ (१।१।३३)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या संसृतिर्या प्रवर्तते ।
तस्या विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रस्त्वं रघूत्तम ॥ (२।१।२४)
त्वत्त एव जगज्जातं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
त्वय्येव लीयते कृत्स्नं तस्मात्त्वं सर्वकारणम् ॥ (२।१।२५)
चिन्मात्रज्योतिषा सर्वाः सर्वदेहेषु बुद्धयः ।
त्वया यस्मात्प्रकाश्यन्ते सर्वस्यात्मा ततो भवान् ॥ (२।१।२७)

राम निःसन्देह प्रकृति से परे, परमात्मा, अनादि, आनन्दघन, अद्वितीय और पुरुषोत्तम हैं। वे अपनी माया से इस सम्पूर्ण जगत् को रचकर इस के बाहर भीतर सब ओर आकाश के समान व्याप्त हैं और आत्मारूप से सब के अन्तःकरण में स्थित हुए अपनी माया से इस विश्व को परिचालित कर रहे हैं। राम को साक्षात् अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म समझो; वे निःसन्देह समस्त उपाधियों से रहित, सत्तामात्र, इन्द्रियों के अविषय, आनन्दघन, निर्मल, शान्त, निर्विकार, निरञ्जन, सर्वव्यापक, स्वयंप्रकाश और पापहीन, परमात्मा हैं। हे रघुश्रेष्ठ, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति

ऐसी जो तीन प्रकार की सृष्टि है, उस से आप विलक्षण हैं तथा उस के चेतनमात्र साक्षी हैं। यह सम्पूर्ण जगत् आप ही से उत्पन्न हुआ है, आप ही में स्थित है और आप ही में लीन होता है। इसलिए आप ही सब के कारण हैं। चिन्मात्र ज्योतिःस्वरूप आप ही सब के शरीरों में स्थित होकर उन की बुद्धियों को प्रकाशित कर रहे हैं, इसलिए आप ही सब के आत्मा हैं।

१७—वही परब्रह्म सब का आत्मा है

एक एव परो ह्यात्मा ह्यद्वितीयः समः स्थितः।
आनन्दरूपो बुद्ध्यादिसाक्षी लयविवर्जितः॥ (२।७।१०७)
षड्भावरहितोऽनन्तः सत्यप्रज्ञानविग्रहः॥ (२।७।१०६)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या वृत्तयो बुद्धिजैर्गुणैः।
तासां विलक्षणो राम त्वं साक्षी चिन्मयोऽव्ययः॥ (३।३।३०)
देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्धिभ्योऽपि विलक्षणः।
आत्मा शुद्धः स्वयंज्योतिरविकारी निराकृतिः॥ (२।४।३८।३९)
आत्मा सर्वत्र पूर्णः स्याच्चिदानन्दात्मकोऽव्ययः।
बुद्ध्याद्युपाधिरहितः परिणामादिवर्जितः॥ (३।४।४०)
स्वप्रकाशेन देहादीन् भासयन्ननपावृतः।
एक एवाद्वितीयश्च सत्यज्ञानादिलक्षणः॥ (३।४।४१)
सर्वगतोऽयमद्वयः। (७।५।३५)

वह परमात्मा एक अद्वितीय और समभाव से स्थित है। वह आनन्दरूप है और बुद्धि आदि का साक्षी, अविनाशी है, षड्भावविकारों से रहित, अनन्त और सच्चित् स्वरूप है। हे राम, बुद्धि के सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से प्राणी की क्रमशः जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ होती हैं; पर आप इन तीनों से सर्वदा पृथक्, इन के साक्षी चित्स्वरूप और अविनाशी हैं। आत्मा देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि आदि से पृथक् तथा शुद्ध, स्वयं प्रकाश, अविकारी और निराकार है। आत्मा सर्वत्र पूर्ण, चिदानन्दस्वरूप, अविनाशी, बुद्धि आदि उपाधियों से शून्य तथा परिणामादि विकारों से रहित है। यह अपने प्रकाश से देह आदि उपाधियों को प्रकाशित करता हुआ भी स्वयं आवरणशून्य, एक, अद्वितीय और सत्य ज्ञान आदि लक्षणोंवाला है। वह अद्वितीय आत्मा सर्वत्र व्याप्त है।

१८—परमात्मा की जगदुत्पादक शक्ति माया

यथा जले फेनजालं धूमो वह्नौ तथा त्वयि।
त्वदाधारा त्वद्विषया माया कार्यं सृजत्यहो॥ (१।७।३२)
त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते। (३।३।२०)
मूलप्रकृतिरित्येके प्राहुर्मायेति केचन।
अविद्या संसृतिर्बन्ध इत्यादि बहुधोच्यते॥ (३।३।२२)

त्वामेव निर्गुणं शक्तिरावृणोति यदा तदा।
अव्याकृतमिति प्राहुर्वेदान्तपरिनिष्ठिताः॥ (३।३।२१)
मां विद्धि मूलप्रकृतिं सर्गस्थित्यन्तकारिणीम्।
तस्य सन्निधिमात्रेण सृजामीदमतन्द्रिता॥ (१।१।३४)

जल के फेनसमूह और अग्नि के धूएँ के समान आप के आश्रित और आप ही को विषय करनेवाली माया नाना प्रकार के विचित्र कार्यों की रचना करती है। आप के आश्रय में रहनेवाली और आप ही को विषय करनेवाली माया आप की ही शक्ति कहलाती है। कोई इसे मूल प्रकृति कहते हैं और कोई माया तथा वही अविद्या, संसृति और बन्धन आदि अनेक नामों से पुकारी जाती है। जिस समय वह माया शक्ति आप निर्गुण को ढक लेती है उस समय वेदान्तनिष्ठ पुरुष इसे अव्याकृत कहते हैं। यहाँ सीता का संसार को उत्पत्ति, स्थिति और अन्त करनेवाली मूल प्रकृति जानो। वे ही निरालस्य होकर इन की सन्निधिमात्र से इस विश्व की रचना किया करती हैं।

१९—माया के दो रूप

रूपे द्वे निश्चिते पूर्वं मायायाः कुलनन्दन।
विक्षेपावरणे तत्र प्रथमं कल्पयेज्जगत्। (३।४।२२,२३)
अपरं त्वखिलं ज्ञानरूपमावृत्य तिष्ठति। (३।४।२४)

हे कुलनन्दन! माया के दो रूप माने गये हैं, एक विक्षेप, दूसरा आवरण। इन में से पहली विक्षेप शक्ति समस्त संसार की कल्पना करती है, और दूसरी आवरण शक्ति सम्पूर्ण ज्ञान को आवरण करके स्थित रहती है।

२०—जगदुत्पत्ति

त्वया संक्षोभ्यमाणा सा महत्तत्त्वं प्रसूयते।
महत्तत्त्वादहंकारस्त्वया संचोदिताद् भवेत्॥
अहंकारो महत्तत्त्वसंवृतस्त्रिविधो भवेत्।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्चेति भण्यते॥
तामसात्सूक्ष्मतन्मात्राण्यासन् भूतान्यतः परम्।
स्थूलानि क्रमशो राम क्रमोत्तरगुणानि च॥
राजसानीन्द्रियाण्येव सात्त्विका देवता मनः।
तेभ्योऽभवत् सूत्ररूपं लिङ्गं सर्वगतं महत्॥
ततो विराट् समुत्पन्नः स्थूलाद्भूतकदम्बकात्।
विराजः पुरुषात्सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्॥
(३।३।२३, २४, २५, २६, २७)

हे राम ! आप के द्वारा क्षुभित होने पर इस शक्ति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है और महत्तत्त्व से आप ही की प्रेरणा से अहंकार प्रकट होता है । महत्तत्त्व से ओत प्रोत वह अहंकार तीन प्रकार का हुआ, जो सात्त्विक, राजस और तामस कहलाता है। तामस अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पञ्च सूक्ष्म तन्मात्राएँ हुईं और इन सूक्ष्म तन्मात्राओं से इन के गुणानुसार क्रम से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाँच स्थूल भूत हुए। राजस अहंकार से दस इन्द्रियाँ और सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता तथा मन उत्पन्न हुए। और इन सब से मिलकर समष्टि सूक्ष्मशरीररूप हिरण्यगर्भ हुआ जिस का दूसरा नाम सूत्रात्मा भी है। फिर स्थूल भूतसमूह से विराट उत्पन्न हुआ तथा विराट पुरुष से यह संपूर्ण स्थावर जङ्गम संसार प्रकट हुआ।

२१—जीव का स्वरूप

अविद्याकृतदेहादिसंघाते प्रतिबिम्बिता ।
चिच्छक्तिर्जीवलोकेऽस्मिन् जीव इत्यभिधीयते ॥ (१।६।३४)
यावद्देहमनःप्राणबुद्ध्यादिष्वभिमानवान् ।
तावत्कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिभाग् भवेत् ॥ (१।७।३५)
आत्मनः संसृतिर्नास्ति बुद्धेर्ज्ञानं न जात्विति ।
अविवेकाद् द्वयं युङ्क्त्वा संसारीति प्रवर्तते ॥ (१।७।३६)
अहंकारश्च बुद्धिश्च पञ्चप्राणेन्द्रियाणि च ।
लिङ्गमित्युच्यते प्राज्ञैर्जन्ममृत्युसुखादिमत् ॥ (२।१।२१)
स एव जीवसंज्ञश्च लोके भाति जगन्मयः ।
अवाच्यानाद्यविद्यैव कारणोपाधिरुच्यते ॥ (२।१।२२)
स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमुपाधित्रितयं चितेः ।
एतैर्विशिष्टो जीवः स्याद्वियुक्तः परमेश्वरः ॥ (२।१।२३)

अविद्याजन्य देहादि संघातों में प्रतिबिम्बित हुई चित शक्ति ही इस जीवलोक में 'जीव' कहलाती है। यह जीव जबतक देह, मन, प्राण और बुद्धि आदि में अभिमान करता है तभी तक कर्तृत्व, भोक्तृत्व और सुखादिकों को भोगता है। वास्तव में आत्मा में जन्ममरणादि संसार किसी भी अवस्था में नहीं है और बुद्धि में कभी ज्ञान-शक्ति नहीं है। अविवेक से इन दोनों को मिलाकर जीव 'संसारी हूँ' ऐसा मानकर कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। अहंकार, बुद्धि, पञ्च प्राण और दस इन्द्रियाँ इन के समूह को ही प्राज्ञजन जन्म, मृत्यु और सुख दुःखादि धर्मोंवाला लिङ्गदेह बताते हैं। वह (लिङ्गदेहाभिमानी चेतनाभास) ही जगत में तन्मय हुआ जीव नाम से विख्यात है। अनिर्वचनीय और अनादि अविद्या ही (इस जीव की) कारण उपाधि कही जाती है। शुद्ध चेतन की स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन उपाधियाँ हैं। इन

उपाधियों से युक्त होने से वह जीव कहलाता है, और इन से रहित होने से परमेश्वर कहा जाता है।

२२—चेतन के तीन प्रकार

बुद्ध्यवच्छिन्नचैतन्यमेकं पूर्णमथापरम्।
आभासस्त्वपरं बिम्बभूतमेवं त्रिधा चितिः॥ (१।१।४६)
साभासबुद्धेः कर्तृत्वमविच्छिन्नेऽविकारिणि।
साक्षिण्यारोप्यते भ्रान्त्या जीवत्वं च तथाऽबुधैः॥ (१।१।४७)
आभासस्तु मृषा बुद्धिरविद्याकार्यमुच्यते।
अविच्छिन्नं तु तद्ब्रह्म विच्छेदस्तु विकल्पतः॥ (१।१।४८)
अविछिन्नस्य पूर्णेन एकत्वं प्रतिपाद्यते।
तत्त्वमस्यादिवाक्यैश्च साभासस्याहमस्तथा॥ (१।१।४९)

चेतन तीन प्रकार का है—(१) बुद्ध्यवच्छिन्न चेतन, (२) सर्वत्र परिपूर्ण चेतन, (३) बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन; जिस को आभास चेतन कहते हैं। इन में से केवल आभास चेतन के सहित बुद्धि में ही कर्तृत्व है अर्थात् चिदाभास के सहित बुद्धि ही सब कार्य करती है। किंतु अज्ञजन भ्रान्तिवश निरवच्छिन्न, निर्विकार, साक्षी आत्मा में कर्तृत्व और जीवत्व का आरोप करते हैं अर्थात् उसे ही कर्ता भोक्ता मान लेते हैं। आभास चेतन तो मिथ्या है। बुद्धि अविद्या का कार्य है और परब्रह्म परमात्मा वास्तव में विच्छेदरहित है अतः उस का विच्छेद भी कल्पित है। साभास अहंरूप अवच्छिन्न चेतन (जीव) की 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा पूर्ण चेतन (ब्रह्म) के साथ एकता बतलाई जाती है।

२३—जगत् का मिथ्यात्व

मायया कल्पितं विश्वं परमात्मनि केवले। (३।४।२४)
रज्जौ भुजङ्गवद्भ्रान्त्या विचारे नास्ति किञ्चन।
श्रूयते दृश्यते यद्यत्स्मर्यते वा नरैः सदा॥ (३।४।२५)
असदेव हि तत्सर्वं यथा स्वप्नमनोरथौ॥ (३।४।२६)

यह सम्पूर्ण विश्व रज्जु में सर्पभ्रम के समान शुद्ध परमात्मा में माया से कल्पित है, विचार करने पर यह कुछ भी नहीं ठहरता। मनुष्य जो कुछ सर्वदा सुनते हैं, देखते और स्मरण करते हैं, वह सब स्वप्न और मनोरथों के समान असत्य है।

श्री अध्यात्मरामायण के संक्षेप में ये ही दार्शनिक सिद्धान्त हैं। अस्तु, इस उत्तम ग्रन्थरत्न को हिन्दी भाषा में अनुवाद कराके और उस पर स्वामी श्री विद्यानन्दजी की 'रामचर्चा' नामक अत्युत्तम व्याख्यासहित उस को प्रकाशित करके गीताधर्म के प्रकाशकों ने जगत् का वास्तविक उपकार किया है। तदर्थ वे सब के धन्यवादपात्र हैं।

जै सीयाराम ध्वजधारी हनुमान्‌जी

જૈ સીયારામ ધ્વજધારી હનુમાનજી.

ॐ नमः श्रीसच्चिदानन्दस्वरूपाय रामचन्द्राय

श्रीमद्-

अध्यात्मरामायण

[सरलार्थ और रामचर्चा नामक विवरणसहित]

सुन्दरकाण्ड

प्रथम सर्ग

दीप्तलाङ्गूलज्वालाभिर्हनूमत्कृतशोभनाम् । लङ्कां प्रयातुमुद्युक्तः स्निग्धो रामो मुदेऽस्तु वः ॥

हनुमान्‌जी द्वारा समुद्र लाँघकर लङ्का में जाना—

श्रीमहादेव उवाच—

शतयोजनविस्तीर्णं समुद्रं मकरालयम् ।

लिलङ्घयिषुरानन्दसंदोहो मारुतात्मजः ॥ १ ॥

ध्यात्वा रामं परात्मानमिदं वचनमब्रवीत् ॥

भगवान् शंकर बोले—हे पार्वती, सौ योजन चौड़े, भयंकर जलजन्तुओं से भरे हुए समुद्र को लाँघने के लिए उद्यत (उत्साहमय), आनन्द से परिपूर्ण श्री हनुमान्‌जी परमात्मा रामचन्द्रजी का स्मरण कर इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

रामचर्चा—प्रभुप्रेमी सज्जनो, पूर्णतम पुरुषोत्तम, विशुद्ध चित्स्वरूप, परात्पर ब्रह्म श्री राम साकार और निराकार स्वरूप में समरस एक ही वस्तु हैं। उन के दृश्य और अदृश्य दोनों स्वरूपों में कोई अन्तर नहीं है। प्रेमियों की भावनामयी दृष्टि अपने मन के रुचिरूप

साँचे में प्रभु राम के अप्रकट स्वरूप को ढालकर दृश्यरूप में अपने सामने प्रकट कर लेती है, यही श्री राम का अवतार है। श्री राम प्रेमियों को जिस स्थल पर जब से दर्शन दे रहे थे, उस के पहले भी वे वहाँ विद्यमान थे, इस के बाद उन का अन्तर्धान या अन्य स्थान को गमन हो गया, तो भी वे उस स्थल पर पहली ही भाँति विद्यमान रहते हैं, इस समय केवल उन का स्वरूप वहाँ अव्यक्त हो जाता है। प्रेमी की भावना जब उन में मनुष्य के स्वरूप और गुण धर्मों का आरोप कर लेती है, तब उस के अधीन होकर प्रभु आते जाते से लगते हैं और इस रीति से अपनी मधुर लीलाओं द्वारा भक्तों को निरतिशय आनन्ददायक प्रतीत होते रहते हैं।

प्रभु की इन लीलाओं का आस्वादन, अनुभव या प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं कौन ? जो परम ज्ञानी योगीन्द्र मुनीन्द्र हैं, ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त परमहंस संत हैं, निर्द्वन्द्व अवधूतवृत्ति में विचरण करनेवाले ब्रह्मरसिक हैं, वे। किंतु परमात्मा और उन के प्यारे ये सब महानुभाव माया और जगत्प्रपञ्च से परे, अप्राकृतिक विभूति के स्वरूप हैं। इस लिए प्रकृति और पञ्चभूतों के बीच रहनेवाले हम मायिक प्राणी प्रभु की लीला और उस की सामग्री के यथार्थ स्वरूप को न जान सकते हैं, न निश्चयरूप से कह ही सकते हैं। प्रभु की कार्यरूप दिव्य लीला और कारणरूप इच्छाशक्ति कैसी है, क्यों होती है, उस का क्या स्वरूप है ; इस बारे में हम बहुत सामान्य, उतनी ही स्थूल बातें कहने के अधिकारी हैं, जितनी कि शास्त्रों और गुरुओं के द्वारा स्थूलरूप तथा सूत्ररूप में जान ली गई हैं। परमात्मा की विभूति अनिर्वचनीय है, मन और वाणी उस का धारण और कथन करने में असमर्थ हैं। इस विभूति का विस्तार के साथ, प्रभु के समीप में जाकर दर्शन करना हो तो बाहरी इन्द्रियों को रोककर, समाधि की स्थिति में बैठकर अन्तश्चक्षुओं से देखना चाहिए। तभी अलौकिक दिव्य प्रकाश के सहारे भगवान् की लीलाओं का यथार्थ दर्शन होता है। वह दर्शन स्वसंवेद्य (केवल अपने ही अनुभव की चीज) है, कथा प्रवचनादि के द्वारा उस का प्रकाश नहीं हो सकता।

प्रभु की उन दिव्य लीलाओं का दर्शन, जो कि मोक्षसुख या जीवन्मुक्त अवस्था में ब्रह्मानन्द का अनुभव कहा जा सकता है, प्राप्त करने के लिए इन संक्षिप्त स्थूल लीलाओं का प्रभु के अवतार, चरित्रों के नाम से पुराणशास्त्र लोक में वर्णन करते हैं। जैसा कि इस अध्यात्मरामायण में श्री सूतजी अठासी हजार ऋषियों के प्रति श्री रामचरित्र का वर्णन कर रहे हैं। प्रयोजन यह है कि इन कतिपय लीलाओं का स्मरण चिन्तन करते रहने से साधक अपने अशुभों का क्षय करके 'नित्यलीला' या ब्रह्मानन्द का अनुभव प्राप्त कर ले। जिस प्रकार भगवद्वत्सला शबरी ने चख चखकर मीठे स्वादिष्ट फल भगवान् को अर्पण करने के लिए एकत्र किये थे, उसी प्रकार संत महात्माओं ने जिन जिन लीलाओं को, मनुष्यों को प्रभु की ओर प्रेरित करने के लिए आकर्षण करने योग्य या स्वादिष्ट लगने योग्य समझा, उन

को नमूने के तौर पर चुन चुनकर शास्त्रों के बीच में रख दिया है, यों तो प्रभु की दिव्य लीलाएँ अनन्त हैं, चिरनूतन हैं, रमणीय हैं। क्यों कि—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

जो वस्तु क्षण क्षण पर नई ही नई दिखाई दे, उस को रमणीय कहते हैं। अस्तु,

प्रभु की लीलाएँ दो प्रकार की हैं, एक नित्यलीला या दिव्यलीला, दूसरी लोकलीला। नित्यलीलाओं पर देश काल आदि का प्रभाव नहीं पडता, युगविपर्यय, सृष्टिप्रलय आदि से परे, निरपेक्ष वे लीलाएँ निरन्तर होती रहती हैं। नित्यमुक्त, कल्पान्तजीवी और ब्रह्मनिष्ठ योगीन्द्र मुनीन्द्र उन लीलाओं का दर्शन करते हैं। जिस प्रकार ये लीलाएँ जागतिक प्रपञ्च से परे, अमायिक और किसी अचिन्त्य ईश्वरीय शक्ति से निर्मित होती हैं, उसी प्रकार इन के दर्शन करनेवाले महात्माजन भी भौतिक प्रपञ्च से निर्मुक्त और मायातीत होते हैं। जो नित्यमुक्त महात्मा हैं वे तो इस स्थिति में हैं ही, पर भूलोक में सदेह वर्तमान साधुसंत महानुभाव इस पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर के द्वारा भगवल्लीलाओं का दर्शन नहीं कर सकते। उन को सूक्ष्म देह से भी परे एक भावदेह के द्वारा ही लीलाओं का साक्षात्कार होता है। जब कि प्रभुलीलाओं की अपेक्षा अत्यन्त स्थूल विराटस्वरूप का दर्शन अर्जुन को इन चर्मचक्षुओं से न हो सका था, तब रहस्यभरी दिव्यलीलाएँ इस पार्थिव शरीर से कैसे देखी जा सकती हैं?

यह तो हुई नित्यलीला की बात, पहले कहा गया है कि प्रेमियों की भावना के अनुकूल अनेकों मनोरम स्वरूपों में भगवान् भक्तों को दर्शन देते या चरित्र करते हुए दिखाई देते हैं। यही प्रभु की लोकलीला हैं, लोक में प्रभु सीमित स्थानों में चलते फिरते हुए दिखाई देने पर भी सर्वत्र, सर्वदा एक अखण्ड अद्वय रूप में व्याप्त रहते हैं। भक्तों की आकांक्षा को तृप्त करने के साथ ही साथ इस संक्षिप्त लीलाप्रकाश में यह आशय भी समाया रहता है कि जीव-गण प्रभु के शरणागत हों, लोक में आदर्श, मर्यादा और धर्म की स्थापना हो। इस प्रकार प्रेमियों की सान्त्वना और लोकमर्यादा की स्थापना के लिए लोकलीलाओं के प्रकाश द्वारा भगवान् और उन के भक्त दोनों ही चेष्टा करते रहते हैं। इस लीलाविस्तार में भगवान् के परिकर बने हुए जो नित्यमुक्त भक्तगण हैं वे मुख्य सहायक होते हैं; जिस प्रकार कि इस प्रकृत सीतान्वेषण के चरित्रविस्तार में पवनकुमार श्री हनुमानजी प्रभु के सहायक हो रहे हैं।

सज्जनो, पूर्व प्रसंगों में अब तक जो कुछ कथाभाग वर्णन किया गया था, उस के अनेकों पात्र, श्री दशरथजी, कौसल्या आदि माताएँ, वसिष्ठ, विश्वामित्र, जनक, भरद्वाज आदि गुरुजन तथा चतुर्व्यूहावतार के अङ्ग लक्ष्मणजी आदि; ये सब भगवान् की नित्यलीला के परिकर (परिवार) ही हैं, जो कि भक्तभावना के निर्वाहार्थ और लोककल्याण की कामना से

इस रामरूप की लोकलीला को सरस और मधुर रूप में प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत करते आ रहे हैं। भगवान् नित्य नवीन लीला करते हैं तो उन के भक्त भी ऐसा करने में इन से पीछे नहीं हैं, यहीं पर देखो, श्री हनुमानजी महाराज अपने नित्यलीला के स्वरूप में साक्षात् श्री शंकर भगवान् हैं, वे अब यहाँ लोकलीला के अभिनय के बीच में समुद्र लाँघने के लिए कैसा मनुष्यों का सा नाटक रच रहे हैं। यही हनुमानजी अपने मुख्य शंकर महादेव स्वरूप में तो इस रामचरित्र का श्री पार्वतीजी के प्रति कथन करते जाते हैं और आप ही इस हनुमत्स्वरूप में कभी बंदरों के बीच में दीन हीन दशा में देखे जाते हैं, कभी भूधराकार देह धारण कर सिंहनाद करते हैं।

ये श्री हनुमन्तलालजी इस काण्ड के बीच ऐसे ही अनेकानेक दिव्य और विलक्षण चरित्र कर दिखानेवाले हैं, जिन से इस काण्ड में अत्यन्त ही शोभा का समावेश हुआ है। और इन्हीं सब बातों को देखकर इस प्रकरण का नाम भी सुन्दर काण्ड हो गया है। यद्यपि पिछले अनेक काण्डों का नामकरण उन स्थानों के नाम पर हुआ है जहाँ कि उस प्रकरण की मुख्य लीला संपन्न हुई हैं; जैसे अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड ; किंतु इस काण्ड के नामकरण में क्रमभङ्ग का कारण यह है कि आदिकवि श्री वाल्मीकिजी ने रामचरित की रचना करने में सब से विलक्षण काव्यशैली अर्थात् अनेकों अलंकार, विविध छन्द, समुद्र-आकाश-रात्रि-लङ्का-वन-पर्वत आदि के भावभरे वर्णन में कमाल कर दिया है। इस सुन्दरता के कारण उन्होने इस काण्ड का नाम सुन्दर रखा और इसी शैली को अध्यात्मरामायणरचयिता वेदव्यासजी ने ग्रहण कर लिया। और भी, इस काण्ड के नायक श्री हनुमानजी का चरित्रवैभव, कार्यतत्परता और सब से बढकर माता सीता के साथ उन का करुणामय तथा वात्सल्यपूर्ण संवाद जैसा उत्तम और हृदयग्राही यहाँ हुआ, वैसा अन्यत्र कम ही हुआ है, इन्हीं सब बातों से इसे 'सुन्दरकाण्ड' कहा गया, जैसी कि एक लोकोक्ति भी है—

सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे सुन्दरः कपिः।
सुन्दरे सुन्दरी वार्ता सुन्दरे किं न सुन्दरम् ॥

'सुन्दर में क्या क्या सुन्दर नहीं, इस में माता सीता सुन्दर हैं, हनुमानजी सुन्दर हैं, इन के तथा अन्यों के संवाद भी बडे सुन्दर हुए हैं।' सब से बढकर 'सुन्दरकाण्ड' नाम पडने का यह भी हेतु है कि जिस त्रिकूटाचल पर्वत पर के एक शिखर पर लङ्कापुरी बसी है, उस का नाम नील है, दूसरा शिखर सुवेल नामक है जहाँ रामजी का कटक पडा था, उसी पर्वत का तीसरा शिखर सुन्दर नाम से विख्यात है, जिस पर अशोकवाटिका और सीताजी विराजमान थीं। इस काण्ड की मुख्य घटना इस सुन्दरनामक शिखर पर होने से 'सुन्दरकाण्ड' नाम पहले काण्डों की तरह उचित ही हुआ, अस्तु।

अब देखना चाहिए कि इन सुन्दर चरित्रों का आरम्भ करने के लिए हनुमानजी क्या कह रहे हैं—

. पश्यन्तु वानराः सर्वे गच्छन्तं मां विहायसा ॥ २ ॥
अमोघं रामनिर्मुक्तं महाबाणमिवाखिलाः ।
पश्याम्यद्यैव रामस्य पत्नीं जनकनन्दिनीम् ॥ ३ ॥
कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं पुनः पश्यामि राघवम् ।

हे वानरो, तुम सब देखो, मैं भगवान् राम के छोड़े हुए अमोघ बाण के समान आकाशमार्ग से जाता हूँ। मैं आज ही रामप्रिया जनकनन्दिनी श्री सीताजी को देखूँगा, निश्चय ही अब मैं कृतकार्य होकर पुनः श्रीरघुनाथजी का दर्शन करूँगा ॥ २–३ ॥

प्राणप्रयाणसमये यस्य नाम सकृत्स्मरन् ॥ ४ ॥
नरस्तीर्त्वा भवाम्भोधिमपारं याति तत्पदम् ।
किं पुनस्तस्य दूतोऽहं तदङ्गाङ्गुलिमुद्रिकः ॥ ५ ॥
तमेव हृदये ध्यात्वा लङ्घयाम्यल्पवारिधिम् ।
इत्युक्त्वा हनुमान्बाहू प्रसार्यायतवालधिः ॥ ६ ॥
ऋजुग्रीवोर्ध्वदृष्टिः सन्नाकुञ्चितपदद्वयः ।
दक्षिणाभिमुखस्तूर्णं पुप्लुवेऽनिलविक्रमः ॥ ७ ॥

प्राणप्रयाण के समय श्री राम के नाम का एक बार स्मरण करने से ही मनुष्य अपार संसारसागर को पार कर उन के परमधाम को चला जाता है। फिर मैं उन्हीं राम का दूत उन की शरीरवर्ती अँगुली की अँगूठी लिये हुए, अपने हृदय में उन्हीं का ध्यान करता हुआ इस तुच्छ समुद्र को लाँघ जाऊँ तो इस में कौन बड़ी बात है? ॥ ४-५ ॥

ऐसा कहकर श्री हनुमान्जी ने अपनी बाँहें फैलायीं और पूँछ को सीधा किया तथा तुरन्त ही गरदन को साधकर एवं दृष्टि को ऊपर की ओर कर पाँव सिकोड़ लिये और दक्षिण की ओर मुख करके वायुवेग से उड़ने लगे ॥ ६-७ ॥

रा० च०—प्रभुप्रेमियो, जगत् के हर एक कार्य करने के लिए मनुष्य के अंदर उत्साह-शक्ति होनी चाहिए, इस शक्ति के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। इस के बाद सब से बड़ी कार्यसाधिका जो वस्तु है उस का नाम है आशा या संभावना। हनुमानजी में समुद्र लाँघने की सामर्थ्य तो पहले से ही थी पर उन को अपने ऐसे विलक्षण स्वरूप का भान नहीं था। जब जामवन्त जैसे अनुभवी गुरु ने समुद्र लाँघने की उत्साहशक्ति उन के भीतर होने का ज्ञान कराया, तब हनुमानजी अपने यथार्थ स्वरूप का स्मरण कर 'कनक भूधराकार शरीर' हो गये।

इसी प्रकार यह चेतन प्राणी भी अपने अंदर बड़ी विचित्र शक्तियों को रखे हुए है, पर हनुमानजी की तरह इसे अपने स्वरूप की विस्मृति हो गई है। असल में यह जीवात्मा है तो परमात्मा का ही अंश, या स्वरूप, इस लिए जैसा स्वभाव, जो गुणधर्म परमात्मा के हैं, वैसे ही सब इस जीवात्मा के भी हैं। परंतु अविद्या या मल, विक्षेप, आवरणों का इतना अधिक परदा इस के ऊपर लिपटा हुआ है कि, इसे शुद्ध बुद्ध नित्यानन्दमय अपने स्वरूप का भान नहीं है। विश्वामित्रजी पहले क्षत्रियवर्ण के थे, अर्थात् ब्राह्मण ऋषियों के समान उन में सत्त्वगुण का विकास कुछ कम था, अविद्या का आवरण अन्य ऋषियों की अपेक्षा उन में अधिक था। आगे चलकर उन्हीं विश्वामित्रजी ने बहुत वर्षों तक घनघोर तपस्या कर ली, तब उन की अविद्या का मल जल गया और सत्त्वगुण का ऐसा विकास हुआ कि उस के तेज से ब्रह्माण्ड भी जलने लगा। विश्वामित्रजी ने अपने अंदर ईश्वरीय शक्तियों का ऐसा विकास किया कि उन से वे दूसरा ब्रह्माण्ड रचने में भी समर्थ हो सके। सज्जनो, कहने का अभिप्राय यह है कि जो शक्ति विश्वामित्रजी में प्रकट हो गई थी, वैसी ही तुम सब के भीतर भी विद्यमान है, जैसे तपस्या के द्वारा उन्होंने इस को अपने भीतर से प्रकट किया था, वैसे ही तुम सब भी इसे प्रकट करने में समर्थ हो। अस्तु, विश्वामित्रजी का उदाहरण देने का अभिप्राय यही है कि उन की जैसी सामर्थ्य प्रत्येक प्राणी के भीतर विद्यमान है और वह वैसे ही प्रयत्न करके उसे अपने भीतर से प्रकट कर सकता है। परंतु हनुमानजी को जो अपनी स्वरूपविस्मृति हो गई थी, वह हम जैसे प्राणियों की तरह अविद्या के आवरण के कारण न थी। हनुमानजी में और परमात्मशक्ति में इतना अधिक भेद नहीं था, जैसा हमारे जैसे प्राणियों के बीच है। हम सब परमात्मा से बहुत दूर जा चुके हैं, अज्ञान, मलिन वासना, दुष्कर्मों के अगणित आवरणों में लिपटे रहने के कारण हम में परमात्मा से बहुत फर्क पड़ गया है। परंतु हनुमानजी तो विशुद्धसत्त्व, अमल अन्तःकरण, परमात्मा की साक्षाद् विभूति ही बन गये थे। उन्होंने कठोर ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करते हुए साङ्गोपाङ्ग वेदशास्त्रों और उपनिषदों का अध्ययन किया था, इसी तरह संपूर्ण योगविधि का सफल अभ्यास भी किया

था। इसी कारण वे 'मन के समान वेगवाले और ज्ञानियों में अग्रगण्य' कहे जाते हैं। इतने उत्कृष्ट ज्ञानी ध्यानी होते हुए भी हनुमानजी भावभक्ति के अत्यन्त अनुरागी हैं। प्रभु के अलख, अगोचर, अव्यक्त, निर्गुण परब्रह्मस्वरूप के आकलन की अपेक्षा इन को नयनाभिराम, परममनोहर सुन्दर साकार स्वरूप की प्रभु की झाँकी बहुत ही प्यारी है। हनुमानजी महाराज निरन्तर प्रभु के मन्जुल मनोज्ञ चरणारबिन्दों का ही अपने चित्त में सदा चिन्तन करते हुए, बाहर से दीन, हीन, जड के समान बने रहते हैं। इन को अपनी बाह्य स्वरूप-विस्मृति रहने का यही कारण है।

मित्रो, हनुमानजी और तुम आवरणों में छिपे रहने के कारण एक तरह से बराबर ही हो। फर्क यही है कि हनुमानजी ज्ञान, ध्यान, भक्तिभाव से भरे प्रभुप्रेम के आवरण में छिपे हुए लोकव्यवहार के कार्य करने में असमर्थ हैं और तुम लोग संसारी माया ममता के बन्धन में लिपटे हुए होकर परलोक के पारमार्थिक काम करने में असमर्थ हो। हनुमानजी लौकिक कार्य समुद्रपार करने में समर्थ हुए कब? जामवन्त जैसे ज्ञानवयोवृद्ध गुरु मिले तब! इसी तरह तुम भी संसारसागर को सुख से पार करने में तभी समर्थ हो सकोगे, जब किसी अनुभवी और ज्ञानी गुरु की शरण लोगे, उस का उपदेश मानोगे। अगर तुम कहो कि ऐसे ज्ञानी गुरु अब मिलते कहाँ हैं? तो इस का समाधान हनुमानजी बडी सरलता से यही कर रहे हैं कि "प्राण निकलते समय जिस प्रभु के नाम को मनुष्य वेमन से एक वार भी उच्चारण कर ले तो संसारसागर से उस का वेडा पार हो जाता है"—

प्राणप्रयाणसमये यस्य नाम सकृत् स्मरन्।
नरस्तीर्त्वा भवाम्भोधिमपारं याति तत्पदम्॥

भगवान् का नाम तो सब गुरुओं का गुरु है, यह किसी को दुर्लभ नहीं, इस के जप करने से कुछ दिन में ही प्रभु की कृपा होगी और उस से सद्गुरु का लाभ हो जायगा। परंतु यहाँ हनुमानजी ने भवसागर पार करने का जो सरल, सस्ता नुसखा बताया है, उस को देखकर तुम कह सकते हो कि महाराजजी! जब मरते समय वेमन से एक ही बार भगवान् का नाम लेने से हम मुक्त हो जायँगे, तो अभी से जिंदगी भर जप तप की खटपट में क्यों पड़ें?

इस विषय में यों समझना चाहिए कि मरणकाल में भगवान् का नाम लेना बडा भारी अलभ्यलाभ है, अच्छे अच्छे भाग्यशालियों को भी इस के पाने का सौभाग्य नहीं होता और अक्सर शोक, मोह, वेदना, वेहोशी आदि के साथ ही मृत्यु होती है। इतना ही नहीं, आज कल के जमाने में तो आकस्मिक मृत्यु की भरमार हो उठी है। नये जमाने के तडक भडक के सभी साधनों और सुखसामग्री के भीतर अकालमृत्यु या आकस्मिक दुर्घटना अच्छी तरह घर किये हुए हैं। यह अभी की बात है कि लाला धनसुखराय ने अपने पुराने

दाँत उखड़वाकर नयी दन्तपंक्ति लगवाई थी, एक दिन वे बड़े आनन्द से गटागट बर्फ का शर्बत पी रहे थे कि उन के नये दाँतों का जबड़ा अपने स्थान से उखड़कर गले में जा अटका। लालाजी का दम घुटने लगा, उस को निकालने का जितना भी यत्न किया गया उतना ही वह गले में धँसता गया और डाक्टर आने के पहले ही लालाजी चल बसे। एक अत्यन्त निपुण विज्ञानाचार्य ने नकली फेंफड़ा बनाया था, उस के जरिये वह तुरत के मरे हुए शव में प्राणसंचार कर तथा कोई नवीन रासायनिक घोल पिलाकर मुर्दे को जीवित कर लेता था। उस डाक्टर का दावा था कि मैं मनुष्य को कम से कम डेढ सौ वर्ष तक न मरने दूँगा। किंतु एक दिन अचानक अखबारों में खबर आई कि उक्त डाक्टरसाहब का ही 'हार्ट फेल' हो गया और उन के नकली हृदय तथा घोल धरे ही रह गये। बिजली, मोटर, रेल, हवाई जहाज, लड़ाई दंगे, शहरों की जमीन धसकना, मकान दुर्घटना, अग्निकाण्ड, कारखानों व खानों का बिस्फोट, भूडोल, बाढ, स्थावर जंगम विष, जहरीली गैसें और अनेक घातक किरण ; इन सब के द्वारा आकस्मिक मृत्यु के साधन बहुत ही सुलभ होते जा रहे हैं। आज कल की ये वस्तुएँ अपने से संबन्ध रखनेवालों के विनाश के सिवा बेखबर, उदासीन, निर्दोष लोगों का भी वध करती हैं। ऐसी दुर्घनाएँ जब कि उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रहीं हैं और ऐसी मृत्यु पूरा विश्वासघातवध कहना चाहिए, तब इन के बीच मरते हुए प्राणी को रामनाम लेने या प्रभुस्मरण करने की फुर्सत ही नहीं मिल सकती। फिर मरते समय रामनाम लेने के लिए अभी से कैसे निश्चिन्त बैठा जा सकता है ?

जिस जमाने में मृत्यु इतनी सुलभ न थी और पूर्ण आयु भोगकर होस हवास दुरुस्त रहते हुए लोग मरते थे, उस जमाने के लोगों ने तो यह सिद्धान्त बना लिया था—

> रे चित्त चिन्तय चिरं चरणौ मुरारेः पारं गमिष्यसि यतो भवसागरस्य।
> प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥

'हे मनीराम, भवसागर से पार जाने के लिए इस नई उम्र से ही भगवान् के चरणों का चिन्तन करते रहो। प्राण निकलते समय तो कफ, वात, पित्त गले को घेर लेंगे, तब उन का स्मरण कैसे होगा ?' इस लिए निष्कर्ष यही है कि भवसागर से पार जाने के लिए अभी से भगवान् का स्मरण करो, इस के लिए मृत्युकाल तक की इंतजारी न होनी चाहिए। और भी—हनुमानजी ने जो कहा है कि "प्राणप्रयाणसमय में भगवान् का नाम एक बार बेमन से भी लिया जाय तो वह भवसागर से पार कर देता है" इस कथन में एक गूढ रहस्य भरा है। इस में ऐसा नहीं कहा है कि अन्तसमय में प्रभुनाम लेते ही पापी मनुष्य तत्क्षण सायुज्यमुक्ति को पाकर ब्रह्ममय हो जाता है, बल्कि यह कहा है कि उस समय के नामस्मरण से भवसागर पार होना अत्यन्त सरल हो जाता है। अर्थात् मुमुर्षु पहले

के पापों के बदले आगे चलकर नीच योनियों में नहीं गिरता, और मरणसमय के नाम-स्मरण से उस के प्रभुप्राप्ति के सत्कर्मों में बहुत ही तीव्रता आ जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो सागर के समान दुष्पार संसारचक्र से निकलने में सुगम से भी सुगम, कुछ तो कोशिस करनी ही पडती है।

मरते समय एक बार के नामस्मरण द्वारा मुक्त होनेवाले पापियों में अग्रगण्य अजामिल ब्राह्मण है। इस के उपाख्यान में ठीक वही बात मिलती है, जो हनुमानजी के कथन की व्याख्या के इन पूर्ववाक्यों में हम कह आये हैं। अर्थात् अन्तसमय में वेमन से एक बार 'नारायण' नाम लेने के कारण अजामिल को कुछ अवकाश मिला और उस से शुभ कर्म करके वह प्रभु के धाम में गया। संक्षेप में वह कथा इस प्रकार है—

कान्यकुब्ज देश में अजामिल नामक एक शास्त्रज्ञ ब्राह्मण शील, सदाचार तथा सद्गुणों से युक्त था। उस ने ब्रह्मचर्य, विनय, यमनियम, सत्यनिष्ठा और पवित्रता के साथ वेदमन्त्रों को ग्रहण किया था। वह गुरु, अग्नि, अतिथि और वृद्धों का सेवक था, अहंकार का उस में नाम भी न था। वह सब प्राणियों का हित चाहता, उपकार करता, किसी के गुणों में दोष नहीं ढूँढता और अनावश्यक नहीं बोलता था। एक दिन वह ब्राह्मण अपने पिता के आदेशानुसार वन से फल फूल समिधा तथा कुशा लेकर लौट रहा था कि मार्ग में एक शूद्र वेश्या के साथ शराब पीता उसे दिखाई पडा। वे दोनों नशे में चूर होकर अनाप शनाप बकते, हँसते, कूदते अत्यन्त निर्लज्ज व्यवहार कर रहे थे, वह मतवाला शूद्र उस कुलटा को मनाता हुआ अपने साथ ला रहा था। दैवयोग से अजामिल उन को चेष्टाओं को देखने लगा और इतने से ही कुसंग का असर अजामिल पर यह हुआ कि वह भी इसी प्रकार, इस वेश्या को प्रसन्न कर अपने अधीन करने को तैयार हो गया। पहले तो उस ने अपने धैर्य और ज्ञान के बल पर मन को विचलित होने से रोकने की बहुत कुछ चेष्टा की, किंतु पूरी शक्ति लगा देने पर भी वह अपने को वश में न रख सका, सदाचार और शास्त्रसंबन्धी उस की सब चेतना नष्ट हो गई। वह मन ही मन उस का चिन्तन करता हुआ वस्त्र भूषण आदि से वेश्या को प्रसन्न करने के यत्न में लग गया। उस के लिए अन्त में अजामिल ने अपने घर की सब संपत्ति समर्पित कर दी और अपनी कुलीन पत्नी का त्याग कर वेश्या के ही साथ रहने लगा।

अब यह कुबुद्धि न्याय अन्याय पापपुण्य का कुछ भी विचार न कर चाहे जहाँ से धन हडपकर वेश्या को देने लगा और उस के बडे कुटुम्ब के पालन में व्यस्त हो गया। वेश्या के मलसमान अपवित्र अन्न से ही वह अपना जीवन बिताता था। वह कभी बटोहियों को लूट लेता, कभी लोगों को जूए में हरा देता, किसी की वस्तु चालाकी से ले लेता तो कहीं से

चुरा लाता था। इस तरह निन्दनीय जीवन बिताते हुए उस की आयु के अस्सी वर्ष चले गये। बूढे अजामिल को वेश्या से अब तक दस पुत्र भी हो गये थे, जिन में सब से छोटे का नाम था नारायण। मा बाप सब मे छोटा होने के कारण उस से बहुत प्यार करते थे, वृद्ध अजामिल ने तो मोह के कारण अपना हृदय बच्चे अजामिल को ही सौंप दिया था, वह उस को तोतली बोली सुन सुनकर, बालसुलभ खेल देख देखकर फूला नहीं समाता था। वह बालक के स्नेह में ऐसा बँधा कि उस को खिलाना पिलाना, साफ सुथरा रखना अपने जिंमे ले लिया था। ऐसी अतिमूढता में उसे यह पता ही न चला कि मृत्यु मेरे सिर पर आ पहुँची है।

अपने अन्तिम दिनों में अजामिल खाट पर पडा पडा नारायण के ही संबन्ध में सोचता रहता था, उस की वृत्तियाँ पुत्र पर ही केन्द्रित थीं। इतने में ही अजामिल ने देखा कि उसे ले जाने के लिए बहुत ही डरावने तीन यमदूत चक्कर काट रहे हैं। उन के हाथों में फाँसी है, भयानक मुख है, काँटे की तरह शरीर के रोएँ खडे हैं और काला रंग है। उस समय बालक नारायण वहाँ से कुछ दूर पर खेल रहा था। विकराल यमदूतों की पैंतरेबाजी को देखकर अजामिल बहुत घबडाया, डर के मारे उस का मल मूत्र निकल गया। इधर यमदूतों ने मौका साधकर उस के गले की तरफ अपनी फाँसी का फंदा फेंक चलाया। इस दशा में उस के प्राण घुटकर निकलना ही चाहते थे कि अजामिल ने आर्तस्वर में अपने पुत्र नारायण को लंबी आवाज लगाई।

इस समय प्राण घुटने के कारण अजामिल प्राणायाम साधने की स्थिति में था, इस अन्तिम क्षण में 'नारायण' इस ध्वनि का अन्तर्नाद ही उस के भीतर से उठ सका, इस कण्ठावरोध के क्षण में वह बिलकुल निर्विषय, यहाँ तक कि अपने प्रिय पुत्र के स्वरूप को भी भूल गया होगा। इस काल में यह 'नारायण' स्थूल शब्द 'वैखरी' रूप में नहीं रह गया था, किंतु 'परा, पश्यन्ती, मध्यमा' स्वरूपों में उस के नाभिकमल तक से झंकृत हो उठा था, अनन्तर इस के; अजामिल ने किसी प्रकार का अन्य चिन्तन किया ही नहीं। फल यह हुआ कि 'नारायण' नाम के भीतर जो 'रं' अग्निबीज और 'यं' वायुबीज हैं, इन्होंने उस के पापों को जलाकर और उडाकर नष्ट कर दिया। इस दशा में अजामिल ने भले ही नाम के अर्थ का अनुसंधान नहीं किया, पर नारायणध्वनि का जैसा सफल उच्चारण ऐन मौके पर हो गया, वह योगियों को भी कठिन है। इसी लिए कहा गया है—

जनम जनम मुनि जतन कराहीं ॥ अन्त राम कहि आवत नाहीं ॥

अस्तु, अब यदि अजामिल शुभकर्म किये हुए होता तो दशरथजी आदि की तरह नामोच्चारण के दूसरे ही क्षण दिव्य धाम में पहुँच जाता, किंतु इस नामोच्चारण से पापी अजामिल के दुष्कर्म ही दूर हुए, एवं पापों का पश्चात्ताप और शुभकर्म करने की बुद्धि उसे हो गई। अभी

पवित्र लोकों की प्राप्ति के लिए उसे प्रयत्न करना ही होगा, फिर वह सच्ची रीति से प्रभु का नाम ले या कोई दूसरा साधन अपनाये।

प्रसंग से यह कह देना भी उचित ही होगा कि "काश्यां मरणान्मुक्तिः" का जो सिद्धान्त है, उस में भी अजामिल के जैसा ही तरीका होता है। विशेषता यही है कि काशी में मरते समय चराचरगुरु शंकर के द्वारा तारकमन्त्र 'राम' का उपदेश मिलता है, अनन्तर मरने के बाद तारक मन्त्र के बल से प्राणी को 'भैरवी यातना' मिलती है और इस में जल भुन-कर प्राणी शीघ्र ही निष्पाप हो जाने से कुन्दन की भाँति चमकने लगता है, फिर शंकरजी के नामोपदेश का दूसरा फल मोक्ष अनायास सुलभ हो जाता है। अब देखना चाहिए कि अजामिल को मुक्ति किस प्रकार हुई। जब यमदूत उस के सूक्ष्म शरीर को खींच रहे थे उस समय 'नारायण' नाम की ध्वनि उठी और वह उसी क्षण विष्णुपार्षदों के कान में भनक गई। भगवान् के पार्षदों ने देखा कि यह प्राणी मरते समय हमारे स्वामी का नाम ले रहा है, अतः वे बडे वेग से झट पट वहाँ आ पहुँचे और डरा धमकाकर यमदूतों को दूर हटा दिया। विष्णुदूतों ने यमदूतों को समझाया कि जैसे जान या अनजान में ईंधन से अग्नि का स्पर्श हो जाय तो वह भस्म हो ही जाता है, वैसे ही जान बूझकर या अनजान में भगवन्नाम का संकी-र्तन करने से मनुष्य के सब पाप भस्म हो जाते हैं। कोई व्यक्ति शक्तिवर्धक अमृत को संयोगवश अनजान में भी पी ले तो वह अपना प्रभाव प्रकट करता ही है, ऐसे ही अनजान में उच्चारण करने पर भी प्रभु का नाम अपना फल देकर ही रहता है। अब तुम अजामिल को मत ले जाओ, क्योंकि मरते समय इस के मुख से भगवन्नाम निकला है जिस से इस ने सारे पापों का प्रायश्चित्त कर लिया। पार्षदों की बात सुनकर उस को अधमरा छोड़कर यमदूत अपने लोक को लौट गये और निष्पाप अजामिल ने आनन्दमग्न होकर प्रभुपार्षदों को प्रणाम किया। अजामिल कुछ कहना ही चाहता था कि वे वहाँ से अलक्षित हो गये। अजामिल निष्पाप तो हो गया था पर अभी वैकुण्ठ जाने के योग्य नहीं हुआ था, अतः पार्षदों ने ऐसा प्रयत्न नहीं किया।

अजामिल ने दोनों ओर के दूतों का पापहारी धर्मसंवाद सुना था, इस से उस के हृदय में शीघ्र ही भक्ति का उदय हो गया, वह अत्यन्त संतप्त होकर अपने पहले कुकर्मों की याद करने लगा, उन कर्मों का फल पाने के डर से उस का रोम रोम काँप रहा था। अब उस को संसार से महान् वैराग्य हुआ और अपने पूर्वाश्रम के धर्माचरण को याद करता हुआ किसी प्रकार उठकर वह हरिद्वार के गङ्गातट पर चला गया। उस देवस्थान के एक मन्दिर में उस ने योगविधि से आसन जमाया और सारी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन में लीन कर लिया एवं मन को बुद्धि में मिला दिया। फिर आत्मचिन्तन के द्वारा उस ने अपने स्वरूप को

गुणों से पृथक् कर भगवान् के दिव्य धाम अनुभवस्वरूप परब्रह्म में जोड दिया। इस तरह जब अजामिल की बुद्धि त्रिगुणमयी प्रकृति से ऊपर उठकर भगवत्स्वरूप में स्थित हो गई, तब उस के सामने वे ही पार्षद फिर आकर खडे हो गये जिन्हें पहले अपने घर में यमदूतों से छुडाते हुए उस ने देखा था। विप्र अजामिल ने सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया। उन के दर्शन के बाद अजामिल ने तीर्थस्थान गङ्गातट में शरीर त्याग दिया और तुरंत ही भगवान् के पार्षदों के समान स्निग्ध श्यामल चतुर्भुज रूप में होकर उन के साथ ही स्वर्णमय विमान द्वारा आकाशमार्ग से भगवान् विष्णु के उत्तम वैकुण्ठधाम में चला गया।

मित्रो, अजामिल के जैसे इतिहासों को ध्यान में रखकर ही हनुमानजी यहाँ कह रहे हैं कि जब प्राणी प्रभु का नाम लेकर संसारसागर को पार कर जाता है तो मैं इस सागर को क्यों न लाँघ जाऊँगा। इस में संदेह नहीं कि अपनी देवशक्ति के बल से हनुमानजी सब कुछ कर सकते थे, परंतु राक्षसी शक्ति के सामने देवशक्ति भी कुण्ठित हो गई थी, तब राक्षसों से मोर्चा लेने के लिए और भी उत्तम शक्ति चाहिए। हनुमानजी में वह शक्ति योगबल की थी। वैसे तो भगवान् शंकर के अवतार होने से वे संकल्पमात्र के प्रयत्न से सृष्टि को उलट सकते थे। फिर भी भक्तमनरंजनार्थ लीला रचने के प्रभु के स्वभावानुसार हनुमानजी भी नरलीला कर रहे हैं, इस में इन का भी यह उद्देश्य है कि हमारी शक्ति और प्रभुप्रेम को देखकर संसार के लोग भी ऐसा ही आचरण करें।

इस में संदेह नहीं कि समुद्र के ऊपर आकाशगमन आदि जितने भी सुन्दरकाण्ड के चरित्र हैं, इन को सिद्धयोगी होकर प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। इस स्थल में योगियों के लिए अनहोनी कोई भी घटना नहीं हुई है, अभी समुद्र पार जाने को उद्यत हनुमानजी के वर्णन में यहाँ कहा गया है कि 'उडने के लिए हनुमानजी प्रसारितबाहु, सीधी गर्दनवाले, पैर समेटे हुए, ऊपर को नजर करके वायु के पराक्रम से युक्त हो गये थे।' यह सिद्धासन जमाये हुए, प्रणायामपूर्वक बन्ध और मुद्रा साधनेवाले योगी की दशा का चित्रण है। ऐसा योगी साधना द्वारा जब अपने मलों को क्षालित कर लेता है तब उस की देह रुई के समान हलकी हो जाने के कारण उसे आकाशगमन की सिद्धि मिल जाती है। योगियों को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ मिलने के प्रसंग में योगदर्शन में कहा गया है—

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।

—विभूतिपाद, सू-४२

शरीर और आकाश के संबन्ध में संयम करने से, तथा हल्के रुई जैसे पदार्थों की धारणा से आकाश में गमन हो सकता है। शरीर और आकाश का व्याप्यव्यापक संबन्ध है, आकाश सब भूतों से हलका और सर्वव्यापी है इस लिए योगी जब आकाश और शरीर

को स्थितिविशेष से संयमित करते हुए लघुता के विचार से रुई आदि की भावना भी करता है तब वह स्वयं उड़ने योग्य हो जाता है। वह स्थिति यही है जिस को हनुमानजी ने इस समय धारण कर रखा है। यहाँ उन का विशेषण 'अनिलविक्रम' है और योगी को आकाशगमन के लिए अनिल यानी वायु का विक्रम, प्राणायाम साधना होता है। विश्वस्त लोगों से सुना गया है कि प्राणायाम के अभ्यास में अमुक व्यक्ति का आसन जमीन से इतना ऊँचा उठ जाता है। तब हनुमानजी तो ऊर्ध्वरेता, सिद्धयोगी थे, उन के लिए आकाश में उड़ना अतिमानुष या आश्चर्य का कर्म नहीं कहा जा सकता। इन कर्मों को लोक में प्रकाश करने का ऋषियों का आशय यही है कि इन आदर्शों का अनुकरण कर लोग योगबल प्राप्त कर अखण्ड प्रभुभक्ति का आनन्द लें। आज कल तो हनुमानजी की उपासना की सौ पचास दण्ड बैठकों में ही इतिश्री समझ ली जाती है। वस्तुतः असली पहलवान तो योगी ही हो सकता है, क्यों कि वज्रसंहननत्व, हस्तिबल (वज्र जैसा शरीर और हाथियों जैसा बल) योग के प्रताप से ही मिलता है। इस लिए सज्जनो, हनुमानजी जिस रामनाम और शरीरसामर्थ्य से छोटे समुद्र को लाँघ गये, उसी तरह तुम भी संसारसागर को पार करने के लिए रामनाम का सहारा लो, अपने भीतर असंभव को भी संभव कर डालनेवाली इच्छाशक्ति और उत्साहशक्ति का संचय करो।

बंदरों के बीच जन्म लेकर, उन की संगति में रहते हुए हनुमानजी ने अपने अंदर कैसा चमत्कारिक बल पुरुषार्थ बढ़ा लिया, प्रभुप्रेम की निष्ठा कैसी तीव्र करली; इस पर विचार करो। यह बात उन के लिए खास ध्यान देने की है जो हनुमानजी को देवांश नहीं, कोरा बंदर या वनचर समझते हैं। वनचर होकर भी उन्होंने मनुष्यों और राक्षसों को अपना दास बना लिया, ऋषि मुनियों को अपना और अपने प्रभु का उपासक बना लिया। ऐसा उन्होंने जोर जबर्दस्ती या अत्याचार से कभी नहीं, किंतु प्रेम, सहानुभूति, सेवाभाव और सदाचार से किया था। आज संसार उन के चरणों में नतमस्तक है। सब कुछ होकर भी हनुमानजी अपनी ख्याति से दूर मूकसेवक के रूप में रहते थे। सरलता, नम्रता के कारण चुप चाप दीन बने रहना इन का स्वभाव था। इन्होंने अब तक ज्ञान, योग, भक्ति की पराकाष्ठा में पहुँचते हुए भी किसी को अपने गौरव का ज्ञान नहीं होने दिया था। अतः साथी बंदरों ने इन्हें न परखा सो तो ठीक, पर आज अकेले रामकाज को जाते देख इन के ऊपर देवताओं को भी संदेह हो गया कि इन से गंभीर राजनीतिज्ञतापूर्ण यह दौत्यकर्म होगा या नहीं? तथाहि—

आकाशात्त्वरितं देवैर्वीक्ष्यमाणो जगाम सः।
दृष्ट्वानिलसुतं देवा गच्छन्तं वायुवेगतः॥ ८॥

परीक्षणार्थं सत्त्वस्य वानरस्येदमब्रुवन् ।
गच्छत्येष महासत्त्वो वानरो वायुविक्रमः ॥ ९ ॥
लङ्कां प्रवेष्टुं शक्तो वा न वा जानीमहे बलम् ।

उस समय हनुमानजी देवताओं के देखते देखते आकाशमार्ग से बड़े तीव्र वेग से जा रहे थे। पवनपुत्र को इस प्रकार वायुवेग से जाते देख देवताओं ने उन की सामर्थ्य की परीक्षा के लिए आपस में इस प्रकार कहा—यह महाशक्तिशाली वानर वायु के समान तीव्र वेग से जा रहा है, किन्तु पता नहीं यह लङ्का में घुस सकेगा या नहीं। अतः इस के बल का पता लगाना चाहिए ॥ ८-९ ॥

एवं विचार्य नागानां मातरं सुरसाभिधाम् ॥ १० ॥
अब्रवीद्देवतावृन्दः कौतूहलसमन्वितः ।
गच्छ त्वं वानरेन्द्रस्य किञ्चिद्विघ्नं समाचर ॥ ११ ॥
ज्ञात्वा तस्य बलं बुद्धिं पुनरेहि त्वरान्विता ।
इत्युक्ता सा ययौ शीघ्रं हनुमद्विघ्नकारणात् ॥ १२ ॥

परस्पर ऐसा विचार कर उन्होंने कुतूहलवश नागमाता सुरसा से कहा कि हे सुरसे, तुम अभी जाकर इस वानरश्रेष्ठ के मार्ग में कुछ विघ्न खड़ा करो और इस की बलबुद्धि का पता लगाकर तुरन्त लौट आओ। देवताओं के इस प्रकार कहने पर सुरसा तुरन्त ही हनुमान्‌जी के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने के लिए गयी ॥ १०-१२ ॥

आवृत्य मार्गं पुरतः स्थित्वा वानरमब्रवीत् ।
एहि मे वदनं शीघ्रं प्रविशस्व महामते ॥ १३ ॥

देवैस्त्वं कल्पितो भक्ष्यः क्षुधासम्पीडितात्मनः ।
तामाह हनुमान्मातरहं रामस्य शासनात् ॥ १४ ॥
गच्छामि जानकीं द्रष्टुं पुनरागम्य सत्वरः ।
रामाय कुशलं तस्याः कथयित्वा त्वदाननम् ॥ १५ ॥
निवेक्ष्ये देहि मे मार्गं सुरसायै नमोऽस्तु ते ।

सुरसा उन के मार्ग को सामने से रोककर खड़ी हो गयी और बोली—हे महामते, आओ शीघ्र ही मेरे मुख में प्रवेश करो, मैं भूख से अत्यन्त व्याकुल थी, अतः देवताओं ने तुम्हें मेरा भक्ष्य बनाया है। तब हनुमान्‌जी ने उस से कहा—हे माता, मैं श्री रामचन्द्रजी की आज्ञा से जानकीजी को देखने के लिए जा रहा हूँ। वहाँ से शीघ्र ही लौटकर श्री रघुनाथजी को उन का कुशल समाचार सुनाकर फिर मैं तुम्हारे मुख में प्रवेश करूँगा। हे सुरसे, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ, मेरा मार्ग छोड़ दो ॥ १३-१५ ॥

इत्युक्ता पुनरेवाह सुरसा क्षुधितास्म्यहम् ॥ १६ ॥
प्रविश्य गच्छ मे वक्त्रं नो चेत्त्वां भक्षयाम्यहम् ।
इत्युक्तो हनुमानाह मुखं शीघ्रं विदारय ॥ १७ ॥
प्रविश्य वदनं तेऽद्य गच्छामि त्वरयान्वितः ।
इत्युक्त्वा योजनायामदेहो भूत्वा पुरः स्थितः ॥ १८ ॥

इस पर सुरसा ने फिर कहा—मुझे बड़ी भूख लगी है अतः एक बार मेरे मुख में प्रवेश करके फिर चले जाना, नहीं तो मैं तुम्हें खा जाऊँगी। तब हनुमान्‌जी ने कहा—अच्छा तो शीघ्र ही अपना मुख खोलो, मैं अभी तुम्हारे मुख में घुसकर तुरन्त ही लङ्का को चला जाऊँगा। ऐसा कहकर हनुमान्‌जी अपना शरीर एक योजन लम्बा चौड़ा बनाकर सामने खड़े हो गये ॥ १६-१८ ॥

दृष्ट्वा हनूमतो रूपं सुरसा पञ्चयोजनम् ।
मुखं चकार हनुमान् द्विगुणं रूपमादधत् ॥ १९ ॥
ततश्चकार सुरसा योजनानां च विंशतिम् ।
वक्त्रं चकार हनुमांस्त्रिंशद्योजनसम्मितम् ॥ २० ॥

हनुमान्‌जी का वह रूप देखकर सुरसा ने अपना मुख पाँच योजन फैलाया,

तब हनुमान्‌जी ने अपना शरीर उस से दूना कर लिया, फिर सुरसा ने अपना मुख बोस योजन किया तो हनुमान्‌जी ने अपनी देह तीस योजन की कर ली ॥ २० ॥

ततश्चकार सुरसा पञ्चाशद्योजनायतम् ।
वक्त्रं तदा हनूमांस्तु बभूवाङ्गुष्ठसन्निभः ॥ २१ ॥
प्रविश्य वदनं तस्याः पुनरेत्य पुरः स्थितः ।
प्रविष्टो निर्गतोऽहं ते वदनं देवि ते नमः ॥ २२ ॥
एवं वदन्तं दृष्ट्वा सा हनूमन्तमथाब्रवीत् ।
गच्छ साधय रामस्य कार्यं बुद्धिमतां वर ॥ २३ ॥
देवैः सम्प्रेषिताहं ते बलं जिज्ञासुभिः कपे ।
दृष्ट्वा सीतां पुनर्गत्वा रामं द्रक्ष्यसि गच्छ भोः ॥ २४ ॥

इस पर जब सुरसा ने अपना मुख पचास योजन फैलाया तो हनुमान्‌जी अँगूठे के समान छोटे से आकार के हो गये और चट उस के मुख में जाकर बाहर निकल आये तथा उस के सामने खड़े होकर बोले—हे देवि, मैं तुम्हारे मुख में जाकर फिर निकल आया हूँ, अब तुम्हें नमस्कार है। हनुमान्‌जी को इस प्रकार कहते देख सुरसा बोली—हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, जाओ श्री रामचन्द्रजी का कार्य सिद्ध करो। हे वानर, देवता लोग तुम्हारा बल जानना चाहते थे अतः उन्होंने मुझे तुम्हारे पास भेजा था। मुझे निश्चय है कि तुम सीताजी को देखकर फिर शीघ्र ही रघुनाथजी से मिलोगे, अब तुम जाओ ॥ २१-२४ ॥

रा० च०—प्यारे प्रभुप्रेमियो, पहले सुदूरंगत आरम्भ के प्रसंगों में रामचरित्र के कई पहलू बतलाये गये थे। जैसे कि कोई इस रामायणी कथा के नायक राम को एक क्षत्रिय राजकुमार मात्र मानते हैं, कोई भारत देश में आर्यों के विस्तार और अनार्यों के साथ संधिविग्रह आदि व्यापार की झलक ही रामायण है ऐसा कहते हैं। किसी को रामायण के रूपक में आर्यों की कृषिविद्या ही नजर आती है. कोई अनर्गलवादी कहते हैं कि प्राचीन

यूनान के 'ईलीयड' नामक महाकाव्य की प्रतिकृति ही रामायणरूप में यहाँ के पण्डितों ने रच डाली, अथवा कहा जाता है कि गौतमबुद्ध के जैसा कोई महान् दैवी आदर्श हिन्दुओं के सामने न होने के कारण उन्होंने लौकिक अलौकिक सर्वगुणसंपन्न रामचरित्र की कल्पना कर उसे बुद्धचरित्र के जवाब में ला खडा किया। राजनीति की रंगीन एनक पहननेवालों का कहना है कि सौतेले या चचेरे भाई देव दानव उर्फ सुर असुरों में साम्राज्यप्राप्ति के लिए महान् विग्रह चला आ रहा था, एक वार अपने महान् प्रतिपक्षी रावण से देववर्ग खूब ही विताडित, पराजित, अपमानित और दासीकृत हो गया, तब कूटनीतिक देवपक्षपातियों ने अवधराज्य में एक षडयन्त्र रचा और महाराज दशरथ आदि के अनजान में मन्थरा आदि को अपनी ओर फोड़कर रामजी को राक्षससाम्राज्य के विरुद्ध उभाडा और उस के विनाश के लिए गुप चुप वनवास दिला दिया। इसी के फलस्वरूप रामायणकाण्ड हो गया। इस के बाद प्रेमीवृन्द का परमात्मविभूतिरूप आस्तिकपक्ष तो है ही। कोई चाहे जो कुछ कहे, पर हमारे प्यारे राम के अंदर उक्त सभी पक्ष समष्टिरूप से समाये हुए हैं, सर्वान्तरात्मा, सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी, सर्वभासक राम की यही विशेषता है, वे इस जगत्प्रपंचमात्र के सर्वाधिष्ठान तो हैं ही। समुद्र इव गम्भीर राम में नदियों की तरह सब पक्ष समा जाते हैं, पर जो मानव व्यापकदर्शी नहीं हैं, वे अपने क्षुद्र आशयों के अनुसार, कूपमण्डूकबुद्धि से जितना देख पाते हैं उतने ही को एकमात्र सत्य समझ लेते हैं। फिर भी इस राजनीतिक पक्ष की सिद्धि के लिए वाल्मीकि और अध्यात्म में काफी आधार मिल जाता है। थोडी देर के लिए भक्तिपक्ष को एक ओर कर दें तो कम से कम वाल्मीकिरामायण में तो देवताओं की राजनीतिक कारंवाई ही आदि से अन्त तक नजर आती है। इसी अध्यात्मरामायण में देख लो, देवताओं ने ही एकान्त में सरस्वती के द्वारा मन्थरा को फुसलाया, उधर विवाहो-परान्त जब सीता के साथ राजकुमार रामचन्द्र सुख चैन के दिन बिता रहे थे, तब देवताओं के कूटनीतिक सलाहकार नारदजी अचानक राम के अन्तरङ्ग रनिवास में गुप चुप जा घुसे और एकान्त में राक्षसों के खिलाफ कारंवाई करने के लिए उन्हें खूब ही भर दिया। यह षडयन्त्र इस लिए रचा गया कि राम के माध्यम सिवा, और किसी के वश का यह काम न था और पुत्रस्नेही वृद्ध राजा राक्षसराज्य के खिलाफ राम को भेजने के लिए कभी तैयार न होते। विश्वामित्र के प्रसंग में वन के रंग ढंग से यह पहले ही ज्ञात हो चुका था। और राम को हर हालत में आदर्श व मर्यादा का पालन करना ही था, वे पिता की आज्ञा भंग कभी न करते, इस लिए किसी बहाने एक बार पिता से वन जाने के लिए कहलवा लिया, फिर तो उन की इच्छा न होते हुए भी वे वन को चल ही पडे।

राम की अलौकिक तेजस्विता का कारण था उन के जन्म या गर्भवास के पहले से

ही चले आनेवाले अतिमहान् संस्कार। दशरथ कौसल्या की तपस्या, साक्षात् विष्णु को उन के गर्भ में लाने के लिए देवताओं की प्रार्थना, पुत्रेष्टि यज्ञ और पवित्र आग्नेय चरु द्वारा राम का गर्भ में आना; ये सब विलक्षण संस्कार उन्हें तेजस्वी बनाने में समर्थ हुए। यों तो शालग्राम की बटिया क्या छोटी, क्या बड़ी; सब में एक सा ही परमात्मा का प्रभाव है, इसी तरह परमात्मा के अंश हम में भी परमात्मा की सब शक्तियाँ भरी हुई हैं, पर हम परमात्मा से बहुत काल पूर्व बिछुड़कर करोड़ों योनियों में घूमते घूमते पुराने पड़ गये, हमारे माता पिताओं में तपस्या नाम को भी नहीं रही, हमें जन्म लेने के लिए प्रेरणा करनेवाले बुरे कर्म हैं और माता पिता विषयभोग को ही एकमात्र सर्वस्व, मुख्य ध्येय मानते हुए, संस्कार किस चिड़िया का नाम है यह कतई नहीं जानते, उन के कृत्यों से भावी संतति यन्त्रणा भोगती हुई अकाल में ही मृत्यु का ग्रास बने या नरक में पड़े इस की किसी को चिन्ता नहीं। यदि रामजी को अवतरित करनेवाले कारणों में से आज कल की संतानोत्पत्ति के लिए किसी एक संस्कार का भी लवलेश हो जाय तो ऐसी संतान अपना और कुल, ग्राम, देश का कायापलट कर उद्धार कर सकती है। यद्यपि युगधर्म और प्रारब्ध भी इन बातों में कारण हैं पर सब के ऊपर पुरुषार्थ ऐसा प्रबल है कि वह काले को सफेद करने में समर्थ है। अस्तु, उस काल के देवताओं में तप संस्कार आदि की विशेषताएँ सब थीं, पर राक्षस कहे जानेवाले इन के बन्धु रावण आदि इन से प्रत्येक बात में बढ़ चढ़कर थे। इसी वजह से देवताओं ने भगवान् राम को अवतरित कराकर शत्रुओं का विनाश कराने के लिए उन्हें अनेक चेष्टाओं से वन में भेजा।

इधर भगवान् राम को पूर्वोक्त विशेषताओं के बल से मर्यादापालक रूप में अवतरित होना पड़ा, इस कारण देवताओं की कूटनीति के अनुसार वन को चलने पर भी वे सब काम अपने सीधे सच्चे स्वाभाविक ढँग से ही करते चले आ रहे हैं। इसी कारण, उक्त राजनीतिक पक्ष पर विशेष ध्यान न देते हुए भगवान् राम ने दण्डकारण्य के कुटीर, आश्रम, तपोवनों के आनन्दोल्लास में बनवास के तेरह वर्ष बिता डाले। क्योंकि प्रभु का छिपा हुआ मुख्य उद्देश्य तो यही प्रेमी तपस्वियों की पर्णशालाओं की महमानी करना था। दण्डकारण्य में प्रभु के आते ही देवताओं ने कुछ सड़े गले नरकंकालों के ढेर इकट्ठे कर कुछ भोले ऋषियों से भगवान् के प्रति कहलवा दिया कि 'निसिचरनिकर सकल मुनि खाये।' असुरसंहार प्रभु का मुख्य उद्देश्य न होने से हो, ऋषियों के आगे भुजा उठाकर उन्होंने पृथ्वी को निसिचर-विहीन करने का प्रण तो कर लिया, पर मुनियों से आवभगत कराने और पञ्चवटी के सैर सपाटे में पूरा एक युग बिता दिया। वन से जब तक प्रत्यक्ष छेड़ छाड़ असुरों ने न की तब तक अपनी तरफ से कुछ नहीं किया। कहावत है कि गङ्गा तो आने ही वाली थी,

इत्तिफाक से भगीरथ के सिर पड़ गई। इसी तरह भगवान् अपने प्रेमियों की खातिर अवतार लेने ही वाले थे, इधर देवताओं के कार्य का उन्हें बहाना मिल गया। इसी लिए अब इतने दिनों के बाद देवकार्य पूरा करने के लिए सीताहरण हो जाने पर उन की खोज के लिए अपने दूत हनुमानजी को भगवान् लङ्का में भेज रहे हैं।

भगवान् की इतनी लंबी उदासीनता को देखकर देवताओं ने समझा कि इन्होंने हमारे कार्य की उपेक्षा कर दी है, इस लिए उन को भगवान् के कार्यों के प्रति अविश्वास होने लगा था। उन से साफ साफ बातचीत करने में देवता यों झिझकते थे कि भगवान् के आगे पीछे हमेशा ऋषि मुनि लगे रहते थे, पूरी तौर से भगवान् उन के हो गये थे। उन के पास जाकर लड़ाई झगड़े की चर्चा करने पर कोई तपस्यादग्ध ऋषि शाप दे डाले तो कैसा होगा? हनुमानजी को आज लङ्का जाते देख देवों को कुछ संतोष हुआ था पर चित्त में संदेह रहने से हनुमानजी की सामर्थ्य के बारे में इन्हें अविश्वास था। देवताओं ने अभी उन का कोई पराक्रमवैभव देखा न था, उन का पूर्व शंकरस्वरूप औढरदानी या भोलानाथ प्रसिद्ध ही था। और जैसे सब देवता रावण से सताये जाकर, उस की कोई न कोई ड्यूटी अदा करते थे वैसे ही शंकरजी को भी अपने गौरव के माफिक ही सही, उस की एक चाकरी बजानी पड़ती थी। वह यह कि रावण से अपनी पूजा कराने के लिए नित्य ही उन्हें कैलास से लङ्का आने को मजबूर होना पड़ता था। देवताओं ने देखा कि शंकरजी की भी उन दीन ब्राह्मणों की सी दशा है जो न्योते की तलाश में खुद ही यजमान के यहाँ जा पहुँचते हैं। शंकरावतार हनुमानजी की परीक्षा लेने की कामना देवगणों में इसी लिए हुई, कि कहीं दीनतावश इन में राजनीतिक दिवालियापन तो नहीं है? इसी लिए इस सुरसा नामक खुर्राट बुढ़िया को परीक्षार्थ भेजा, जो जन्म से ही पैंतरेबाज नागों की जननी थी। हनुमानजी पवनसुत; और यह पवन का आहार करनेवाली भुजंगिनी उन से सवा सेर थी ही।

सुरसा ने हनुमानजी की भली प्रकार परीक्षा ली, उस ने उन का बल, पुरुषार्थ, बुद्धिवैभव, वचनचातुरी, नम्रता, प्रत्युत्पन्नमतित्व; थोड़े में सब परख लिया कि ये कोरे भँगेड़ी बंभोलानाथ ही नहीं हैं। बानर की दृष्टि से देखें तो हनुमानजी को योगबल से अणिमा महिमा आदि सब सिद्धियाँ प्राप्त थीं, इस लिए सुरसा के सामने उन्होंने जितना चाहा अपने शरीर को बड़ा छोटा कर लिया। और सर्प व्यालों की माता सुरसा भी अपने मुख को यथेच्छ फुलाकर उसी प्रकार बढ़ा सकती थी जैसे आज कल के नाग अपना फण चौड़ा कर लेते हैं। नागों का वायुप्रधान लचीला शरीर होता है और संकोच विकास से सहज में छोटा बड़ा हो सकता है। अस्तु, सुरसा ने हनुमानजी की महिमा जान ली, उस वृद्ध माता ने हनुमानजी पर वत्सल होकर देवताओं का भेद बता दिया और अपने कार्य में सफल

होने का उन्हें आशीर्वाद दिया। देवताओं ने सुरसा को इसी लिए भेजा था कि हम में से कोई गया और हनुमानजी विगड उठे तो क्या बीतेगी? इस को माता समझकर कुछ नहीं कहेंगे। सो ऐसा ही हुआ, उन दोनों का बडा मधुर स्नेहसंमेलन हुआ, इस के बाद क्या प्रसंग चला सो देखना चाहिए—

इत्युक्त्वा सा ययौ देवलोकं वायुसुतः पुनः।
जगाम वायुमार्गेण गरुत्मानिव पक्षिराट्॥ २५ ॥
समुद्रोऽप्याह मैनाकं मणिकाञ्चनपर्वतम्।
गच्छत्येष महासत्त्वो हनूमान्मारुतात्मजः॥ २६ ॥
रामस्य कार्यसिद्ध्यर्थं तस्य त्वं सचिवो भव।

ऐसा कहकर सुरसा देवलोक को चली गयी और श्री हनुमान्जी फिर आकाश मार्ग से पक्षिराज गरुड के समान चलने लगे। इसी समय समुद्र ने भी सुवर्ण और मणियों से युक्त मैनाक पर्वत से कहा—देखो, ये महाशक्तिशाली पवनपुत्र हनुमान्जी रामकार्य के लिए जा रहे हैं, इन की सहायता करो॥ २५-२६॥

सगरैर्वर्धितो यस्मात्पुराहं सागरोऽभवम्॥ २७ ॥
तस्यान्वये बभूवासौ रामो दाशरथिः प्रभुः।
तस्य कार्यार्थसिद्ध्यर्थं गच्छत्येष महाकपिः॥ २८ ॥
त्वमुत्तिष्ठ जलात्तूर्णं त्वयि विश्राम्य गच्छतु।
स तथेति प्रादुरभूज्जलमध्यान्महोन्नतः॥ २९ ॥

पूर्वकाल में मुझे सगरपुत्रों ने बढ़ाया था इसी से मैं सागर कहलाता हूँ। ये दशरथनन्दन भगवान् राम उन्हीं के वंश में प्रकट हुए हैं और ये कपिराज उन का कार्य सिद्ध करने के लिए जा रहे हैं। तुम तुरन्त ही जल से ऊपर उठ जाओ, जिस से ये तुम्हारे ऊपर कुछ देर विश्राम लेकर आगे जायँ। तब मैनाक पर्वत 'बहुत अच्छा' कहकर तुरन्त पानी के ऊपर बहुत ऊँचा निकल आया॥ २७-२९॥

रा० च०—प्रभुप्रेमी सज्जनो, समुद्र ने मैनाक से कहा कि तुम हनुमानजी को सहारा देकर आराम पहुँचाओ। इन जड व्यक्तियों के कथनोपकथन का भाव यह है कि मैनाकनामक छोटा सा पर्वतखण्ड दक्षिण समुद्र के बीच में किन्ही भौगोलिक घटनाओं से कहीं दूर से बहकर आकर हरे भरे टापू के रूप में हो गया था। इधर का समुद्र मोती व मूँगा के लिए प्रसिद्ध ही है, जो इस पर्वतीय टापू पर बहुत मात्रा में जमा होंगे। यह टापू यदि

हिमालय का पुत्र था तो अधिकांश बरफ का होने से अवश्य ही तैरता रहा होगा। ध्रुवसागरों की ओर अब भी हजारों मन के बरफानी टापू 'आइसलेंड' नाम से तैरते पाये जाते हैं, रैवाल-सर तीर्थ में पत्थर मिट्टी के ही शैलखण्ड तैरते हैं। अतः इस हरे भरे मैनाक के चलायमान होने में अचरज न होना चाहिए। इस के ऊपर गले हुए बरफ का मधुर जल, फल फूल आदि की लुभावनी विशेषता ही पथिक को बरबस इस पर आराम करने के लिए अपनी ओर खींच सकती है। बंदरस्वभाववश हनुमानजी का मन पहले पहल इस पर विश्राम करने का हुआ होगा, फिर कर्तव्यपालन की तत्परता ने उन्हें ऐसा न करने दिया। अपनी शोभा को दिखलाना ही मानो मैनाक का हनुमानजी को बुलाना था। कथा में सरसता या मनोरंजकता लाने के लिए आलंकारिक भाषा में समुद्र के द्वारा इस प्रकार रामजी का प्रत्युपकार करना क्रान्तदर्शी ऋषि ने कह दिया है।

सागर का उपकार सगरपुत्रों द्वारा उस को खोदने की जिस घटना पर आश्रित है वह संक्षेप में इस प्रकार है—

श्री रामचन्द्रजी से करीब पचीस पीढ़ी पूर्व सूर्यवंश में प्रसिद्ध सत्यप्रेमी राजा हरिश्चन्द्र हो गये हैं, इन की ही आठवीं परंपरा में महाराज सगर हुए थे। सौतिया डाह से जलकर विमाताओं ने सगर के जन्म के पहले इन की माता को गर (विष) खिला दिया था। परंतु प्रभुप्रताप से इन का कुछ भी नहीं बिगड़ा और उस 'गर' को साथ लिये हुए ही ये पैदा हुए थे, जिस से इन का नाम 'सगर' पड़ गया। ये बड़े यशस्वी, चक्रवर्ती सम्राट् थे, इन्होंने अपने गुरु और्वऋषि के आदेशानुसार अश्वमेध यज्ञों के द्वारा सर्वदेवमय भगवान् की आराधना की थी। इस प्रसंग में एक बार जो घोड़ा छोड़ा गया था उसे इन्द्र चुराकर ले गया और महर्षि कपिल के आश्रम में उसे छिपा दिया। इधर महाराज सगर के साठ हजार पुत्र बड़ी तत्परता से घोड़े की खोज करने लगे पर उस का कहीं पता न चला, उन्होंने वन, पर्वत और सारी पृथ्वी छान डाली, अन्त में बल के दर्प से पृथ्वी को भी खोद डाला। खोदते खोदते पूर्व और उत्तर कोण के प्रदेश में उन्हें ध्यानमग्न कपिलजी और अपना घोड़ा मिला। अस्तु, उन साठ हजार पराक्रमी सगरपुत्रों से खोदा गया वह महान् भूभाग ही सागर कहलाया। उस समय महासमुद्र कुछ दूर पर रहा होगा, इन प्रबल राजकुमारों द्वारा अनेकों प्राकृतिक भूखण्डों और गर्तों को तोड़ फोड़कर एक में कर देने से इधर आने के लिए समुद्र को मार्ग मिल गया। समुद्र की यह सीमावृद्धि सूर्यवंशियों द्वारा हुई थी अतः उस वंश के उपकार का स्मरण कर समुद्र आज रामकाज में हाथ बँटाकर सूर्यवंश का प्रत्युपकार करना चाहता है। इसी लिए वह अपने आश्रित मैनाक को हनुमानजी की सेवा करने के लिए कह रहा है। समुद्र जड़ होने से किसी का प्रत्युपकार करे या न करे, यह तो निश्चित है कि इस की

सीमावृद्धि सगरपुत्रों ने अवश्य ही उसी प्रकार की थी जैसे कि अब अरबसमुद्र और भूमध्यसमुद्र स्वेजनहर द्वारा मिला दिये गये हैं।

अब मैनाक समुद्र का आश्रित कैसे बना यह भी देखना चाहिए। पहले कहा गया है कि मैनाक हिमालय का पुत्र है और वहाँ से उछलकर इस ने समुद्र की शरण ली है। क्योंकि इन्द्र सब पर्वतों को तरह इस के भी पंख काटना चाहता था। इस घटना को अस्वाभाविक न मानना चाहिए। इस समय धरातल की जो अवस्था है, वह सुदूर प्राचीन काल अर्थात् इस कल्प के आरम्भकाल में ऐसी न थी। पहले पहल यहाँ लता, वृक्ष या जल का भी कहीं नाम निशान न था। वैज्ञानिकों ने ऐसा निर्णय किया है कि अब से करीब दो करोड़ चालीस लाख वर्ष पहले यह धरती अत्यन्त उत्तप्त दशा में थी। ईश्वरेच्छा या नक्षत्रों के आकर्षण विकर्षणरूप समुद्रमन्थन से चन्द्रपिण्ड भूमण्डल से पृथक् हो चुका था, उस समय पृथ्वी दहकती हुई अग्निज्वालाओं का पिण्डमात्र थी। पत्थर और कची धातुएँ कुछ वाष्परूप, अधिकांश द्रवरूप (पिघली हुई) और कहीं कहीं अर्धघन (कुछ कडी) दशा में थीं। उस समय अधजमे पर्वत तरलरूप में जलते हुए प्रचण्ड अंधड़ों के झोके से तरंगों के समान इधर उधर फेंके जाते थे। लाखों वर्ष तक यही अवस्था रही, परंतु ज्यों ज्यों धीरे धीरे समय बीतता जाता था और धरती का ताप घटता जाता था, त्यों त्यों वायुमण्डल में से वाष्पीभूत धातुओं और पत्थरों का द्रव जलरूप में जमकर वरसता जाता था और धरातल का द्रव भी जमकर ठोस होता जाता था। जब पृथ्वी के ऊपर बारह सौ अंश की गर्मी रह गई तब उस के ऊपरी तल का परत मलाई की तरह जमकर अचल होता गया, वायु के आघातों से उस के जहाँ तहाँ जमते समय इकट्ठे होने से ऊँचे नीचे पहाड़ बनते गये। फिर भी ऊपर के पर्त के भीतर की ओर बडवानल के उत्ताप से पृथ्वी खौलती ही रहती थी, उस का बहुत सा ऊपरी भाग अचल हो चला था पर भीतरी भूगर्भ में गन्धकादि आग्नेय धातुएँ खौलती हुई पृथ्वी के ऊपर विस्फोट करती रहती थीं, जिन के चिह्न अब तक कई जगह स्थल पर तथा अत्यधिक महासागरों के बीच ज्वालामुख पर्वतों के नाम से विख्यात हैं। आज भी इन के चलने से भूकम्प हो जाता है, धरती फट जाती है, कितने ही द्वीप डूब जाते और कितने ही नये निकल आते हैं।

पृथ्वी की शैशव अवस्था में जिस स्थल पर कठोर चट्टानें जम जाती थीं वहाँ भीतर से ऊष्मा या वाष्प निकलने का मार्ग रुक जाने से पर्वतीय चट्टानों में अक्सर ही विस्फोट होते रहते थे और उस से बड़े बडे पहाड़ी टुकड़े पचासों, सैकड़ों कोस दूर जा गिरते थे। विस्फुटित स्थान में गला हुआ पत्थर का लावा, गन्धकीय द्रव्य, चुम्बकीय धातुएँ नवीन शिखररूप में निकल आती थीं। इन विस्फोटों में उडते हुए पर्वतखण्ड ही पुराणों की भाषा में पंखोंवाले

पर्वत कहे जा सकते हैं, जो उस काल की आदिम छिटपुट वस्ती बस जाने पर उस के ऊपर भी जा गिरते थे और उन नवीन प्राणियों का चूर्ण कर देते थे। पुराणों में लिखा है कि इन्द्र ने पर्वतों के पक्ष काट दिये, जिस से वे जननाश का ऐसा उपद्रव न कर सकें। इस का भाव यह है कि अब विस्फोटों की ऊष्मा से बादल अधिकाधिक बनकर बरसते थे, इन्द्र वर्षा के देवता और मेघों के राजा हैं, अन्धड़ तूफानों के बीच होती हुई वर्षा में ऋण और धन बिजली से भरे हुए बादल जब आपस में संघर्ष करते थे, तब उन के बीच कड़कड़ाती हुई बिजली का दमक उठना ही इन्द्र का वज्र था। इस वज्र का प्रहार स्वभाव से ही ऊँचे पर्वतों पर अक्सर होता है पर उस युग के चुम्बकीय और आग्नेय पर्वतशिखरों पर बहुत ही होता था, जिस से वे टेढ़े तिरछे महान् शिखर टूक टूक हो जाते थे। राजा इन्द्र ने इसी तरह सब पर्वतों का पक्षछेदन कर दिया।

अब हिमालय काफी ठण्डा हो चुका था, उस की ऊँची चोटियों पर बरफ की पक्की तहें जम चुकी थीं। इसी बीच इस में बहुत दिन का रुका हुआ भयंकर विस्फोट हुआ, कम्पन से सारी पृथ्वी डगमगा गई, उग्र ध्वनि से ब्रह्माण्ड थर्रा गया और इस विस्फोट से हिमालय का एक महान् बर्फानी खण्ड आकाश में सैकड़ों कोस उछलता हुआ दक्षिण समुद्र में जा गिरा। यही हिमालय का पुत्र मैनाक था जिस के लिए कहा जाता है कि वह इन्द्र के वज्रप्रहार के भय से समुद्र में छिपकर सुरक्षित हो गया था। भाव यही है कि यह पर्वतराज का पुत्र कहीं मैदान में गिरता तो चुम्बकीय आकर्षणों से खिंचकर इन्द्र का वज्रप्रहार इस पर अवश्य होता, पर दक्षिणदिशावर्ती भूमध्यरेखा के कटिबन्ध में वर्षा बहुत कम होती है, उधर से मानसून या मरुद्गण उठकर उत्तर में पहाड़ों से रुकते हैं तब वर्षा होती है। अतः वर्षा और बादल बहुत ही शिथिल होने से मैनाक के ऊपर इन्द्र को वहाँ वज्रप्रहार करने का अवसर ही न मिलता था। मैनाक का यह चरित्र पिछले त्रेतायुग का है जिस को कम से कम पंद्रह सोलह लाख वर्ष हो गये, परंतु पर्वतों के पंख काटे जाने की घटना उस से अत्यन्त पूर्वकाल की है।

समुद्र और मैनाक का जो यहाँ संवाद दिखाया गया है या अन्यान्य स्थलों में भी जडपदार्थों का चेतन की तरह काम करना, बोलना चालना बताया जाता है, वह ऋषियों का पुराना इतिहास स्मरण रखने के लिए वर्णन करने का एक मनोहर या आलङ्कारिक तरीका है। इसीलिए तो निरक्षर ग्रामीण लोग सृष्टि की उत्पत्ति विकास आदि की घटनाओं को मनुष्यों की व्यावहारिक घटनाओं की तरह पूरी पूरी याद कर लेते हैं। यह उत्प्रेक्षा अलंकार का वर्णन कहा जाता है। जैसे कि भर्तृहरिजी ने इसी मैनाकवाली घटना को मानवीय रूप देकर भगोड़े मैनाक पर पिता के कष्ट में सहायक न होने का दोषारोप किया है—

वरं पक्षच्छेदः समरमघवन्मुक्तकुलिश-प्रहारैरुद्दच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः ।
तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे न चासौ संपातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ॥

मैनाक को लहराती हुई अग्नि की लपटों से विकराल वज्रप्रहारों द्वारा इन्द्र के साथ संग्राम में अपने पंख कटा लेना उचित था, यह किसी तरह उचित न था कि विपत्तिग्रस्त पिता हिमालय को छोड़कर वह समुद्र में गिर जाय। अर्थात् संकट आने पर पराये की भी मदद करनी चाहिए, ऐसी दशा में कुटुम्बीजन तो कदापि त्यागने योग्य नहीं, हमारे संकटों को दूर करने में उन्होंने अगणित क्लेश उठाये थे। यहाँ कथाप्रसंग में समुद्र भी मैनाक से कहता है कि तुम ने पिता के साथ तो गलती की है पर अब फिर मौका आया है कि रामजी की विपत्ति में सहायक हुए हनुमानजी की मदद कर अपना कलङ्क मोचन कर लो। मैनाक के मन में यह सलाह जँच गई, तथाहि—

नानामणिमयैः शृङ्गैस्तस्योपरि नराकृतिः ।
प्राह यान्तं हनूमन्तं मैनाकोऽहं महाकपे ॥ ३० ॥
समुद्रेण समादिष्टस्त्वद्विश्रामाय मारुते ।
आगच्छामृतकल्पानि जग्ध्वा पक्वफलानि मे ॥ ३१ ॥
विश्रम्यात्र क्षणं पश्चाद्गमिष्यसि यथासुखम् ।
एवमुक्तोऽथ तं प्राह हनूमान्मारुतात्मजः ॥ ३२ ॥
गच्छतो रामकार्यार्थं भक्षणं मे कथं भवेत् ।
विश्रामो वा कथं मे स्याद् गन्तव्यं त्वरितं मया ॥ ३३ ॥
इत्युक्त्वा स्पृष्टशिखरः कराग्रेण ययौ कपिः ।

अनेक मणिमय शृंगों के ऊपर मनुष्याकार से स्थित होकर मैनाक ने जाते हुए हनुमानजी से कहा—हे महाकपे, मैं मैनाक हूँ। हे मारुते, समुद्र ने मुझे तुम्हें विश्राम देने के लिए आज्ञा दी है। आओ मेरे ये अमृततुल्य फल खाओ, कुछ देर यहाँ विश्राम करके फिर आनन्दपूर्वक चले जाना। मैनाक के इस प्रकार कहने पर पवनपुत्र हनुमान्जी बोले कि रामकार्य के लिए जाते हुए मैं भोजनादि कैसे कर सकता हूँ ? और मुझे जल्दी ही जाना है, अतः विश्राम का अवकाश भी कहाँ है ? ऐसा कहकर कपिश्रेष्ठ हनुमान्जी उस के शिखर को केवल अँगुली से छूकर आगे चल दिये ॥ ३०-३३ ॥

किञ्चिद्दूरं गतस्यास्य छायां छायाग्रहोऽग्रहीत् । ३४ ।
सिंहिका नाम सा घोरा जलमध्ये स्थिता सदा ।
आकाशगामिनां छायामाक्रम्याकृष्य भक्षयेत् । ३५ ।
तया गृहीतो हनुमांश्चिन्तयामास वीर्यवान् ।
केनेदं मे कृतं वेगरोधनं विघ्नकारिणा ॥ ३६ ॥

वे कुछ ही आगे बढ़े थे कि उन की छाया को एक छायाग्रह ने पकड़ लिया। वह सिंहिका नाम की एक घोर राक्षसी थी, जो सदा जल में रहती हुई आकाश में जाते हुए जीवों की छाया पकड़कर उन्हें खींच लेती और खा जाया करती थी। उस से पकड़े जाने पर महापराक्रमी श्री हनुमान्‌जी सोचने लगे—यह ऐसा कौन विघ्न-कारक है जिस ने मेरा वेग रोक लिया ॥ ३४-३६ ॥

दृश्यते नैव कोऽप्यत्र विस्मयो मे प्रजायते ।
एवं विचिन्त्य हनुमानधो दृष्टिं प्रसारयत् ॥ ३७ ॥
तत्र दृष्ट्वा महाकायां सिंहिकां घोररूपिणीम् ।
पपात सलिले तूर्णं पद्भ्यामेवाहनद्रुषा ॥ ३८ ॥

यहाँ कोई भी दिखाई तो देता नहीं, इस से मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। ऐसा सोचते सोचते हनुमान्‌जी ने अपनी दृष्टि नीचे की ओर की तो उन्हें वहाँ बड़े विकराल रूप और स्थूल शरीरवाली सिंहिका राक्षसी दिखलायी दी। उसे देखते ही वे तुरन्त जल में कूद पड़े और बड़े क्रोध से उसे लातों से ही मार डाला ॥ ३७-३८ ॥

रा० च०—प्यारे सज्जनो, अभी हनुमानजी सुरसा से अनुनय विनय कर छूटे ही थे कि इतने में यह सिंहिका का दूसरा विघ्न खड़ा हो गया। इस से मालूम होता है कि महान् कार्यों की सिद्धि में विघ्न अवश्य पड़ते हैं। उन से न घबड़ाकर जो उन पर विजय पाता है उसी का सफलता की विजयलक्ष्मी वरण करती है। 'विघ्नैः पुनः पुनः प्रतिहन्यमानाः प्रारब्ध-मुत्तमगुणा न परित्यजन्ति।' अच्छे अच्छे गुणों से युक्त जो उत्तम श्रेणी के मनुष्य हैं वे विघ्नों से बारंबार विताड़ित होकर भी प्रारम्भ किये हुए काम को बीच में नहीं छोड़ते। इस नीति के अनुसार हनुमानजी के सामने सिंहिका का विघ्न आ खड़ा हुआ, तब वे उस का विनाश करने के लिए उद्यत हो गये, उन्होंने सिंहिका को लातों से मार डाला। इस से किसी को यह न समझना चाहिए कि उन्होंने स्त्रीवध का अपराध किया था। यद्यपि स्त्रियों के अबलात्व का ध्यान कर एक समान अपराध में भी पुरुषों की अपेक्षा उन्हें हलका दण्ड दिया

जाता है। जैसे कि सुग्रीवपत्नी परनारी को कुदृष्टि से देखने पर बाली को भगवान् ने प्राण-दण्ड दिया था, और पुंश्चली शूर्पणखा को अनेक पुरुषों पर कुदृष्टि करने के अपराध में केवल विरूप ही किया। परंतु शूर्पणखा की अपेक्षा सिंहिका का अपराध बहुत विस्तृत था। सिंहिका आकाश से उड़कर जानेवाले प्राणीमात्र को खाती रहती तो उस का वह स्वाभाविक कर्म उतना भारी न होता, इस में पक्षपातपूर्ण कुकृत्य इस का था राक्षसों पर रियायत करना तथा दूसरे जन्तुओं को खा जाना। इस लिए हनुमानजी ने उस का खातमा कर देना ही उचित माना।

वाल्मीकिजी ने सिंहिका को राहु की माता बतलाया है, जैसे राहु सूर्य चन्द्र का ग्रास कर लेता है इसी प्रकार यह आकाशचारियों को उन की छाया से ही पकड़ लेती थी। इस वर्णन से पाया जाता है कि सिंहिका महाभयानक, कोसों लंबे डीलडोल और विकराल गहरे मुखवाला कोई जलजन्तु था। शास्त्रों के उल्लेख से पता चलता है कि पुराने जमाने में योजनों लंबे चौड़े जल जन्तु होते थे, जैसे कि—

अस्ति मत्स्यो तिमिर्नाम शतयोजनविस्तरः।
तिमिंगिलस्ततोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघव॥

जलजन्तुओं का स्वभाव है कि वे एक बार लंबी साँस लेकर बहुत काल तक पानी में रहे आते हैं, फिर काफी देर बाद शिकार आदि से मौका पाकर गहरी साँस और घाम लेने के लिए बाहर निकलते हैं। अर्थात् इन लोगों का साँस लेना हमारे पानी पाने के समान कभी कभी होता है। महाकाय अजगरों के बारे में प्रसिद्ध है कि वे साँस के जरिये समीपस्थ जीव जन्तुओं को खींच लेते हैं। इसी न्याय से सिंहिका जब समुद्र के ऊपर साँस लेती होगी तब वहाँ की वायु में अवश्य आँधी सी आ जाती होगी। और जब उड़नेवालों का आधार वायु उस के भीतर खिंचा चला गया तो पक्षी स्वतः उस के आहार हो गये, इस रीति से पक्षी खाने की उस की आदत ही पड़ गई होगी। राहु की माता उसे बतलाने का भाव यह है कि गिरिगुहा की तरह उसकी देह बहुत पोली थी और मुख में झाँकने पर गहरा अंधेरा दिखलाई पड़ता था। राहु भी अन्धकारस्वरूप है चन्द्र सूर्य को ग्रहण करने की उस की समता से ही सिंहिका उस की माता कही गई है। उस जमाने में समुद्र में ऐसे जल-जन्तुओं का पाया जाना कोई बड़ी बात न थी। अब भी किसी किसी समुद्रक्षेत्र में करीब सत्तर अस्सी फीट तक लंबे सर्पाकार जन्तु देखे गये हैं, अभी तो सब जलजन्तुओं की किसी को थाह भी नहीं लगी है।

इधर रामायणकाल को देखा जाय तो यह लाखों बरस पुराना है, युगगणना के अनुसार करीब पंद्रह सोलह लाख बरस पहले का है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि पृथ्वी

पर दो लाख बरस पूर्व आज कल के जैसे ही सब प्राणी नहीं होते थे, उस काल में यहाँ बडे बडे दानव और व्याल भी विचरते रहते थे जो बीस बीस हाथ ऊँचे और पचासों हाथ लंबे होते थे। इन का पता इस प्रकार चला कि ऐसे आकार की विशाल ठठरियाँ जहाँ तहाँ मिली हैं। परंतु उस काल के जिन जन्तुओं की ऐसी ठोस ठठरियाँ न रही होंगी, उन लचीले जन्तुओं का पता कैसे चल सकता है। वैसे जन्तुओं के होने के लिए इन शास्त्रीय प्रसंगों के अनुसार अनुमान मात्र किया जा सकता है।

जब कुछ लाख बरस पहले ऐसे विचित्र देहधारी प्राणी थे तो पंद्रह सोलह लाख बरस पहले इस से भी अधिक और अद्भुत विशालकाय प्राणी हो सकते हैं। यह भी संभव है कि जैसे दो लाख बरस पुराने दानवाकार प्राणियों का बहुत कम चिह्न बाकी रह गया है और उन की जाति का तो नाश ही हो चुका है, वैसे ही रामायणयुग के राक्षसों, वानरों, ऋक्षों आदि प्राणियों की जातियाँ भी कभी की उच्छिन्न हो चुकी होंगी। उन का अब कोई चिह्न नहीं मिल सकता। कथा के इतने पुरानेपन पर विचार करने से वैज्ञानिक दृष्टि से तो रामायण का कोई पात्र या क्रिया अस्वाभाविक, अनहोनी नहीं कही जा सकती। इस लिए कितने ही लोग ऐसा मानते हैं कि मनुष्यों का मांस खानेवाले भीमकाय राक्षस, तथा मनुष्यों के बराबर की संस्कृति और विकास रखनेवाले एवं बिना अग्नि से पकाये फल मूल शाकाहारी, विशालकाय वानरजाति के प्राणी और ऐसे ही भालु उस युग में धरती पर रहते थे। ये लोग मनुष्यों से बराबरी का संबन्ध रखते थे, वैसी ही भाषा बोलते थे और सभ्य आचरण रखते थे। वानर भालु जाति के विकास की यह चरम सीमा थी, इस जाति में इस से अधिक विकास नहीं हो सकता था इस लिए ये सब लाख दो लाख बरस बाद नष्ट हो गये। इन के अत्यन्त पूर्व के प्राणी पशुरूप में, अर्थात् वानर, भालू, वनमानुष जैसे रह गये। इस तरह राक्षसों की जाति भी रावण के समय तक अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। इस लिए वह रावण के लाख दो लाख बरस बाद काल के आघातों को न सहकर समाप्त हो गई। महाभारतकाल के हिडिम्ब, बक आदि राक्षस इस के अवशेषमात्र थे। रामायण में जहाँ राक्षसों की असंख्य सेना है, वहाँ महाभारत की लडाई में अकेला घटोत्कच है। वर्तमान समय में राक्षसजाति का बिलकुल उच्छेद हो चुका है, मनुष्यभक्षियों की जो जातियाँ सुदूर द्वीपों और गहन वन पर्वतों में पाई जाती हैं, वे उन के किसी विकृत रूप से बची खुची ही समझनी चाहिएँ। जो लोग रामायण को चंद हजार वर्ष पुरानी घटना मानते हैं उन्हें वानर राक्षसादिकों को मनुष्यजाति से भिन्न प्राणी मानने में संकोच होता है। परंतु हमें किसी की अधूरी गणनापद्धति से अपने इतिहास की सीमा में संकोच कभी न करना चाहिए।

इस विवेचन से सिंहिका की सत्ता में संदेह नहीं रह सकता। और यह तो निश्चित ही है कि 'जलसिंह' नामक सात आठ गज लंबा और चर्ममय जंतु विषुवतरेखा के समुद्र में अब भी मिलता है, सिंहिका इन सब की आदिजननी रही होगी। अस्तु, इन सब बाधाओं को नष्ट कर हनुमानजी फिर आगे बढ़े, यथा—

पुनरुत्प्लुत्य हनुमान्दक्षिणाभिमुखो ययौ।
ततो दक्षिणमासाद्य कूलं नानाफलद्रुमम् ॥ ३९ ॥
नानापक्षिमृगाकीर्णं नानापुष्पलतावृतम्।
ततो ददर्श नगरं त्रिकूटाचलमूर्धनि ॥ ४० ॥
प्राकारैर्बहुभिर्युक्तं परिखाभिश्च सर्वतः।
प्रवेक्ष्यामि कथं लङ्कामिति चिन्तापरोऽभवत् ॥ ४१ ॥

इस के पश्चात् हनुमान्जी फिर उछलकर दक्षिण को ओर चलने लगे और समुद्र के दक्षिण तट पर पहुँच गये, जहाँ नाना प्रकार के फलवाले वृक्ष लगे हुए थे। वह स्थान तरह तरह के पक्षियों और मृगों से पूर्ण तथा विविध भाँति की पुष्पलताओं से आवृत था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने त्रिकूट पर्वत के शिखर पर बसी हुई लङ्कापुरी देखी, जो सब ओर से अनेकों परकोटों और खाइयों से घिरी हुई थी। उसे देखकर वे सोचने लगे कि मुझे किस प्रकार इस नगर में जाना चाहिए॥ ३९-४१ ॥

रात्रौ वेक्ष्यामि सूक्ष्मोऽहं लङ्कां रावणपालिताम्।
एवं विचिन्त्य तत्रैव स्थित्वा लङ्कां जगाम सः ॥ ४२॥
धृत्वा सूक्ष्मं वपुर्द्वारं प्रविवेश प्रतापवान्।
तत्र लङ्कापुरी साक्षाद्राक्षसीवेषधारिणी ॥ ४३ ॥
प्रविशन्तं हनूमन्तं दृष्ट्वा लङ्का व्यतर्जयत्।
कस्त्वं वानररूपेण मामनादृत्य लङ्किनीम् ॥ ४४ ॥
प्रविश्य चोरवद्रात्रौ किं भवान्कर्तुमिच्छति।
इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षी पादेनाभिजघान तम् ॥ ४५ ॥

फिर निश्चय किया कि मैं रात्रि के समय सूक्ष्म शरीर धारण कर इस रावणप्रतिपालित लङ्कापुरी में प्रवेश करूँगा। यह विचार कर वे वहीं ठहर गये

और फिर रात्रि होने पर लङ्का की ओर चले। जिस समय महाप्रतापी श्री हनुमान्‌जी ने सूक्ष्म शरीर धारण कर नगर के द्वार में प्रवेश किया, उस समय वहाँ साक्षात् लङ्कापुरी राक्षसी का रूप धारण किये खड़ी थी। उस ने हनुमान्‌जी को नगर में जाते देख डाँटा और पूछा—तू कौन है, जो इस रात्रि के समय मुझ लंकिनी का अनादर कर चोर के समान वानररूप से नगर में जा रहा है? यहाँ तू क्या करना चाहता है? ऐसा कहकर उस ने क्रोध से आँखें लाल कर हनुमानजी को लात मारी॥ ४२-४५॥

हनुमानपि तां वाममुष्टिनावज्ञयाऽहनत्।
तदैव पतिता भूमौ रक्तमुद्वमती भृशम्॥ ४६॥
उत्थाय प्राह सा लङ्का हनूमन्तं महाबलम्।
हनूमन् गच्छ भद्रं ते जिता लङ्का त्वयानघ॥ ४७॥

तब हनुमान्‌जी ने उस को अवज्ञा करते हुए उसे बायें हाथ का घूँसा मारा, जिस से वह बहुत सा रुधिर वमन करती हुई पृथिवी पर गिर पड़ी। फिर कुछ देर पीछे लंकिनी ने उठकर महाबली हनुमान्‌जी से कहा—हे हनुमान्, जाओ तुम्हारा कल्याण हो; हे अनघ, तुम लङ्कापुरी को जीत चुके॥ ४६-४७॥

पुराहं ब्रह्मणा प्रोक्ता ह्यष्टाविंशतिपर्यये।
त्रेतायुगे दाशरथी रामो नारायणोऽव्ययः॥ ४८॥
जनिष्यते योगमाया सीता जनकवेश्मनि।
भूभारहरणार्थाय प्रार्थितोऽयं मया क्वचित्॥ ४९॥

सभार्यो राघवो भ्रात्रा गमिष्यति महावनम् ।
तत्र सीतां महामायां रावणोऽपहरिष्यति ॥ ५० ॥

पूर्वकाल में मुझ से श्री ब्रह्माजी ने कहा था कि अट्ठाईसवें चतुर्युग के त्रेतायुग में अविनाशी नारायणदेव दशरथकुमार रामरूप से अवतीर्ण होंगे और उन की योगमाया महाराज जनक के घर में सीताजी होकर प्रकट होंगी। मैं ने पहले कभी उन से पृथिवी का भार उतारने के लिए प्रार्थना की थी। वे श्री रामचन्द्रजी भाई लक्ष्मण और भार्या सीता के सहित महावन दण्डकारण्य में जायँगे। वहाँ महामायारूपिणी श्री सीताजी को रावण हर ले जायगा ॥ ४८-५० ॥

पश्चाद्रामेण साचिव्यं सुग्रीवस्य भविष्यति ।
सुग्रीवो जानकीं द्रष्टुं वानरान्प्रेषयिष्यति ॥ ५१ ॥
तत्रैको वानरो रात्रावागमिष्यति तेऽन्तिकम् ।
त्वया च भर्त्सितः सोऽपि त्वां हनिष्यति मुष्टिना ॥ ५२ ॥
तेनाहता त्वं व्यथिता भविष्यसि यदानघे ।
तदैव रावणस्यान्तो भविष्यति न संशयः ॥ ५३ ॥

तदनन्तर राम के साथ सुग्रीव की मित्रता होगी और सुग्रीव जानकीजी की खोज के लिए वानरों को भेजेगा। उन में से एक वानर रात्रि के समय तेरे पास आयेगा, वह तुझ से तिरस्कृत होने पर तुझ को मुक्का मारेगा। हे अनघे, जिस समय तू उस के प्रहार से व्याकुल हो जायगी उसी समय रावण का अन्त होगा, इस में सन्देह नहीं ॥ ५१-५३ ॥

तस्मात्त्वया जिता लङ्का जितं सर्वं त्वयानघ ।
रावणान्तःपुरवरे क्रीडाकाननमुत्तमम् ॥ ५४ ॥
तन्मध्येऽशोकवनिका दिव्यपादपसङ्कुला ।
अस्ति तस्यां महावृक्षः शिंशपानाम मध्यगः ॥ ५५ ॥
तत्रास्ते जानकी घोरराक्षसीभिः सुरक्षिता ।
दृष्ट्वैव गच्छ त्वरितं राघवाय निवेदय ॥ ५६ ॥

हे निष्पाप हनुमान्, तुम ने मुझ लङ्का को जीत लिया तो सभी को जीत लिया। रावण के अन्तःपुर में एक अत्युत्तम क्रीडावन है, उस में दिव्य वृक्षों से सम्पन्न एक अशोकवाटिका है, उस के बीचोबीच में एक अति विशाल शिंशपा वृक्ष के नीचे श्री जानकीजी भयंकर राक्षसियों के पहरे में रहती हैं। तुम उन का दर्शन कर शीघ्र ही श्री रघुनाथजी को उन का समाचार सुनाओ ॥ ५४-५६ ॥
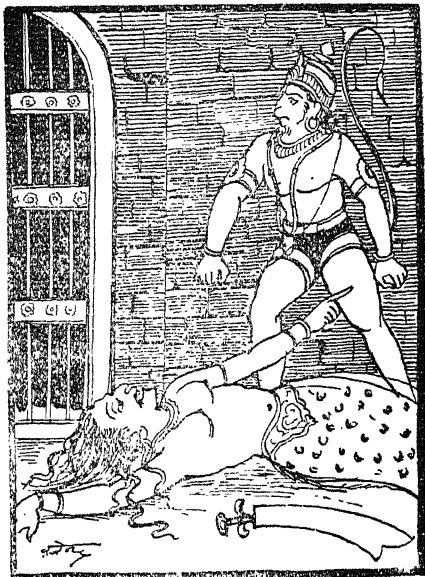
धन्याहमप्यद्य चिराय राघवस्मृतिर्मदासोद्भवपाशमोचिनी ।
तद्भक्तसङ्गोऽप्यतिदुर्लभो मम प्रसीदतां दाशरथिः सदा हृदि ॥ ५७ ॥

आज बहुत दिनों में मुझे श्री रामचन्द्रजी की संसारबन्धन को नष्ट करनेवाली स्मृति हुई है और उन के भक्त का अति दुर्लभ सङ्ग प्राप्त हुआ है। अतः आज मैं धन्य हूँ। मेरे हृदय में विराजमान वे दशरथनन्दन राम मुझ पर सदा प्रसन्न रहें ॥ ५७ ॥

उल्लङ्घितेऽब्धौ पवनात्मजेन धरासुतायाश्च दशाननस्य ।
पुस्फोर वामाक्षि भुजश्च तीव्रं रामस्य दक्षाङ्गमतीन्द्रियस्य ॥ ५८ ॥

पवननन्दन हनुमान्जी के समुद्र लाँघते ही पृथिवीपुत्री श्री सीताजी और रावण की बाँयीं भुजा एवं बायें नेत्र तथा इन्द्रियातीत श्री रामचन्द्रजी के दायें अङ्ग बड़े जोर से फड़कने लगे ॥ ५८ ॥

रा० च०—प्यारे भक्तो, इस प्रकार जब हनुमानजी सागर के पार पहुँच गये तब श्री रामचन्द्रजी के दक्षिण अङ्ग तथा सीताजी एवं रावण के वाम अङ्ग फड़क उठे। इस का भाव यह है कि संसार में जब कोई मनुष्य शुभकर्म पूर्ण करता है तब पुण्यात्मा सज्जनों को उस से हर्ष होता है और दुष्ट पापियों को पीड़ा, जलन, द्वेष होता है। ऐसा हमेशा से ही

होता आया है। हनुमानजी के समुद्र पार करने की सफलता का शुभ, सूक्ष्म असर सभी पुण्यात्माओं के अन्तःकरणों में जाकर प्रतिफलित हो गया, श्री रामचन्द्र व सीताजी का इस घटना से विशेष संबन्ध था इसलिए उन के उत्कण्ठित अङ्गों ने स्फुरित होकर हनुमानजी की सफलता का अभिनन्दन किया। ऐसी घटनाओं का प्रभाव आये दिन सभी के अनुभव में आता रहता है, कोई शुभ या अशुभ कार्य होनेवाला हो तो शकुनरूप से उस के सूचक लक्षण पहले से ही प्रकट होने लगते हैं। कारण यह है कि आनेवाले शुभाशुभों को सूक्ष्म शरीर पहले से देख लेता है, व्यवहार दशा का जाग्रत मन इन्हें नहीं देख सकता। हाँ, योगियों को ऐसी सामर्थ्य है कि वे अपने सूक्ष्म, अन्तर्दर्शक मन के द्वारा आगामी शुभा-शुभ को देख लेते हैं। आत्मा के व्यापक होने का यह सब से स्पष्ट सबूत है कि उस के अंदर किसी दूर देश और आगामी काल की भावी बातें बिना किसी बाहरी संबन्ध के पहले से ही प्रतिभासित होने लगती हैं। अक्सर ऐसा भी देखा गया है कि अचानक हमें किसी परिचित व्यक्ति का स्मरण या किसी घटना की स्मृति हो उठती है, फिर कुछ ही देर में वह व्यक्ति असंभावित रूप में सामने आ जाता है या उस का कोई समाचार मिलता है। हम चकित होकर कह उठते हैं कि वाहवा, भले आये, हम आप को याद ही कर रहे थे।

ऐसी घटनाओं से सिद्ध होता है कि जगत में एक, अद्वैत आत्मतत्त्व ही सर्वत्र व्याप्त है, उस के बल से किसी बाहरी सूत्र के न होते हुए भी मनुष्यों को परस्पर एकरूपता का अनुभव होता है। मन की मलिन वासनाएँ जितनी अधिक मात्रा में कम होती जायँगी उतने ही अधिक एकात्मता के अनुभव बढते जायँगे। आज कल के प्राणी तमोगुण या कुसंस्कारों से बहुत ही व्याप्त हैं इस लिए उन्हें ऐसी अप्रत्याशित भावी घटनाओं और परोक्ष-संजात वृत्तान्तों की अन्तःसूचना अनुभव में नहीं आती। पहले जमाने में जिन व्यक्तियों की भावनाएँ जन्म से ही पवित्र होती थीं और अन्तःकरण पर अविद्या का आवरण कम होता था, वे व्यक्ति पूर्व जन्म की घटनाओं को भी याद कर लेते थे।

सज्जनो, हमारे सनातन हिंदूधर्म की यह महान् विशेषता है कि इस में आत्मा को विकसित करने, निखारने या अपने असली उज्ज्वल रूप में लाने के उपाय अधिक किये जाते हैं, जिस से ऐसा उज्ज्वल आत्मवान् व्यक्ति सर्वत्र स्थावर जंगम प्राणियों में अपने ही आत्मा को झलक देख सके। अन्यान्य धर्म, जो सात दिन या एक दिन में कुछ देर क्षमाप्रार्थना पूर्वक दुआ माँगने की ही विशेषता रखते हैं, उन में आत्मोन्नति का ऐसा सुअवसर नहीं मिल सकता। ऐसे उत्तम आर्यधर्म को पाकर इस से लाभ न लेना हाथ में आये हुए पारस पत्थर को फेंक देने के समान है। विवेक वैराग्य, यम नियम, श्रवण मनन जैसे इस धर्म के महान् रत्न हैं, ये और कहीं भी सुलभ नहीं होंगे। इन को परखो और काम में लाकर आत्मा को

इन से भूषित करो। अपने शरीर, आत्मा को इन रत्नों से भूषित न किया तो तुम्हारा आर्यधर्म और भारतदेश में आना ही बेकार हुआ। तुम्हारे इन रत्नों के लिए ही दुनियाँ तरसती है। धनबल, जनबल, स्वाराज्य साम्राज्य, भोग वैभव भरपूर मिल जायँ, तो भी इन रत्नों के बिना शान्ति और संतोष कभी न मिलेगा। इस लिए संसार के ऐश्वर्य वैभव को बढ़ाते हुए भी अपने इन विस्मृत गुदड़ी के लालों (आध्यात्मिक रत्नों) को भी निकालो, इन के शीतल प्रकाश में ही तुम्हारा ऐश्वर्य चमत्कृत होगा।

हनुमानजी आर्यधर्म के उक्त रत्नों को भली प्रकार उपयोग में लाये थे इस लिए उन की चमक के बीच वे सर्वत्र श्री राममय परम-आत्मा का दर्शन करते थे और इसी से उन के मङ्गलमय प्रयत्नों का प्रभाव सभी जगह पड़ता था। यहाँ जैसे उन के समुद्र लाँघने की शुभ सूचना राम और सीता को अङ्गस्फुरण से अनुभव में आई, उसी तरह अन्यान्य वानर, भालु या साधु सन्त, देव मनुष्य सभी पर इस का सूक्ष्म, अज्ञात और शुभ असर पड़ा होगा, उन सब का मन प्रसन्न, आत्मा संतुष्ट और शरीर ओजस्वी हुआ होगा। मनुष्यशरीर की विशिष्ट रचना के कारण पुरुषों के दक्षिण अङ्ग में और स्त्रियों के वाम अङ्ग में भावी शुभकार्य सूचित होते हैं, इस के विपरीत अशुभ सूचना मिलती है। इसी भाव से मनुष्यों में 'सूर्यस्वर' 'चन्द्रस्वर' नामक स्वासनलिकाओं की गति स्त्री पुरुषों के विपरीत क्रम से शुभाशुभ सूचित करती हुई चलती है। इस नियम के अनुसार हनुमत्पराक्रम का प्रभाव श्री राम और सीताजी के अङ्गों में यथाक्रम शुभ हुआ था, पर रावण का वाम अङ्ग फड़कने से उस पर अशुभ प्रभाव पड़ा। उस के दुष्कर्मों का पलड़ा भारी था, पाप का घड़ा भर गया था, इस लिए उस के विनाशसूचक पापकर्म हनुमानजी के समुद्र पार आने से दहल गये। उस समय दुर्वासनाएँ भरी रहने से रावण का वाम अङ्ग ही शक्तिशाली था और शुभकर्मों के न होने से दक्षिण भाग खोखला हो चुका था। इस कारण हनुमानजी के प्रभाव की सूचना उस के वामभाग ने अनिष्ट रूप में प्रकट की। वस्तुत: तो रावण के भौतिक शरीर को ही अनिष्ट आ रहा था, उस का सूक्ष्म शरीर बाट देखता था कि कब वह शुभ अवसर आये कि यह तामस व शापित तनु छूटे। इस रीति से उस पर अनुग्रह करने ही हनुमानजी आये थे, वे तो सब में राम का दर्शन करते थे, जगत को निज प्रभुमय देखते थे। उन्होंने जो सिंहिका, लङ्किनी आदि का संहार किया या मारा, यह उन पर महान् अनुग्रह था। ये जन्तु अपने पापमय तामस शरीर के भार से बहुत विकल थे, हनुमानजी ने उस से उन का उद्धार कर महान् उपकार किया। सुरसा का शुद्ध देवस्वरूप देखकर तो उन्होंने उस की वन्दना ही की थी। वह पवित्रात्मा थी इस से अपने को खिलाकर ये उस की क्षुधा शान्त करने को भी तैयार थे; रामकाज पूरे करने की शर्त के साथ। इसी तरह सिंहिका

भी पवित्रात्मा होकर इन्हें खाना चाहती तो ये अस्वीकार न करते, क्योंकि हर तरह से परोपकार करना इन का धर्म था। अस्तु,

हनुमानजी ने सागरपार आने तक जो सुरसा, सिंहिका, लङ्किनीरूप विघ्नों का सामना किया, उस का यह भी भाव है कि संसारसागर से पार जानेवालों को सुरसा के समान सात्विक, लङ्किनी के समान राजस और सिंहिका के समान तामस विघ्नों का सामना करना पडता है। इस में सुरसा जैसे सात्विक विघ्न को अनुनय विनय से अपने अनुकूल कर लेना चाहिए। लङ्किनी जैसे राजस विघ्न का बल पौरुष से मुकाबला कर वश में करना चाहिए। सिंहिका जैसे तामस विघ्न का तो जड से नाश कर देना चाहिए। अपनी इन तीन चेष्टाओं से हनुमानजी ने भक्तों को उक्त प्रकार की शिक्षाएँ दी हैं। और एक भाव यह भी है कि संसार से उद्धार करने के प्रयत्नों में सब से बड़ा प्रबल विघ्न स्त्री के रूप में आता है, उस में सुरसा की तरह मातृभाव से उसे स्वीकार किया जाय तब तो निरापद पार जा सकते हैं, मातृभाव से जहाँ जरा भी डिगे कि स्त्रीरूपी पत्थर संसारसागर में ले डूबता है। यह कथन महिलासमाज को कडवा लग सकता है पर बात सोलह आने सच है और नित्य के अनुभवों में यही देखा भी गया है। मोक्षाभिलाषी पुरुष को मातृभाव से भिक्षा लेने के सिवा स्त्री का दर्शन भी त्याज्य है। मोक्षाभिलाषी स्त्रियों को इसी प्रकार पुरुष का संग त्याज्य है। प्रभुप्रेमियों को भी इस हनुमानजी के प्रकार से संसारसागर पार करना चाहिए।

इस प्रकार यह श्री ब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, सुन्दरकाण्ड के प्रथम सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ १ ॥

ॐ

द्वितीय सर्ग
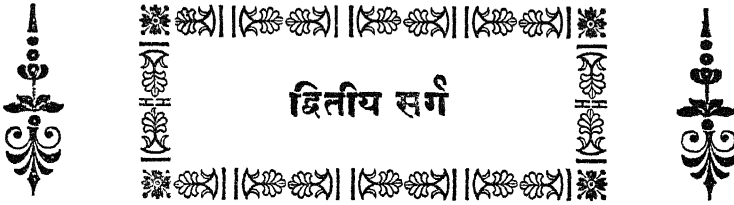
हनुमान्‌जी द्वारा सीतादर्शन तथा रावण द्वारा सीताजी को त्रास ।

श्री महादेव उवाच—

ततो जगाम हनुमान् लङ्कां परमशोभनाम् ।
रात्रौ सूक्ष्मतनुर्भूत्वा बभ्राम परितः पुरीम् ॥ १ ॥
सीतान्वेषणकार्यार्थी प्रविवेश नृपालयम् ।
तत्र सर्वप्रदेशेषु विविच्य हनुमान्कपिः ॥ २ ॥
नापश्यज्जानकीं स्मृत्वा ततो लङ्काभिभाषितम् ।
जगाम हनुमान् शीघ्रमशोकवनिकां शुभाम् ॥ ३ ॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, तदनन्तर श्री हनुमान्‌जी अति सुशोभित लङ्कापुरी में गये और सूक्ष्म शरीर धारण कर रात्रि में नगर के सब ओर घूमने लगे। सीताजी का पता लगाने के लिए वे राजमन्दिर में घुस गये, वहाँ सब ओर ढूँढने पर भी जब इन्हें जानकीजी न मिलीं तो उन्हें लंकिनी का कथन याद आया और वे तुरन्त ही अति मनोज्ञ अशोकवाटिका में पहुँचे ॥ १-३ ॥

रा० च०—प्रिय सज्जनो, अनेकों प्रयास करके हनुमानजी रावण के राज्य में आ गये। पहले बताया गया है कि ये रावण आदि राक्षस देवताओं के भाई बन्धु थे किंतु पराक्रम में देवता इन्हें नहीं पा सकते थे। देवताओं की चर्चा का विचार न करें तो भी राक्षस लोग कोई अलौकिक आकार प्रकार के न तो विचित्र प्राणी थे और न असभ्य जंगली बर्बर ही थे। लङ्का की देश काल वस्तुओं के वर्णन से पता चलता है कि वहाँ के निवासियों का रहन सहन, सभी व्यवहार मनुष्यों से भिन्न न था। अध्यात्मरामायणप्रवक्ता शंकरजी ने प्रभुविमुखों के वर्णन को भगवद्भक्ति में विक्षेपकारक मानकर लङ्काक्षेत्र और राक्षसों की

स्थिति का वर्णन विशेष नहीं किया, पार्वतीजी के संतोषार्थ केवल इतना ही कह दिया कि परम-शोभना लङ्का में छोटा सा रूप धारण कर हनुमानजी रात को घूमने लगे। किंतु हनुमानजी को राजनीतिक कार्य भी करना है, जिस से राक्षसों की व्यूहरचना, किलेबंदी, बल पराक्रम तथा कमजोरियों का भी ज्ञान रहेगा तो चढाई करते समय बहुत आसानी होगी। हनुमानजी के इस लीलाकौशल को दिखाने के लिए वाल्मीकिजी और तुलसीदासजी ने इस प्रदेश का अच्छा वर्णन किया है, यथा—

हनुमानजी सर्वप्रथम समुद्र के तीर से जिस स्थान पर चढे थे, वह त्रिकूटाचल का पहला भाग सुवेलशैल था। राजधानी के पास सेना के उपयोग की दृष्टि से ऐसे स्थान खाली पडे रहते हैं इस लिए इधर वस्ती नहीं थी। यहाँ से आगे त्रिकूटाचल के दूसरे शिखर पर लङ्कापुरी और तीसरे शिखर पर अशोकवाटिका थी। वाल्मीकिजी कहते हैं कि हनुमानजी ने सुवेल शिखर पर चढते हुए बड़ी सावधानी से लङ्का की ओर दृष्टि डाली। चारों ओर हरी हरी दूब, सुगन्धित वृक्षों के चतुर्दिक् झुरमुट, फलों से लदे बाग बड़े ही मनोरम थे। बन में मधु के लोभ से भ्रमर गुंजार कर रहे थे, अनेकों पशु पक्षी किलोल कर रहे थे। आगे लङ्का के चारों ओर खाई बनी हुई थी जिस में उत्पल, पद्म आदि कई प्रकार के कमल खिल रहे थे। सीताजी को हर लाने के कारण रावण ने लङ्कापुरी की रक्षा का विशेष प्रबन्ध कर रखा था। उस के चारों ओर प्रचण्ड धनुर्धर राक्षस घूमते रहते थे। राजधानी सोने के परकोट से घिरी हुई थी, उस में शत्रु के दाँत खट्टे करने के लिए अनेक यन्त्र, बुर्ज, कूटगर्त बने थे, शतघ्नी कीलक आदि आयुध चढे हुए थे। भीतर की ओर नजर डालने पर दिखाई पड़ा कि नगर में पर्वतशिखरों के समान ऊँचे, शारदीय मेघों के समान शुभ्र महल सब तरफ बने हुए हैं। वहाँ चारों तरफ ऊँचाई पर बनी हुई सफेद रंग की सड़कें थी। इस प्रकार पर्वतशिखर पर बसी हुई, रंगबिरंगे भवनों से सुशोभित लङ्कापुरी आकाश में स्थित सी जान पडती थी।

हनुमानजी उस पुरी के उत्तर भाग में पहले पहुँचे, वहाँ का द्वार कैलास पर बसी हुई अलकापुरी के द्वार के समान था। सारी पुरी बलिष्ठ महाकाय राक्षसों से भरी हुई थी। हनुमानजी पुरीरक्षक इन वीरों, चारों तरफ बडी भयावनी खाई की व्यूहरचना और राक्षस-राज्य के अतुल प्रभाव को देखकर सोचने लगे कि इस शत्रुपुरी में तो राजा सुग्रीव, नल, अङ्गद और मैं, इन चार के सिवा और किसी भी वानर को घुसने की हिंमत न होगी। ऐसा कौन उपाय है कि मैं जनकनन्दिनी सीता को देख लूँ और राक्षसराज को मेरे आने का पता न चले। कई बार अविवेकी दूतों के हाथ में पडकर देश काल के अनुकूल व्यवहार न करने से राजाओं के बने बनाये काम बिगड जाते हैं। इस लिए ऐसा कौन उपाय है जिस से राम-

चन्द्रजी का नाजुक काम न बिगडे और मैं एकान्त में सीताजी से भेट कर लूँ। इस उधेड बुन में हनुमानजी गन्धर्वनगर के समान रमणीय लङ्कापुरी के सतमहले अठमहले सुनहरे भवनों पर बडी होशियारी से विचरने लगे। महलों के नीचे स्फटिकपाषाण के फर्श बिछे हुए थे, उन में इधर उधर विचरते हुए राक्षसों के प्रतिबिम्ब से एक बार हनुमानजी को छायाग्राहिणी सिंहिका का भ्रम हो गया। फिर सावधान होकर आगे बढे तो फूलों से सजा हुआ राजमार्ग दिखाई दिया। उस रात्रि में राक्षसों के रमणीय भवनों से लङ्कापुरी जगमगा रही थी। हनुमानजी अब एक घर से दूसरे घर पर कूदते हुए अनेक स्वरों से विभूषित संगीत सुन रहे थे। कितने ही राक्षसों को उन्होंने मन्त्र जपते हुए और किन्हीं को स्वाध्याय में तत्पर देखा, कई जगह रावण के यशोगान के साथ घोर गर्जना हो रही थी, एक जगह सडक पर राक्षसों की बडी भीड इकट्ठी खडी थी। नगर के मध्य भाग में उन्हें रावण के बहुत से गुप्तचर दिखाई दिये जो अनेकों तरह के कपटवेष धारण किये हुए थे। ऐसे लाखों राक्षसों को लङ्का की रक्षा में उन्होंने सावधान देखा।

इस समय पीछे को दृष्टि दौडाने पर दिखाई पडा कि चन्द्रमा की भरपूर चाँदनी छिटक जाने से समुद्र में ज्वार उठ रहा है, उसे देखकर दुर्मद राक्षस उन्मत्तों की तरह प्रलाप कर रहे थे। अनेक सुबुद्धिमान् राक्षस भी यत्र तत्र दिखाई दिये, इसी तरह कोई गुणवान्, कोई सुन्दर, शुभाचारी, तेजस्वी और कोई कुरूप भी राक्षस थे। सीताजी को खोजने की दृष्टि से हनुमानजी घरों में झाँकते जाते थे, वहाँ स्त्रियाँ भी राक्षसों के समान ही अच्छी बुरी दिखाई पड़ीं। उन का अन्तःकरण शुद्ध, प्रभाव बढाचढा तथा स्वभाव उदार था। इस तरह उन्होंने ब्रह्मचर्य की दृष्टि से कडवे कर्तव्य को करते हुए अनेकों मनोहारिणी सुन्दरियाँ देखीं परंतु परमसुन्दरी सुकुमारी सीता के उन्हें कहीं दर्शन न हुए। वे सीताजी के स्वरूप से परिचित न थे, पर पतिव्रता धर्मात्मा वियोगिनी महिला के लक्षणों से उन्हें खोजते थे। अन्त में इसी तरह हनुमानजी राजमहलों में जा पहुँचे, जो चमचमाती हुई सुनहरी दीवार से घिरे थे, अनेकों भयानक राक्षस वहाँ कडा पहरा दे रहे थे। मुख्य महल चाँदी से मढे हुए चित्रों, सुनहरे दरवाजों और अद्भुत अन्तर्द्वारों से शोभित था, रत्नजटित मोतियों की झालरें लटक रही थीं। महल के भवनों में अनेकों रमणीरत्न नृत्य, गीत, वाद्य रच रहे थे। अभी हनुमानजी महल के अगल बगल ही विचर रहे थे, राक्षसों के घर, उद्यान, अटारियों पर विचरते हुए वे प्रहस्त व महापार्श्व के भवनों पर गये। इस के बाद मेघों जैसे ऊँचे कुम्भकर्ण के महल पर जा कूदे, इस तरह सभी सरदारों, सेनापतियों व राजकुटुम्बियों के महलों में उन्होंने पता लगाया। फिर प्रधान महल में घुसकर देखा तो वहाँ एक तरह से स्त्रीलोक ही था, वहाँ सीताजी को पहचानना बडा कठिन था। महल में अधिकतर राक्षसियों की ही सेना

रावण की शयनशाला की रक्षा कर रही थी। रत्नों की किरणों एवं रावण के तेज से भवन चमक रहा था, वहाँ अनेक लतागृह, चित्रशाला, क्रीडापर्वत, विलासभवन, झूलती हुई पर्यंकिकाएँ शोभित हो रही थीं, नूपुरों की झंकार एवं मृदंग के घोष से वह स्थान मुखरित हो रहा था।

वहीं एक ओर चन्द्र ताराओं से शोभित शुभ्र मेघ के समान रत्नजटित पुष्पक विमान लहरा रहा था। हनुमानजी ने उस पर चढकर भी सीताजी को खोजा पर कुछ पता न चला। इसी तरह अनेक प्रकार की स्त्रियों के बीच सोये हुए रावण के कमरे में भी वे घुसे, वहाँ अनेकों खाद्य पेय मद्य पुष्प धूप आदि की विचित्र सुगन्ध में रावण हाथी के समान साँस ले रहा था। हनुमानजी घबडाकर वहाँ से निकल आये और दूर से सब को निरखने लगे वहीं दूसरी तरफ नहीं मुरझानेवाले सुनहले और नील कमलों की शय्या पर मंदार पारिजातादि फूलों के तकियों के सहारे एक परमसुन्दरी स्त्री सो रही थी। उस के अङ्गलावण्य, मुखछबि आदि से, जो कि लक्ष्मणजी ने हनुमानजी को बताई थी, उन्होंने उसी को सीता समझने का संदेह किया। किंतु लक्ष्मणजी द्वारा बताये गये सौभाग्यचिह्नों और रावण से हरण की जाती हुई सीता की जो आकृति किष्किन्धागुहा से हनुमानजी ने देखी थी, उस से मेल न खाते देखकर उस सोती हुई देवी को उन्होंने कोई मन्दोदरी आदि पटरानी ही माना। यहाँ पर 'आनन्दरामायण' का प्रसंग है कि शंकरजी के इस कथन से पार्वतीजी को बडा आश्चर्य हुआ कि हनुमानजी जैसे विचारशील को मन्दोदरी सीता के समान लगी! कहाँ साक्षात् पराशक्ति-स्वरूपा पवित्र सीतादेवी और कहाँ भ्रष्टाहारविहारशील मन्दोदरी? पार्वतीजी के ऐसा संदेह उठाने पर शंकरजी ने मन्दोदरी की दिव्य शोभा का जो कारण बतलाया, वह इस प्रकार है—

पूर्व समय में ये रावणादि राक्षस पाताल में निवास करते हुए अपनी शैशवअवस्था बिता रहे थे। रावण के पिता महर्षि विश्रवा इन से पृथक् हिमालय में अपना तपस्वी जीवन बिताया करते थे। इन महात्मा पति की वृत्ति देखकर रावणमाता कैकसी भगवान् शिव की आराधना करती हुई पुत्रों को भी उन की उपासना सिखाया करती थी। एक दिन दैवयोग से उस लोक में शेषनागजी ने जोर से फुंकार छोडी, जिस के वेग के कारण कैकसी माता की पूज्य शंकरप्रतिमा उडकर समुद्र में गिर गई। माता को बडा खेद हुआ, उस का पूजन भंग होने के कारण अन्न जल छूट गया। उस का कष्ट देखकर रावण ने कहा कि माता, समझदार कहते हैं कि 'गतं न शोचामि।' इस लिए खोई हुई मूर्ति की आशा छोडकर कोई दूसरा उपाय करने की हमें आज्ञा दो।

कैकसी बोली—बेटा, ऐसी शंकरप्रतिमा अब कहाँ मिल सकती है? मैं जब तुम्हारे पिता के आश्रम पर थी, तब उन के साथ कैलास में शंकरजी का दर्शन करने जाने पर उन्होंने

प्रसादरूप में मुझे वह दी थी। रावण ने माता को सान्त्वना देते हुए कहा कि तब तो वह मूर्ति अलभ्य नहीं है, मैं अभी कैलास में जाकर शंकरजी को प्रसन्न करता हूँ और उस से भी अच्छी मूर्ति लाये-देता हूँ। इस निश्चय के साथ शीघ्र ही रावण शंकरजी के धाम कैलास में पहुँचा और अनेक सूक्तवचनों एवं सामगायनों से उन की स्तुति कर उन आशुतोष को प्रसन्न कर लिया। शंकरजी बोले कि वत्स रावण, हम तुम पर परम प्रसन्न हैं, जो वर चाहिए सो माँग लो, यह सब हमारी विभूति तुम जैसे भक्तों के ही लिए है। इस सुविधा से लाभ उठाते हुए रावण ने कहा कि महाराज, मुझे दो वर दीजिए, एक तो मेरी माता के लिए अपनी प्रतिमा, और दूसरे वर में मेरी पत्नी होने के लिए यह पार्वती। आप सब कुछ देने को कह ही चुके हैं और मैं इन के सिवा और कुछ न चाहूँगा। शंकरजी बड़े धर्मसंकट में पड़े, पार्वती ने सोचा कि ये भोलानाथ ऐसी ही आपत्ति मुफ्त में मोल लेते फिरते हैं, अब क्या करूँ? उन विष्णु से ही मदद लेनी चाहिए जिन्होंने ऐसे एक पूर्व प्रसंग में भस्मासुर की विपत्ति हटाई थी। पार्वती इस विचार से एक ओर जाकर विष्णु भगवान् का रो रोकर स्मरण करने लगीं, उधर शंकरजी ने भी कुछ सोचकर रावण को पार्वती और प्रतिमा ग्रहण करने के लिए मानसरोवर में स्नान करने भेज दिया। सरोवर के किनारे घाटिया बने हुए विष्णुजी पहले से ही जमे थे, उन्होंने नये यजमान रावण को संकल्पपूर्वक स्नान कराया और अव्यग्रता से अन्यान्य कर्म करने का उपदेश देते हुए रावण की जल्दीबाजी का कारण पूछा। रावण ने इस तीर्थगुरु से सब किस्सा सुनाकर कहा कि देरी होने पर शंकरजी का विचार पलट गया तो वे पार्वती को देने से मुकर जायँगे।

विष्णु घाटिया ने कहा—रावण, सावधान हो जाओ, शंकरजी बड़े छलिया हैं, वे अपनी प्राणवल्लभा पार्वती को तुम्हें कभी दे नहीं सकते। यह पार्वती उन्होंने नकली बनाकर तुम्हें बहकाने को रख छोड़ी है, असली पार्वती को तो अपने विश्वासपात्र मय दानव के यहाँ सुतल लोक में छिपा दिया है। रावण को विश्वास हो गया, वह पण्डाजी को धन्यवाद देता हुआ शंकरजी से आकर बोला कि गुरुदेव, आप ने नकली पार्वती को मेरे पल्ले बाँधते हुए मुझे खूब छकाया, मैं सब भेद जान गया, जहाँ पार्वती आप ने छिपा रखी है उसे मैं वहीं से ले लूँगा, शीघ्र ही अपनी मूर्ति तो दे दीजिये। सब रहस्य समझते हुए शंकरजी ने मूर्ति दे दी और उस दुष्ट से पीछा छुड़ाकर रामनाम जपने लगे। उधर पण्डाजी मानसरोवर के तट पर जो दिव्य अष्टगन्धादिमिश्रित चन्दन घिस रहे थे, उस की लुगदी से उन्होंने परम-सुन्दरी एक कन्या बनाई और रावण को विश्वास दिलाने के लिए उस में पार्वती से भी ज्यादा लावण्य भरकर मयदानव की कन्याओं के बीच ले जाकर छोड़ दिया। रावण को मूर्ति से भी वे वञ्चित करना चाहते थे, नहीं तो उस के प्रभाव से उस का राज्य अटल हो जाता।

शंकरजी से रावण ने शेषनाग आदि के उपद्रव से चलित न होने योग्य मूर्ति माँगी थी, इस लिए शंकरजी ने ऐसी ही मूर्ति देते हुए कहा कि इसे जहाँ रख दोगे वहीं यह वज्रकील की तरह अचल हो जायगी, रास्ते में कहीं पर मत रखना। रावण मूर्ति लेकर चल दिया और मार्ग में शायद मयदानव के यहाँ से लौटते हुए वे ही पण्डाजी मिले। रावण ने इस विश्वासी तीर्थगुरु से कुछ शारीरिक क्रिया करने तक मूर्ति को जरा सी देर थाम लेने को प्रार्थना की।

पण्डाजी ने कहा—यजमान, तुम ने पहले भी कुछ दक्षिणा नहीं दी, अब हमें दूसरे यजमान के यहाँ जाने की जल्दी है, अतः तुम्हें देर लगो तो हम मूर्ति को बीच में ही छोड़कर चले जायँगे। और कुछ सहारा न होने से रावण ने यह बात मानकर ब्राह्मणदेवता को मूर्ति दे दी। उसे शरीरशुद्धि में कुछ विलम्ब हुआ, और उतावले ब्राह्मण मूर्ति को जमीन में रखकर चलते बने। रावण मूर्ति को भूमिष्ठ देखकर दौड़ता हुआ आया और झपटकर उठाने लगा, पर शंकरजी के वरप्रसादानुसार वह टस से मस न हुई। उस ने जितना ही हिलाया डुलाया मूर्ति उतनी ही अचल होती गई, रावण के कराघात से मूर्ति के ऊपर गाय के कान के आकार का एक निशान भी बन गया था। रावण ने अब खण्डित होने के डर से उस पर अपना जोर अजमाना छोड़ दिया और पार्वती की तलाश में शीघ्र ही मयदानव के महलों में पहुँचा तथा दिव्य सुगन्ध सुरस सुस्पर्श सुरूपशालिनी उक्त कन्या को मय से माँगा। मय ने विधिपूर्वक खूब सजधज के साथ उक्त मन्दोदरी नामधारिणी कन्या का विवाह उस से कर दिया। रावण ने मन्दोदरी तो घर पहुँचाई और मातृसंतोष के खातिर फिर वहाँ आया जहाँ पश्चिम समुद्र के तट पर वह मूर्ति अचल हो गयी थी। मूर्ति इस बीच 'गो-कर्णेश्वर' नाम से प्रसिद्ध होकर पूजित होने लगी थी। रावण ने उस सिद्धमूर्ति के सन्नि-कट ही उग्र तपस्या करके यह सब लङ्का का वैभव प्राप्त किया, अस्तु।

विष्णु भगवान् के द्वारा दिव्य सामग्रियों से उत्पादित, ऐसी परमसुन्दरी मन्दोदरी को देखकर ही हनुमानजी को सीताजी की भ्रान्ति हो गई थी। फिर, सीताजी लंका में ऐसी समृद्धि से कभी नहीं रह सकतीं, इस विचार से उन्हें अन्यत्र भी ढूँढ़ा, पर कुछ पता न चला। इस असफलता से हनुमानजी बहुत ही खीझे, वे पछताने लगे कि अब सीता को खोजने का कोई उपाय नहीं दीखता, वे प्राणघात कर समुद्र में तो नहीं डूब गईं, या शायद ये राक्षस ही उन्हें खा गये हों! अपने विफल प्रयास से खीझकर उन्होंने अब कुछ बंदरपने का उपद्रव करना शुरू किया, कहीं जलपूर्ण स्वर्णकलशों को लुढ़काया, कहीं मणिदीपक तोड़ दिये, रेशमी मण्डप और मोतियों की झालरों को फाड़ डाला। जब तक रक्षक राक्षसी आवें उस से पहले ही वे महल के बाहर कूदकर भाग गये।

यद्यपि समुद्र पार जाने का उपदेश देते हुए संपाती ने और लङ्का में प्रवेश करते हुए

लङ्किनी ने सुझा दिया था कि सीताजी अशोकवाटिका में हैं, संपाती ने तो गृद्धदृष्टि से उन्हें अशोकवाटिका में बैठी हुई देखा भी था। इस पर हनुमानजी ने सोचा कि दिन में बगीचे में रहना हो सकता है पर रात में तो रावण उन्हें कहीं महलों में ही रखता होगा, ऐसे विचार से वे महलों में खोज रहे थे, दूसरे अशोकवाटिका को जानते भी न थे कि वह महलों में है या और कहीं। अब वे महलों से निकलकर बन्दीशाला (कैदखाना) की तलाश में जा रहे थे, पर हनुमानजी को इस बार सचमुच एक विचित्र बन्दी से भेट हो गई, जो 'जिमि दसनन्ह महँ जीभ बिचारी' दातों के बीच जीभ की तरह राक्षसों के बीच संत्रस्त रहता था। वह व्यक्ति था रावण का छोटा भाई भक्तवर विभीषण।

इस रामायण एवं वाल्मीकीय में इस स्थल पर हनुमानजी से विभीषणमिलन की चर्चा नहीं की गई है, पर तुलसीदासजी ने इस प्रसंग का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है, इस में कवि ने भले ही कल्पना से काम लिया हो पर इस में संदेह नहीं कि तुलसीदासजी इस स्थल की रचना में व्यासजी तथा वाल्मीकिजी से भी श्रेष्ठ वर्णनकर्ता हो गये हैं। लङ्का के बीच अचानक इन भक्तों के मिलाप से अद्भुतरस की सृष्टि हो जाती है और कलङ्किनी लङ्कापुरी के कम से कम एक प्रदेश में से अरुचि हटकर उस की जगह श्रद्धा और आकर्षण बढ जाते हैं। यह प्रसंग कोरा कल्पित ही नहीं, तर्कसंगत भी है। क्योंकि आगे लङ्कादहन के समय अध्यात्मरामायण में ही कहा जायगा कि "विभीषणगृहं त्यक्त्वा सर्वं भस्मीकृतं पुरम्" विभीषणगृह को छोड़कर बाकी सब लङ्का हनुमानजी ने जला डाली। ऐसा ही वाल्मीकिजी कहते हैं। बिना मुलाकात हुए हनुमानजी ने विभीषण का पक्षपात कैसे किया, कैसे जाना गया कि उस प्रभुभक्त का घर नहीं जलाना चाहिए? हनुमानजी सर्वज्ञ होने से ऐसा जान गये तो भगवद्भक्त से पहले ही मिल लेना उचित जान पड़ता है, और पक्षान्तर से भेदनीति का सूत्रपात भी इस प्रकार हो सकता है। हनुमानजी जैसे बहुज्ञ को यह तो पता ही होगा कि जगद्विजयी रावण के प्रसिद्ध भाई कौन कौन हैं, उन के चरित्र कैसे हैं? इस लिए विभीषण की सत्प्रवृत्ति का कुछ भी ज्ञान रहा होगा तो उस से मिलना अवश्य उन्होंने चाहा होगा। इस लिए सिद्ध है कि हनुमानजी चारों ओर से सीता की खोज में निराश होकर इस समय विभीषण जैसे किसी सज्जन की चाहना कर रहे थे। इसी समय यह दृश्य उन के सामने आया—

रामायुध अङ्कित गृह, सोभा बरनि न जाय।
नव तुलसिकावृन्द तहँ, देखि हरष कपिराय॥
भवन एक पुनि दीख सुहावा ❀ हरिमन्दिर तहँ भिन्न बनावा॥
लंका निसिचर निकर निवासा ❀ यहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥
मन महँ तरक करन कपि लागा ❀ ताही समय बिभीषन जागा॥

राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा ❀ हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा॥
एहि सन हठि करिहों पहिचानी ❀ साधु ते होय न कारजहानी॥

ऐसा निश्चय कर हनुमानजी विभीषण से मिलने के लिए चले और इस के रामस्मरण के साथ स्वयं भी "जय राम जय जय राम जय श्री राम" की ध्वनि करने लगे। फिर तो चोंककर विभीषण भी सामने आये, कुशल प्रश्न पूछा; क्योंकि साधु, संत, ब्राह्मणों को राक्षस पीड़ित किया करते थे, इसी भय से तो कहीं यह व्यक्ति शरण में नहीं आया? शुभाचारी विभीषण के भजन कीर्तन मन्दिर आदि को दुराचारी रावण इस लिए सह लेता था कि तपस्या के समय इन्होंने ब्रह्माजी से अपने लिए भक्तिभाव का ही वरदान माँगा था, रावण उसे रोक नहीं सकता था, रोकता तो उसे डर था कि कहीं उस का वरदान भी भंग न हो जाय। एक विचार से तो उस ने विभीषण को भक्तिभावना से ईर्षा कर प्रभुप्राप्ति का अनोखा प्रकार निकाला था, अस्तु। विभीषण ने हनुमानजी को धीर देखकर प्रणाम किया और पूछा कि आप को देखकर मुझे बड़ी प्रीति हो रही है, क्या आप कोई प्रसिद्ध हरिभक्त (प्रह्लाद, नारदादि में से) हैं या अन्य कोई प्रभुप्रेमी प्रसन्न होकर मेरा सौभाग्य बढाने आये हैं? अब हनुमानजी ने सीता को खोजने की चर्चा न करते हुए सब रामवृत्तान्त सुनाकर अपना नाम बताया। फिर तो दोनों ही प्रेमियों को हरिकथा कीर्तन से रोमाञ्च हो गया, दोनों प्रभु के अनुराग में लीन हो गये, फिर दीन वाणी में प्रेमी विभीषण बोले—

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी ❀ जिमि दसनन्ह महँ जीभ बिचारी॥
तात कबहुँ मोहि जान अनाथा ❀ करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥
तामस तनु कछु साधन नाहीं ❀ प्रीति न पदसरोज मनमाहीं॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता ❀ बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥
जो रघुवीर अनुग्रह कीन्हा ❀ तौ तुम मोहि दरस हठि दीन्हा॥

विभीषणजी की दीनता से द्रवित होकर हनुमानजी बोले कि बन्धु, प्रभु की सदा यह रीति रही है कि वे सेवक पर प्रीति रखते हैं। आप उन से मिलने के लिए इतने अधीर क्यों होते हैं? वे शीघ्र ही आप पर कृपा करेंगे। विश्वास न हो तो मेरी ओर ही देखिये, मैं तुच्छ बंदरयोनि में उत्पन्न हूँ, चंचल, अपवित्र और सभी विधिविधानों से हीन हूँ। हे सखा, ऐसे मुझ अधम पर भी प्रभु ने अनुकम्पा की है; तब आप तो प्रसिद्ध भक्त हैं, इस के लिए घोर तपस्या कर चुके हैं, आप की प्रतिष्ठा कुल आदि भी बहुत ऊँचे हैं, तब प्रभुकृपाप्राप्ति में क्या संदेह है? विभीषण प्रेम से गद्गद हो गये, बोले कि कपिवर, इस लंबे चौडे माहात्म्य से मुझे लज्जित न कीजिए। मैं तो एक पामर निशाचर हूँ, अपने बन्धुओं के कृत्यों से और भी अधिक अपराधी हूँ। मैं इन निशाचरों के संसर्ग से बहुत ही संतप्त और त्रस्त हूँ, मेरी दुर्गति

में ये अब भी कसर नहीं रखते, इन से अलिप्त रहते हुए भी इस दुष्टसंग का न जाने कैसा कठोर फल मुझे भोगना होगा। लङ्का को आप समृद्ध और सुखमय देख रहे हैं, पर इस के भीतर अपरिमित वेदना और पाप भरे हुए हैं, यों समझिये कि शोभा की चमक दमक से नहीं, किंतु पापों की ज्वाला से ही यह लङ्का चमक रही है। मैं अब यहाँ के निवास से ऊब गया हूँ। इस अपावन स्थान को क्या कभी प्रभु पावन करेंगे! इस तरह अनेक प्रेम और विनय के आलापों में रात बीती जा रही थी; अनिर्वचनीय शान्तिरस के बीच इन्हें इस का पता न चला।

फिर हनुमानजी का भाव जानकर विभीषण ने रावण के सीताहरण आदि कुकृत्य का सब समाचार सुनाया। हनुमानजी इसी मौके की इंतजारी में थे कि यह स्वयं सीताजी का प्रसंग उठाये। अवसर पाकर उन्होंने पूछा कि बन्धुवर, सीतामाता को मैं देखना चाहता हूँ, वे कहाँ पर हैं? तब विभीषण ने उन को मार्ग, स्थान, प्रहरी, क्रूर राक्षसियों आदि का सब भेद बता दिया, उस अशोकबन में प्रवेश करने के कुछ सुगम तरीके भी बताये। विभीषण को हनुमानजी के पराक्रम और सामर्थ्य का अभी पूरा पता न था। उस ने इन को सुरक्षित बचने की अनेक तरकीबें भी बताईं। हनुमानजी उस से धन्यवादपूर्वक विदा हुए और अपने लघुरूप में उछलते कूदते अब रात्रि के अन्तिम प्रहर में जाकर अशोकवाटिका को इस प्रकार देखा—

सुरपादपसम्बाधां रत्नसोपानवापिकाम्।
नानापक्षिमृगाकीर्णां स्वर्णप्रासादशोभिताम्॥ ४॥
फलैरानम्रशाखाग्रपादपैः परिवारिताम्।
विचिन्वन् जानकीं तत्र प्रतिवृक्षं मरुत्सुतः॥ ५॥
ददर्शाभ्रंलिहं तत्र चैत्यप्रासादमुत्तमम्।
दृष्ट्वा विस्मयमापन्नो मणिस्तम्भशतान्वितम्॥ ६॥

वह वाटिका कल्पवृक्षों से पूर्ण थी, उस की बावडियों की सीढ़ियाँ रत्नजटित थीं, उस में नाना प्रकार के पक्षी और मृगगण विचर रहे थे तथा सुवर्णनिर्मित बारादरी की अपूर्व शोभा थी। वह वाटिका फलों के भार से झुकी हुई शाखाओं-वाले वृक्षों से घिरी थी। वहाँ प्रत्येक वृक्ष के नीचे जानकीजी को ढूँढते ढूँढते पवननन्दन हनुमान्जी ने एक अति सुन्दर देवालय देखा। वह इतना ऊँचा था कि उस के शिखर बादलों से टकराते थे। सैकड़ों मणिमय स्तम्भों से युक्त उस देवालय को देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ॥ ४-६॥

समतीत्य पुनर्गत्वा किञ्चिद्दूरं स मारुतिः ।
ददर्श शिंशपावृक्षमत्यन्तनिबिडच्छदम् ॥ ७ ॥
अदृष्टातपमाकीर्णं स्वर्णवर्णविहङ्गमम् ।
तन्मूले राक्षसीमध्ये स्थितां जनकनन्दिनीम् ॥ ८ ॥
ददर्श हनुमान् वीरो देवतामिव भूतले ।
एकवेणीं कृशां दीनां मलिनाम्बरधारिणीम् ॥ ९ ॥

उस से कुछ और आगे बढ़े तो उन्होंने एक अत्यन्त घने पत्तोंवाला शिंशपा वृक्ष देखा। उस के नीचे धूप कभी नहीं जाती थी और वह सुनहरे पक्षियों से आकीर्ण था। वीरवर हनुमानजी ने देखा कि उस वृक्ष के नीचे श्री जानकीजी पृथिवी पर स्थित देवता के समान राक्षसियों से घिरी हुई बैठी हैं। उन के बालों की जुड़कर एक बेणी हो गयी है, वे अत्यन्त दुर्बल और दीन अवस्था में हैं तथा मैलेकुचैले वस्त्र धारण किये हुए हैं ॥ ७-९ ॥

भूमौ शयानां शोचन्तीं रामरामेति भाषिणीम् ।
त्रातारं नाधिगच्छन्तीमुपवासकृशां शुभाम् ॥ १० ॥
शाखान्तरच्छदमध्यस्थो ददर्श कपिकुञ्जरः ।
कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं दृष्ट्वा जनकनन्दिनीम् ॥ ११ ॥
मयैव साधितं कार्यं रामस्य परमात्मनः ।
ततः किलकिलाशब्दो बभूवान्तःपुराद्बहिः ॥ १२ ॥

ऐसी अवस्था में पृथिवी पर पड़ी हुई वे अति शोकपूर्वक 'राम राम' कह रही हैं, उन्हें अपना कोई रक्षक भी दिखायी नहीं देता और वे उपवास करने से अति दुर्बल हो गयी हैं। कपिश्रेष्ठ श्री हनुमानजी शाखाओं के पत्तों में छिपकर उन्हें देखने लगे और मन ही मन कहने लगे कि आज जानकीजी को देखकर मैं कृतार्थ हो गया, कृतार्थ हो गया! परमात्मा राम का कार्य मेरे ही द्वारा सिद्ध हुआ। इसी समय अन्तःपुर में से बड़े जोर से किलकिला शब्द (कोलाहल) की आवाज आयी ॥ ११-१२ ॥

किमेतदिति सँल्लीनो वृक्षपत्रेषु मारुतिः ।
आयान्तं रावणं तत्र स्त्रीजनैः परिवारितम् ॥ १३ ॥

दशास्यं विंशतिभुजं नीलाञ्जनचयोपमम् ।
दृष्ट्वा विस्मयमापन्नः पत्रखण्डेष्वलीयत ॥ १४ ॥

तब हनुमान्जी ने यह सोचकर कि 'यह क्या है' वृक्ष के पत्तों में छिपे छिपे देखा कि स्त्रियों से घिरा हुआ रावण उसी ओर आ रहा है। उस के दस मुख, बीस भुजा और कज्जलसमूह के समान काले शरीर को देखकर हनुमान्जी को बड़ा विस्मय हुआ और वे पत्तों में छिप गये ॥ १३-१४ ॥

रावणो राघवेणाशु मरणं मे कथं भवेत् ।
सीतार्थमपि नायाति रामः किं कारणं भवेत् ॥ १५ ॥
इत्येवं चिन्तयन्नित्यं राममेव सदा हृदि ।
तस्मिन्दिनेऽपररात्रौ रावणो राक्षसाधिपः ॥ १६ ॥
स्वप्ने रामेण सन्दिष्टः कश्चिदागत्य वानरः ।
कामरूपधरः सूक्ष्मो वृक्षाग्रस्थोऽनुपश्यति ॥ १७ ॥

रावण को सदा यही चिन्ता रहती थी कि किस प्रकार श्री रामचन्द्रजी के हाथ से जल्दी से जल्दी मेरा मरण हो! न जाने क्या कारण है कि वे अभी तक सीता के लिए भी नहीं आये? इस प्रकार निरन्तर भगवान् राम का ही हृदय में स्मरण करते रहने से राक्षसराज रावण ने उस दिन शेषरात्रि में स्वप्न देखा कि राम का सन्देश लेकर आया हुआ कोई स्वेच्छारूपधारी वानर सूक्ष्म शरीर से वृक्ष की शाखा पर बैठा हुआ देख रहा है ॥ १५-१७ ॥

इति दृष्ट्वाद्भुतं स्वप्नं स्वात्मन्येवानुचिन्त्य सः ।
स्वप्नः कदाचित्सत्यः स्यादेवं तत्र करोम्यहम् ॥ १८ ॥
जानकीं वाक्छरैर्विद्ध्वा दुःखितां नितरामहम् ।
करोमि दृष्ट्वा रामाय निवेदयतु वानरः ॥ १९ ॥

इस अद्भुत स्वप्न को देखकर उस ने अपने मन में सोचा—कदाचित् यह स्वप्न ठीक ही हो, अतः अब अशोकवन में चलकर मुझे एक काम करना चाहिये, मैं जानकीजी को वाग्वाणों से वेधकर अत्यन्त दुःखी करूँ, जिस से वह वानर यह सब देखकर रामचन्द्रजी को सुनावे॥ १८-१९ ॥

रा० च०—प्रभुप्रेमी सज्जनो, पहले प्रसंगों में जहाँ तहाँ यह बतलाया गया था कि सीताजी या रामजी के ऊपर रावण का आपाततः जैसा दुष्ट भाव दिखाई देता है, वैसा उस का भाव भीतर से दुष्ट नहीं था। यह बात इन उपरोक्त श्लोकों से भी प्रकट हो रही है। दिखाने के लिए रामजी से विरोध करता हुआ रावण भीतर से उन का शुद्ध भक्त था। लोगों को सुनकर आश्चर्य होगा कि वह कैसी भक्ति थी जिस में गौ, ब्राह्मण, अबला और धार्मिकों का दलन किया जाता था। पर इस विषय में हमें लङ्कावासियों को दो भागों में बाँटकर देखना चाहिए। इन में एक विशेष वर्ग के रावण विभीषण शुक जैसे पढ़े लिखे प्रभावशाली लोग थे, दूसरे तमोगुणी, प्रमादी, उपद्रवी, अपराधजीवी (जरायमपेशा) सर्वसाधारण लोग थे। अधिक संख्या या बहुमत ऐसे ही लोगों का था, पर अपने बल पुरुषार्थ और बुद्धिकोशल से देवविरोधी रावणादि इन के नेता या राजा हो गये थे। रावणकाल के विचारों में देवविरोध और धर्मविरोध एक ही वस्तु न थी, क्योंकि वह देवताओं का भाई था, देवताओं ने उस के कुटुम्ब के साथ कोई सौहार्द या रियायत न की, जिस की इन्हें कामना थी। इस से चिढ़कर देवताओं की कोटि से बहुत अधिक बढ़ जाने के लिए उस ने घोर तप कर अतुल सामर्थ्य भी प्राप्त कर ली थी। देवताओं पर अपना सिक्का जमाने के वास्ते जिन अपराधजीवियों का वह राजा बना था, उन को वह पूर्ण रूप से वश में नहीं रख सकता था, उन को अत्याचार से रोकने के लिए दण्ड दिया जाता तो वे सब उस के विरुद्ध हो जाते, या नष्ट हो जाते, और इस दशा में रावण के साथ जनबल नहीं रहता। इस लिए अपने आत्मा को दबाकर उस ने अत्याचारियों को प्रोत्साहन तथा अनेकों अंशों में उन का साथ भी दिया। इसी लिए उस की प्रजा सर्वसाधारण पर अत्याचार करती हुई देवपक्षपाती ऋषि मुनि ब्राह्मण आदि को अधिकतर मारती थी।

यज्ञों का विरोध ये लोग इस लिए करते थे कि देवताओं के समान रावण को भी यज्ञभाग क्यों नहीं दिया जाता है, अतः अस्थि मांसादि बरसाकर ये उन्हें भ्रष्ट कर देते थे। आज कल भी ऐसे अनेक सभ्य कहे जानेवाले लोग देखे जाते हैं जो कहते हैं कि यह मेरा सार्वजनिक मत है और यह मेरा व्यक्तिगत विचार है। इन दुरंगी नीतिवालों की अपेक्षा धार्मिकों में भी बहुतेरों में यह सिद्धान्त सुप्रचलित है—

अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः।
नाना रूपधराः कौला विचरन्ति महीतले॥

ऐसे ही आदर्शों के अनुसार रावण के अन्तरङ्ग मन की भावना के विपरीत उस का बाह्य व्यवहार बिलकुल विपरीत होता था। तत्कालीन देवताओं के अतिरिक्त, वेदबोधित परमात्मशक्ति का वह उपासक और समदर्शी ऋषि मुनियों का पूजक था। अगस्त्य, नारद, सनत्कुमार जैसे महर्षियों के चरण पूजकर वह उपदेश ग्रहण भी करता था। हाँ देवविरोध में उस ने कुछ उठा न रखा, अपनी प्रजा के विरोधियों पर अत्याचार करने में सहायता देने के लिए उस ने करालवदन, विकृत आकृतिवाले, महाकाय असल राक्षसजाति के जन्तुओं से पूरा सहयोग लिया, इसी से रावणादि भी राक्षस मान लिए गये। अस्तु,

इस प्रकार जब रावण ने देवों को पूरी तौर से कब्जे में कर लिया, तब तुलसीदासजी के शब्दों में उस ने यह सोचा—

होइहि भजन न तामस देहा ॐ मन क्रम वचन मंत्र दृढ एहा ॥
सुररंजन भंजन महिभारा ॐ जो भगवंत लीन अवतारा ॥
तौ मैं जाय बैर हठि करिहों ॐ प्रभुसर प्रान तजे भव तरिहों ॥

उस ने देवताओं को दास बनाकर अपने मन का खार निकाल लिया था, स्वाध्यायपूर्वक वेदों की भाष्यरचना, एकछत्र साम्राज्यभोग, हजारों स्त्री पुत्रादिकों का कुटुम्ब ; इन समृद्धियों से उस ने मनुष्यजीवन के प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम यथेच्छ सिद्ध कर लिए थे, संसार की ओर से वह कृतकृत्य था। अब रहा मनुष्यजीवन का परमप्रयोजन मोक्ष, उस के लिए वह जनक आदि की तरह निष्काम कर्मयोगी हो जाता तो देवताओं द्वारा हुए जातिअपमान का बदला लेना निरर्थक ही रहता, और राजपाट छोड़कर चतुर्थाश्रमी होना उस युद्धाग्नि के कीडे शूरवीर के लिए स्वाभिमान के खिलाफ था। एक विशेष बात यह भी थी कि उस ने और उस की उद्दण्ड राक्षसप्रजा ने जो यथेच्छ अनाचार पापाचार किये थे, उन की निष्कृति इस जन्म में तो क्या, अनेकों जन्मों में किसी भी यज्ञ, दान, तप से होना असंभव था। उस मनस्वी के लिए यह असह्य था कि जब सब पुरुषार्थ सिद्ध हो चुके हैं तो परमपुरुषार्थ मोक्ष असिद्ध ही रह जाय।

ऐसा खूब सोच विचार कर उस ने इसी जन्म में प्रभुप्राप्ति का यह अभिनव तरीका 'विरोधभक्ति' या शत्रुभाव से प्रभुभजन अङ्गीकार किया। क्यों कि भगवान् के अन्तरङ्गप्रेमी सनत्कुमार आदिकों से उस ने यह सुन रखा था—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

शतरूपा, अदिति आदि महिलाओं ने पुत्रादि रूप में प्रभु को पाकर अपनी कामना पूरी करते हुए भगवान् का भजन किया, हिरण्यकशिपु ने क्रोध से, अनेक क्षत्रियों ने परशुरामजी द्वारा

भय से, शवरी ने स्नेह से, वेदान्तज्ञानियों ने अद्वैतबुद्धि से, बलि राजा तथा ऋक्ष वानरों ने मित्रभाव से निरन्तर प्रभु को भजते हुए सायुज्यमुक्ति का असंदिग्ध मार्ग कायम कर दिया है। तदनुसार, भगवान् को क्रोधास्पदरूप से ही एकाग्रतापूर्वक भजने का मार्ग हिरण्यकशिपु जैसे तेजस्वियों ने अपनाया था तो रावण ने यही मार्ग अपने लिए चुना। और भगवान् से वैर ही ठानना है तो उस की उग्रता में कुछ कसर क्यों छोडी जाय, इस विचार से उस ने सीताहरण जैसे घोर अपकार द्वारा ही यह काम शुरू किया। इस कृत्य में भीतर से उस का भाव शुद्ध था इसी लिए सीताजी को अशोकवन के चैत्यप्रासाद (देवस्थान) में 'मातृभाव' से रखा था, यह बात इस रामायण में स्पष्ट रूप से उस स्थल पर कही गई है। नियम है कि 'भावो हि भवकारणम्' जैसी भावना की जाय वैसी वस्तुस्थिति हो ही जाती है। रावण जब निरन्तर भगवदाह्वान की यह वैरभावना कर रहा था, तब भगवान् ने भी उस के उद्धार के लिए हनुमानजी को भेजते हुए अपना हाथ बढाया, उन की तो प्रतिज्ञा ही है —

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (—गीता)

इन भक्तवत्सल भगवान् की सीताजी तो नित्यसहचरी या अभिन्नात्मा, स्वरूपशक्ति ही हैं, उन्हें कोई हरण नहीं कर सकता। यह सब चरित्र तो भक्तों के विनोदार्थ या आकर्षणार्थ नरलीला का नाटक, नकली सीताहरण हुआ था। इस नाटक का पूर्ण रसास्वादन भक्तों को कराने के लिए राम किष्किन्धा, प्रवर्षणगिरि आदि में सोता के लिए विरहव्याकुल होते थे, हमें तो मालूम पडता है यह भक्तजनमानसविहारी श्री रामचन्द्र का कपटविरह था, असल में वे अपने गूढप्रेमी रावण पर अनुग्रह करने के लिए ही इस व्याज से उत्कण्ठित होते होंगे। अब स्वामी और सेवक का मिलाप कराने के दूतकर्म के लिए ही हनुमानजी यहाँ आये हैं। रावण के आन्तरिक भक्ति से भरपूर चित्त में आज सोते समय स्वप्न में हनुमानजी का यह आगमन योगियों की तरह पूरा प्रतिभासित हो गया, इस लिए हनुमानजी द्वारा अपने 'वैरयोग' की सूचना से, भगवान् को शीघ्र बुलाने के विचार से इस समय रावण पूर्वोक्त श्लोकों का चिन्तन कर रहा था; परिणाम इस का यह हुआ—

इत्येवं चिन्तयन्सीतासमीपमगमद्द्रुतम्।
नूपुराणां किङ्किणीनां श्रुत्वा शिञ्जितमङ्गना ॥ २० ॥
सीता भीता लीयमाना स्वात्मन्येव सुमध्यमा।
अधोमुख्यश्रुनयना स्थिता रामार्पितान्तरा ॥ २१ ॥

यह सोचकर रावण तुरन्त सीताजी के पास चला। उस के साथ की स्त्रियों के नूपुर और किंकिणी आदि की झनकार सुनकर कल्याणी सीताजी घबड़ाकर अपने
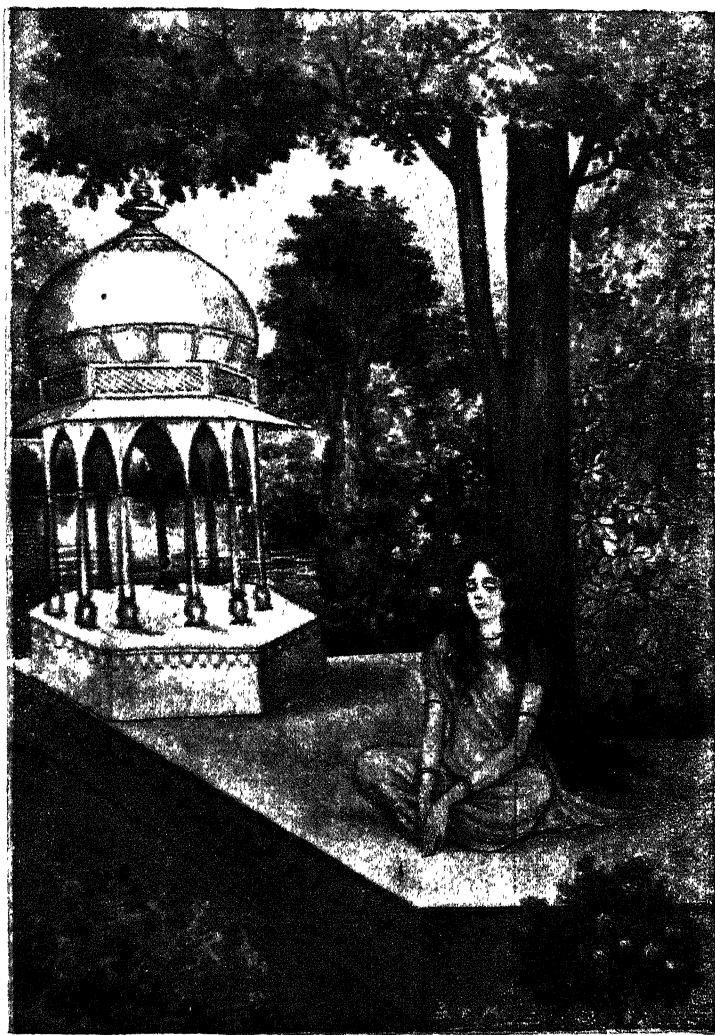
हनुमान्जी को सीताजी का अशोक वाटिका में प्रथम दर्शन

હનુમાનજીને સીતાજીનું અશોકવાટીકામાં પ્રથમ દર્શન.

शरीर को सिकोड़ नीचे को मुख करके बैठ गयीं। उस समय उन के नेत्रों में जल भर आया और हृदय भगवान् राम में लग गया ॥ २०-२१ ॥

रावणोऽपि तदा सीतामालोक्याह सुमध्यमे ।
मां दृष्ट्वा किं वृथा सुभ्रु स्वात्मन्येव विलीयसे ॥ २२ ॥
रामो वनचराणां हि मध्ये तिष्ठति सानुजः ।
कदाचिद् दृश्यते कैश्चित्कदाचिन्नैव दृश्यते ॥ २३ ॥
मया तु बहुधा लोकाः प्रेषितास्तस्य दर्शने ।
न पश्यन्ति प्रयत्नेन वीक्षमाणाः समन्ततः ॥ २४ ॥
किं करिष्यसि रामेण निःस्पृहेण सदा त्वयि ।
त्वया सदालिङ्गितोऽपि समीपस्थोऽपि सर्वदा ॥ २५ ॥
हृदयेऽस्य न च स्नेहस्त्वयि रामस्य जायते ।
त्वत्कृतान्सर्वभोगांश्च त्वद्गुणानपि राघवः ॥ २६ ॥
भुञ्जानोऽपि न जानाति कृतघ्नो निर्गुणोऽधमः ।
त्वमानीता मया साध्वी दुःखशोकसमाकुला ॥ २७ ॥
इदानीमपि नायाति भक्तिहीनः कथं व्रजेत् ।
निःसत्त्वो निर्ममो मानी मूढः पण्डितमानवान् ॥ २८ ॥
नराधमं त्वद्विमुखं किं करिष्यसि भामिनि ।
त्वय्यतीव समासक्तं मां भजस्वासुरोत्तमम् ॥ २९ ॥
देवगन्धर्वनागानां यक्षकिन्नरयोषिताम् ।
भविष्यसि नियोक्त्री त्वं यदि मां प्रतिपद्यसे ॥ ३० ॥

सीताजी को देखकर रावण बोला—हे कमनीय और सुन्दर भृकुटिवाली, तुम मुझे देखकर वृथा क्यों इतनी सिकुड़ती हो ? राम तो अपने भाई के साथ वनचरों में रहता है, वह कभी तो किसी को दिखायी देता है और कभी दिखायी भी नहीं देता। मैंने तो उसे देखने के लिए कितने ही लोग भेजे, किन्तु बहुत प्रयत्नपूर्वक सब ओर देखने पर भी वह उन को कहीं दिखायी नहीं दिया। अब राम से तुम्हें क्या काम है ? वह तो तुम से सदा उदासीन रहता है। सदा तुम्हारे पास रहते हुए और सदा

तुम से आलिंगित होते हुए भी उस के हृदय में अभीतक तुम्हारे प्रति स्नेह नहीं हुआ। राम को तुम से जितने भोग प्राप्त हुए हैं और तुम में जितने गुण हैं उन सब को भोगकर भी वह कृतघ्न, गुणहीन और अधम कभी उन को याद भी नहीं

करता। देखो, मैं तुम्हें हर लाया, तुम उस की सुशीला पत्नी हो और इस समय दुःख शोक से व्याकुल हो रही हो, तो भी वह अभी तक नहीं आया। जब उसे तुम में प्रेम ही नहीं है तो आता कैसे? वह सर्वथा असमर्थ, ममताशून्य, अभिमानी, मूर्ख और अपने को बड़ा बुद्धिमान् माननेवाला है। हे भामिनि, अपने से उदासीन उस नराधम से तुम्हें क्या लेना है? देखो, मैं राक्षसश्रेष्ठ तुम से अत्यन्त प्रेम करता हूँ, अतः तुम मुझे ही अंगीकार कर यदि मेरे अधीन रहोगी तो देव, गन्धर्व, नाग, यक्ष और किन्नर आदि की स्त्रियों का शासन करोगी ॥२२-३०॥

रा० च०—प्रेमी भक्तो, रावण रामजी के वाणप्रहार से अपनी सद्गति की कामना करता हुआ मन में उन को चाहता है, इसी लिए बाहर से उन से वैरभाव साधता हुआ इस समय सीताजी के आगे खूब खरी खोटी सुना रहा है। भाव यही है कि यदि स्वप्नानुसार यहाँ कहीं हनुमानजी छिपे हुए हों तो वे मेरे रामविरोध को यथार्थ जानकर सदलबल शीघ्र रामजी को यहाँ चढ़ा लावें। वस्तुतः इन कटुवचनों से उस का इरादा सीताजी को धमकाकर फुसलाना नहीं था, क्योंकि उस ने पहले से ऐसा निश्चय करके सीताहरणकाण्ड रचा था—

विरोधबुद्ध्यैव हरिं प्रयामि द्रुतं न भक्त्या भगवान् प्रसीदेत्।

(अध्यात्म, अरण्यकाण्ड)

यदि रावण के मन में वस्तुतः कुदृष्टि होती तो वह सीताजी के लिए "मातृबुद्ध्यानुपालयत" की व्यवस्था न करता और बलात्कार से उन्हें वश में लाने की चेष्टा करता। कहते हैं कि एक बार कुबेरपुत्र के पास जाती हुई रम्भा अप्सरा को कुछ देर बलपूर्वक रोक रखने के कारण रावण को कुबेरपुत्र ने शाप दिया था कि 'वह न चाहती हुई किसी स्त्री को अपने साथ कुदृष्टि से रखेगा तो उस के शिर के सात टुकड़े हो जायँगे।' इस के भय से रावण सीताजी पर अपना बलप्रयोग न करता था। किंतु इस शाप में कोई बल नहीं मालूम होता, जब नलकूबर

के चाचा ताऊ इन्द्र वरुण यम कुबेर आदि दिक्पालों को रावण ने नाकों चने चबाकर उन की दुर्गति कर डाली, उन से वज्रादि शक्तियों, एवं शाप से भी प्रबल मन्त्रप्रयोगों द्वारा कुछ करते न बना तो कुबेरपुत्र बेचारे का कमजोर शाप उस का क्या बिगाड सकता था ? और इस शाप से वह डरता होता तो हरणसमय में सीताजी का स्वयं अङ्गस्पर्श क्यों करता ? क्यों कि इतने बलात्कार से शिर के सात टुकडे न होंगे इस का उसे क्या पता था ! ऐसे शाप रावण का कुछ बिगाड सकते तो अनेकों देवाङ्गना, नागाङ्गना, ऋषि आदि के शाप उसे मिलते रहे होंगे, पर किसी से कुछ न हुआ । नलकूवर के शाप से तो रावण की शुद्धि ही प्रकट होती है, यानी उस के महल में जो स्त्रियाँ थीं वे स्वेच्छा से उस की पत्नी बनकर रह रही थीं, मस्तक फटने के डर से किसी के साथ वह जबर्दस्ती नहीं कर सकता था, अस्तु ।

सीताजी उस के शुद्ध आन्तरिक भाव को समझती थीं, इस लिए यहाँ रावण ने भगवान् के प्रति जो कटुवचन कहे, उन का भीतरी अर्थ रावण के हृदय की तरह दूसरा ही था, रावण ने चतुराई से ऐसे वचन बोले थे कि सीताजी तो असली अर्थ को सुनकर प्रसन्न हों और हनुमानजी, राक्षसी आदि बाहरी अर्थ से उसे राम का सच्चा वैरी मानें । रावण सीताजी को आदिशक्ति न समझकर मानुषी ही मानता होता तो महीनों तक उपवास का सत्याग्रह करते हुए दीन हीन दशा में देखकर उन पर इतना क्रूर न हो जाता, जैसा कि यहाँ दिखाया गया है । इतने दिन के व्रत से तो मानवी को सब कोई देवी मानकर पूज्य समझ सकते हैं।

इस लिए रावण सीतारामजी का शुद्ध आन्तरिक भक्त था, अब देखना चाहिए कि बाहर से कडवी लगनेवाली उस की इस उक्ति का सीताजी ने क्या अर्थ समझा था ? ऊपर के २२ से ३० वें श्लोकों का वह अर्थ इस प्रकार है—

रावण ने सीताजी का दर्शन कर कहा—हे अद्भुत रचनामयी महामाया, मुझे आप शरण में न लेकर मुझ से दूर क्यों हटती जाती हैं ? ॥२२॥ परमात्मा राम तो अपने भाईरूप नित्यमुक्त जीवगण के साथ वन में, यानी प्रकृति से परे रहते हैं। वे अनेक यत्न करने पर योगीन्द्र मुनीन्द्रों को कभी कभी दिखाई देते हैं ॥ २३ ॥ मैंने उन के दर्शनों के लिए अनेकों बार अपनी इन्द्रियों को प्रेरित किया किंतु यत्न करने पर भी उन का साक्षात्कार नहीं हुआ ॥ २४ ॥ निर्लेप मायातीत असंग उन परमात्मा को आप की संसाररचना से कोई प्रयोजन नहीं रहता, आप उन से अभिन्न हैं पर इस कार्य में समीप रहते हुए भी वे राम परमात्मा आप से पृथक् रहते हैं ॥ २५ ॥ निस्पृह निर्विकार होने से परब्रह्म राम का मायारूपिणी आप से बन्धन नहीं हो सकता ॥ २६ ॥ (सांख्यमतानुसार) महाप्रकृति आप के द्वारा रचे हुए सब पदार्थों और गुणों को भोगते और कृत कर्मों का नाश करते हुए भी

वे आप से पृथक्, उदासीन रहते हैं। दुःख शोक आदि भी आप के ही रचे हुए हैं, मैं आप की उपासना कर रहा हूँ। इन दुःखादि को देखकर ही क्या वे आप के समीप और मुझे दर्शन देने नहीं आते हैं ? ॥ २७ ॥ उन की आसक्ति आप माया पर नहीं है अतः मुझ को दर्शन देने नहीं आते। वे निर्गुण, ममतारहित, अपरिमेय होने पर भी शिव, ब्रह्मा आदि के आराध्य हैं एवं विद्वानों से ऐसे ही माने जाते हैं ॥ २८ ॥ मनुष्य उन से अत्यन्त तुच्छ हैं, ऐसे वे पुरुषोत्तम आप माया से परे रहते हैं, क्या आप मेरे ऊपर उन्हें कृपालु कर देंगी ? मैं आप का बड़ा भक्त हूँ, आप मेरी सेवा स्वीकार करें ॥ २९ ॥ यदि आप मुझ पर प्रसन्न हो जायँ तो मैं अपने महल भर की देव, गन्धर्व, नाग, यक्ष, किन्नर आदि जाति की सब स्त्रियों को उन के कुटुम्बसमेत आप की शरणागत भक्त कर दूँगा ॥ ३० ॥

महामाया सीताजी इस व्याजस्तुति को सुनकर भीतर से प्रसन्न ही हुई, और वे भी बाहर से कटु लगनेवाली कूटवाणी में रावण को सान्त्वना देने लगीं। भाव यही था कि इस दृश्य को देखकर रामदूत शीघ्र ही भगवान् को लङ्का में चढ़ाकर ले आवें; यथा—

रावणस्य वचः श्रुत्वा सीतामर्षसमन्विता।
उवाचाधोमुखी भूत्वा निधाय तृणमन्तरे ॥ ३१ ॥
राघवाद्विभ्यता नूनं भिक्षुरूपं त्वया धृतम्।
रहिते राघवाभ्यां त्वं शुनीव हविरध्वरे ॥ ३२ ॥
हृतवानसि मां नीच तत्फलं प्राप्स्यसेऽचिरात्।

रावण के ये वचन सुनकर सीताजी को बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने शिर नीचा कर लिया और बीच में तृण (ओट, घूंघट) रखकर कहा—अरे नीच, इस में सन्देह नहीं कि श्री रघुनाथजी से डरकर ही तूने भिक्षु का रूप धारण किया था, और उन दोनों रघुश्रेष्ठों की अनुपस्थिति में कुत्ता जिस प्रकार सूनी यज्ञशाला से हवि ले जाता है उसी प्रकार तू मुझे हर लाया है; सो बहुत शीघ्र ही उस का फल पायेगा ॥ ३१-३२ ॥

यदा रामशराघातविदारितवपुर्भवान् ॥ ३३ ॥
ज्ञास्यसेऽमानुषं रामं गमिष्यसि यमान्तिकम्।
समुद्रं शोषयित्वा वा शरैर्बद्ध्वाथ वारिधिम् ॥ ३४ ॥
हन्तुं त्वां समरे रामो लक्ष्मणेन समन्वितः।

आगमिष्यत्यसन्देहो द्रक्ष्यसे राक्षसाधम ॥ ३५ ॥
त्वां सपुत्रं सहबलं हत्वा नेष्यति मां पुरम् ।

जिस समय भगवान् राम की बाणवर्षा से विदीर्ण होकर तू यमलोक को जायगा, उस समय ही अमानव राम को जानेगा। अरे राक्षसाधम, इस में सन्देह नहीं, तू शीघ्र ही देखेगा कि तुझे युद्ध में मारने के लिए भाई लक्ष्मण के सहित भगवान् राम समुद्र को सुखाकर अथवा उस पर बाणों का पुल बनाकर यहाँ आयँगे और तुझे पुत्रों और सेना के सहित मारकर मुझे अयोध्यापुरी ले जायँगे ॥३३-३५॥

श्रुत्वा रक्षःपतिः क्रुद्धो जानक्याः परुषाक्षरम् ॥ ३६ ॥
वाक्यं क्रोधसमाविष्टः खड्गमुद्यम्य सत्वरः ।
हन्तुं जनकराजस्य तनयां ताम्रलोचनः ॥ ३७ ॥
मन्दोदरी निवार्याह पतिं पतिहिते रता ।
त्यजैनां मानुषीं दीनां दुःखितां कृपणां कृशाम् ॥ ३८ ॥
देवगन्धर्वनागानां बह्व्यः सन्ति वराङ्गनाः ।
त्वामेव वरयन्त्युच्चैर्मदमत्तविलोचनाः ॥ ३९ ॥

जानकीजी के ये कठोर वचन सुनकर राक्षसराज रावण को अत्यन्त क्रोध हुआ और वह क्रोध से नेत्र लाल कर तुरन्त ही खड्ग खींचकर जनकनन्दिनी सीताजी को मारने पर उतारू हो गया। तब पति के हित में तत्पर रहनेवाली महारानी मन्दोदरी ने अपने पति को रोकते हुए कहा—स्वामिन्, इस दीना, क्षीणा, दुखिया एवं कातर मानवी को छोड़ दीजिये। आप के लिए तो देवता, गन्धर्व और नागादिकों की ऐसी अनेकों मनोहारिणी महिलाएँ हैं जो बड़े चाव से आप ही को वरण करना चाहती हैं ॥ ३६-३९ ॥

ततोऽब्रवीद्दशग्रीवो राक्षसीर्विकृताननाः ।
यथा मे वशगा सीता भविष्यति सकामना ।
तथा यतध्वं त्वरितं तर्जनादरणादिभिः ॥ ४० ॥
द्विमासाभ्यन्तरे सीता यदि मे वशगा भवेत् ।
तदा सर्वसुखोपेता राज्यं भोक्ष्यति सा मया ॥ ४१ ॥
यदि मासद्वयादूर्ध्वं मच्छय्यां नाभिनन्दति ।
तदा मे प्रातराशाय हत्वा कुरुत मानुषीम् ॥ ४२ ॥

तब रावण ने बहुत सी विकराल मुखवाली राक्षसियों से कहा—हे निशाचरियो, भय अथवा आदर जिस उपाय से भी सीता कामनायुक्त होकर शीघ्र ही मेरे अधीन हो जाय; तुम सब लोग वही करो। यदि दो महीने के भीतर यह मेरे वशीभूत हो जायगी तो सर्व सुखसम्पन्न होकर मेरे साथ राज्य भोगेगी, और यदि दो महीने तक भी यह मेरी शय्या पर आना स्वीकार न करे तो इस मानवी को मारकर मेरा प्रातःकाल का कलेवा बना देना॥ ४०-४२॥

इत्युक्त्वा प्रययौ स्त्रीभी रावणोऽन्तःपुरालयम्।
राक्षस्यो जानकीमेत्य भीषयन्त्यः स्वतर्जनैः॥ ४३॥
तत्रैका जानकीमाह यौवनं ते वृथा गतम्।
रावणेन समासाद्य सफलं तु भविष्यति॥ ४४॥
अपरा चाह कोपेन किं विलम्बेन जानकि।
इदानीं छेद्यतामङ्गं विभज्य च पृथक् पृथक्॥ ४५॥
अन्या तु खड्गमुद्यम्य जानकीं हन्तुमुद्यता।
अन्या करालवदना विदार्यास्यमभीषयत्॥ ४६॥

ऐसा कह रावण अपनी स्त्रियों के साथ अन्तःपुर को चला गया और राक्षसियाँ सीताजी के पास आकर उन्हें अपने अपने उपायों से भयभीत करने लगीं। उन में से एक बोली—जानकि, तेरा यौवन वृथा हो गया, यदि तू रावण को स्वीकार करे तो यह सफल हो जाय। दूसरी ने क्रोध दिखाते हुए कहा—जानकि, अब हमारी बात मानने में देर क्यों करती है? इसी प्रकार कोई खड्ग निकालकर जानकीजी को मारने के लिए तैयार होकर बोली कि इस के अंगों को काटकर अभी अलग अलग कर डालो। कोई भयंकर मुखवाली राक्षसी अपना मुख फाड़कर डराने लगी॥ ४३-४६॥

त्वं तां भीषयन्तीस्ता राक्षसीर्विकृताननाः ।
निवार्य त्रिजटा वृद्धा राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥ ४७ ॥
शृणुध्वं दुष्टराक्षस्यो मद्वाक्यं वो हितं भवेत् ॥ ४८ ॥
न भीषयध्वं रुदतीं नमस्कुरुत जानकीम् ।

सीताजी को इस प्रकार डराती हुई उन विकृतवदना राक्षसियों को रोककर त्रिजटा नाम की एक वृद्धा राक्षसी बोली—अरी दुष्टा राक्षसियो, मेरी बात सुनो, इसी से तुम्हारा हित होगा। तुम इन रोती विलखती जानकीजी को मत डराओ, बल्कि इन्हें नमस्कार करो ॥ ४७-४९ ॥

इदानीमेव मे स्वप्ने रामः कमललोचनः ॥ ४९ ॥
आरुह्यैरावतं शुभ्रं लक्ष्मणेन समागतः ।
दग्ध्वा लङ्कापुरीं सर्वां हत्वा रावणमाहवे ॥ ५० ॥
आरोप्य जानकीं स्वाङ्के स्थितो दृष्टोऽगमूर्धनि ।

मैं ने अभी अभी स्वप्न में देखा है कि कमललोचन भगवान् राम लक्ष्मण के साथ श्वेत ऐरावत हाथी पर चढ़कर आये हैं और सम्पूर्ण लङ्कापुरी को जलाकर तथा रावण को युद्ध में मारकर सीताजी को अपनी गोद में लिये पर्वतशिखर पर बैठे हुए हैं ॥ ४९-५० ॥

रावणो गोमयहृदे तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः ॥ ५१ ॥
अगाहत्पुत्रपौत्रैश्च कृत्वा वदनमालिकाम् ।
विभीषणस्तु रामस्य सन्निधौ हृष्टमानसः ॥ ५२ ॥
सेवां करोति रामस्य पादयोर्भक्तिसंयुतः ।
सर्वथा रावणं रामो हत्वा सकुलमञ्जसा ॥ ५३ ॥
विभीषणायाधिपत्यं दत्त्वा सीतां शुभाननाम् ।
अङ्के निधाय स्वपुरीं गमिष्यति न संशयः ॥ ५४ ॥

रावण गले में मुण्डमाला पहने, शरीर में तेल लगाये, नंगा होकर अपने पुत्र पौत्रों के साथ गोबर के कुण्ड में डुबकी लगा रहा है और विभीषण प्रसन्नचित्त से रघुनाथजी के पास बैठा हुआ अति भक्तिपूर्वक उन की चरण-सेवा कर रहा है। इस स्वप्न से निश्चय होता है कि रामचन्द्रजी अनायास ही रावण का कुलसहित नाश कर विभीषण को लङ्का का राज्य देंगे। और सुमुखी सीता को गोद में बिठाकर निस्सन्देह अपने नगर को चले जायँगे ॥ ५१-५४ ॥

त्रिजटाया वचः श्रुत्वा भीतास्ता राक्षसस्त्रियः।
तूष्णीमासंस्तत्र तत्र निद्रावशमुपागताः ॥ ५५ ॥
तर्जिता राक्षसीभिः सा सीता भीतातिविह्वला।
त्रातारं नाधिगच्छन्ती दुःखेन परिमूर्च्छिता ॥ ५६ ॥
अश्रुभिः पूर्णनयना चिन्तयन्तीदमब्रवीत्।
प्रभाते भक्षयिष्यन्ति राक्षस्यो मां न संशयः।
इदानीमेव मरणं केनोपायेन मे भवेत् ॥ ५७ ॥

त्रिजटा के ये वचन सुनकर राक्षसियाँ डर गयीं। वे चुप चाप जहाँ तहाँ बैठ गयीं और कुछ देर पीछे उन्हें नींद आ गयी। राक्षसियों के डराने से सीताजी अत्यन्त भयभीत और विह्वल हो गयीं और अपना कोई सहायक न देखकर वे दुःख से मूर्छित हो गयीं। फिर आँखों में आँसू भरकर अति चिन्ताकुल होकर इस प्रकार कहने लगीं कि इस में सन्देह नहीं, प्रातःकाल होते ही राक्षसियाँ मुझे खा जायँगी। ऐसा कौन उपाय है जिस से मुझे अभी मौत आ जाय ॥ ५५-५७ ॥

एवं सुदुःखेन परिप्लुता सा विमुक्तकण्ठं रुदती चिराय।
आलम्ब्य शाखां कृतनिश्चया मृतौ न जानती कञ्चिदुपायमङ्गना ॥ ५८ ॥

इस प्रकार मौत का निश्चय करके भी उस का कोई साधन न देखकर कल्याणी सीता वृक्ष की शाखा पकड़े हुए अत्यन्त दुःख से भरकर बहुत देर तक फूट फूटकर रोती रहीं ॥ ५८ ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, सुन्दरकाण्ड के द्वितीय सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ २ ॥

ॐ

तृतीय सर्ग
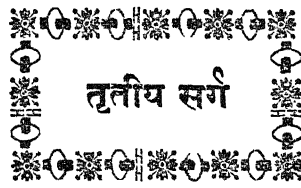
हनुमान्जी का सीताजी से मिलना तथा राक्षससंहार ।

श्रीमहादेव उवाच—

उद्बन्धनेन वा मोक्ष्ये शरीरं राघवं विना ।
जीवितेन फलं किं स्यान्मम रक्षोऽधिमध्यतः ॥ १ ॥
दीर्घा वेणी ममात्यर्थमुद्बन्धाय भविष्यति ।
एवं निश्चितबुद्धिं तां मरणायाथ जानकीम् ॥ २ ॥
विलोक्य हनुमान्किञ्चिद्विचार्यैतदभाषत ।
शनैः शनैः सूक्ष्मरूपो जानक्याः श्रोत्रगं वचः ॥ ३ ॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, इस प्रकार रोते हुए सीताजी ने सोचा—अच्छा, मैं फाँसी लगाकर ही अपना शरीर क्यों न छोड़ दूँ ? इन राक्षसियों के बीच में रहकर रघुनाथजी के बिना जीने से लाभ ही क्या है ? फाँसी लगाने के लिए मेरी लम्बी वेणी पर्याप्त होगी । जानकीजी को इस प्रकार मरने का निश्चय करती देख सूक्ष्मरूपधारी श्री हनुमान्जी हृदय में कुछ विचारकर उन के कानों में पड़ने योग्य धीमे स्वर से धीरे धीरे इस प्रकार कहने लगे ॥ १-३ ॥

इक्ष्वाकुवंशसम्भूतो राजा दशरथो महान् ।
अयोध्याधिपतिस्तस्य चत्वारो लोकविश्रुताः ॥ ४ ॥
पुत्रा देवसमाः सर्वे लक्षणैरुपलक्षिताः ।
रामश्च लक्ष्मणश्चैव भरतश्चैव शत्रुहा ॥ ५ ॥
ज्येष्ठो रामः पितुर्वाक्याद्दण्डकारण्यमागतः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया भार्यया सह ॥ ६ ॥

उवास गौतमीतीरे पञ्चवट्यां महामनाः ।

इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हुए अयोध्यापति महाराज दशरथ बड़े प्रतापी थे। उन के त्रिलोकी में विख्यात चार पुत्र हुए। वे राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न चारों ही देवताओं के समान शुभ लक्षणों से सम्पन्न हैं। उन में से बड़े भाई राम भ्राता लक्ष्मण और भार्या सीता के सहित अपने पिता की आज्ञा से दण्डकारण्य में आये थें। वे महामना वहाँ गोदावरी नदी के तीर पर पञ्चवटी आश्रम में रहते थे ॥ ४-६ ॥

तत्र नीता महाभागा सीता जनकनन्दिनी ॥ ७ ॥
रहिते रामचन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ।
ततो रामोऽतिदुःखार्तो मार्गमाणोऽथ जानकीम् ॥ ८ ॥
जटायुषं पक्षिराजमपश्यत्पतितं भुवि ।
तस्मै दत्त्वा दिवं शीघ्रमृष्यमूकमुपागमत् ॥ ९ ॥

उस आश्रम से श्री रामचन्द्रजी की अनुपस्थिति में दुरात्मा रावण महाभागा जनकनन्दिनी सीताजी को ले गया। तब अति शोकाकुल भगवान् राम ने जानकीजी को इधर उधर ढूँढ़ते हुए पृथिवी पर पड़े पक्षिराज जटायु को देखा। उसे तुरन्त ही दिव्यधाम पहुँचाकर वे ऋष्यमूक पर्वत पर आये ॥ ७-९ ॥

सुग्रीवेण कृता मैत्री रामस्य विदितात्मनः ।
तद्भार्यापहारिणं हत्वा वालिनं रघुनन्दनः ॥ १० ॥
राज्येऽभिषिच्य सुग्रीवं मित्रकार्यं चकार सः ।
सुग्रीवस्तु समानाय्य वानरान्वानरप्रभुः ॥ ११ ॥
प्रेषयामास परितो वानरान्परिमार्गणे ।
सीतायास्तत्र चैकोऽहं सुग्रीवसचिवो हरिः ॥ १२ ॥

वहाँ आकर आत्मदर्शी भगवान् राम ने सुग्रीव से मित्रता की और उस की स्त्री का हरण करनेवाले दुष्ट वाली को मारकर उसे राज्यपद पर अभिषिक्त किया। इस प्रकार श्री रघुनन्दन ने मित्र का कार्य सिद्ध किया। वानरराज सुग्रीव ने भी समस्त वानरों को बुलाकर उन्हें सब ओर सीताजी की खोज करने के लिए भेजा। उन्हीं में से एक मैं भी सुग्रीव का मन्त्री वानर हूँ ॥ १०-१२ ॥

सम्पातिवचनाच्छीघ्रमुल्लङ्घ्य शतयोजनम् ।
समुद्रं नगरीं लङ्कां विचिन्वञ्जानकीं शुभाम् ॥ १३ ॥

शनैरशोकवनिकां विचिन्वन् शिंशपातरुम् ।
अद्राक्षं जानकीमत्र शोचन्तीं दुःखसंप्लुताम् ॥१४॥
रामस्य महिषीं देवीं कृतकृत्योऽहमागतः ।
इत्युक्त्वोपरराामाथ मारुतिर्बुद्धिमत्तरः ॥१५॥

मैं सम्पाति के कथनानुसार सौ योजन चौड़े समुद्र को लाँघकर तुरन्त लङ्कापुरी में आया और यहाँ सर्वत्र शुभलक्षणा सीताजी को ढूँढ़ा। शनैः शनैः अशोकवाटिका में ढूँढ़ते ढूँढ़ते मैं ने यह शिंशपावृक्ष देखा और यहाँ रामचन्द्रजी की महारानी देवी जानकीजी को अति क्लेश से शोक करते पाया। इन के दर्शन से मेरा यहाँ आना सफल हो गया। इतना कहकर परम बुद्धिमान् श्री हनुमान्‌जी मौन हो गये ॥ १३-१५ ॥

सीता क्रमेण तत्सर्वं श्रुत्वा विस्मयमाययौ ।
किमिदं मे श्रुतं व्योम्नि वायुना समुदीरितम् ॥१६॥
स्वप्नो वा मे मनोभ्रान्तिर्यदि वा सत्यमेव तत् ।
निद्रा मे नास्ति दुःखेन जानाम्येतत्कुतो भ्रमः ॥१७॥
येन मे कर्णपीयूषं वचनं समुदीरितम् ।
स दृश्यतां महाभागः प्रियवादी ममाग्रतः ॥१८॥

क्रमशः ये सब बातें सुनकर सीताजी को बड़ा विस्मय हुआ, वे कहने लगीं—मैं ने जो आकाश में शब्द सुना है वह क्या वायु का उच्चारण किया हुआ है? अथवा स्वप्न या मेरे मन की भ्रान्ति है? अथवा यह सब सत्य ही तो नहीं है! क्योंकि दुःख के कारण नींद तो मुझे आती नहीं, (फिर स्वप्न नहीं हो सकता) और मैं प्रत्यक्ष सुन रही हूँ इसलिए यह भ्रम भी कैसे हो सकता है? सुतरां, जिस ने मेरे कानों को अमृत के समान प्रिय लगनेवाले ये वचन कहे हैं वह प्रियभाषी महाभाग मेरे सामने प्रकट हो ॥ १६-१८ ॥

श्रुत्वा तज्जानकीवाक्यं हनुमान्पत्रखण्डतः।
अवतीर्य शनैः सीतापुरतः समवस्थितः ॥१९॥
कलविङ्कप्रमाणाङ्गो रक्तास्यः पीतवानरः।
ननाम शनकैः सीतां प्राञ्जलिः पुरतः स्थितः ॥२०॥
दृष्ट्वा तं जानकी भीता रावणोऽयमुपागतः।
मां मोहयितुमायातो मायया वानराकृतिः ॥२१॥

जानकीजी के ये वचन सुनकर हनुमान्‌जी धीरे से उस वृक्ष के पत्रभाग से उतरकर सीताजी के सामने खड़े हो गये। उस समय उन्होंने अरुण मुख, पीत वर्ण और कलविंक (चिड़िया) पक्षी के समान आकारवाले वानररूप में चुपचाप सामने आकर सीताजी को हाथ जोड़कर प्रणाम किया। उसे देखकर जानकीजी को यह भय हुआ कि मुझे फँसाने के लिए माया से वानररूप धारण कर यह रावण ही आया है ॥ १९-२१ ॥

इत्येवं चिन्तयित्वा सा तूष्णीमासीदधोमुखी।
पुनरप्याह तां सीतां देवि यत्त्वं विशङ्कसे ॥२२॥
नाहं तथाविधो मातस्त्यज शङ्कां मयि स्थिताम्।
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्य परमात्मनः ॥२३॥
सचिवोऽहं हरीन्द्रस्य सुग्रीवस्य शुभप्रदे।
वायोः पुत्रोहमखिलप्राणभूतस्य शोभने ॥२४॥

यह सोचकर सीताजी चुपचाप नीचे को मुख किये बैठी रहीं। तब हनुमान्-जी ने उन से फिर कहा—देवि, आप जैसी आशङ्का कर रही हैं मैं वह नहीं हूँ। हे मातः, मेरे विषय में आप को जो शङ्का हो रही है उसे दूर करें। हे शुभप्रदे, मैं तो कोसलाधिपति परमात्मा राम का दास और वानरराज सुग्रीव का मन्त्री हूँ तथा हे शोभने, सम्पूर्ण जगत् के प्राणस्वरूप पवनदेव का मैं पुत्र हूँ ॥ २२-२४ ॥

तच्छ्रुत्वा जानकी प्राह हनूमन्तं कृताञ्जलिम्।
वानराणां मनुष्याणां सङ्गतिर्घटते कथम् ॥२५॥
यथा त्वं रामचन्द्रस्य दासोऽहमिति भाषसे।
तामाह मारुतिः प्रीतो जानकीं पुरतः स्थितः ॥२६॥

ऋष्यमूकमगाद्रामः शबर्या नोदितः सुधीः ।
सुग्रीवो ऋष्यमूकस्थो दृष्टवान् रामलक्ष्मणौ ॥ २७ ॥
भीतो मां प्रेषयामास ज्ञातुं रामस्य हृद्गतम् ।

यह सुनकर श्री जानकीजी ने हाथ बाँधे खड़े हुए हनुमान्‌जो से कहा—

तुम तो कहते हो कि मैं श्री रामचन्द्रजी का दास हूँ, सो भला वानर और मनुष्यों की मित्रता कैसे हो सकती है ? तब सामने खड़े हुए हनुमान्‌जी ने प्रसन्न होकर जानकीजी से कहा—शबरी की प्रेरणा से परम बुद्धिमान् भगवान राम ऋष्यमूक पर्वत पर आये। उस पर्वत पर बैठे हुए सुग्रीव ने जब दूर से राम और लक्ष्मण को आते देखा तो मन में भय मानकर मुझे उन का आशय जानने के लिए भेजा ॥ २५-२७ ॥
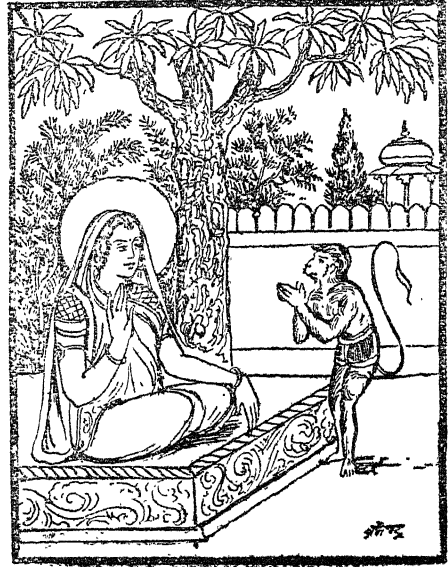
ब्रह्मचारिवपुर्धृत्वा गतोऽहं रामसन्निधिम् ॥ २८ ॥
ज्ञात्वा रामस्य सद्भावं स्कन्धोपरि निधाय तौ ।
नीत्वा सुग्रीवसामीप्यं सख्यं चाकरवं तयोः ॥ २९ ॥
सुग्रीवस्य हृता भार्या वालिना तं रघूत्तमः ।
जघानैकेन बाणेन ततो राज्येऽभ्यषेचयत् ॥ ३० ॥
सुग्रीवं वानराणां स प्रेषयामास वानरान् ।
दिग्भ्यो महाबलान्वीरान् भवत्याः परिमार्गणे ॥ ३१ ॥

तब मैं ब्रह्मचारी का वेष बनाकर रामजी के पास आया और उन का शुद्ध भाव जानकर उन्हें कन्धे पर चढ़ा सुग्रीव के पास ले गया तथा राम और सुग्रीव की मित्रता करा दी। सुग्रीव की पत्नी को वाली ने छीन लिया था। रघुनाथजी ने उसे एक ही बाण से मारकर सुग्रीव को बानरों के राज्यपद पर अभिषिक्त कर दिया। तब सुग्रीव ने आप की खोज के लिए बड़े बड़े वीर और पराक्रमी वानरों को दिशा विदिशाओं में भेजा ॥ २८-३१ ॥

गच्छन्तं राघवो दृष्ट्वा मामभाषत सादरम् ॥ ३२ ॥
त्वयि कार्यमशेषं मे स्थितं मारुतनन्दन ।
ब्रूहि मे कुशलं सर्वं सीतायै लक्ष्मणस्य च ॥ ३३ ॥
अङ्गुलीयकमेतन्मे परिज्ञानार्थमुत्तमम् ।
सीतायै दीयतां साधु मन्नामाक्षरमुद्रितम् ॥ ३४ ॥

मुझे भी खोजने के लिए चलता देख श्री रघुनाथजी ने मुझ से आदरपूर्वक कहा—हे पवननन्दन, मेरा सब काम तुम्हारे ऊपर निर्भर है। तुम सीताजी से मेरी और लक्ष्मण की सब कुशल कहना तथा अपनी पहचान के लिए मेरी यह उत्तम अँगूठी जिस पर मेरे नाम के अक्षर खुदे हुए हैं, सीताजी को अति सावधानी से दे देना ॥ ३२-३४ ॥

इत्युक्त्वा प्रददौ मह्यं कराग्रादङ्गुलीयकम् ।
प्रयत्नेन मयानीतं देवि पश्याङ्गुलीयकम् ॥ ३५ ॥
इत्युक्त्वा प्रददौ देव्यै मुद्रिकां मारुतात्मजः ।
नमस्कृत्य स्थितो दूराद्बद्धाञ्जलिपुटो हरिः ॥ ३६ ॥
दृष्ट्वा सीता प्रमुदिता रामनामाङ्कितां तदा ।
मुद्रिकां शिरसा धृत्वा स्रवदानन्दनेत्रजा ॥ ३७ ॥

ऐसा कहकर उन्होंने अपनी अँगुली से उतारकर वह अँगूठी मुझे दी, मैं उसे बड़ी सावधानी से लाया हूँ। हे देवि, आप यह अँगूठी देखिये। यह कह हनुमान्जी ने वह अँगूठी देवी जानकीजी को दे दी और नमस्कार कर हाथ जोड़े हुए दूर खड़े हो गये। उस रामनामाङ्किता मुद्रिका को देखकर सीताजी अति आनन्दित हुईं और उसे शिर से लगाकर नेत्रों से आनन्दाश्रु बहाने लगीं ॥ ३५-३७ ॥

कपे मे प्राणदाता त्वं बुद्धिमानसि राघवे।
भक्तोऽसि प्रियकारी त्वं विश्वासोऽस्ति तवैव हि ॥३८॥
नो चेन्मत्सन्निधिं चान्यं पुरुषं प्रेषयेत्कथम्।
हनूमन्दृष्टमखिलं मम दुःखादिकं त्वया ॥ ३९ ॥
सर्वं कथय रामाय यथा मे जायते दया।
मासद्वयावधि प्राणाः स्थास्यन्ति मम सत्तम ॥ ४० ॥

तदनन्तर सीताजी कहने लगीं—कपिवर, तुम मेरे प्राणदाता हो। तुम बड़े ही बुद्धिमान् और रघुनाथजी के भक्त तथा प्रियकारी हो। मुझे निश्चय हो गया कि उन को भी तुम्हारा ही पूर्ण विश्वास है, यदि ऐसा न होता तो तुम परपुरुष को वे मेरे पास क्यों भेजते ? हनुमन्, मेरी सारी आपदाएँ तुम ने देख ही ली हैं, राम को ये सब बातें सुना देना जिस से उन्हें मुझ पर दया उत्पन्न हो जाय। हे सज्जन, अब मेरे प्राण दो मास ही और रहेंगे ॥ ३८-४० ॥

नागमिष्यति चेद्रामो भक्षयिष्यति मां खलः।
अतः शीघ्रं कपीन्द्रेण सुग्रीवेण समन्वितः ॥ ४१ ॥
वानरानीकपैः सार्धं हत्वा रावणमाहवे।
सपुत्रं सबलं रामो यदि मां मोचयेत्प्रभुः ॥ ४२ ॥
तत्तस्य सदृशं वीर्यं वीर वर्णय वर्णितम्।

यदि इस बीच में रघुनाथजी न आये तो यह दुष्ट मुझे खा जायगा। अतः यदि भगवान् राम वानरराज सुग्रीव के सहित अन्य वानरयूथपों को लाकर तुरन्त ही रावण को पुत्र और सेना के सहित संग्राम में मारकर मुझे छुड़ायेंगे; तब ही उन का यह पुरुषार्थ ठीक होगा। और तभी तुम पूर्व वर्णन किये गये पुरुषार्थ का वर्णन करना ॥ ४१-४२ ॥

यथा मां तारयेद्रामो हत्वा शीघ्रं दशाननम् ॥ ४३ ॥
तथा यतस्व हनुमन्वाचा धर्ममवाप्नुहि ।-
हनूमानपि तामाह देवि दृष्टो यथा मया ॥ ४४ ॥
रामः सलक्ष्मणः शीघ्रमागमिष्यति सायुधः।
सुग्रीवेण ससैन्येन हत्वा दशमुखं बलात् ॥ ४५ ॥

समानेष्यति देवि त्वामयोध्यां नात्र संशयः ।

हे हनुमान्, तुम ऐसी युक्ति से उन से सब बातें कहना जिन से वे शीघ्र ही रावण को मारकर मेरा उद्धार करें । ऐसा करके तुम भी वाचिक पुण्य प्राप्त करोगे । तब हनुमान्‌जी ने उन से कहा—देवि, मैं ने जैसा कुछ देखा है उस से तो यही प्रतीत होता है कि लक्ष्मण के सहित श्री रामचन्द्रजी शीघ्र ही अस्त्र-शस्त्र लेकर सेनायुक्त सुग्रीव के सहित आयेंगे और रावण को बलपूर्वक मारकर तुम्हें अयोध्या ले जायँगे । देवि, इस में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ॥४३-४५॥

तमाह जानकी रामः कथं वारिधिमाततम् ॥ ४६ ॥
तीर्त्वायास्यत्यमेयात्मा वानरानीकपैः सह ।
हनूमानाह मे स्कन्धावारुह्य पुरुषर्षभौ ॥ ४७ ॥
आयास्यतः ससैन्यश्च सुग्रीवो वानरेश्वरः ।
विहायसा क्षणेनैव तीर्त्वा वारिधिमाततम् ॥ ४८ ॥
निर्दहिष्यति रक्षौघांस्त्वत्कृते नात्र संशयः ।

जानकीजी कहने लगीं—भगवान् राम की सामर्थ्य का तो कोई माप नहीं, वे सर्व शक्तिमान् हैं किन्तु वानरयूथपों के साथ वे किस प्रकार समुद्र को पार कर यहाँ आयेंगे ? तब हनुमान्‌जी बोले—वे दोनों नरश्रेष्ठ मेरे कन्धों पर चढ़कर आयेंगे और वानरराज सुग्रीव सेनासहित इस विस्तीर्ण समुद्र को आकाशमार्ग से एक क्षण में पार कर तुम्हें प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण राक्षससमूह को भस्म कर डालेंगे । इस में तनिक भी सन्देह नहीं है ।

अनुज्ञां देहि मे देवि गच्छामि त्वरयान्वितः ॥ ४९ ॥
द्रष्टुं रामं सह भ्रात्रा त्वरयामि तवान्तिकम् ।
देवि किञ्चिदभिज्ञानं देहि मे येन राघवः ॥ ५० ॥
विश्वसेन्मां प्रयत्नेन ततो गन्ता समुत्सुकः ।
ततः किञ्चिद्विचार्याथ सीता कमललोचना ॥ ५१ ॥
विमुच्य केशपाशान्ते स्थितं चूडामणिं ददौ ।
अनेन विश्वसेद्रामस्त्वां कपीन्द्र सलक्ष्मणः ॥ ५२ ॥

हे देवि, अब मुझे आज्ञा दो, मैं अभी अभी अनुजसहित भगवान् राम का दर्शन करने के लिए जाता हूँ और उन्हें तुरन्त तुम्हारे पास लाने का प्रयत्न करता हूँ। देवि, मुझे कोई ऐसा चिह्न दो जिस से श्री रघुनाथजी मेरा विश्वास करें। उसे लेकर मैं बड़ी सावधानी से उत्सुकतापूर्वक उन के पास जाऊँगा। तब कमललोचना सीताजी ने कुछ सोच विचार कर अपने केशपाश में स्थित चूडामणि को निकाला और उसे हनुमान्‌जी को देकर कहा—हे कपिवर, इस से भगवान् राम और लक्ष्मण तुम्हारा विश्वास करगे ॥४९-५२॥

अभिज्ञानार्थमन्यच्च वदामि तव सुव्रत।
चित्रकूटगिरौ पूर्वमेकदा रहसि स्थितः।
मदङ्के शिर आधाय निद्राति रघुनन्दनः ॥५३॥
ऐन्द्रः काकस्तदागत्य नखैस्तुण्डेन चासकृत्।
मत्पादाङ्गुष्ठमारक्तं विददारामिषाशया ॥५४॥
ततो रामः प्रबुद्ध्याथ दृष्ट्वा पादं कृतव्रणम्।
केन भद्रे कृतं चैतद्विप्रियं मे दुरात्मना ॥५५॥

हे सुव्रत, उन को विश्वास दिलाने के लिए एक बात और बतलाती हूँ—एक दिन चित्रकूट पर्वत पर श्री रघुनाथजी एकान्त में मेरी गोद में शिर रखे सो रहे थे। इसी समय इन्द्र का पुत्र जयन्त काकवेष में वहाँ आया और मांस के लोभ से मेरे पैर के लाल लाल अँगूठे को अपनी चोंच तथा पञ्जों से फाड़ डाला। तदनन्तर जब श्री रामचन्द्रजी जागे तो मेरे पैर में घाव हुआ देखकर बोले—प्रिये, किस दुरात्मा ने मेरा यह अप्रिय किया है ? ॥ ५३-५५ ॥

इत्युक्त्वा पुरतोऽपश्यद्वायसं मां पुनः पुनः।
अभिद्रवन्तं रक्ताक्तनखतुण्डं चुकोप ह ॥५६॥

तृणमेकमुपादाय दिव्यास्त्रेणाभियोज्य तत् ।
चिक्षेप लीलया रामो वायसोपरि तज्ज्वलत् ॥५७॥

राम यह कह ही रहे थे कि उन्होंने अपने सामने उस कौए को बारम्बार मेरी ओर आते देखा। उस की चोंच और पञ्जे रुधिर से सने हुए थे। उसे देखकर उन्हें बड़ा क्रोध हुआ, उन्होंने तुरन्त ही एक तृण उठाया और उस पर दिव्यास्त्र का प्रयोग करके उस प्रज्वलित अस्त्र को लीला से ही उस कौए की ओर चला दिया ॥ ५६-५७ ॥

अभ्यद्रवद्वायसश्च भीतो लोकान् भ्रमन्पुनः ।
इन्द्रब्रह्मादिभिश्चापि न शक्यो रक्षितुं तदा ॥५८॥
रामस्य पादयोरग्रेऽपतद्भीत्या दयानिधेः ।
शरणागतमालोक्य रामस्तमिदमब्रवीत् ॥५९॥
अमोघमेतदस्त्रं मे दत्त्वकाक्षमितो व्रज ।
सव्यं दत्त्वा गतः काक एवं पौरुषवानपि ॥६०॥
उपेक्षते किमर्थं मामिदानीं सोऽपि राघवः ।

तब वह काक भी भयभीत होकर भागा और त्रिलोकी में भटकता फिरा,

किंतु जब इन्द्र ब्रह्मा आदि से भी उस की रक्षा न हो सकी तो बहुत ही डरता डरता दयानिधान भगवान् राम के चरणों में आ गिरा। उसे शरणागत देख श्री रामचन्द्रजी ने उस से कहा—मेरा यह अस्त्र अमोघ है, कभी व्यर्थ नहीं जा सकता, अतः तू केवल अपनी एक आँख देकर यहाँ से चला जा। तब वह काक अपनी बायीं आँख देकर चला गया। ऐसे पुरुषार्थी श्री रघुनाथजी न जाने इस समय क्यों मेरी उपेक्षा कर रहे हैं ? ॥ ५८-६० ॥

हनूमानपि तामाह श्रुत्वा सीतानुभाषितम् ॥६१॥
देवि त्वां यदि जानाति स्थितामत्र रघूत्तमः ।
करिष्यति क्षणाद्भस्म लङ्कां राक्षसमण्डिताम् ॥६२॥
जानकी प्राह तं वत्स कथं त्वं योत्स्यसेऽसुरैः ।
अतिसूक्ष्मवपुः सर्वे वानराश्च भवादृशाः ॥६३॥

सीताजी का यह कथन सुनकर हनुमानजी ने कहा—देवि, जिस समय श्री रघुनाथजी को तुम्हारे यहाँ होने का पता चलेगा, उस समय इस राक्षसमण्डल से भरी लङ्का को वे एक क्षण में ही भस्म कर डालेंगे। तब जानकीजी ने कहा—वत्स, तुम अत्यन्त सूक्ष्म शरीरवाले हो, अतः राक्षसों से कैसे लड़ सकोगे ? और सब वानर भी तो तुम्हारा ही समान होंगे॥ ६१-६३ ॥

श्रुत्वा तद्वचनं देव्यै पूर्वरूपमदर्शयत् ।
मेरुमन्दरसङ्काश रक्षोगणविभीषणम् ॥६४॥
दृष्ट्वा सीता हनूमन्तं महापर्वतसन्निभम् ।
हर्षेण महताविष्टा प्राह तं कपिकुञ्जरम् ॥६५॥
समर्थोऽसि महासत्त्व द्रक्ष्यन्ति त्वां महाबलम् ।
राक्षस्यस्ते शुभः पन्था गच्छ रामान्तिकं द्रुतम् ॥६६॥

देवी जानकीजी के ये वचन सुनकर हनुमान्जी ने उन्हें अपना पूर्वरूप दिखलाया, जो मेरु और मन्दर पर्वत के समान अति विशाल और राक्षसों को भय उत्पन्न करनेवाला था। हनुमान्जी को महापर्वत के समान विशालकाय देखकर सीताजी को अपार आनन्द हुआ और वे उन कपिश्रेष्ठ से कहने लगीं—हे महा-सत्त्व, तुम बड़े ही सामर्थ्यवान् हो, अच्छा अब तुम शीघ्र ही श्री रामचन्द्रजी के पास जाओ। हे महावीर, तुम्हें राक्षसियाँ न देख लें, तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो ॥ ६४-६६ ॥

बुभुक्षितः कपिः प्राह दर्शनात्पारणं मम ।
भविष्यति फलैः सर्वैस्तव दृष्टौ स्थितैर्हि मे ॥६७॥
तथेत्युक्तः स जानक्या भक्षयित्वा फलं कपिः ।
ततः प्रस्थापितोऽगच्छज्जानकीं प्रणिपत्य सः ।

हनुमान्जी को भूख लगी हुई थी अतः वे बोले—देवि, आप का दर्शन कर अब मुझे आप के सामने लगे हुए फलों से पारण करने को इच्छा होती है। तब

जानकीजी के 'बहुत अच्छा' कहने पर कपिवर ने फल खाये और उन के विदा करने पर उन्हें प्रणाम करके चल दिये ॥ ६७ ॥

किञ्चिद्दूरमथो गत्वा स्वात्मन्येवान्वचिन्तयत् ॥६८॥
कार्यार्थमागतो दूतः स्वामिकार्याविरोधतः ।
अन्यत्किञ्चिदसम्पाद्य गच्छत्यधम एव सः ॥६९॥
अतोऽहं किञ्चिदन्यच्च कृत्वा दृष्ट्वाथ रावणम् ।
सम्भाष्य च ततो रामदर्शनार्थं व्रजाम्यहम् ॥७०॥

फिर कुछ दूर चलने पर उन्होंने अपने मन में सोचा कि जो दूत अपने स्वामी के कार्य के लिए आये और उस में किसी प्रकार का विघ्न न करनेवाला कोई अन्य कार्य न करके यों ही चला जाय तो वह अधम ही है। अतः मैं कुछ और भी करूँगा तथा रावण से मिलकर बातचीत करके फिर श्री रघुनाथजी के दर्शनार्थ जाऊँगा ॥ ६८-७० ॥

इति निश्चित्य मनसा वृक्षखण्डान्महाबलः ।
उत्पाट्याशोकवनिकां निर्वृक्षामकरोत्क्षणात् ॥७१॥
सीताश्रयनगं त्यक्त्वा वनं शून्यं चकार सः ।
उत्पाटयन्तं विपिनं दृष्ट्वा राक्षसयोषितः ॥७२॥
अपृच्छञ्जानकीं कोऽसौ वानराकृतिरुद्भटः ॥७३॥

मन में ऐसा निश्चय कर महाबली हनुमान्जी ने वृक्षों को उखाड़ कर अशोकवाटिका को एक क्षण में ही वृक्षहीन कर दिया। जिस के नीचे श्री सीताजी बैठी थीं उस वृक्ष को छोड़कर शेष समस्त वाटिका को उन्होंने उजाड़ डाला। उन्हें वन उजाड़ते देखकर राक्षसियों ने जानकीजी से पूछा कि यह वानराकार विकट वीर कौन है ? ॥ ७१-७३ ॥

जानक्युवाच—

भवत्य एव जानन्ति मायां राक्षसनिर्मिताम् ।
नाहमेनं विजानामि दुःखशोकसमाकुला ॥७४॥
इत्युक्तास्त्वरितं गत्वा राक्षस्यो भयपीडिताः ।
हनूमता कृतं सर्वं रावणाय न्यवेदयन् ॥७५॥
देव कश्चिन्महासत्त्वो वानराकृतिदेहभृत् ।
सीतया सह सम्भाष्य अशोकवनिकां क्षणात् ।
उत्पाट्य चैत्यप्रासादं बभञ्जामितविक्रमः ॥७६॥
प्रासादरक्षिणः सर्वान्हत्वा तत्रैव तस्थिवान् ।

जानकीजी बोलीं—इस राक्षसी माया को आप ही लोग जानें, दुःख और शोक से आतुर मैं यह क्या जानूँ ? जानकीजी के इस प्रकार कहने पर भय-पीडिता राक्षसियों ने रावण के पास जाकर उसे हनुमान्जी की सारी करतूत कह सुनायी। वे कहने लगीं—देव, एक बड़े पराक्रमी वानराकार प्राणी ने सीताजी से सम्भाषण कर एक क्षण में ही सारी अशोकवाटिका उजाड़ दी है। उस महा पराक्रमी ने मन्दिर के प्रासाद को भी तोड़ डाला और उस के सब रक्षकों को मारकर इस समय भी वह वहीं बैठा हुआ है ॥ ७४-७६ ॥

तच्छ्रुत्वा तूर्णमुत्थाय वनभङ्गं महाप्रियम् ॥ ७७ ॥
किङ्करान्प्रेषयामास नियुतं राक्षसाधिपः ।
निभग्नचैत्यप्रासादप्रथमान्तरसंस्थितः ॥ ७८ ॥
हनुमान्पर्वताकारो लोहस्तम्भकृतायुधः ।
किञ्चिल्लाङ्गूलचलनो रक्तास्यो भीषणाकृतिः ॥ ७९ ॥

वनविध्वंस का यह महान् अप्रिय समाचार सुनकर राक्षसराज रावण तुरन्त उठा और उस ने बहुत अधिक सेवकों को भेजा। इधर पर्वताकार हनुमान्जी लोहे के खम्भ को शस्त्ररूप से लिये हुए उस टूटे फूटे मन्दिर के प्रथम भाग में बैठे थे। उन की पूँछ कुछ कुछ हिल रही थी, तथा मुख अरुणवर्ण और आकृति भयानक थी ॥ ७७-७९ ॥

आपतन्तं महासङ्घं राक्षसानां ददर्श सः ।
चकार सिंहनादं च श्रुत्वा ते मुमुहुर्भृशम् ॥ ८० ॥
हनूमन्तमथो दृष्ट्वा राक्षसा भीषणाकृतिम् ।
निजघ्नुर्विविधास्त्रौघैः सर्वराक्षसघातिनम् ॥ ८१ ॥
तत उत्थाय हनुमान्मुद्गरेण समन्ततः ।
निष्पिपेष क्षणादेव मशकानिव यूथपः ॥ ८२ ॥

राक्षसों के समूह को आया देखकर उन्होंने घोर सिंहनाद किया, जिसे सुनकर वे सब अत्यन्त स्तब्ध हो गये। फिर संपूर्ण राक्षसों को मारनेवाले भीषणाकार हनुमान्‌जी को देखकर राक्षसों ने उन पर नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्र छोड़े। तदनन्तर यूथपति गजराज जैसे मच्छरों को मसल डालता है, वैसे ही हनुमान्‌जी ने उठकर अपने मुद्गर से एक क्षण में ही सब को चारों ओर से पीस डाला ॥ ८०-८२ ॥

निहतान्किङ्करान् श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।
पञ्च सेनापतींस्तत्र प्रेषयामास दुर्मदान् ॥ ८३ ॥
हनूमानपि तान्सर्वाँल्लोहस्तम्भेन चाहनत् ।
ततः क्रुद्धो मन्त्रिसुतान्प्रेषयामास सप्त सः ॥ ८४ ॥
आगतानपि तान्सर्वान्पूर्ववद्वानरेश्वरः ।
क्षणान्निःशेषतो हत्वा लोहस्तम्भेन मारुतिः ॥ ८५ ॥

अपने किङ्करों का मरण सुनकर रावण क्रोध से पागल हो गया और उस ने वहाँ पाँच बड़े बाँके सेनापतियों को सेना के साथ भेजा। हनुमान्‌जी ने अपने लोहस्तम्भ से तुरन्त ही उन सब को मार डाला। तब उस ने अति क्रोधित होकर सात

मन्त्रिपुत्रों को भेजा। वानराधीश पवननन्दन ने वहाँ आने पर उन सब को भी पहले की भाँति एक क्षण में ही उस लोहस्तम्भ से मार डाला ॥ ८३-८५ ॥

पूर्वस्थानमुपाश्रित्य प्रतीक्षन् राक्षसान् स्थितः।
ततो जगाम बलवान्कुमारोऽक्षः प्रतापवान् ॥ ८६ ॥
तमुत्पपात हनुमान् दृष्ट्वाकाशे समुद्गरः।
गगनात्त्वरितो मूर्ध्नि मुद्गरेण व्यताडयत् ॥ ८७ ॥
हत्वा तमक्षं निःशेषं बलं सर्वं चकार सः ॥ ८८ ॥

अपने पूर्व स्थान में ही बैठकर हनुमान्जी अन्य राक्षसों के आने की बाट देख रहे थे, तब अति बलवान् और प्रतापशाली राजकुमार अक्ष आया, उसे देखकर हनुमान्जी अपना मुद्गर लेकर आकाश में उड़ गये और बड़े वेग से ऊपर से ही उस के मस्तक पर मुद्गर का प्रहार किया। इस प्रकार अक्ष को मारकर उस की सेना का भी नामो निशान मिटा दिया ॥ ८६-८८ ॥

ततः श्रुत्वा कुमारस्य वधं राक्षसपुङ्गवः।
क्रोधेन महताविष्ट इन्द्रजेतारमब्रवीत् ॥ ८९ ॥
पुत्र गच्छाम्यहं तत्र यत्रास्ते पुत्रहा रिपुः।
हत्वा तमथवा बद्ध्वा आनयिष्यामि तेऽन्तिकम् ॥ ९० ॥
इन्द्रजित्पितरं प्राह त्यज शोकं महामते।
मयि स्थिते किमर्थं त्वं भाषसे दुःखितं वचः ॥ ९१ ॥
बद्ध्वानेष्ये द्रुतं तात वानरं ब्रह्मपाशतः।
इत्युक्त्वा रथमारुह्य राक्षसैर्बहुभिर्वृतः ॥ ९२ ॥
जगाम वायुपुत्रस्य समीपं वीरविक्रमः।

राजकुमार अक्ष के वध का वृत्तान्त पाकर राक्षसराज रावण अत्यन्त क्रोध में भरकर इन्द्रजित् से बोला—बेटा, जहाँ मेरे पुत्र का मारनेवाला शत्रु है, मैं वहाँ जाता हूँ और उसे मारकर या बाँधकर तेरे पास लाता हूँ। तब इन्द्रजित् ने पिता से कहा—हे महामते, शोक न कीजिये, मेरे रहते हुए आप ऐसे दुःखमय वचन क्यों बोलते हैं ? मैं उस वानर को शीघ्र ही ब्रह्मपाश में बाँधकर लिये आता हूँ। ऐसा कहकर वह महापराक्रमी मेघनाद रथ पर चढ़ा और बहुत से राक्षसों के साथ पवनपुत्र हनुमान् के पास पहुँचा ॥ ८९-९२ ॥

ततोऽतिगर्जितं श्रुत्वा स्तम्भमुद्यम्य वीर्यवान् ॥ ९३ ॥

उत्पपात नभोदेशं गरुत्मानिव मारुतिः ।

ततो भ्रमन्तं नभसि हनूमन्तं शिलीमुखैः ॥ ९४ ॥

विद्ध्वा तस्य शिरोभागमिषुभिश्चाष्टभिः पुनः ।

हृदयं पादयुगलं षड्भिरेकेन वालधिम् ॥ ९५ ॥

भेदयित्वा ततो घोरं सिंहनादमथाकरोत् ।

ततोऽतिहर्षाद्धनुमांस्तम्भमुद्यम्य वीर्यवान् ॥ ९६ ॥

जघान सारथिं साश्वं रथं चाचूर्णयत्क्षणात् ।

तब वीर्यवान् हनुमान्‌जी भयङ्कर सिंहनाद सुनकर हाथ में स्तम्भ लिये हुए गरुड़ के समान आकाश में उड़ गये। उन्हें आकाश में उड़ते देख इन्द्रजित् ने आठ बाणों से उन के शिर को बींधा, फिर छः बाणों से उन के हृदय और दोनों चरणों को तथा एक से उन की पूँछ बींधकर वह घोर सिंहनाद करने लगा। तब महाबलवान् हनुमान्‌जी ने भी अति प्रसन्नता से स्तम्भ उठाकर एक क्षण में ही उस के सारथी को मार डाला और घोड़ों के सहित उस के रथ को चूर्ण कर दिया ॥ ९३-९६ ॥

ततोऽन्यं रथमादाय मेघनादो महाबलः ॥ ९७ ॥

शीघ्रं ब्रह्मास्त्रमादाय बद्ध्वा वानरपुङ्गवम् ।

निनाय निकटं राज्ञो रावणस्य महाबलः ॥ ९८ ॥

तब महाबली मेघनाद ने दूसरे रथ पर चढ़कर तुरन्त ही वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जी को ब्रह्मपाश से बाँध लिया और उन्हें राक्षसराज रावण के पास ले गया ॥ ९७-९८ ॥

यस्य नाम सततं जपन्ति येऽज्ञानकर्मकृतबन्धनं क्षणात् ।
सद्य एव परिमुच्य तत्पदं यान्ति कोटिरविभासुरं शिवम् ॥ ९९ ॥
तस्यैव रामस्य पदाम्बुजं सदा हृत्पद्ममध्ये सुनिधाय मारुतिः ।
सदैव निर्मुक्तसमस्तबन्धनः किं तस्य पाशैरितरैश्च बन्धनैः ॥१००॥

जिन के नाम का निरन्तर जप करनेवाले भक्तजन एक क्षण में ही अज्ञानकृत बन्धन को काटकर करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान उन के परम कल्याणमय पद को तत्काल प्राप्त कर लेते हैं, उन्हीं भगवान् राम के चरणकमलों को सदा अपने हृदयकमल में धारण करने से हनुमान्‌जी सदा ही समस्त बन्धनों से छूटे हुए हैं। उन का ब्रह्मपाश अथवा और किसी बन्धन से क्या हो सकता है ? ॥ ९९-१०० ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, सुन्दरकाण्ड के
तृतीय सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप
रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

ॐ

चतुर्थ सर्ग

हनुमान् द्वारा रावण को समझाना तथा लंकादहन ।

श्री महादेव उवाच—

यान्तं कपीन्द्रं धृतपाशबन्धनं विलोकयन्तं नगरं विभीतवत् ।
अताडयन्मुष्टितलैः सुकोपनाः पौराः समन्तादनुयान्त ईक्षितुम् ॥ १ ॥
ब्रह्मास्त्रमेनं क्षणमात्रसङ्गमं कृत्वा गतं ब्रह्मवरेण सत्वरम् ।
ज्ञात्वा हनूमानपि फल्गुरज्जुभिर्धृतो ययौ कार्यविशेषगौरवात् ॥ २ ॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, ब्रह्मपाश से बँधे हुए श्री हनुमान्‌जी जब डरे हुए के समान नगर देखते जा रहे थे, उस समय उन्हें देखने के लिए इधर उधर से पुरवासी इकट्ठे हो गये और उन के पीछे पीछे चलते हुए उन्हें क्रोधपूर्वक घूँसों से मारने लगे। ब्रह्माजी के वर के प्रभाव से ब्रह्मास्त्र हनुमान्‌जी के शरीर का क्षण भर के लिए स्पर्श कर तुरन्त चला गया। यह बात जानकर भी श्री हनुमान्‌जी विशेष कार्य संपादन करने के लिए तुच्छ रस्सियों से ही बँधे हुए रावण के पास चले गये ॥ १-२ ॥

सभान्तरस्थस्य च रावणस्य तं पुरो निधायाह बलारिजित्तदा ।
बद्धो मया ब्रह्मवरेण वानरः समागतोऽनेन हता महासुराः ॥३॥
यद्युक्तमत्रार्य विचार्य मन्त्रिभिर्विधीयतामेष न लौकिको हरिः ।
ततो विलोक्याह स राक्षसेश्वरः प्रहस्तमग्रे स्थितमञ्जनाद्रिभम् ॥४॥

तब इन्द्रजित् हनुमान्जी को सभा में स्थित रावण के सामने ले गया और बोला—मैं इस वानर को ब्रह्मा के वर के प्रभाव से बाँध लाया हूँ, इसी ने हमारे बड़े बड़े वीर राक्षस मारे हैं। महाराज, मन्त्रियों के साथ विचार कर इस के लिए जैसा उचित समझें वैसा विधान करें। यह कोई साधारण वानर नहीं है। तब राक्षसराज रावण ने सामने बैठे हुए कज्जल पर्वत के समान काले रंगवाले प्रहस्त से कहा ॥ ३-४ ॥

प्रहस्त पृच्छैनमसौ किमागतः किमत्र कार्यं कुत एव वानरः ।
वनं किमर्थं सकलं विनाशितं हताः किमर्थं मम राक्षसा बलात् ॥५॥
ततः प्रहस्तो हनुमन्तमादरात्पप्रच्छ केन प्रहितोऽसि वानर ।
भयं च ते मास्तु विमोच्यसे मया सत्यं वदस्वाखिलराजसन्निधौ ॥६॥

प्रहस्त, इस बन्दर से पूछो तो सही, यह यहाँ क्यों आया है, इस का क्या कार्य है, यह कहाँ से आया है, इस ने मेरा सारा वन क्यों उजाड़ डाला ? और मेरे राक्षस वीरों को बलात्कार से क्यों मारा ? तब प्रहस्त ने हनुमान्जी से आदर-पूर्वक पूछा—वानर, तुम्हें किस ने भेजा है ? तुम डरो मत, राजराजेश्वर के सामने सब बात सच सच बतला दो; फिर मैं तुम्हें छुड़ा दूँगा ॥ ५-६ ॥

ततोऽतिहर्षात्पवनात्मजो रिपुं निरीक्ष्य लोकत्रयकण्टकासुरम् ।
वक्तुं प्रचक्रे रघुनाथसत्कथां क्रमेण रामं मनसा स्मरन्मुहुः ॥७॥
शृणु स्फुटं देवगणाद्यमित्र हे रामस्य दूतोऽहमशेषहृत्स्थितेः ।
यस्याखिलेशस्य हृताधुना त्वया भार्या स्वनाशाय शुनेव सद्धविः ॥८॥

तब त्रिलोकी के कण्टकरूप अपने शत्रु राक्षसराज रावण को देखकर पवन-नन्दन हनुमान्जी हृदय में बारम्बार श्री रामचन्द्रजी का स्मरण कर, अति हर्षित

हो, क्रम से रघुनाथजी की यह सुन्दर कथा कहने लगे—हे देवादि के शत्रु रावण, तुम साफ साफ सुनो, कुत्ता जिस प्रकार हवि को चुरा ले जाता है उसी प्रकार तुम ने अपना नाश कराने के लिए जिन अखिलेश्वर की साध्वी भार्या को हर लिया है, मैं उन्हीं सर्वान्तर्यामी भगवान् राम का दूत हूँ ॥ ७-८ ॥

स राघवोऽभ्येत्य मतङ्गपर्वतं सुग्रीवमैत्रीमनलस्य सन्निधौ ।
कृत्वैकबाणेन निहत्य वालिनं सुग्रीवमेवाधिपतिं चकार तम् ॥९॥
स वानराणामधिपो महाबली महाबलैर्वानरयूथकोटिभिः ।
रामेण सार्धं सह लक्ष्मणेन भोः प्रवर्षणेऽमर्षयुतोऽवतिष्ठते ॥१०॥
सञ्चोदितास्तेन महाहरीश्वरा धरासुतां मार्गयितुं दिशो दश ।
तत्राहमेकः पवनात्मजः कपिः सीतां विचिन्वञ्छनकैः समागतः ॥११॥

श्री रघुनाथजी ने मतङ्ग पर्वत पर आकर अग्नि के साक्ष्य में सुग्रीव से मित्रता की और एक ही बाण से वाली को मारकर सुग्रीव को वानरों का राजा बना दिया। हे रावण, इस समय वे महाबली वानरराज और भी करोड़ों महाशूरवीर वानरयूथों के साथ राम और लक्ष्मण के सहित अति क्रोधयुक्त हो प्रवर्षण पर्वत पर विराजमान हैं। उन्होंने श्री जानकीजी को ढूँढने के लिए दशों दिशाओं में बड़े बड़े वानरेश्वर भेजे हैं। उन्हीं में से एक वानर मैं वायु का पुत्र हूँ, मैं सीताजी को धीरे धीरे ढूँढता हुआ यहाँ आया हूँ ॥ ९-११ ॥

दृष्टा मया पद्मपलाशलोचना सीता कपित्वाद्विपिनं विनाशितम् ।
दृष्ट्वा ततोऽहं रभसा समागतान्मां हन्तुकामान् धृतचापसायकान् ॥१२॥
मया हतास्ते परिरक्षितं वपुः प्रियो हि देहोऽखिलदेहिनां प्रभो ।
ब्रह्मास्त्रपाशेन निबध्य मां ततः समागमन्मेघनिनादनामकः ॥१३॥

मैं कमलदललोचना जानकीजी का दर्शन कर चुका हूँ, फिर अपने वानर-स्वभाव से मैंने बन उजाड़ दिया, और जब राक्षसों को बड़े वेग से धनुष बाण आदि लेकर अपने को मारने के लिए आते देखा, तो उन्हें मारकर अपनी शरीररक्षा की, क्योंकि हे राजन्, अपना शरीर तो सभी देहधारियों को प्यारा होता है। फिर यह मेघनाद नामक राक्षस मुझे ब्रह्मपाश में बाँधकर यहाँ ले आया ॥ १२-१३ ॥

स्पृष्ट्वैव मां ब्रह्मवरप्रभावतस्त्यक्त्वा गतं सर्वमवैमि रावण ।
तथाप्यहं बद्ध इवागतो हितं प्रवक्तुकामः करुणारसार्द्रधीः ॥१४॥

विचार्य लोकस्य विवेकतो गतिं न राक्षसीं बुद्धिमुपैहि रावण ।
दैवीं गतिं संसृतिमोक्षहैतुकीं समाश्रयात्यन्तहिताय देहिनः ॥१५॥
त्वं ब्रह्मणो ह्युत्तमवंशसम्भवः पौलस्त्यपुत्रोऽसि कुबेरबान्धवः ।
देहात्मबुद्ध्यापि च पश्य राक्षसो नास्यात्मबुद्ध्या किमु राक्षसो नहि ॥१६॥

हे रावण, मैं यद्यपि यह जानता था कि ब्रह्माजी के वर के प्रभाव से वह ब्रह्मपाश मुझे छूते ही चला गया, तथापि करुणावश तुम्हारे हित की बात बताने के लिए मैं बन्दी के समान यहाँ चला आया। हे रावण, तुम विवेकपूर्वक संसार की गति का विचार करो, राक्षसी बुद्धि को अङ्गीकार मत करो और संसारबन्धन से छुडानेवाली प्राणियों की अत्यन्त हितकारिणी दैवी गति का आश्रय लो। तुम ब्रह्माजी के अति उत्तम वंश में उत्पन्न हुए हो तथा पुलस्त्यनन्दन विश्रवा के पुत्र और कुबेर के भाई हो; अतः देखो, तुम तो शरीरिक दृष्टि से भी राक्षस नहीं हो; फिर आत्मबुद्धि से राक्षस नहीं हो, इस में तो कहना ही क्या है ?॥ १४-१६ ॥

शरीरबुद्धीन्द्रियदुःखसन्ततिर्न ते न च त्वं तव निर्विकारतः ।
अज्ञानहेतोश्च तथैव सन्ततेरसत्त्वमस्याः स्वपतो हि दृश्यवत् ॥१७॥
इदं तु सत्यं तव नास्ति विक्रिया विकारहेतुर्न च तेऽद्वयत्वतः ।
यथा नभः सर्वगतं न लिप्यते तथा भवान्देहगतोऽपि सूक्ष्मकः ।

तुम वास्तव में कौन हो सो मैं बतलाता हूँ—तुम सर्वथा निर्विकार हो, इसलिए शरीर, बुद्धि, इन्द्रियाँ और दुःखादि; ये न तुम्हारे गुण हैं और न इन के तुम स्वयं हो। इन सब का कारण अज्ञान है और स्वप्नदृश्य के समान ये सब असत् हैं। यह बिलकुल सत्य है कि तुम्हारे आत्मस्वरूप में कोई विकार नहीं है, क्योंकि अद्वितीय होने से उस में कोई विकार का कारण नहीं है। जिस प्रकार आकाश सर्वत्र

होने पर भी किसी पदार्थ के गुण दोष से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार तुम देह में रहते हुए भी सूक्ष्मरूप होने से उस के सुख दुःखादि विकारों से लिप्त नहीं होते हो ॥ १७ ॥

देहेन्द्रियप्राणशरीरसङ्गतस्त्वात्मेति बुद्ध्वाखिलबन्धभाग्भवेत् ॥१८॥
चिन्मात्रमेवाहमजोऽहमक्षरो ह्यानन्दभावोऽहमिति प्रमुच्यते ।
देहोऽप्यनात्मा पृथिवीविकारजो न प्राण आत्मानिल एष एव सः ॥१९॥

'आत्मा देह, इन्द्रिय, प्राण और शरीर से मिला हुआ है' ऐसी बुद्धि ही सारे बन्धनों का कारण होती है और 'मैं चिन्मात्र अजन्मा अविनाशी तथा आनन्दस्वरूप ही हूँ' इस बुद्धि से जीव मुक्त हो जाता है। पृथिवी का विकार होने से देह भी अनात्मा है, और प्राण वायुरूप ही है; अतः यह भी आत्मा नहीं ॥ १८-१९॥

मनोऽप्यहङ्कारविकार एव नो न चापि बुद्धिः प्रकृतेर्विकारजा ।
आत्मा चिदानन्दमयोऽविकारवान् देहादिसङ्घाद्व्यतिरिक्त ईश्वरः ॥ २० ॥
निरञ्जनो मुक्त उपाधितः सदा ज्ञात्वैवमात्मानमितो विमुच्यते ।
अतोऽहमात्यन्तिकमोक्षसाधनं वक्ष्ये शृणुष्वावहितो महामते ॥ २१ ॥

अहंकार का कार्य मन अथवा प्रकृति के विकार से उत्पन्न हुई बुद्धि भी आत्मा नहीं है। आत्मा तो चिदानन्दस्वरूप, अविकारी तथा देहादि संघात से पृथक् और उस का स्वामी है। वह निर्मल और सर्वदा उपाधिरहित है, उस का इस प्रकार ज्ञान होते ही मनुष्य संसार से मुक्त हो जाता है। अतः हे महामते, मैं तुम्हें आत्यन्तिक मोक्ष का साधन बतलाता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥ २०-२१ ॥

विष्णोर्हि भक्तिः सुविशोधनं धियस्ततो भवेज्ज्ञानमतीव निर्मलम् ।
विशुद्धतत्त्वानुभवो भवेत्ततः सम्यग्विदित्वा परमं पदं व्रजेत् ॥ २२ ॥
अतो भजस्वाद्य हरिं रमापतिं रामं पुराणं प्रकृतेः परं विभुम् ।
विसृज्य मौर्ख्यं हृदि शत्रुभावनां भजस्व रामं शरणागतप्रियम् ।
सीतां पुरस्कृत्य सपुत्रबान्धवो रामं नमस्कृत्य विमुच्यसे भयात् ॥ २३ ॥

भगवान् विष्णु की भक्ति बुद्धि को अत्यन्त शुद्ध करनेवाली है, उसी से अत्यन्त निर्मल आत्मज्ञान होता है। आत्मज्ञान से शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव होता है और उस से दृढबोध हो जाने से मनुष्य परमपद प्राप्त करता है। इस

लिए तुम प्रकृति से परे, पुराणपुरुष, सर्वव्यापक, आदि नारायण, लक्ष्मीपति, हरि भगवान् राम का भजन करो। अपने हृदय में स्थित शत्रुभावरूप मूर्खता को छोड़ दो, और शरणागतवत्सल राम का भजन करो। सीताजी को आगे कर अपने पुत्र और बन्धु बान्धवों के सहित भगवान् राम की शरण जाकर उन्हें नमस्कार करो। इस से तुम भय से छूट जाओगे ॥ २२-२३ ॥

रामं परात्मानमभावयञ्जनो भक्त्या हृदिस्थं सुखरूपमद्वयम् ।
कथं परं तीरमवाप्नुयाज्जनो भवाम्बुधेर्दुःखतरङ्गमालिनः ॥ २४ ॥
नो चेत्त्वमज्ञानमयेन वह्निना ज्वलन्तमात्मानमरक्षितारिवत् ।
नयस्यधोऽधः स्वकृतैश्च पातकैर्विमोक्षशङ्का न च ते भविष्यति ॥ २५ ॥

जो पुरुष अपने हृदय में स्थित अद्वितीय सुखस्वरूप परमात्मा राम का भक्तिपूर्वक ध्यान नहीं करता, वह दुःखतरङ्गावलि से पूर्ण इस संसारसमुद्र को पार कैसे पा सकता है ? यदि तुम भगवान् राम का भजन न करोगे तो अज्ञानरूपी अग्नि से जलते हुए अपने आप को शत्रु के समान सुरक्षित नहीं रख सकोगे और उसे अपने किये हुए पापों से उत्तरोत्तर नीचे को ओर ही ले जाओगे; फिर तुम्हारे मोक्ष की कोई सम्भावना न रहेगी ॥ २४-२५ ॥

श्रुत्वामृतास्वादसमानभाषितं तद्वायुसूनोर्दशकन्धरोऽसुरः ।
अमृष्यमाणोऽतिरुषा कपीश्वरं जगाद रक्तान्तविलोचनो ज्वलन् ॥ २६ ॥
कथं ममाग्रे विलपस्यभीतवत् प्लवङ्गमानामधमोऽसि दुष्टधीः ।
क एष रामः कतमो वनेचरो निहन्मि सुग्रीवयुतं नराधमम् ॥ २७ ॥

पवनसुत के इस अमृतसदृश मधुर भाषण को सुनकर राक्षसराज रावण उसे सहन न कर सका, और अत्यन्त क्रोध से नेत्र लाल कर मन ही मन जलता हुआ हनुमान्जी से बोला—अरे दुष्टबुद्धे, तू वानरों में अधम है। मेरे सामने इस प्रकार निर्भय के समान कैसे प्रलाप कर रहा है ? यह राम और वनचर सुग्रीव हैं क्या चीज ? मैं उस नराधम को तो सुग्रीव के सहित मार डालूँगा ॥२६-२७ ॥

त्वां चाद्य हत्वा जनकात्मजां ततो निहन्मि रामं सहलक्ष्मणं ततः ।
सुग्रीवमग्रे बलिनं कपीश्वरं सवानरं हन्म्यचिरेण वानर ।

ऐ वानर, पहले तो आज तुझे ही मारूँगा, फिर जानकी का वध करूँगा, तदनन्तर

लक्ष्मण के सहित राम को मारूँगा और उन से पहले उस बड़े बली वानरराज सुग्रीव को उस की वानरसेना के सहित कुछ ही देर में मार डालूँगा।

श्रुत्वा दशग्रीववचः स मारुतिर्विवृद्धकोपेन दहन्निवाहरम् ॥ २८ ॥
न मे समा रावणकोटयोऽधम रामस्य दासोऽहमपारविक्रमः।
श्रुत्वातिकोपेन हनूमतो वचो दशाननो राक्षसमेवमब्रवीत् ॥ २९ ॥
पार्श्वे स्थितं मारय खण्डशः कपिं पश्यन्तु सर्वेऽसुरमित्रबान्धवाः।
निवारयामास ततो विभीषणो महासुरं सायुधमुद्यतं वधे।
राजन्वधार्हो न भवेत्कथञ्चन प्रतापयुक्तैः पुरराजवानरः ॥ ३० ॥

रावण के ये वचन सुनकर हनुमान्‌जी अपने बढ़े हुए क्रोध से उसे मानो

जलाते हुए बोले—अरे अधम, मेरी समानता तो करोड़ रावण भी नहीं कर सकते, जानता नहीं, मैं भगवान् राम का दास हूँ, मेरे पराक्रम का कोई ठिकाना नहीं है। हनुमान्‌जी के ये वचन सुनकर रावण ने अत्यन्त क्रोधपूर्वक अपनी बगल में खड़े हुए एक राक्षस से कहा—अरे, इस वानर के टुकड़े टुकड़े करके मार डाल, जिस से सब राक्षस, मित्र तथा बन्धुगण इस कौतुक को देखें। तब विभीषण ने हथियार लेकर मारने के लिए तैयार हुए उस प्रचण्ड राक्षस को रोककर कहा—राजन्, प्रतापी पुरुषों को अन्य राज्य के वानर (दूत) को किसी प्रकार न मारना चाहिए ॥ २८-३० ॥

हतेऽस्मिन्वानरे दूते वार्तां को वा निवेदयेत्।
रामाय त्वं यमुद्दिश्य वधाय समुपस्थितः ॥३१॥
अतो वधसमं किञ्चिदन्यच्चिन्तय वानरे।
सचिह्नो गच्छतु हरिर्यं दृष्ट्वायास्यति द्रुतम् ॥३२॥

रामः सुग्रीवसहितस्ततो युद्धं भवेत्तव ।

यदि यह दूत वानर मारा गया तो जिन का वध करने के लिए आप उद्यत हुए हैं, उन राम को यह समाचार कौन सुनायेगा ? अतः इस वानर के लिए वध के समान ही कोई और दण्ड निश्चय कीजिये, जिस का चिह्न लेकर यह वानर जाय और उसे देखकर सुग्रीव के सहित राम तुरन्त ही आयें और फिर उन से आप का युद्ध हो ॥ ३१-३२ ॥

विभीषणवचः श्रुत्वा रावणोऽप्येतदब्रवीत् ॥३३॥

वानराणां हि लाङ्गूले महामानो भवेत्किल ।
अतो वस्त्रादिभिः पुच्छं वेष्टयित्वा प्रयत्नतः ॥ ३४ ॥

वह्निना योजयित्वैनं भ्रामयित्वा पुरेऽभितः ।
विसर्जयत पश्यन्तु सर्वे वानरयूथपाः ॥ ३५ ॥

विभीषण का कथन सुनकर रावण भी यों बोला—वानरों को पूँछ पर बड़ी ममता होती है। अतः इस की पूँछ को वस्त्रादि से खूब लपेट दो और फिर उस में आग लगाकर इसे नगर में चारों ओर घुमाकर छोड़ दो, जिस से समस्त वानर-यूथपति इस की वह दुर्दशा देखें ॥ ३३-३५ ॥

तथेति शणपट्टैश्च वस्त्रैरन्यैरनेकशः ।
तैलाक्तैर्वेष्टयामासुर्लाङ्गूलं मारुतेर्दृढम् ॥ ३६ ॥

पुच्छाग्रे किञ्चिदनलं दीपयित्वाथ राक्षसाः ।
रज्जुभिः सुदृढं बद्ध्वा धृत्वा तं बलिनोऽसुराः ॥ ३७ ॥

समन्ताद् भ्रामयामासुश्चोरोऽयमिति वादिनः ।
तूर्यघोषैर्घोषयन्तस्ताडयन्तो मुहुर्मुहुः ॥ ३८ ॥

तब राक्षसों ने 'बहुत अच्छा' कहकर हनुमान्‌जी की पूँछ सन के पट्टों से और तेल में भीगे हुए नाना प्रकार के चिथड़ों से बड़ी दृढता से लपेटी और पूँछ के सिरे पर थोड़ी सी आग लगाकर उन्हें दृढतापूर्वक रस्सी से बाँध दिया। फिर कुछ बलवान् राक्षस उन्हें मारते और बारम्बार तुरही बजाकर यह कहते हुए कि यह चोर है, नगर में सब ओर घुमाने लगे ॥ ३६-३८ ॥

हनूमतापि तत्सर्वं सोढं किञ्चिच्चिकीर्षुणा ।
गत्वा तु पश्चिमद्वारसमीपं तत्र मारुतिः ॥ ३९ ॥
सूक्ष्मो बभूव बन्धेभ्यो निःसृतः पुनरप्यसौ ।
बभूव पर्वताकारस्तत उत्प्लुत्य गोपुरम् ॥ ४० ॥
तत्रैकं स्तम्भमादाय हत्वा तान् रक्षिणः क्षणात् ।
विचार्य कार्यशेषं स प्रासादाग्राद् गृहाद्गृहम् ॥ ४१ ॥
उत्प्लुत्योत्प्लुत्य सन्दीप्तपुच्छेन महता कपिः ।
ददाह लङ्कामखिलां साट्टप्रासादतोरणाम् ॥ ४२ ॥

हनुमान्‌जी ने भी कुछ कौतुक करने की इच्छा से यह सब सहन कर लिया। जिस समय वे पश्चिमद्वार पर पहुँचे उस समय तुरन्त ही सूक्ष्मरूप होकर उन बन्धनों में से निकल गये और फिर पर्वताकार हो उछलकर द्वार के कँगूरे पर चढ गये। वहाँ से उन्होंने एक स्तम्भ उखाड़कर क्षण भर में ही उन समस्त रक्षकों को मार डाला। फिर अपना शेष कार्य निश्चय कर उस प्रासाद के अग्रभाग से एक घर से दूसरे घर पर छलाँग मारते हुए अपनी जलती हुई लम्बी पूँछ से महल, अटारी और बन्दनवारादि से युक्त समस्त लंकापुरी में आग लगा दी ॥ ४१-४२ ॥

हा तात पुत्र नाथेति क्रन्दमानाः समन्ततः ।
व्याप्ताः प्रासादशिखरेऽप्यारूढा दैत्ययोषितः ॥ ४३ ॥

देवता इव दृश्यन्ते पतन्त्यः पावकेऽखिलाः ।
विभीषणगृहं त्यक्त्वा सर्वं भस्मीकृतं पुरम् ॥ ४४ ॥
तत उत्प्लुत्य जलधौ हनूमान्मारुतात्मजः ।
लाङ्गूलं मज्जयित्वान्तः स्वस्थचित्तो बभूव सः ॥ ४५ ॥

उस समय 'हा तात ! हा पुत्र !! हा नाथ !!!' कहकर सब ओर भागती हुईं, महलों के ऊपर भी चढ़ी हुईं तथा अग्नि में गिरती हुईं समस्त दैत्यस्त्रियाँ देवताओं के समान मालूम होती थीं। इस प्रकार हनुमान्‌जी ने विभीषण के घर को छोड़कर और सारा नगर भस्म कर डाला। तदनन्तर पवनात्मज हनुमान्‌जी उछलकर समुद्र में कूद पडे और अपनी पूँछ बुझाकर स्वस्थचित्त हो गये ॥ ४३-४५ ॥

वायोः प्रियसखत्वाच्च सीतया प्रार्थितोऽनलः ।
न ददाह हरेः पुच्छं बभूवात्यन्तशीतलः ॥ ४६ ॥
यन्नामसंस्मरणधूतसमस्तपापास्तापत्रयानलमपीह तरन्ति सद्यः ।
तस्यैव किं रघुवरस्य विशिष्टदूतः सन्तप्यते कथमसौ प्रकृतानलेन ॥ ४७ ॥

सीताजी की प्रार्थना से तथा वायु का प्रिय मित्र होने के कारण अग्नि ने हनुमान्‌जी की पूँछ नहीं जलायी। उन के लिए वह अत्यन्त शीतल हो गया। तथा च जिन के नामस्मरण से मनुष्य समस्त पापों से छूटकर तुरन्त ही तापत्रयरूप अग्नि को पार कर जाते हैं, उन्हीं श्री रघुनाथजी के विशिष्ट दूत को यह प्राकृत अग्नि भला किस प्रकार ताप पहुँचा सकता था ? ॥ ४६-४७ ॥

इस प्रकार यह श्री ब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, सुन्दरकाण्ड के चतुर्थ सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चम सर्ग
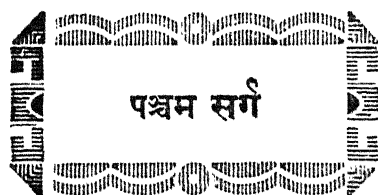
हनुमान्‌जी का लंका से लौटकर वानरों तथा रामचन्द्रजी से मिलना।

श्रीमहादेव उवाच

ततः सीतां नमस्कृत्य हनूमानब्रवीद्वचः।
आज्ञापयतु मां देवि भवती रामसन्निधिम्॥ १॥

गच्छामि रामस्त्वां द्रष्टुमागमिष्यति सानुजः।
इत्युक्त्वा त्रिःपरिक्रम्य जानकीं मारुतात्मजः॥ २॥

प्रणम्य प्रस्थितो गन्तुमिदं वचनमब्रवीत्।

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, तदनन्तर श्री हनुमान्‌जी ने सीताजी के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके कहा—देवि, आप मुझे आज्ञा दीजिये, अब मैं श्री रघुनाथजी के पास जाता हूँ। वे शीघ्र ही भाई लक्ष्मणसहित आप से मिलने के लिए यहाँ आयेंगे। ऐसा कहकर पवननन्दन हनुमान्‌जी ने जानकीजी की तीन परिक्रमाएँ कर उन्हें प्रणाम किया और जाने के लिए उद्यत होकर इस प्रकार बोले॥ १-२॥

देवि गच्छामि भद्रं ते तूर्णं द्रक्ष्यसि राघवम्॥ ३॥

लक्ष्मणं च ससुग्रीवं वानरायुतकोटिभिः।
ततः प्राह हनूमन्तं जानकी दुःखकर्शिता॥ ४॥

त्वां दृष्ट्वा विस्मृतं दुःखमिदानीं त्वं गमिष्यसि ।
इतः परं कथं वर्ते रामवार्ताश्रुतिं विना ॥ ५ ॥

देवि, मैं जाता हूँ, आप का शुभ हो, आप शीघ्र ही सुग्रीव और करोड़ों अन्य वानरों के सहित भगवान् राम और लक्ष्मण को देखेंगी। तब दुःख से दुर्बल हुई जानकोजी ने हनुमान्जी से कहा—वत्स, तुम्हें देखकर मैं अपना दुःख भूल गयी थी। अब तुम जा रहे हो, अब श्री रामचन्द्रजी का समाचार सुने बिना मैं कैसे रहूँगी ? ॥ ३-५ ॥

मारुतिरुवाच—

यद्येवं देवि मे स्कन्धमारोह क्षणमात्रतः ।
रामेण योजयिष्यामि मन्यसे यदि जानकि ॥६॥

सीतोवाच—

रामः सागरमाशोष्य बद्ध्वा वा शरपञ्जरैः ।
आगत्य वानरैः सार्धं हत्वा रावणमाहवे ॥ ७ ॥
मां नयेद्यदि रामस्य कीर्तिर्भवति शाश्वती ।
अतो गच्छ कथं चापि प्राणान्सन्धारयाम्यहम् ॥८॥

हनुमान्जी बोले—हे देवि, यदि ऐसी बात है और आप स्वीकार करें तो हे जनकनन्दिनी, आप मेरे कन्धे पर चढ़ जाइए, मैं एक क्षण में ही श्री रामचन्द्रजी से आप को मिला दूँगा।

सीताजी ने कहा—यदि श्री रामचन्द्रजी समुद्र को सुखाकर या उसे बाणों से बाँधकर यहाँ वानरों के साथ आयेंगे और रावण को युद्ध में मारकर मुझे ले जायँगे तो इस से उन्हें अमर कीर्ति प्राप्त होगी। इसलिए तुम जाओ, मैं जैसे तैसे प्राण धारण करूँगी ॥ ६-८ ॥

इति प्रस्थापितो वीरः सीतया प्रणिपत्य ताम् ।
जगाम पर्वतस्याग्रे गन्तुं पारं महोदधेः ॥ ९ ॥
तत्र गत्वा महासत्त्वः पादाभ्यां पीडयन् गिरिम् ।
जगाम वायुवेगेन पर्वतश्च महीतलम् ॥ १० ॥
गतो महीसमानत्वं त्रिंशद्योजनमुच्छ्रितः ।

सीताजी से इस प्रकार विदा हो वीरवर हनुमान् उन्हें प्रणाम कर महासागर के पार जाने के लिए पर्वतशिखर पर चढ़ गये। वहाँ पहुँचकर महावीर हनुमान्जी पर्वत को अपने पैरों से दबाकर वायुवेग से चले और उन के दबाने से वह तीस योजन ऊँचा पर्वत पृथिवी में घुसकर समतल हो गया ॥ ९-१० ॥

मारुतिर्गगनान्तःस्थो महाशब्दं चकार सः ॥११॥
तं श्रुत्वा वानराः सर्वे ज्ञात्वा मारुतिमागतम् ।
हर्षेण महताविष्टाः शब्दं चक्रुर्महास्वनम् ॥१२॥
शब्देनैव विजानीमः कृतकार्यः समागतः ।
हनूमानेव पश्यध्वं वानरा वानरर्षभम् ॥१३॥

हनुमान्जी ने आकाश में आते समय बड़ा घोर शब्द किया। उसे सुनकर सब वानरगण, यह जानकर कि हनुमान्जी लौट रहे हैं, बड़े आनन्द में भरकर शब्द करते हुए आपस में कहने लगे—इस सिंहनाद से ही मालूम होता है कि हनुमान्जी कार्य सिद्ध करके लौटे हैं। हे वानरगण! देखो, देखो, ये कपिश्रेष्ठ हनुमान्जी ही तो हैं ॥ १३ ॥

एवं ब्रुवत्सु वीरेषु वानरेषु स मारुतिः ।
अवतीर्य गिरेर्मूर्ध्नि वानरानिदमब्रवीत् ॥ १४ ॥
दृष्टा सीता मया लङ्का धर्षिता च सकानना ।
सम्भाषितो दशग्रीवस्ततोऽहं पुनरागतः ॥ १५ ॥
इदानीमेव गच्छामो रामसुग्रीवसन्निधिम् ।

वानर वीरों के इस प्रकार करते कहते हनुमान्जी उस गिरिशिखर पर उतर आये और उन से यों कहने लगे—मैं ने वहाँ सीताजी को देख लिया, फिर अशोक-वन सहित लंका का विध्वंस किया और रावण से बातचीत भी की। उस के पश्चात् मैं यहाँ आया हूँ, अब हम इसी समय राम और सुग्रीव के पास चलेंगे ॥ १४-१५ ॥

इत्युक्ता वानराः सर्वे हर्षेणालिङ्ग्य मारुतिम् ॥१६॥
केचिच्चुचुम्बुर्लाङ्गूलं ननृतुः केचिदुत्सुकाः ।
हनूमता समेतास्ते जग्मुः प्रस्रवणं गिरिम् ॥ १७ ॥
गच्छन्तो ददृशुर्वीरा वनं सुग्रीवरक्षितम् ।
मधुसंज्ञं तदा प्राहुरङ्गदं वानरर्षभाः ॥ १८ ॥

हनुमान्जी के इस प्रकार कहने पर सब वानरों ने अत्यन्त हर्ष से उन्हें गले लगाया, किन्हींने उन की पूँछ चूमी और कोई अति उत्साह से नाचने लगे। तदनन्तर हनुमान्जी के साथ वे सब प्रस्रवण पर्वत को चले। जिस समय वे वीर वानर अपनी राजधानी के पास पहुँचे, उन की दृष्टि सुग्रीव द्वारा सुरक्षित, शहद और फलों से लदे हुए मधुवन पर पड़ी। उसे देखकर वे अंगदजी से बोले ॥ १६-१६ ॥

क्षुधिताः स्मो वयं वीर देह्यनुज्ञां महामते ।
भक्षयामः फलान्यद्य पिबामोऽमृतवन्मधु ॥ १९ ॥
सन्तुष्टा राघवं द्रष्टुं गच्छामोऽद्यैव सानुजम् ॥२० ॥

अङ्गद उवाच—

हनूमान्कृतकार्योऽयं पिबतैतत्प्रसादतः ।
जक्षध्वं फलमूलानि त्वरितं हरिसत्तमाः ॥ २१ ॥

हे वीर, हमें बड़ी भूख लगी है, अतः हे महामते, हमें आज्ञा दीजिये, जिस से आज हम इस वन के फल खाकर अमृततुल्य मधु पियें, उस के पश्चात् हम तृप्त होकर भाई लक्ष्मण-सहित रघुनाथजी के दर्शन करने के लिए चलेंगे। तब अङ्गदजी बोले—हनुमान्जी ने कार्य सिद्ध किया है, अतः हे श्रेष्ठ वानरगण, इन की कृपा से तुम शीघ्र ही फल मूल खाओ और मधु पान करो ॥ १९-२१ ॥

ततः प्रविश्य हरयः पातुमारेभिरे मधु ।
रक्षिणस्ताननादृत्य दधिवक्त्रेण नोदितान् ॥ २२ ॥
पिबतस्ताडयामासुर्वानरान्वानरर्षभाः ।
ततस्तान्मुष्टिभिः पादैश्चूर्णयित्वा पपुर्मधु ॥ २३ ॥
ततो दधिमुखः क्रुद्धः सुग्रीवस्य स मातुलः ।
जगाम रक्षिभिः सार्धं यत्र राजा कपीश्वरः ॥ २४ ॥

अङ्गदजी की आज्ञा पा वानरगण उस वन में घुसकर दधिमुख के भेजे हुए वनरक्षकों की उपेक्षा कर मधु पीने लगे। जब उन वानरों ने उन्हें मधुपान करते देखकर मारा तो वे उन्हें लात और घूँसों से कुचलकर मधु पीते रहे। तब सुग्रीव का मामा दधिमुख अन्य वनरक्षकों के साथ अति क्रुद्ध होकर जहाँ वानरराज सुग्रीव थे वहाँ गया ॥ २२-२४ ॥

गत्वा तमब्रवीद्देव चिरकालाभिरक्षितम् ।
नष्टं मधुवनं तेऽद्य कुमारेण हनूमता ॥ २५ ॥
श्रुत्वा दधिमुखेनोक्तं सुग्रीवो हृष्टमानसः ।
दृष्ट्वागतो न सन्देहः सीतां पवननन्दनः ॥ २६ ॥

नो चेन्मधुवनं द्रष्टुं समर्थः को भवेन्मम ।
तत्रापि वायुपुत्रेण कृतं कार्यं न संशयः ॥ २७ ॥

वहाँ पहुँचकर वह बोला—राजन्, तुम ने चिरकाल से जिस मधुवन को रक्षा की थी, उसे आज युवराज अङ्गद और हनुमान् ने उजाड़ डाला। दधिमुख की बात सुनकर सुग्रीव प्रसन्न होकर कहने लगे—इस में सन्देह नहीं, पवनकुमार सीताजी को देख आये हैं; नहीं तो, मेरे मधुवन की ओर देखने की भला किसे सामर्थ्य थी ? और उन में भी निस्सन्देह यह कार्य किया हनुमान्जी ने ही है ॥ २५-२७ ॥

श्रुत्वा सुग्रीववचनं हृष्टो रामस्तमब्रवीत् ।
किमुच्यते त्वया राजन्वचः सीताकथान्वितम् ॥ २८ ॥
सुग्रीवस्त्वब्रवीद्वाक्यं देव दृष्टावनीसुता ।
हनूमत्प्रमुखाः सर्वे प्रविष्टा मधुकाननम् ॥ २९ ॥
भक्षयन्ति स्म सकलं ताडयन्ति स्म रक्षिणः ।
अकृत्वा देव कार्यं ते द्रष्टुं मधुवनं मम ॥ ३० ॥
न समर्थास्ततो देवी दृष्टा सीतेति निश्चितम् ।

सुग्रीव के वचन सुनकर भगवान् राम ने प्रसन्न हो उन से पूछा—राजन्, यह तुम सीतासम्बन्धी क्या बात कह रहे हो ? सुग्रीव ने कहा—भगवन्, मालूम होता है भूमिसुता जानकीजी का पता लग गया है, क्यों कि हनुमान् आदि समस्त वानरगण मधुवन में घुसकर उस के फल खा रहे हैं, उस के रक्षकों को मारते हैं। बिना आप का कार्य किये तो वे मेरे मधुवन की ओर देख भी नहीं सकते थे। अतः यह निश्चय होता है कि वे देवी जानकीजी से मिल आये हैं ॥२८-३०॥

रक्षिणो वो भयं मास्तु गत्वा ब्रूत ममाज्ञया ॥ ३१ ॥
वानरानङ्गदमुखानानयध्वं ममान्तिकम् ।
श्रुत्वा सुग्रीववचनं गत्वा ते वायुवेगतः ॥ ३२ ॥
हनूमत्प्रमुखानूचुर्गच्छतेश्वरशासनात् ।
द्रष्टुमिच्छति सुग्रीवः सरामो लक्ष्मणान्वितः ॥ ३३ ॥
युष्मानतीवहृष्टास्ते त्वरयन्ति महाबलाः ।

रक्षको, तुम डरो मत, उन्हें जाकर मेरी आज्ञा सुनाओ और उन अंगदादि वानरों को मेरे पास ले आओ। सुग्रीव की आज्ञा सुनकर वे वायुवेग से चले और हनुमान् आदि से कहा—महाराज की आज्ञा है कि आप लोग तुरन्त उन के पास जाइये, क्यों कि राम और लक्ष्मण के सहित महाराज सुग्रीव आप लोगों से मिलना चाहते हैं। हे महावीरगण, आप लोगों से प्रसन्न होकर वे आप को बहुत शीघ्र बुला रहे हैं ॥ ३१-३३ ॥

तथेत्यम्बरमासाद्य ययुस्ते वानरोत्तमाः ॥ ३४ ॥
हनूमन्तं पुरस्कृत्य युवराजं तथाङ्गदम् ।
रामसुग्रीवयोरग्रे निपेतुर्भुवि सत्वरम् ॥ ३५ ॥
हनूमान् राघवं प्राह दृष्टा सीता निरामया ।
साष्टाङ्गं प्रणिपत्याग्रे रामं पश्चाद्धरीश्वरम् ॥ ३६ ॥
कुशलं प्राह राजेन्द्र जानकी त्वां शुचान्विता ।

तब वे वानरश्रेष्ठ 'बहुत अच्छा' कह उछलते कूदते मानो आकाश में चढ़कर चलने लगे। वे सब वानरगण हनुमान् और युवराज अंगद को आगे कर

तुरन्त ही राम और सुग्रीव के सामने पृथिवी पर उतर आये। उन में सब से पहले हनुमान्‌जी ने श्री रघुनाथजी को और फिर वानरराज सुग्रीव को साष्टाङ्ग प्रणाम कर श्री रामचन्द्रजी से कहा—मैं सीताजी को सकुशल देख आया हूँ। हे राजेन्द्र, शोकमग्ना जानकीजी ने आप को अपना कुशल समाचार सुनाने के लिए कहा है॥ ३४-३६॥

अशोकवनिकामध्ये शिंशपामूलमाश्रिता॥ ३७॥
राक्षसीभिः परिवृता निराहारकृशा प्रभो।
हा राम राम रामेति शोचन्ती मलिनाम्बरा॥ ३८॥
एकवेणी मया दृष्टा शनैराश्वासिता शुभा।

वे अशोकवाटिका के बीच में शिंशपा वृक्ष के तले बैठी हैं, और हे प्रभो, सदा राक्षसियों से घिरी रहती हैं। अन्न जल छोड़ देने के कारण वे अत्यन्त दुर्बल हो गयी हैं, और निरन्तर 'हा राम! हा राम!!' कहकर शोक करती रहती हैं। उन के वस्त्र मलिन हो गये हैं तथा बालों की मिलकर एक वेणी हो गयी है, ऐसी अवस्था में मैंने सीताजी को देखा और धीरे धीरे उन्हें ढाँढ़स बँधाया॥ ३७-३८॥

वृक्षशाखान्तरे स्थित्वा सूक्ष्मरूपेण ते कथाम्॥३९॥
जन्मारभ्य तवात्यर्थं दण्डकागमनं तथा।
दशाननेन हरणं जानक्या रहिते त्वयि॥४०॥
सुग्रीवेण यथा मैत्री कृत्वा वालिनिबर्हणम्।
मार्गणार्थं च वैदेह्याः सुग्रीवेण विसर्जिताः॥४१॥
महाबला महासत्त्वा हरयो जितकाशिनः।
गताः सर्वत्र सर्वे वै तत्रैकोऽहमिहागतः॥४२॥
अहं सुग्रीवसचिवो दासोऽहं राघवस्य हि।
दृष्टा यज्जानकी भाग्यात्प्रयासः फलितोऽद्य मे॥४३॥

वहाँ जाकर पहले मैंने सूक्ष्मरूप से वृक्ष के पत्तों में छिपे छिपे संक्षेप में आप की सब कथा सुनायी; जिस प्रकार जन्म से लेकर आप का दण्डकारण्य में

आना हुआ, आप की अनुपस्थिति में रावण ने सीताजी को हरा. तथा जिस प्रकार सुग्रीव से मित्रता कर आप ने वाली को मारा वह सब सुनाकर फिर मैंने कहा कि सुग्रीव द्वारा सीताजी की खोज के लिए भेजे हुए बड़े बलवान्, पराक्रमी और विजयशाली वानरगण सब दिशाओं में गये हैं और उन में से एक मैं सुग्रीव का मन्त्री और रघुनाथजी का दास यहाँ आया हूँ। आज भाग्यवश मैंने जानकीजी को देख लिया, अतः मेरा प्रयास सफल हो गया ॥ ३९-४३ ॥

इत्युदीरितमाकर्ण्य सीता विस्फारितेक्षणा ।
केन वा कर्णपीयूषं श्रावितं मे शुभाक्षरम् ॥४४॥
यदि सत्यं तदायातु मद्दर्शनपथं तु सः ।
ततोऽहं वानराकारः सूक्ष्मरूपेण जानकीम् ॥४५॥
प्रणम्य प्राञ्जलिर्भूत्वा दूरादेव स्थितः प्रभो ।
पृष्टोऽहं सीतया कस्त्वमित्यादि बहुविस्तरम् ॥४६॥

मेरा यह कथन सुनकर सीताजी के नेत्र खिल गये और वे कहने लगीं—मुझे यह कर्णामृतरूप शुभ संवाद किस ने सुनाया है ? यदि यह सब सत्य है तो इस संवाद को सुनानेवाला मेरे सामने आवे। हे प्रभो, तब मैं सूक्ष्मरूप से बन्दर के आकार में उन के सामने उपस्थित हुआ और दूर ही से प्रणाम कर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। तब जानकीजी ने मुझ से 'तुम कौन हो ?' इत्यादि बहुतसी बातें पूछीं ॥ ४४-४६ ॥

मया सर्वं क्रमेणैव विज्ञापितमरिन्दम ।
पश्चान्मयार्पितं देव्यै भवद्दत्ताङ्गुलीयकम् ॥४७॥
तेन मामतिविश्वस्ता वचनं चेदमब्रवीत् ।
यथा दृष्टास्मि हनुमन्पीड्यमाना दिवानिशम् ॥४८॥
राक्षसीनां तर्जनैस्तत्सर्वं कथय राघवे ।
मयोक्तं देवि रामोऽपि त्वच्चिन्तापरिनिष्ठितः ॥४९॥
परिशोचत्यहोरात्रं त्वद्वार्तां नाधिगम्य सः ।

हे शत्रुदमन, मैंने उन्हें क्रमशः सब बातें बतला दीं। इस के पश्चात् मैंने उन्हें आप की दी हुई अँगूठी निवेदन की, इस से उन्हें मुझ पर पूर्ण विश्वास हो गया और वे मुझ से इस प्रकार कहने लगीं—हनुमन्, जिस प्रकार इन राक्षसियों के त्रास से तुम ने मुझे अहर्निश दुःख उठाते देखा है वह सब ज्यों का त्यों रघुनाथजी को सुना देना। मैंने कहा—देवि, रघुनाथजी भी तुम्हारी ही चिन्ता से ग्रस्त रहते हैं, और तुम्हरा समाचार न मिलने से रात दिन तुम्हारा ही सोच करते रहते हैं ॥ ४७-४९ ॥

इदानीमेव गत्वाहं स्थितिं रामाय ते ब्रवे ॥५०॥
रामः श्रवणमात्रेण सुग्रीवेण सलक्ष्मणः।
वानरानीकपैः सार्धमागमिष्यति तेऽन्तिकम् ॥५१॥
रावणं सकुलं हत्वा नेष्यति त्वां स्वकं पुरम्।
अभिज्ञां देहि मे देवि यथा मां विश्वसेद्विभुः ॥५२॥

मैं अभी जाकर उन्हें तुम्हारी स्थिति सुनाऊँगा और रघुनाथजी उसे सुनते ही सुग्रीव, लक्ष्मण और अन्यान्य वानर सेनापतियों के साथ तुम्हारे पास आयेंगे। यहाँ वे रावण को कुटुम्बसहित मारकर तुम्हें अपनी राजधानी अयोध्या को ले जायँगे। हे देवि, तुम मुझे कोई ऐसा चिह्न दो जिस से भगवान् मेरा विश्वास करें ॥ ५०-५२ ॥

इत्युक्ता सा शिरोरत्नं चूडापाशे स्थितं प्रियम्।
दत्त्वा काकेन यद्वृत्तं चित्रकूटगिरौ पुरा ॥५३॥
तदप्याहाश्रुपूर्णाक्षी कुशलं ब्रूहि राघवम्।
लक्ष्मणं ब्रूहि मे किञ्चिद्दुरुक्तं भाषितं पुरा ॥५४॥
तत्क्षमस्वाज्ञभावेन भाषितं कुलनन्दन।
तारयेन्मां यथा रामस्तथा कुरु कृपान्वितः ॥५५॥

मेरे इस प्रकार कहने पर उन्होंने अपने केशपाश में स्थित अपनी प्रिय चूडामणि दी और पहले चित्रकूट पर्वत पर काक के साथ जो कुछ हुआ था वह सब भी सुनाया तथा नेत्रों में जल भरकर कहा—रघुनाथजी से मेरी कुशल कहना और लक्ष्मणजी से कहना कि हे कुलनन्दन, मैंने पहले तुम से जो कुछ कठोर वचन कहे थे, उन अज्ञानवश कहे हुए वाक्यों के लिए मुझे क्षमा करें। इस के सिवा जिस प्रकार रघुनाथजी कृपा करके मेरा उद्धार करें वही चेष्टा करना ॥५३-५५॥

इत्युक्त्वा रुदती सीता दुःखेन महतावृता।
मयाप्याश्वासिता राम वदता सर्वमेव ते ॥५६॥
ततः प्रस्थापितो राम त्वत्समीपमिहागतः।
तदागमनवेलायामशोकवनिकां प्रियाम् ॥५७॥
उत्पाट्य राक्षसांस्तत्र बहून्हत्वा क्षणादहम्।
रावणस्य सुतं हत्वा रावणेनाभिभाष्य च ॥५८॥
लङ्कामशेषतो दग्ध्वा पुनरप्यागमं क्षणात्।

ऐसा कहकर सीताजी महान् दुःख में भरकर रोने लगीं, मैंने भी उन्हें आप का सब वृत्तान्त सुनाकर ढाँढस बँधाया और फिर उन से विदा होकर आप के पास चला आया। आती बार मैंने रावण की प्रिय अशोकवाटिका उजाड़ दी और एक क्षण में ही बहुत से राक्षस मार डाले। रावण के पुत्र को भी मारा और रावण से वार्तालाप कर लंका को सब ओर से जलाकर फिर क्षणभर में ही यहाँ चला आया ॥ ५६-५८ ॥

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं रामोऽत्यन्तप्रहृष्टधीः ॥५९॥
हनूमंस्ते कृतं कार्यं देवैरपि सुदुष्करम्।
उपकारं न पश्यामि तव प्रत्युपकारिणः ॥६०॥
इदानीं ते प्रयच्छामि सर्वस्वं मम मारुते।
इत्यालिङ्ग्य समाकृष्य गाढं वानरपुङ्गवम् ॥६१॥
सार्द्रनेत्रो रघुश्रेष्ठः परां प्रीतिमवाप सः।

हनुमान्‌जी के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्रजी अति प्रसन्न हाकर कहने लगे—हनुमन्, तुम ने जो कार्य किया है वह देवताओं से भी होना कठिन है। मैं इस के बदले में तुम्हारा क्या उपकार करूँ सो नहीं जानता, मैं अभी तुम्हें अपना सर्वस्व सौंपता हूँ। ऐसा कह उन्होंने वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌जी को खींचकर गाढ़ आलिङ्गन किया। उन के नेत्रों में जल भर आया और हृदय में परम प्रेम उमड़ने लगा॥ ५९-६१॥

रा० च०—प्रिय प्रभुप्रेमियो, हनुमान्‌जी महाराज ने लंका से आकर रामचन्द्रजी को सीतादेवी का कुशलसमाचार सुनाया तो भगवान् राम को अपार हर्ष हुआ। वे मारे प्रसन्नता के नेत्रों में आँसू भर लाये और स्नेहाकुल होकर उन्होंने हनुमान्‌जी का गाढ आलिंगन किया। इन सब चेष्टाओं से यह प्रतिभासित होता है कि रामचन्द्रजी यथार्थ ही हर्ष और शोक से पीड़ित होते थे, फिर उन में मनुष्यों की अपेक्षा विशेषता क्या थी? यहाँ तो एक तरह से उन्होंने महानुभावोचित गंभीरता का परिचय न देते हुए राजकुमारों के योग्य मर्यादा का भी पालन नहीं किया। क्यों कि भरी सभा के बीच स्त्री के वियोग में ऐसा कातर होना और उस का समाचार देनेवाले सेवक को छाती से लगा लेना तेजस्वी वीर के लिए योग्य न था। अस्तु, इस आरोप का समाधान शुकदेवजी महाराज ने बहुत सुन्दर किया है। वे कहते हैं कि सीताजी के वियोग में जो भगवान् ऐसे कातर होते थे, वह संसारियों को यह बताने के लिए कि स्त्रियों में आसक्ति रखनेवालों की ऐसी दशा हो जाती है, इस से बचना चाहिए; 'स्त्रीसङ्गिनां गतिरिति प्रथयंश्चचार।' धन, संपत्ति, कुटुम्ब में आसक्ति या ममता हो जाना ही सब अनर्थों की जड है, इस को निवृत्त किये बिना संसार से किसी का निस्तार नहीं हो सकता।

असल में तो लीलावपुधारी उन प्रभु को सीताजी का सब रहस्य ज्ञात था, कि यह कोरा माया का खेल हो रहा है। इस लिए यह सब लोकमनोरञ्जनार्थ उन की नकली चेष्टाएँ थीं। रामजी के इन व्यापारों में असलियत होती तो जिस समय हज़ारों वानर

चारों दिशाओं में सीताजी को खोजने रवाना हो रहे थे, तब उन्हें यह कैसे पता लगा कि अकेला हनुमान ही सीता के पास जायगा ; इस लिए इसी को निशानी की अँगूठी देनी चाहिए ? और ऐसी ही बनावटी अज्ञानता हनुमानजी ने भी धारण कर रखी थी, कि अँगूठी को गुप चुप पास में रखते हुए भी, इस लिए साथी वानरों को बहुत दिन तक भटकाते रहे कि सीताजी को कहाँ खोजा जाय और समुद्र के पार कौन जाय ? अत एव यह सब शोक, हर्ष आदि भगवान् के लीलाप्रकाश का एक प्रकार था। एवं हनुमान्जी को गले लगाने में उन्होंने अपने सम्मान को ठेस पहुँचाने जैसा कोई काम नहीं किया। रामचन्द्रजी जहाँ बैठकर यह सब लीला कर रहे थे वह वानर भालुओं का जंगली देश था, नगरों की सी शिष्टता का व्यवहार वहाँ नहीं चल सकता था। वे पतितपावन दीनबन्धु भगवान् निजआत्मसमान, हार्दिक स्नेहभरा आलिंगन हनुमान्जी का न करते, तो प्राणपण से अपना सर्वस्व लंकाविजय की बलिवेदी पर चढ़ाने के लिए किष्किन्धा का वानरी जनता का अनुराग अपने प्रति कैसे उपजा सकते थे ? हृदय का ऐसा आकर्षण देखकर ही उन जंगलियों ने भगवान् को यथार्थ नेता माना। इस आलिंगन से भगवान् ने यह दिखाया कि सेवक और स्वामी के बीच जब ऐसा एकात्मभाव होगा, तब सेवक अवश्य ही स्वामी के पसीने के स्थान पर अपना खून बहाने को तैयार रहेगा। जिन सेवक स्वामियों के बीच ऐसा साम्यवाद नहीं होता तथा बड़प्पन का थोथा अभिमान भरा रहता है, वहाँ पद पद पर सफलता में अड़चन आती रहती हैं। जब तक अपने सहकर्मियों या अनुचरों से विषमता, और अपनी विशेषता श्रेष्ठता रखी जायगी, वहाँ हर्षभरी समृद्धि का आगमन कभी न होगा, वहाँ समृद्धि आती भी है तो वह शापित, कलंकित रहती है और उस से कभी न कभी दुर्व्यसन, विग्रह और विनाश ही हाथ आता है। भगवान ने हनुमानजी का आलिंगन कर ऐसे साम्यवाद का आदर्श रखा, जिस से किसी में छोटे बड़े या ऊँच नीच का भाव हो न हो, स्वामी और सेवक में एकात्मता, सुहृदता का रिस्ता रहे। इस के सम्मुख संसार की धन दौलत बेकार है।

वैषम्यवाद को स्वामी सेवक के बीच का काँटा दर्शाते हुए ही अत्यन्त हर्ष के साथ श्री रामप्रभु हनुमानजी से आगे कहते हैं—

हनूमन्तमुवाचेदं राघवो भक्तवत्सलः ॥ ६२ ॥
परिरम्भो हि मे लोके दुर्लभः परमात्मनः ।
अतस्त्वं मम भक्तोऽसि प्रियोऽसि हरिपुङ्गव ॥ ६३ ॥

भक्तवत्सल रघुनाथजी ने हनुमान्जी से कहा—संसार में मुझ परमात्मा का आलिङ्गन मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, हे वानरश्रेष्ठ, तुम्हें यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है अतः तुम मेरे परम भक्त और प्रिय हो ॥ ६३ ॥

यत्पादपद्मयुगलं तुलसीदलाद्यैः सम्पूज्य विष्णुपदवीमतुलां प्रयान्ति ।
तेनैव किं पुनरसौ परिरब्धमूर्ती रामेण वायुतनयः कृतपुण्यपुञ्जः ॥६४॥

हे पार्वति, जिन के चरणारविन्दयुगल का तुलसीदल आदि से पूजन कर भक्त जन आनन्दमय बैकुण्ठधाम को प्राप्त करते हैं, उन्हीं राम ने जिन के शरीर का आलिङ्गन किया, उन पवित्र कर्म करनेवाले पवनपुत्र के विषय में क्या कहा जाय ? वे धन्य हैं ॥ ६४ ॥

रा० च०—प्यारे भक्तो, हनुमानजी रामादल से निकलकर समुद्र को पार करते हुए लङ्का में गये, वहाँ उन्होंने नाना प्रकार के वैभव देखे, भोग्य वस्तुओं के बीच से गुजरे ; यहाँ तक कि सोती हुई नग्न स्त्रियाँ भी उन के देखने में आईं, पर सीताजी को खोजने की दृष्टि के अलावा उन्होंने इन लुभावने विषयों को अपने लिए विषवत् त्याज्य माना, इन में कहीं पर भी मनस्तुष्टि के भाव से कभी नजर नहीं दौड़ाई । रेलगाड़ी का इञ्जन जिस प्रकार एक जंक्सन से दूसरे जंक्सन तक गाड़ी खींचने के लिए कोयला पानी लेता है, वैसे ही अनासक्तभाव से हनुमानजी ने राक्षसों से मोर्चा लेने और लङ्का से भारत आने के लिए कामनारहित होकर अशोकवाटिका के फल खाये थे । ऐसी आदर्शभूत सफलयात्रा करके वे भगवान् राम के पास आये तो उन्होंने हनुमानजी को अपने हृदय से लगाकर एकात्मभाव में कर लिया । अस्तु, लंकायात्रा के इस कथाभाग में यह दिखाया गया है कि मनुष्यों को ऐसे ही अनासक्त भाव से इस संसारनगरी की यात्रा करनी चाहिए । हनुमानजी जैसे रामादल से अलग होकर चले थे, वैसे ही यह जीवात्मा प्रभु के नित्यानन्दमय धाम से संसारयात्रार्थ चला था । हनुमानजी ने जैसे समुद्र पार किया, वैसे ही यह प्राणी अदृष्टरूप सीताजी को खोजनेरूप पूर्ण करने के लिए सूर्यचन्द्रमण्डलों की किरणों से मेघ के द्वारा जल और अन्न में होता हुआ माता के गर्भ में रहकर लङ्कारूपी संसार में आता है (—देखो 'गर्भोपनिषद्') । गर्भवास में नाना प्रकार के कष्ट और कर्मफलभोग की स्मृति रहने से भय होता है, माता के खाद्य, पेय, गर्भकीट आदि व्यथा पहुँचाते हैं; ये ही हनुमानजी के सिंहिका, लंकिनी, सुरसा आदि विघ्नों के समान हैं । लंका के वैभव, समृद्धि, चमक दमक के समान इस संसार के आपातरमणीय विषयभोग हैं, एवं काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि का परिवार ही राक्षसमण्डल है, जिस का सरदार रावणरूपी अहंकार लंकारूपी इस संसार में राज्य कर रहा है ।

मित्रो, संसार की समता लंका से पूरी तौर पर बैठ जाती है । हनुमानजी की तरह तुम भी इस में किसी खास मतलब से आये हो । अब सोचो कि इस में हनुमानजी की तरह

अनासक्त भाव से घूम रहे हो, या राक्षसदल में शामिल होकर इन्द्रियाराम, विषयों में आसक्त हो गये हो। यदि आसक्ति, कामना और ममता को धारण कर इस लंका में विचर रहे हो, तब तो तुम राक्षसों से घटकर तो नहीं, बढ़कर ही हो। क्यों कि गर्भवास के समय 'जो ईश का इकरार था वह तुम्हें याद है कि नहीं ?' जो नहीं याद है तो तुम प्रभु के विद्रोही हो गये। राक्षस तो अपने स्वामी की आज्ञा में चलते थे, तुम अपने स्वामी के खिलाफ चलकर राक्षसों से बढ़कर तो मत हो जाओ। तुम मुक्तिरूपी सीता की खोज में यहाँ आये थे, पर इन दिखावटी चीजों में फँसकर मोहित हो गये जो लंकादहन होनेपर छार छार, राख की ढेरी मात्र रह जायँगी। तुम को हनुमानजी ने अनासक्तभाव से विचरने का आदर्श बताया, कि ये अन्न, पान, स्त्री, गायन, शयन आदि राक्षसी माया हैं, इन से सावधान रहोगे तो मुक्ति का पता चल जायगा। किंतु तुम तो उस अभिमान के राज्य में आनन्द से रह रहे हो जिस ने मुक्ति को बड़े जाबिते से अशोकवन की दृढ़ चहारदीवारी के भीतर छिपा रखा है।

संसारयात्रा में कितनी सतर्कता, कैसी सावधानी आवश्यक होती है यह इतने से ही समझ लो, कि मुक्तिरूपी सीता को पा लेने के बाद भी हनुमानजी अशोकवन के फल खाने के लिए जरा सा ललचाये थे कि इतने से ही उन का बन्धन हो गया। इस लिये मित्रो, सतर्क रहने की शक्ति तुम को गीतामाता प्रदान करेगी, उस की उपासना यानी अध्ययन करो। तब तुम अनायास इस भवसागर से पार होकर श्री रामप्रभु की सन्निधि में पहुँच जाओगे, और वे कृपालु प्रभु तुम को विष्णुपदवी या आलिंगनरूप सायुज्यमुक्ति प्रदान करेंगे। परमात्मा राम का यह आलिंगन (प्राप्ति) अत्यन्त दुर्लभ है। सूतजी कहते हैं कि जिस ने भक्ति भावना द्वारा अनेकों पुण्यपुञ्ज प्राप्त किये हों यह उसी को सुलभ होता है॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, सुन्दरकाण्ड के पञ्चम सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ॥ ५॥

ॐ

अध्यात्मरामायण

युद्धकाण्ड

—•❋•—

प्रथम सर्ग

रामसेना का समुद्रतट पर पहुँचना।

श्रीमहादेव उवाच—

यथावद्भाषितं वाक्यं श्रुत्वा रामो हनूमतः।
उवाचानन्तरं वाक्यं हर्षेण महतावृतः ॥ १ ॥
कार्यं कृतं हनुमता देवैरपि सुदुष्करम्।
मनसापि यदन्येन स्मर्तुं शक्यं न भूतले ॥ २ ॥
शतयोजनविस्तीर्णं लङ्घयेत्कः पयोनिधिम्।
लङ्कां च राक्षसैर्गुप्तां को वा धर्षयितुं क्षमः ॥ ३ ॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, हनुमान्‌जी के संपूर्ण कथन को सुनने के अनन्तर श्री रामचन्द्रजी ने अति हर्ष से भरकर ये वचन कहे—हनुमान्‌जी ने जो कार्य किया है, उस का करना देवताओं को भी अति कठिन है। पृथिवीतल पर और कोई तो उस का मन से भी स्मरण नहीं कर सकता। भला ऐसा कौन है जो सौ योजन विस्तारवाले समुद्र को लाँघने और राक्षसों से सुरक्षित लङ्कापुरी का ध्वंस करने में समर्थ हो ॥ १-३ ॥

भृत्यकार्यं हनुमता कृतं सर्वमशेषतः।
सुग्रीवस्येदृशो लोके न भूतो न भविष्यति ॥ ४ ॥
अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च कपीश्वरः।
जानक्या दर्शनेनाद्य रक्षिताः स्मो हनूमता ॥ ५ ॥

सर्वथा सुकृतं कार्यं जानक्याः परिमार्गणम् ।
समुद्रं मनसा स्मृत्वा सीदतीव मनो मम ॥ ६ ॥
कथं नक्रझषाकीर्णं समुद्रं शतयोजनम् ।
लङ्घयित्वा रिपुं हन्यां कथं द्रक्ष्यामि जानकीम् ॥७॥

हनुमान् ने सुग्रीव के समक्ष सेवकधर्म को खूब निभाया। संसार में ऐसा न कोई हुआ और न आगे होगा हो। हनुमान् ने जानकीजी को देखकर आज मुझ को तथा रघुवंश, लक्ष्मण और सुग्रीव आदि सभी को बचा लिया है। जानकीजी की खोज का कार्य तो बिलकुल ठीक हो गया, किन्तु समुद्र की याद आने से मेरा मन व्यथित सा होने लगता है। नक्र और मकरों से भरे हुए, सौ योजन विस्तारवाले समुद्र को लाँघकर मैं शत्रु को कैसे मारूँगा और जानकीजी को कैसे देख सकूँगा? ॥ ४-७ ॥

श्रुत्वा तु रामवचनं सुग्रीवः प्राह राघवम् ।
समुद्रं लङ्घयिष्यामो महानक्रझषाकुलम् ॥८॥
लङ्कां च विधमिष्यामो हनिष्यामोऽद्य रावणम् ।
चिन्तां त्यज रघुश्रेष्ठ चिन्ता कार्यविनाशिनी ॥९॥
एतान्पश्य महासत्त्वान् शूरान्वानरपुङ्गवान् ।
त्वत्प्रियार्थं समुद्युक्तान्प्रवेष्टमपि पावकम् ॥१०॥

श्री रघुनाथजी के ये वचन सुनकर सुग्रीव उन से बोले—हम बड़े बड़े मगरमच्छों और मछलियों से पूर्ण समुद्र को लाँघ जायँगे और शीघ्र ही लङ्का को विध्वंस कर रावण का भी नाश करेंगे। रघुनाथजी, आप चिन्ता छोड़िये, चिन्ता तो कार्य बिगाड़नेवाली होती है। आप इन महापराक्रमी और शूरवीर वानरवीरों को देखिये। ये आप का प्रिय करने के लिए अग्नि में प्रवेश करने को भी तैयार हैं ॥ ८-१० ॥

समुद्रतरणे बुद्धिं कुरुष्व प्रथमं ततः ।
दृष्ट्वा लङ्कां दशग्रीवो हत इत्येव मन्महे ॥११॥
न हि पश्याम्यहं कश्चित्त्रिषु लोकेषु राघव ।
गृहीतधनुषो यस्ते तिष्ठेदभिमुखो रणे ॥१२॥
सर्वथा नो जयो राम भविष्यति न संशयः ।
निमित्तानि च पश्यामि तथाभूतानि सर्वशः ॥१३॥

पहले समुद्र पार करने का विचार कीजिये, फिर लङ्का के तो दर्शन होते ही हम रावण को मरा हुआ ही समझते हैं। हे राघव, त्रिलोकी में मुझे ऐसा कोई वीर दिखाई नहीं देता जो आप के धनुष ग्रहण करने पर युद्ध में सामने डटा रहे। हे राम, इस में तनिक भी सन्देह नहीं, सब प्रकार से जीत हमारी ही होगी, क्योंकि मुझे सब ओर ऐसे ही शकुन दिखायी दे रहे हैं ॥ ११-१३ ॥

सुग्रीववचनं श्रुत्वा भक्तिवीर्यसमन्वितम् ।
अङ्गीकृत्याब्रवीद्रामो हनूमन्तं पुरःस्थितम् ॥१४॥
येन केन प्रकारेण लङ्घयामो महार्णवम् ।
लङ्कास्वरूपं मे ब्रूहि दुःसाध्यं देवदानवैः ॥१५॥
ज्ञात्वा तस्य प्रतीकारं करिष्यामि कपीश्वर ।

सुग्रीव के ये भक्ति और पुरुषार्थ से भरे वचन सुनकर भगवान् राम ने उन्हें सादर स्वीकार किया और फिर सामने खड़े हुए हनुमान्‌जी से कहा—हम जैसे तैसे समुद्र तो पार करेंगे ही, किन्तु तुम लङ्का का रूप तो बताओ। सुना है, लङ्का को जीतना तो देवता और दानवों को भी अत्यन्त कठिन है। हे कपीश्वर, उस का स्वरूप विदित होने पर मैं उस का कोई प्रतीकार सोचूँगा ॥ १४-१५ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं हनूमान्विनयान्वितः ॥ १६ ॥
उवाच प्राञ्जलिर्देव यथा दृष्टं ब्रवीमि ते ।
लङ्का दिव्या पुरी देव त्रिकूटशिखरे स्थिता ॥ १७ ॥

स्वर्णप्राकारसहिता स्वर्णाट्टालकसंयुता ।
परिखाभिः परिवृता पूर्णाभिर्निर्मलोदकैः ॥ १८ ॥

नानोपवनशोभाढ्या दिव्यवापीभिरावृता ।
गृहैर्विचित्रशोभाढ्यैर्मणिस्तम्भमयैः शुभैः ॥ १९ ॥

रामचन्द्रजी के ये वचन सुनकर हनुमान्‌जी ने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर

कहा—देव, मैं ने जैसा कुछ देखा है वह आप से निवेदन करता हूँ। दिव्यपुरी लङ्का त्रिकूटपर्वत के शिखर पर बसी हुई है। उस का सोने का परकोटा है और उस में सोने की ही अट्टालिकाएँ हैं, तथा वह निर्मल जल से भरी खाइयों से घिरी हुई है। अनेकों उपवनों के कारण उस की अत्यन्त शोभा हो रही है और उस में जहाँ तहाँ बहुत सी बावड़ियाँ तथा विचित्र शोभासम्पन्न मणिस्तम्भयुक्त भवन शोभायमान हैं ॥ १६-१९ ॥

पश्चिमद्वारमासाद्य गजवाहाः सहस्रशः ।
उत्तरे द्वारि तिष्ठन्ति साश्ववाहाः सपत्तयः ॥ २० ॥

तिष्ठन्त्यर्बुदसङ्ख्याकाः प्राच्यामपि तथैव च ।
रक्षिणो राक्षसा वीरा द्वारं दक्षिणमाश्रिताः ॥ २१ ॥

मध्यकक्षेऽप्यसङ्ख्याता गजाश्वरथपत्तयः ।
रक्षयन्ति सदा लङ्कां नानास्त्रकुशलाः प्रभोः ॥ २२ ॥

सङ्क्रमैर्विविधैर्लङ्का शतघ्नीभिश्च संयुता ।
एवं स्थितेऽपि देवेश शृणु मे तत्र चेष्टितम् ॥ २३ ॥

लंका के पश्चिम द्वार पर हजारों गजारोही, उत्तरद्वार पर पैदल सेना के सहित बहुत से घुड़सवार, पूर्व द्वार पर एक अरब राक्षसवीर और दक्षिण द्वार पर भी इतने ही रक्षक रहते हैं। हे प्रभो, उस के मध्यभाग में भी हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों की असंख्य सेना रहकर नगर की रक्षा करती है। वे सब नाना प्रकार के शस्त्र चलाने में अत्यन्त कुशल हैं। इस प्रकार लङ्का में जाने के मार्ग नाना प्रकार के संक्रम (मोर्चाबंदी) और शतघ्नियों से सुरक्षित हैं। किन्तु हे देवेश्वर, यह सब कुछ होते हुए भी मैं ने जो कुछ किया है वह सुनिये ॥ २०-२३ ॥
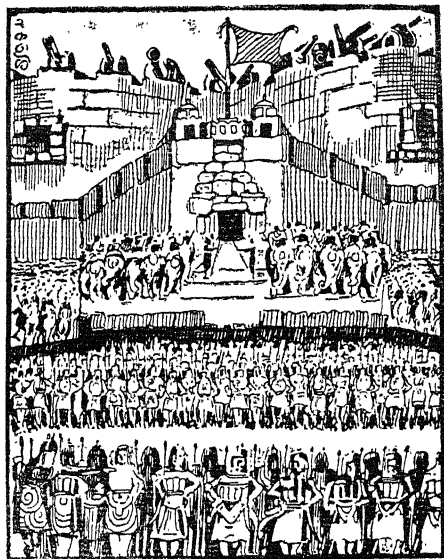
दशाननबलौघस्य चतुर्थांशो मया हतः।
दग्ध्वा लङ्कां पुरीं स्वर्णप्रासादो धर्षितो मया ॥ २४ ॥

शतघ्न्यः सङ्क्रमाश्चैव नाशिता मे रघूत्तम।
देव त्वद्दर्शनादेव लङ्का भस्मीकृता भवेत् ॥ २५ ॥

प्रस्थानं कुरु देवेश गच्छामो लवणाम्बुधेः।
तीरं सह महावीरैर्वानरौघैः समन्ततः ॥ २६ ॥

मैंने रावण की चौथाई सेना मार डाली और लङ्कापुरी को जलाकर उस का सोने का महल नष्ट कर दिया। हे रघुश्रेष्ठ, संक्रमों और शतघ्नियों को मैंने तोड़ डाला। हे देव, मुझे तो विश्वास है आप की दृष्टि पड़ते ही लङ्का भस्मीभूत हो जायगी। हे देवेश्वर, अब चलने की तैयारी कीजिये, हम सब ओर से महाबलवान् वानर वीरों की सेना लेकर क्षार समुद्र के तटपर चलें ॥ २४-२६ ॥

श्रुत्वा हनूमतो वाक्यमुवाच रघुनन्दनः।
सुग्रीव सैनिकान्सर्वान्प्रस्थानायाभिनोदय ॥ २७ ॥

इदानीमेव विजयो मुहूर्तः परिवर्तते ।
अस्मिन्मुहूर्ते गत्वाहं लङ्कां राक्षससङ्कुलाम् ॥ २८ ॥
सप्राकारां सुदुर्धर्षां नाशयामि सरावणाम् ।
आनेष्यामि च सीतां मे दक्षिणाक्षि स्फुरत्यधः ॥ २९ ॥

हनुमान्‌जी का कथन सुनकर श्री रघुनाथजी ने कहा—सुग्रीव, सब सैनिकों को इसी समय कूँच करने की आज्ञा दो, क्योंकि इस समय विजयनामक मुहूर्त बीत रहा है। इस मुहूर्त में जाकर मैं राक्षससंकुलित लङ्का को, जो परकोटे आदि के कारण अति दुर्जय है, रावण के सहित नष्ट कर दूँगा और सीताजी को ले आऊँगा। इस समय मेरी दायीं आँख का निचला भाग फड़क रहा है ॥ २७-२९ ॥

प्रयातु वाहिनी सर्वा वानराणां तरस्विनाम् ।
रक्षन्तु यूथपाः सेनामग्रे पृष्ठे च पार्श्वयोः ॥ ३० ॥
हनूमन्तमथारुह्य गच्छाम्यग्रेऽङ्गदं ततः ।
आरुह्य लक्ष्मणो यातु सुग्रीव त्वं मया सह ॥ ३१ ॥
गजो गवाक्षो गवयो मैन्दो द्विविद एव च ।
नलो नीलः सुषेणश्च जाम्बवांश्च तथापरे ॥ ३२ ॥
सर्वे गच्छन्तु सर्वत्र सेनायाः शत्रुघातिनः ।

इसी समय बलवान् वानरों की सम्पूर्ण सेना चले, जो यूथपति हों वे अपने अपने यूथ की आगे पीछे और इधर उधर से रक्षा करें। मैं हनुमान् के कन्धे पर चढ़कर सब से आगे चलता हूँ, उस के पीछे लक्ष्मण अंगद के ऊपर चढ़कर चलें और हे सुग्रीव, तुम मेरे साथ चलो। गज, गवाक्ष, गवय, मैन्द, द्विविद, नल, नील, सुषेण और जाम्बवान् तथा शत्रुओं का नाश करनेवाले और भी समस्त सेनापतिगण सेना के चारों ओर चलें ॥ ३०-३२ ॥

इत्याज्ञाप्य हरीन् रामः प्रतस्थे सहलक्ष्मणः ॥ ३३ ॥
सुग्रीवसहितो हर्षात्सेनामध्यगतो विभुः ।
वारणेन्द्रनिभाः सर्वे वानराः कामरूपिणः ॥ ३४ ॥
क्ष्वेलन्तः परिगर्जन्तो जग्मुस्ते दक्षिणां दिशम् ।
भक्षयन्तो ययुः सर्वे फलानि च मधूनि च ॥ ३५ ॥

वानरों को इस प्रकार आज्ञा देकर श्री रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी के सहित प्रस्थान किया। भगवान् राम अति हर्ष से सुग्रीव के साथ सेना के बीच में जा रहे थे। सेना के समस्त वानरगण गजराज के समान बड़े डीलवाले और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे। वे सब बड़े वेग से उछलते कूदते, गरजते और फल तथा मधु खाते दक्षिण दिशा को चले ॥ ३३-३५ ॥

ब्रुवन्तो राघवस्याग्रे हनिष्यामोऽद्य रावणम् ।
एवं ते वानरश्रेष्ठा गच्छन्त्यतुलविक्रमाः ॥ ३६ ॥
हरिभ्यामुह्यमानौ तौ शुशुभाते रघूत्तमौ ।
नक्षत्रैः सेवितौ यद्वच्चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ॥ ३७ ॥
आवृत्य पृथिवीं कृत्स्नां जगाम महती चमूः ।
प्रस्फोटयन्तः पुच्छाग्रानुद्वहन्तश्च पादपान् ॥ ३८ ॥
शैलानारोहयन्तश्च जग्मुर्मारुतवेगतः ।

इस प्रकार वे अतुल पराक्रमी वानरश्रेष्ठ श्री रघुनाथजी के सामने 'हम आज ही रावण को मार डालेंगे' ऐसा कहते हुए जा रहे थे। हनुमान् और अङ्गद के कन्धों पर जाते हुए वे दोनों रघुश्रेष्ठ ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो आकाशमण्डल में नक्षत्रों से सुशोभित सूर्य और चन्द्रमा जाते हों। वह महान् सेना सम्पूर्ण पृथिवी को घेरकर चल रही थी। वानरगण अपनी पूँछ फटकारते और पेड़ों को उखाड़ते हुए पर्वतों पर उछलते कूदते वायुवेग से जा रहे थे ॥ ३६-३८ ॥

असङ्ख्याताश्च सर्वत्र वानराः परिपूरिताः ॥ ३९ ॥
हृष्टास्ते जग्मुरत्यर्थं रामेण परिपालिताः ।
गता चमूर्दिवारात्रं कचिन्नासज्जत क्षणम् ॥ ४० ॥

काननानि विचित्राणि पश्यन्मलयसह्ययोः ।
ते सह्यं समतिक्रम्य मलयं च तथा गिरीन् ॥ ४१ ॥
आययुश्चानुपूर्व्येण समुद्रं भीमनिःस्वनम् ।

उस समय सब ओर असंख्य वानर भरे हुए दीख पड़ते थे, भगवान् राम से सुरक्षित होकर वे प्रसन्नतापूर्वक बड़ी तेजी से जा रहे थे। वह वानरसेना रात दिन चलती थी। कहीं एक क्षण को भी न रुकते हुए अन्त में वे सब लोग मलयाचल और सह्याद्रि के विचित्र वनों को देखते हुए उन दोनों पर्वतों को पार कर क्रमशः भयङ्कर गर्जना करनेवाले समुद्र के तट पर पहुँच गये ॥ ३९-४१ ॥

अवतीर्य हनूमन्तं रामः सुग्रीवसंयुतः ॥ ४२ ॥
सलिलाभ्यासमासाद्य रामो वचनमब्रवीत् ।
आगताः स्मो वयं सर्वे समुद्रं मकरालयम् ॥ ४३ ॥
इतो गन्तुमशक्यं नो निरुपायेन वानराः ।
अत्र सेनानिवेशोऽस्तु मन्त्रयामोऽस्य तारणे ॥ ४४ ॥

तब श्री रामचन्द्रजी हनुमान्जी के कन्धे से उतरकर सुग्रीव के साथ जल के निकट आये और बोले कि हे वानरगण, हम लोग मकरादि से पूर्ण समुद्र के तट पर तो आ गये, किन्तु अब आगे बिना कोई विशेष उपाय किये हम नहीं जा सकते। अतः अब यहीं सेना की छाँवनी डाली जाय। हम लोग समुद्र को पार करने के विषय में परस्पर परामर्श करेंगे ॥ ४२-४४ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं सुग्रीवः सागरान्तिके ।
सेनां न्यवेशयत्क्षिप्रं रक्षितां कपिकुञ्जरैः ॥ ४५ ॥
ते पश्यन्तो विषेदुस्तं सागरं भीमदर्शनम् ।
महोन्नततरङ्गाढ्यं भीमनक्रभयङ्करम् ॥ ४६ ॥
अगाधं गगनाकारं सागरं वीक्ष्य दुःखिताः ।
तरिष्यामः कथं घोरं सागरं वरुणालयम् ॥ ४७ ॥
हन्तव्योऽस्माभिरत्रैव रावणो राक्षसाधमः ।

राम के वचन सुनकर सुग्रीव ने तुरन्त ही समुद्र के निकट सेना का पड़ाव डाला और बहुत से प्रधान प्रधान वानरवीर उस की रक्षा करने लगे। वे लोग उत्ताल तरङ्गों से पूर्ण तथा दारुण नक्र आदि के कारण भयङ्कर समुद्र को देखकर मन ही मन विषाद करने लगे। उस आकाश के समान अगाध समुद्र को देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ, वे सोचने लगे कि हम इस घोर वरुणालय को कैसे पार करेंगे, राक्षसाधम रावण को अभी हमें मारना है पर मारें कैसे ? ॥ ४५-४७ ॥
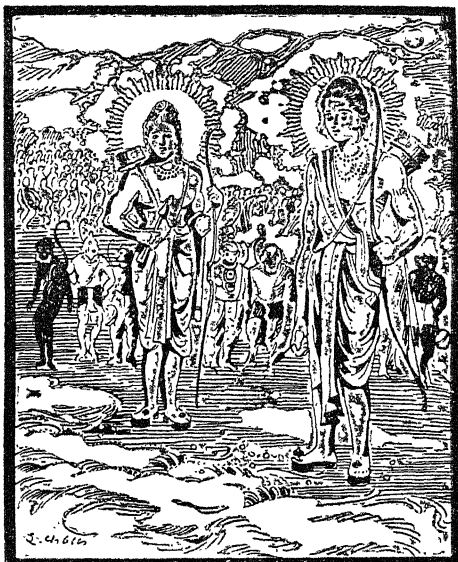
इति चिन्ताकुलाः सर्वे रामपार्श्वे व्यवस्थिताः ॥ ४८ ॥
रामः सीतामनुस्मृत्य दुःखेन महताऽऽवृतः ।
विलप्य जानकीं सीतां बहुधा कार्यमानुषः ॥ ४९ ॥
अद्वितीयश्चिदात्मैकः परमात्मा सनातनः ।

इस प्रकार सब लोग अति चिन्ताग्रस्त हो श्री रघुनाथजी के पास बैठ गये। इधर श्री रामचन्द्रजी भी सीता की याद कर महान् दुःख में डूब गये। वे यद्यपि एक अद्वितीय चिन्मात्र परमात्मा सनातनपुरुष थे, तथापि कार्यवश मनुष्यरूप में होने के कारण जानकीजी के लिए नाना प्रकार से विलाप करने लगे ॥ ४८-४९ ॥

यस्तु जानाति रामस्य स्वरूपं तत्त्वतो जनः ॥ ५० ॥
तं न स्पृशति दुःखादि किमुतानन्दमव्ययम् ।
दुःखहर्षभयक्रोधलोभमोहमदादयः ॥ ५१ ॥
अज्ञानलिङ्गान्येतानि कुतः सन्ति चिदात्मनि ।

जो पुरुष परमात्मा राम का वास्तविक स्वरूप जानता है, उसे कभी दुःखादि स्पर्श नहीं कर सकते, फिर आनन्दस्वरूप अविनाशी भगवान् राम की तो बात ही क्या है ? दुःख, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह और मद आदि सब अज्ञान के ही चिह्न हैं, चिदात्मा राम में ये कैसे रह सकते हैं ? ॥ ५०-५१ ॥

देहाभिमानिनो दुःखं न देहस्य चिदात्मनः ॥ ५२ ॥
सम्प्रसादे द्वयाभावात्सुखमात्रं हि दृश्यते ।
बुद्ध्याद्यभावात्संशुद्धे दुःखं तत्र न दृश्यते ।
अतो दुःखादिकं सर्वं बुद्धेरेव न संशयः ॥ ५३ ॥
रामः परात्मा पुरुषः पुराणो नित्योदितो नित्यसुखो निरीहः ।
तथापि मायागुणसङ्गतोऽसौ सुखीव दुःखीव विभाव्यतेऽबुधैः ॥५४॥

देह का दुःख देहाभिमानी को ही होता है, चेतन आत्मा को नहीं। समाधि अवस्था में द्वैत प्रपञ्च का अभाव हो जाने के कारण वहाँ केवल सुख का ही साक्षात्कार होता है। उस अवस्था में बुद्धि आदि का अभाव हो जाने से शुद्ध आत्मा में दुःख का लेश भी दिखायी नहीं देता। अतः इस में सन्देह नहीं कि ये दुखादि सब बुद्धि के ही धर्म हैं। भगवान् राम तो परमात्मा, पुराणपुरुष, नित्यप्रकाशस्वरूप, नित्यसुखस्वरूप और निरीह हैं, किंतु अज्ञानी पुरुषों को वे मायिक गुणों के सम्बन्ध से सुखी या दुःखी से प्रतीत होते हैं ॥ ५२-५४ ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के प्रथम सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

द्वितीय सर्ग

विभीषण का रावण को समझाना तथा तिरस्कृत होना ।

श्रीमहादेव उवाच—

लङ्कायां रावणो दृष्ट्वा कृतं कर्म हनूमता ।
दुष्करं दैवतैर्वापि ह्रिया किञ्चिदवाङ्मुखः ॥ १ ॥
आहूय मन्त्रिणः सर्वानिदं वचनमब्रवीत् ।
हनूमता कृतं कर्म भवद्भिर्दृष्टमेव तत् ॥ २ ॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, इधर लङ्का में श्री हनुमान्‌जी का देवताओं के लिए भी दुष्कर कृत्य देखकर रावण ने अपने समस्त मन्त्रियों को बुलाया और लज्जा से शिर नीचा करके कहा—हनुमान् ने जो जो कर्म किये हैं वे सब आप लोगों ने देखे ही हैं ॥ १-२ ॥

प्रविश्य लङ्कां दुर्धर्षां दृष्ट्वा सीतां दुरासदाम् ।
हत्वा च राक्षसान्वीरानक्षं मन्दोदरीसुतम् ॥ ३ ॥
दग्ध्वा लङ्कामशेषेण लङ्घयित्वा च सागरम् ।
युष्मान्सर्वानतिक्रम्य स्वस्थोऽगात्पुनरेव सः ॥ ४ ॥
किं कर्तव्यमितोऽस्माभिर्यूयं मन्त्रविशारदाः ।
मन्त्रयध्वं प्रयत्नेन यत्कृतं मे हितं भवेत् ॥ ५ ॥

हनुमान् दुष्प्रवेश्य लङ्का में घुसकर सर्वथा दुष्प्राप्य सीता से मिला तथा उस ने अन्य राक्षस वीरों के साथ मन्दोदरी के पुत्र अक्ष को मारकर सम्पूर्ण लङ्का को जला दिया और फिर आप सब लोगों का तिरस्कार कर कुशलपूर्वक समुद्र लाँघकर लौट गया । आप सब लोग नीतिनिपुण हैं, अतः अब हमें क्या करना चाहिये और क्या करने से हमारा हित हो सकता है; इस का प्रयत्नपूर्वक विचार कीजिये ॥ ५ ॥

रावणस्य वचः श्रुत्वा राक्षसास्तमथाब्रुवन् ।
देव शङ्का कुतो रामात्तव लोकजितो रणे ॥ ६ ॥
इन्द्रस्तु बद्ध्वा निक्षिप्तः पुत्रेण तव पत्तने ।
जित्वा कुबेरमानीय पुष्पकं भुज्यते त्वया ॥ ७ ॥
यमो जितः कालदण्डाद्भयं नाभूत्तव प्रभो ।
वरुणो हुङ्कृतेनैव जितः सर्वेऽपि राक्षसाः ॥ ८ ॥

रावण के वचन सुनकर मन्त्रिराक्षसों ने उस से कहा—देव, आप

को राम से क्या शंका है? आप ने तो युद्ध में समस्त लोकों को जीत लिया है। आप के पुत्र ने इन्द्र को बाँधकर अपनी राजधानी में डाल लिया था और आप स्वयं भी कुबेर को जीतकर उस का पुष्पक विमान लाकर भोगते हैं। हे प्रभो, आप ने यमराज को भी जीत लिया, उस के कालदण्ड से भी आप को कोई भय नहीं हुआ तथा वरुण और समस्त राक्षसों को आपने हुँकार से ही जीत लिया था ॥ ६-८ ॥

मयो महासुरो भीत्या कन्यां दत्त्वा स्वयं तव ।
त्वद्वशे वर्ततेऽद्यापि किमुतान्ये महासुराः ॥ ९ ॥
हनूमद्धर्षणं यत्तु तदवज्ञाकृतं च नः ।
वानरोऽयं किमस्माकमस्मिन्पौरुषदर्शने ॥१०॥

महासुरों की तो बात ही क्या है, स्वयं मयासुर भी आप के भय से आप को अपनी कन्या देकर आज तक आप के अधीन बना हुआ है। हनुमान् ने जो हमारा तिरस्कार किया है वह तो हमारी ही उपेक्षा से हुआ है। हम ने यह सोचकर कि यह वानर है इस के ऊपर पुरुषार्थ दिखाने में क्या रक्खा है, उस की उपेक्षा कर दी थी, नहीं तो वह हमारी अवज्ञा क्या कर सकता था? ॥ ९-१० ॥

इत्युपेक्षितमस्माभिर्धर्षणं तेन किं भवेत् ।
वयं प्रमत्ताः किं तेन वञ्चिताः स्मो हनूमता ॥११॥
जानीमो यदि तं सर्वे कथं जीवन् गमिष्यति ।
आज्ञापय जगत्कृत्स्नमवानरममानुषम् ॥१२॥
कृत्वायास्यामहे सर्वे प्रत्येकं वा नियोजय ।

अतः असावधान रहने के कारण यदि हमें हनुमान् ने ठग लिया तो इस से क्या हुआ ? यदि हम सब उसे जानते तो वह जीता हुआ कैसे जा सकता था ? आप हमें आज्ञा दीजिये, हम सब अभी जाकर पृथिवी को वानर और मनुष्यों से शून्य कर आते हैं। अथवा हम में से एक एक को ही इस कार्य के लिए नियुक्त कीजिये ॥ ११-१२ ॥

कुम्भकर्णस्तदा प्राह रावणं राक्षसेश्वरम् ॥१३॥
आरब्धं यत्त्वया कर्म स्वात्मनाशाय केवलम् ।
न दृष्टोऽसि तदा भाग्यात्त्वं रामेण महात्मना ॥१४॥
यदि पश्यति रामस्त्वां जीवन्नायासि रावण ।
रामो न मानुषो देवः साक्षान्नारायणोऽव्ययः ॥१५॥

तदनन्तर राक्षसराज रावण से कुम्भकर्ण बोला—आप ने जो कार्य आरम्भ किया है वह केवल आप का नाश करने के लिए ही है। सौभाग्यवश इतना ही अच्छा हुआ कि सीताजी को चुराने के समय महात्मा राम ने आप को नहीं देखा। हे रावण, यदि उस समय राम आप को देख लेते तो आप जीते जागते नहीं लौट सकते थे। राम कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे साक्षात् अव्यय नारायणदेव हैं ॥ १३-१५ ॥

सीता भगवती लक्ष्मी रामपत्नी यशस्विनी ।
राक्षसानां विनाशाय त्वयानीता सुमध्यमा ॥१६॥
विषपिण्डमिवागीर्य महामीनो यथा तथा ।
आनीता जानकी पश्चात्त्वया किं वा भविष्यति ॥१७॥
यद्यप्यनुचितं कर्म त्वया कृतमजानता ।
सर्वं समं करिष्यामि स्वस्थचित्तो भव प्रभो ॥१८॥

भगवान् राम की पत्नी यशस्विनी सीताजी साक्षात् भगवती लक्ष्मी है, उस सुन्दरी को आप राक्षसों के नाश के लिए ही लाये हैं। जिस प्रकार कोई महामत्स्य विष का पिण्ड निगल जाय उसी प्रकार आप अपने नाश के लिए जानकी को ले आये हैं, न जाने आगे क्या होना है ? यद्यपि आप ने अनजान में यह बड़ा ही अनुचित कार्य किया है, तथापि आप शान्त होइये, मैं सब काम ठीक किये देता हूँ ॥ १६-१८ ॥

कुम्भकर्णवचः श्रुत्वा वाक्यमिन्द्रजिदब्रवीत् ।
देहि देव ममानुज्ञां हत्वा रामं सलक्ष्मणम् ।
सुग्रीवं वानरांश्चैव पुनर्यास्यामि तेऽन्तिकम् ॥१९॥

कुम्भकर्ण के ये वचन सुनकर इन्द्रजित् बोला—प्रभो, आप मुझे आज्ञा दीजिये, मैं अभी लक्ष्मण के सहित राम, सुग्रीव और समस्त वानरों को मारकर आप के पास लौट आता हूँ ॥ १९ ॥

तत्रागतो भागवतप्रधानो विभीषणो बुद्धिमतां वरिष्ठः ।
श्रीरामपादद्वय एकतानः प्रणम्य देवारिमुपोपविष्टः ॥२०॥
विलोक्य कुम्भश्रवणादिदैत्यान्मत्तप्रमत्तानतिविस्मयेन ।
विलोक्य कामातुरमप्रमत्तो दशाननं प्राह विशुद्धबुद्धिः ॥२१॥

इसी समय वहाँ भागवतप्रधान, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ विभीषणजी आये। उन के अन्तःकरण की वृत्ति एकाग्रतापूर्वक भगवान् राम के चरणयुगल में लगी हुई थी। वहाँ आकर वे देवशत्रु रावण को प्रणाम कर उस के पास बैठ गये और उन्होंने एक बार कुम्भकर्ण आदि समस्त मदोन्मत्त राक्षसों को अति विस्मय के साथ देखा। फिर यह भी देखा कि रावण कामनाओं का दास होने से किसी की माननेवाला

नहीं है। तथापि अति निर्मल बुद्धि होने से वे अपने कर्तव्य में सावधान थे, इस लिए उन्होंने रावण से कहा—॥ २०-२१ ॥

न कुम्भकर्णेन्द्रजितौ च राजंस्तथा महापार्श्वमहोदरौ तौ।
निकुम्भकुम्भौ च तथातिकायः स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य ॥२२॥
सीताभिधानेन महाग्रहेण ग्रस्तोऽसि राजन् न च ते विमोक्षः।
तामेव सत्कृत्य महाधनेन दत्त्वाभिरामाय सुखी भव त्वम् ॥२३॥

हे राजन्, युद्ध में रघुनाथजी के सामने कुम्भकर्ण, इन्द्रजित्, महापार्श्व, महोदर, निकुम्भ, कुम्भ तथा अतिकाय आदि कोई भी नहीं ठहर सकते। हे राजन्, आप को सीता नामक एक प्रबल ग्रह ने ग्रस्त कर लिया है, इस से आप का छुटकारा इस तरह नहीं हो सकता। अब आप उसे सत्कारपूर्वक बहुत से धन के साथ श्री रामचन्द्रजी को लौटा दीजिये और सुखी हो जाइये ॥ २२-२३ ॥

यावन्न रामस्य शिताः शिलीमुखा
लङ्कामभिव्याप्य शिरांसि राक्षसाम्।
छिन्दन्ति तावद्रघुनायकस्य भोः
तां जानकीं त्वं प्रतिदातुमर्हसि ॥ २४ ॥

यावन्नगाभाः कपयो महाबला
हरीन्द्रतुल्या नखदंष्ट्रयोधिनः।
लङ्कां समाक्रम्य विनाशयन्ति ते
तावद्द्रुतं देहि रघूत्तमाय ताम् ॥ २५ ॥

जीवन्न रामेण विमोक्ष्यसे त्वं
गुप्तः सुरेन्द्रैरपि शङ्करेण।
न देवराजाङ्कगतो न मृत्योः
पाताललोकानपि सम्प्रविष्टः ॥ २६ ॥

जब तक श्री रामचन्द्रजी के तीक्ष्ण बाण लंका में व्याप्त होकर राक्षसों के शिर नहीं काटते, तब तक ही उचित है कि आप उन्हें जानकीजी सौंप दें। नख और दाढ़ों

से ही लड़नेवाले, सिंह के समान महा बलवान् वे पर्वताकार वानरगण जब तक लंका में फैलकर उसे नष्ट भ्रष्ट नहीं करते, तभी तक आप सीताजी को जल्दी से जल्दी श्री रघुनाथजी को सौंप दीजिये। नहीं तो भले ही इन्द्र और शंकर भी आप की रक्षा करें, अथवा देवराज इन्द्र और मृत्यु भी आप को गोद में लेकर बचायें या आप पाताल में भी घुस जायँ; तो भी राम से आप लड़कर जीवित नहीं बच सकते ॥२४-२६॥

शुभं हितं पवित्रं च विभीषणवचः खलः ।
प्रतिजग्राह नैवासौ म्रियमाण इवौषधम् ॥ २७ ॥
कालेन नोदितो दैत्यो विभीषणमथाब्रवीत् ।
मद्दत्तभोगैः पुष्टाङ्गो मत्समीपे वसन्नपि ॥ २८ ॥
प्रतीपमाचरत्येष ममैव हितकारिणः ।

विभीषण के इन शुभ, हितकर और पवित्र वचनों का दुष्ट रावण ने इसी प्रकार ग्रहण नहीं किया जैसे मरनेवाला पुरुष औषध ग्रहण नहीं करता। बल्कि वह दुष्ट दैत्य काल की प्रेरणा से विभीषण को लक्ष कर कहने लगा—देखो, यह मेरे ही दिये हुए भोगों से पुष्ट होकर और मेरे ही पास रहकर भी मुझ अपने हितकर्ता के ही विरुद्ध चलता है ॥ २७-२८ ॥

मित्रभावेन शत्रुर्मे जातो नास्त्यत्र संशयः ॥ २९ ॥
अनार्येण कृतघ्नेन सङ्गतिर्मे न युज्यते ।
विनाशमभिकाङ्क्षन्ति ज्ञातीनां ज्ञातयः सदा ॥ ३० ॥
योऽन्यस्त्वेवंविधं ब्रूयाद्वाक्यमेकं निशाचरः ।
हन्मि तस्मिन् क्षणे एव धिक् त्वां रक्षःकुलाधमम् ॥३१॥

निःसन्देह यह मित्ररूप में मेरा शत्रु ही प्रकट हुआ है, इस अनार्य और कृतघ्न का मेरे साथ रहना ठीक नहीं है। प्रायः यह देखने में आता है कि एक कुटुम्ब के लोग अपने ही भाइयों के नाश की सदा इच्छा किया करते हैं। यदि कोई और राक्षस ऐसा एक भी वाक्य कहता तो मैं उसे उसी क्षण मार डालता। अरे नीच, तू राक्षसकुल में अत्यन्त अधम है, तुझे धिक्कार है ॥ २९-३१ ॥

रावणेनैवमुक्तः सन्परुषं स विभीषणः ।
उत्पपात सभामध्याद्गदापाणिर्महाबलः ॥ ३२ ॥
चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सार्धं गगनस्थोऽब्रवीद्वचः ।
क्रोधेन महताविष्टो रावणं दशकन्धरम् ।
मा विनाशमुपैहि त्वं प्रियवादिनमेव माम् ॥ ३३ ॥
धिक्करोषि तथापि त्वं ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः ।

रावण के इस प्रकार कटुवचन कहने पर महाबली विभीषण हाथ में गदा लेकर सभा से उठ गया और अपने चार मन्त्रियों के साथ आकाश में स्थित हो अत्यन्त क्रोध में भरकर दशशीश रावण से कहा—मैं तुम्हारे हित की बात कहनेवाला हूँ, फिर भी तुम मुझे धिक्कारते हो ! तथापि मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा नाश न हो, क्योंकि तुम मेरे बड़े भाई हो; अतः पिता के समान हो ॥ ३२-३३ ॥

कालो राघवरूपेण जातो दशरथालये ॥ ३४ ॥
काली सीताभिधानेन जाता जनकनन्दिनी ।
तावुभावागतावत्र भूमेर्भारापनुत्तये ॥ ३५ ॥
तेनैव प्रेरितस्त्वं तु न शृणोषि हितं मम ।

तुम्हारा काल रघुनाथजी के रूप से महाराज दशरथ के घर में प्रकट हो गया है और महाशक्ति काली 'सीता' के नाम से जनकजी की पुत्री हुई है। ये दोनों पृथिवी का भार उतारने के लिए ही यहाँ आये हैं। उन्हीं की प्रेरणा से तुम मेरा हितकर वचन नहीं सुनते ॥ ३४-३५ ॥

श्रीरामः प्रकृतेः साक्षात्परस्तात्सर्वदा स्थितः ॥३६॥
बहिरन्तश्च भूतानां समः सर्वत्र संस्थितः ।
नामरूपादिभेदेन तत्तन्मय इवामलः ॥ ३७ ॥
यथा नानाप्रकारेषु वृक्षेष्वेको महानलः ।
तत्तदाकृतिभेदेन भिद्यतेऽज्ञानचक्षुषाम् ॥ ३८ ॥
पञ्चकोशादिभेदेन तत्तन्मय इवाबभौ ।
नीलपीतादियोगेन निर्मलः स्फटिको यथा ॥ ३९ ॥

भगवान् राम सर्वदा साक्षात् प्रकृति से परे हैं, वे प्राणियों के बाहर भीतर सर्वत्र समान भाव से स्थित हैं और नित्य निर्मल होते हुए भी नाम रूप आदि भेद से विभिन्न से भासते हैं। जिस प्रकार अज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में एक ही महाग्नि नाना प्रकार के वृक्षों में उन के आकारभेद से भिन्न भिन्न प्रतीत होता है, अथवा जैसे शुद्ध स्फटिकमणि नील पीतादि रङ्गों की सन्निधिमात्र से ही नील पीत आदि वर्णोंवाली प्रतीत होती है, वैसे ही पञ्चकोश आदि के भेद से आत्मा तद्रूप सा भासता है ॥३६-३९॥

स एव नित्यमुक्तोऽपि स्वमायागुणबिम्बितः ।
कालः प्रधानं पुरुषोऽव्यक्तं चेति चतुर्विधः ॥४०॥
प्रधानपुरुषाभ्यां स जगत्कृत्स्नं सृजत्यजः ।
कालरूपेण कलनां जगतः कुरुतेऽव्ययः ॥४१॥

श्रीभगवान् ही नित्यमुक्त होकर भी अपनी माया के गुणों में प्रतिबिम्बित होकर काल, प्रधान, पुरुष और अव्यक्त इन चार प्रकार के नामों से कहे जाते हैं। वे अजन्मा होकर भी प्रधान और पुरुषरूप से सम्पूर्ण जगत की रचना करते हैं और अविनाशी होकर भी कालरूप से जगत् का संहार करते हैं ॥ ४०-४१ ॥

कालरूपी स भगवान् रामरूपेण मायया ॥४२॥

ब्रह्मणा प्रार्थितो देवस्त्वद्वधार्थमिहागतः ।
तदन्यथा कथं कुर्यात्सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ॥४३॥
हनिष्यति त्वां रामस्तु सपुत्रबलवाहनम् ।
हन्यमानं न शक्नोमि द्रष्टुं रामेण रावण ॥४४॥
त्वां राक्षसकुलं कृत्स्नं ततो गच्छामि राघवम् ।
मयि याते सुखीभूत्वा रमस्व भवने चिरम् ॥४५॥

वे ही कालरूपी भगवान् ब्रह्मा की प्रार्थना से आप का वध करने के लिए माया से रामरूप होकर यहाँ आये हैं। ईश्वर सत्यसंकल्प हैं, इस लिए वे अपनी प्रतिज्ञा को अन्यथा कैसे कर सकते हैं? अतः राम अवश्य ही आप को पुत्र, सेना और वाहनादि के सहित मारेंगे। हे रावण, मैं राम द्वारा सम्पूर्ण राक्षसवंश और आप का संहार होता नहीं देख सकता, अतः मैं रघुनाथजी के पास जाता हूँ। मेरे चले जाने पर आप आनन्दपूर्वक अपने महल में बहुत समय तक भोग भोगना ॥ ४२-४५ ॥

विभीषणो रावणवाक्यतः क्षणाद्विसृज्य सर्वं सपरिच्छदं गृहम् ।
जगाम रामस्य पदारविन्दयोः सेवाभिकाङ्क्षी परिपूर्णमानसः ॥४६॥

इस प्रकार विभीषण रावण के कठोर भाषण से एक क्षण में ही समस्त सामग्री के सहित अपने घर को छोड़कर एवं मन में अत्यन्त भक्तिभाव धारण करके भगवान् राम के चरणकमलों की सेवा को कामना से उन के पास चले गये ॥ ४६ ॥

इस प्रकार यह श्री ब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के द्वितीय सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

ॐ

तृतीय सर्ग

विभीषणशरणागति, समुद्रदमन तथा सेतुबन्धन ।

श्रीमहादेव उवाच—

विभीषणो महाभागश्चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सह ।
आगत्य गगने रामसम्मुखे समवस्थितः ॥ १ ॥
उच्चैरुवाच भोः स्वामिन राम राजीवलोचन ।
रावणस्यानुजोऽहं ते दारहर्तुर्विभीषणः ॥ २ ॥
नाम्ना भ्रात्रा निरस्तोऽहं त्वामेव शरणं गतः ।

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति, तदनन्तर महाभाग विभीषण अपने चार मन्त्रियों के साथ आकर आकाश में श्री रघुनाथजी के सामने उपस्थित हुए और ऊँचे स्वर से कहने लगे— हे कमलनयन प्रभो राम, मैं आप की भार्या का हरण करनेवाले रावण का छोटा भाई हूँ। मेरा नाम विभीषण है। मुझे भाई ने निकाल दिया है, इस लिए मैं आप की शरण में आया हूँ॥ १-२॥

हितमुक्तं मया देव तस्य चाविदितात्मनः ॥ ३ ॥
सीतां रामाय वैदेहीं प्रेषयेति पुनः पुनः ।
उक्तोऽपि न शृणोत्येव कालपाशवशं गतः ॥ ४ ॥
हन्तुं मां खड्गमादाय प्राद्रवद्राक्षसाधमः ।
ततोऽचिरेण सचिवैश्चतुर्भिः सहितो भयात् ॥ ५ ॥
त्वामेव भवमोक्षाय मुमुक्षुः शरणं गतः ।

हे देव, मैंने उस अज्ञानी के हित की कामना से उस से बार बार कहा है कि तुम विदेहनन्दिनी सीता को राम के पास भेज दो। तथापि काल के वशीभूत होने के कारण वह कुछ सुनता ही नहीं है। इस समय वह राक्षसाधम मुझे तलवार से मारने के लिए दौड़ा, तब मैं भय से तुरन्त ही अपने चार मन्त्रियों के सहित संसारपाश से मुक्त होने के लिए मुमुक्षु होकर आप की ही शरण में चला आया हूँ॥ ३-५॥

विभीषणवचः श्रुत्वा सुग्रीवो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥
विश्वासार्हो न ते राम मायावी राक्षसाधमः।
सीताहर्तुर्विशेषेण रावणस्यानुजो बली ॥ ७ ॥
मन्त्रिभिः सायुधैरस्मान् विवरे निहनिष्यति।
तदाज्ञापय मे देव वानरैर्हन्यतामयम् ॥ ८ ॥
ममैवं भाति ते राम बुद्ध्या किं निश्चितं वद।

विभीषण के ये वचन सुनकर सुग्रीव ने कहा—हे राम, इस मायावी राक्षसाधम का कुछ विश्वास न करना चाहिये। यदि कोई और होता तब कुछ विशेष चिन्ता की बात भी नहीं थी, किंतु यह तो सीता का हरण करनेवाले रावण का ही छोटा भाई है और वैसे भी बहुत बलवान् दिखायी देता है। यह अपने सशस्त्र मन्त्रियों के साथ किसी समय मौका पाकर हमें मार डालेगा। अतः हे प्रभो, मुझे आज्ञा दीजिये, मैं इसे वानरों से मरवा डालूँ। हे राम, मुझे तो ऐसा ही जँचता है, आप का इस विषय में क्या निश्चय है, सो कहिये॥ ६-८॥

श्रुत्वा सुग्रीववचनं रामः सस्मितमब्रवीत् ॥ ९ ॥
यदीच्छामि कपिश्रेष्ठ लोकान्सर्वान्सहेश्वरान्।
निमिषार्धेन संहन्यां सृजामि निमिषार्धतः ॥ १० ॥

अतो मयाभयं दत्तं शीघ्रमानय राक्षसम् ॥ ११ ॥

सुग्रीव के वचन सुनकर श्री रामचन्द्रजी ने मुसकाकर कहा—हे कपिश्रेष्ठ, यदि मेरी इच्छा हो तो मैं आधे निमेष में ही लोकपालों के सहित सम्पूर्ण लोकों को नष्ट कर सकता हूँ और आधे निमेष में ही सब को रच सकता हूँ। अतः तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो, मैं इस राक्षस को अभयदान देता हूँ, तुम इसे शीघ्र ही ले आओ ॥ ९-११ ॥

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥ १२ ॥
रामस्य वचनं श्रुत्वा सुग्रीवो हृष्टमानसः ।
विभीषणमथानाय्य दर्शयामास राघवम् ॥ १३ ॥

मेरा यह नियम है कि जो एक बार भी मेरी शरण में आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझ से अभय माँगता है, उसे मैं समस्त प्राणियों से निर्भय कर देता हूँ। श्री राम के ये वचन सुनकर सुग्रीव ने अति प्रसन्नचित्त से विभीषण को लाकर रघुनाथजी से मिलाया ॥ १२-१३ ॥

विभीषणस्तु साष्टाङ्गं प्रणिपत्य रघूत्तमम् ।
हर्षगद्गदया वाचा भक्त्या च परयान्वितः ॥ १४ ॥
रामं श्यामं विशालाक्षं प्रसन्नमुखपङ्कजम् ।
धनुर्बाणधरं शान्तं लक्ष्मणेन समन्वितम् ॥ १५ ॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा स्तोतुं समुपचक्रमे ॥ १६ ॥

विभीषण ने रघुनाथजी को साष्टांग प्रणाम किया और हर्ष से गद्‌गदकण्ठ हो परम भक्तिपूर्वक हाथ जोड़कर शान्तमूर्ति, प्रसन्नवदनारविन्द, विशालनयन, श्यामसुन्दर, धनुर्बाणधारी भगवान् राम को, लक्ष्मणजी के सहित स्तुति करना आरम्भ किया ॥ १४-१६ ॥

विभीषण उवाच

नमस्ते राम राजेन्द्र नमः सीतामनोरम ।
नमस्ते चण्डकोदण्ड नमस्ते भक्तवत्सल ॥ १७ ॥
नमोऽनन्ताय शान्ताय रामायामिततेजसे ।

सुग्रीवमित्राय च ते रघूणां पतये नमः ॥ १८ ॥
जगदुत्पत्तिनाशानां कारणाय महात्मने ।
त्रैलोक्यगुरवेऽनादिगृहस्थाय नमो नमः ॥ १९ ॥

विभीषण बोले—हे राजराजेश्वर राम, आप को नमस्कार है। हे सीता के मन में रमण करनेवाले, आप को नमस्कार है। हे प्रचण्डधनुर्धर, आप को नमस्कार है। हे भक्तवत्सल, आप को बारम्बार नमस्कार है। हे अनन्त, शान्त, अतुलतेजोमय, सुग्रीवसखा रघुकुलनायक भगवान् राम, आप को नमस्कार है। जो संसार की उत्पत्ति और नाश के कारण हैं, त्रिलोकी के गुरु और प्रकृतिरूपी पत्नी के साथ अनादि काल से संबन्ध होने के कारण जो अनादि गृहस्थ हैं, उन महात्मा राम को बारम्बार नमस्कार है ॥ १७-१९ ॥

त्वमादिर्जगतां राम त्वमेव स्थितिकारणम् ।
त्वमन्ते निधनस्थानं स्वेच्छाचारस्त्वमेव हि ॥२०॥
चराचराणां भूतानां बहिरन्तश्च राघव ।
व्याप्यव्यापकरूपेण भवान् भाति जगन्मयः ॥२१
त्वन्मायया हृतज्ञाना नष्टात्मानो विचेतसः ।
गतागतं प्रपद्यन्ते पापपुण्यवशात्सदा ॥ २२ ॥

हे राम, आप संसार की उत्पत्ति और स्थिति के कारण हैं तथा अन्त में आप ही उस के लयस्थान हैं; आप अपने इच्छानुसार विहार करनेवाले हैं। हे राघव, चराचर भूतों के भीतर और बाहर व्याप्यव्यापक रूप से आप विश्वरूप ही भास रहे हैं। आप की माया ने जिन का सदसद्विवेक हर लिया है, वे नष्टबुद्धि मूढ पुरुष अपने पापपुण्य के वशीभूत होकर संसार में बारम्बार आते जाते रहते हैं ॥ २०-२२ ॥

तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा ।
यावन्न जायते ज्ञानं चेतसानन्यगामिना ॥ २३ ॥
त्वदज्ञानात्सदा युक्ताः पुत्रदारगृहादिषु ।
रमन्ते विषयान्सर्वानन्ते दुःखप्रदान्विभो ॥ २४ ॥

हे राम, जब तक मनुष्य एकाग्र चित्त से आप के ज्ञानस्वरूप को नहीं जानता, तभी तक उसे सीपी में चाँदी के समान यह संसार सत्य प्रतीत होता है। हे विभो, आप को न जानने से ही लोग पुत्र, स्त्री और गृह आदि में आसक्त होकर अन्त में दुःख देनेवाले विषयों में सुख मानते हैं ॥ २३-२४ ॥

त्वमिन्द्रोऽग्निर्यमो रक्षो वरुणश्च तथानिलः ।
कुबेरश्च तथा रुद्रस्त्वमेव पुरुषोत्तम ॥ २५ ॥
त्वमणोरप्यणीयांश्च स्थूलात् स्थूलतरः प्रभो ।
त्वं पिता सर्वलोकानां माता धाता त्वमेव हि ॥२६॥
आदिमध्यान्तरहितः परिपूर्णोऽच्युतोऽव्ययः ।
त्वं पाणिपादरहितश्चक्षुःश्रोत्रविवर्जितः ॥ २७ ॥
श्रोता द्रष्टा ग्रहीता च जवनस्त्वं खरान्तक ।

हे पुरुषोत्तम, आप ही इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण और वायु हैं तथा आप ही कुबेर और रुद्र हैं। हे प्रभो, आप अणु से अणु और महान् से महान् हैं तथा आप ही समस्त लोकों के पिता, माता और धारण पोषण करनेवाले हैं। आप आदि, मध्य और अन्त से रहित सर्वत्र परिपूर्ण अच्युत और अविनाशी हैं। आप हाथ पाँव से रहित तथा नेत्र और कर्णहीन हैं तथापि हे खरान्तक, आप सब कुछ देखनेवाले, सब कुछ सुननेवाले, सब कुछ ग्रहण करनेवाले और बड़े वेगवान् हैं ॥ २५-२७ ॥

कोशेभ्यो व्यतिरिक्तस्त्वं निर्गुणो निरुपाश्रयः ॥ २८ ॥
निर्विकल्पो निर्विकारो निराकारो निरीश्वरः ।
षड्भावरहितोऽनादिः पुरुषः प्रकृतेः परः ॥ २९ ॥
मायया गृह्यमाणस्त्वं मनुष्य इव भाव्यसे ।
ज्ञात्वा त्वां निर्गुणमजं वैष्णवा मोक्षगामिनः ॥ ३० ॥

हे प्रभो, आप अन्नमय आदि पाँचों कोशों से रहित तथा निर्गुण और निराश्रय हैं, आप निर्विकल्प, निर्विकार और निराकार हैं, आप का कोई प्रेरक नहीं है, आप उत्पत्ति, वृद्धि, परिणाम, क्षय, जीर्णता और नाश, इन छः भावविकारों से रहित हैं तथा प्रकृति से अतीत अनादि पुरुष हैं। माया के कारण ही आप साधारण मनुष्य के समान प्रतीत होते हैं। वैष्णवजन आपको निर्गुण और अजन्मा जानकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ २८-३० ॥

अहं त्वत्पादसद्भक्तिनिःश्रेणीं प्राप्य राघव ।
इच्छामि ज्ञानयोगाख्यं सौधमारोढुमीश्वर ॥ ३१ ॥
नमः सीतापते राम नमः कारुणिकोत्तम ।
रावणारे नमस्तुभ्यं त्राहि मां भवसागरात् ॥३२॥

हे राघव, हे प्रभो, मैं आप के चरणकमल की विशुद्ध भक्तिरूप सीढ़ी पाकर ज्ञानयोग नामक राजभवन के शिखर पर चढ़ना चाहता हूँ। हे कारुणिक श्रेष्ठ सीतापते राम, आप को नमस्कार है, हे रावणारे, आपको बारम्बार नमस्कार है, आप इस संसारसागर से मेरी रक्षा कीजिये ॥ ३१-३२ ॥

ततः प्रसन्नः प्रोवाच श्रीरामो भक्तवत्सलः ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते वाञ्छितं वरदोऽस्म्यहम् ॥३३॥

विभीषण उवाच—

धन्योऽस्मि कृतकृत्योऽस्मि कृतकार्योऽस्मि राघव ।
त्वत्पाददर्शनादेव विमुक्तोऽस्मि न संशयः ॥३४॥
नास्ति मत्सदृशो धन्यो नास्ति मत्सदृशः शुचिः ।
नास्ति मत्सदृशो लोके राम त्वन्मूर्तिदर्शनात् ॥३५॥

तब भक्तवत्सल भगवान् राम ने प्रसन्न होकर कहा—विभीषण, तुम्हारा कल्याण हो,मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ, अतः तुम्हारी जो इच्छा हो वही वर माँग लो।

विभीषण बोला—हे रघुनन्दन, मैं तो आप के चरणों का दर्शन पाकर ही धन्य और कृतकृत्य हो गया, मुझे जो कुछ पाना था वह मिल गया। अब तो मैं निःसन्देह मुक्त हो गया हूँ। हे राम, आप की मनोहर मूर्ति का दर्शन करने से आज मेरे समान कोई धन्य और पवित्र नहीं है, अब इस संसार में किसी भी प्रकार मेरी समता करनेवाला कोई नहीं है ॥ ३३-३५ ॥

कर्मबन्धविनाशाय त्वज्ज्ञानं भक्तिलक्षणम् ।
त्वद्ध्यानं परमार्थं च देहि मे रघुनन्दन ॥३६॥
न याचे राम राजेन्द्र सुखं विषयसम्भवम् ।
त्वत्पादकमले सक्ता भक्तिरेव सदास्तु मे ॥३७॥

हे रघुनन्दन, कर्मबन्धन को नष्ट करने के लिए आप मुझे अपनी भक्ति से प्राप्त होनेवाला ध्यान दीजिये। हे राजराजेश्वर राम, मुझे विषयजन्य सुख की इच्छा नहीं है, मैं तो यही चाहता हूँ कि आप के चरणकमलों में सर्वदा मेरी आसक्तिरूपा भक्ति बनी रहे ॥ ३६-३७ ॥

ओमित्युक्त्वा पुनः प्रीतो रामः प्रोवाच राक्षसम् ।
शृणु वक्ष्यामि ते भद्र रहस्यं मम निश्चितम् ॥३८॥
मद्भक्तानां प्रशान्तानां योगिनां वीतरागिणाम् ।
हृदये सीतया नित्यं वसाम्यत्र न संशयः ॥३९॥
तस्मात्त्वं सर्वदा शान्तः सर्वकल्मषवर्जितः ।
मां ध्यात्वा मोक्ष्यसे नित्यं घोरसंसारसागरात् ॥४०॥
स्तोत्रमेतत्पठेद्यस्तु लिखेद्यः शृणुयादपि ।
मत्प्रीतये ममाभीष्टं सारूप्यं समवाप्नुयात् ॥४१॥

तब रघुनाथजी ने 'तथास्तु' कहकर विभीषण से प्रसन्न होकर कहा—भद्र, सुनो, मैं तुम्हें अपना निश्चित रहस्य सुनाता हूँ। जो मेरे शान्तस्वभाव, विरक्त और योगनिष्ठ भक्त हैं, उन के हृदय में मैं सीताजी के सहित सदा रहता हूँ, इस में सन्देह नहीं। अतः तुम सर्वदा शान्त और पापरहित रहकर मेरा ध्यान करने से घोर संसार-सागर से पार हो जाओगे। जो पुरुष मुझे प्रसन्न करने के लिए इस स्तोत्र को पढ़ता, लिखता अथवा सुनता है वह मेरा प्रिय सारूप्यपद प्राप्त करता है ॥३८-४१॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं प्राह श्रीरामो भक्तभक्तिमान् ।
पश्यत्विदानीमेवैष मम सन्दर्शने फलम् ॥४२॥
लङ्काराज्येऽभिषेक्ष्यामि जलमानय सागरात् ।
यावच्चन्द्रश्च सूर्यश्च यावत्तिष्ठति मेदिनी ॥४३॥
यावन्मम कथा लोके तावद्राज्यं करोत्वसौ ।

विभीषण से ऐसा कह भक्तवत्सल श्री राम ने लक्ष्मणजी से कहा—लक्ष्मण, यह अभी मेरे दर्शन का फल प्राप्त करेगा, तुम समुद्र से जल ले आओ; मैं इसे लंका के राज्य पर अभिषिक्त किये देता हूँ। जब तक चन्द्र, सूर्य और पृथिवी की स्थिति है तथा जब तक लोक में मेरी कथा रहेगी तब तक यह लंका का राज्य करेगा ॥ ४२-४३ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणेनाम्बु ह्यानाय्य कलशेन तम् ।४४।
लङ्काराज्याधिपत्यार्थमभिषेकं रमापतिः ।
कारयामास सचिवैर्लक्ष्मणेन विशेषतः ॥४५॥
साधुसाध्विति ते सर्वे वानरास्तुष्टुवुर्भृशम् ।
सुग्रीवोऽपि परिष्वज्य विभीषणमथाब्रवीत् ॥४६॥
विभीषण वयं सर्वे रामस्य परमात्मनः ।
किङ्करास्तत्र मुख्यस्त्वं भक्त्या रामपरिग्रहात् ।
रावणस्य विनाशे त्वं साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥४७॥

ऐसा कहकर श्री रमापति ने लक्ष्मणजी से कलश में जल मँगवाया और मन्त्रियों तथा विशेषतः लक्ष्मणजी से उसे लंका के राज्यपद पर अभिषिक्त कराया। उस समय समस्त वानर प्रसन्न होकर धन्य है, धन्य है, ऐसा कहने लगे; और सुग्रीव ने विभीषण को गले लगाकर कहा—विभीषण, हम सब परमात्मा राम के दास हैं, तथापि तुम हम सब में प्रधान हो, क्योंकि तुम ने केवल भक्ति से ही उन की शरण ली है। अब तुम्हें रावण का नाश कराने में हमारी सहायता करनी चाहिये ॥ ४५-४७ ॥

विभीषण उवाच—

अहं क्रियान्सहायत्वे रामस्य परमात्मनः ।
किं तु दास्यं करिष्येऽहं भक्त्या शक्त्या ह्यमायया ॥४८॥

विभीषण बोले—मैं परमात्मा राम की क्या सहायता कर सकता हूँ, तथापि मुझ से जैसी कुछ बनेगी निष्कपट होकर भक्तिभाव से उन की सेवा करता रहूँगा ॥ ४८ ॥

दशग्रीवेण सन्दिष्टः शुको नाम महासुरः ।
संस्थितो ह्यम्बरे वाक्यं सुग्रीवमिदमब्रवीत् ॥४९॥

त्वामाह रावणो राजा भ्रातरं राक्षसाधिपः ।
महाकुलप्रसूतस्त्वं राजासि वनचारिणाम् ॥५०॥

मम भ्रातृसमानस्त्वं तव नास्त्यर्थविप्लवः ।

इसी समय रावण का भेजा हुआ शुक नामक महादैत्य आकाश में स्थित होकर सुग्रीव से इस प्रकार बोला—सुग्रीव, राक्षसराज रावण तुम्हें अपने भाई के समान मानते हैं, उन्होंने तुम से कहा है कि तुम बड़े कुल में उत्पन्न हुए हो और वानरों के राजा हो। तुम मेरे भाई के समान हो और तुम्हारा कोई स्वार्थघात भी नहीं हुआ है ॥ ४९-५० ॥

अहं यद्यहरं भार्यां राजपुत्रस्य किं तव ॥५१॥

किष्किन्धां याहि हरिभिर्लङ्का शक्या न दैवतैः ।
प्राप्तुं किं मानवैरल्पसत्त्वैर्वानरयूथपैः ॥५२॥

तं प्रापयन्तं वचनं तूर्णमुत्प्लुत्य वानराः ।
प्रापद्यन्त तदा क्षिप्रं निहन्तुं दृढमुष्टिभिः ॥५३॥

यदि मैं ने किसी राजकुमार की स्त्री को हर लिया तो उस से तुम्हें क्या मतलब ? अतः तुम अपने वानरों के सहित किष्किन्धा को लौट जाओ। लङ्का को पाना तो देवताओं के लिए भी कठिन है, फिर अल्पशक्ति मनुष्य और वानरयूथपों की तो बात ही क्या है ? जिस समय शुक इस प्रकार सन्देश सुना रहा था, वानरों ने अपने सुदृढ़ घूँसों से मारने के लिए उसे तुरन्त ही उछलकर पकड़ लिया ॥ ५१-५३ ॥

वानरैर्हन्यमानस्तु शुको राममथाब्रवीत् ।
न दूतान् घ्नन्ति राजेन्द्र वानरान्वारय प्रभो ॥५४॥
रामः श्रुत्वा तदा वाक्यं शुकस्य परिदेवितम् ।
मा वधिष्टेति रामस्तान्वारयामास वानरान् ॥५५॥
पुनरम्बरमासाद्य शुकः सुग्रीवमब्रवीत् ।
ब्रूहि राजन्दशग्रीवं किं वक्ष्यामि व्रजाम्यहम् ॥५६॥

वानरों के मारने पर शुक ने श्री रामचन्द्रजी से कहा—हे राजेन्द्र, विज्ञजन दूत को मारा नहीं करते, अतः हे प्रभो, इन वानरों को रोकिये। शुक का यह करुणायुक्त वचन सुनकर राम ने 'इसे मत मारो' ऐसा कहकर वानरों को रोक दिया। तब शुक ने फिर आकाश में चढ़कर सुग्रीव से कहा—हे राजन्, मैं जाता हूँ, कहिये; रावण को आप की ओर से क्या उत्तर दूँ ॥ ५४-५६ ॥

सुग्रीव उवाच—

यथा वाली मम भ्राता तथा त्वं राक्षसाधम ।
हन्तव्यस्त्वं मया यत्नात्सपुत्रबलवाहनः ॥५७॥
ब्रूहि मे रामचन्द्रस्य भार्यां हृत्वा क्व यास्यसि ।
ततो रामाज्ञया धृत्वा शुकं बध्वान्वरक्षयत् ॥५८॥

सुग्रीव ने कहा—शुक, रावण से कहना कि जिस प्रकार मैं ने अपने भाई बाली को मारा था, हे राक्षसाधम, उसी प्रकार तू भी अपने पुत्र, सेना और वाहनादि के सहित मेरे हाथ से मारा जायगा। तू हमारे रामचन्द्रजी की भार्या का हरण करके अब कहाँ जा सकता है? तदनन्तर भगवान् राम की आज्ञा से सुग्रीव ने शुक को पकड़वाकर रक्षा बन्धन में डालकर वानरों की रक्षा में छोड़ दिया॥ ५७-५८॥

शार्दूलोऽपि ततः पूर्वं दृष्ट्वा कपिबलं महत्।
यथावत्कथयामास रावणाय स राक्षसः॥५९॥
दीर्घचिन्तापरो भूत्वा निःश्वसन्नास मन्दिरे।

शुक से पहले ही शार्दूल नामक राक्षस ने वानरों की महान् सेना देखकर रावण से उस का यथावत् वर्णन कर दिया था। यह सब सुनकर रावण को बड़ी चिन्ता हुई और वह दीर्घ निःश्वास छोड़ता हुआ अपने महल में जा बैठा॥ ५९॥

ततः समुद्रमावेक्ष्य रामो रक्तान्तलोचनः॥६०॥
पश्य लक्ष्मण दुष्टोऽसौ वारिधिर्मामुपागतम्।
नाभिनन्दति दुष्टात्मा दर्शनार्थं ममानघ॥६१॥
जानाति मानुषोऽयं मे किं करिष्यति वानरैः।

इसी समय भगवान् राम ने समुद्र की ओर देखकर क्रोध से नेत्र लाल करके कहा—लक्ष्मण, देखो यह समुद्र कैसा दुष्ट है? मैं इस के तीर पर आया हूँ किंतु हे अनघ, इस दुरात्मा ने न तो मेरा दर्शन ही किया और न मेरा अभिनन्दन किया। यह समझता है कि यह राम एक मनुष्य ही तो है, वानरों द्वारा यह मेरा क्या बिगाड़ सकता है?॥ ६०-६१॥

अद्य पश्य महाबाहो शोषयिष्यामि वारिधिम्॥६२॥

નદીપતિ સમુદ્ર પર રામ કા રોષ.

नदीपति समुद्र पर राम का रोष।

पादेनैव गमिष्यन्ति वानरा विगतज्वराः ।
इत्युक्त्वा क्रोधताम्राक्ष आरोपितधनुर्धरः ॥६३॥
तूणीराद्बाणमादाय कालाग्निसदृशप्रभम् ।
सन्धाय चापमाकृष्य रामो वाक्यमथाब्रवीत् ॥६४॥

हे महाबाहो, देखो, आज मैं इसे सुखाये डालता हूँ। फिर वानरगण निश्चिन्त होकर पैदल ही इस के पार चले जायँगे। ऐसा कह भगवान् राम ने क्रोध से नेत्र लाल कर अपना धनुष चढ़ाया और तूणीर से एक कालाग्नि के समान तेजोमय बाण निकालकर उसे धनुष पर रखकर खींचते हुए कहा ॥ ६२-६४ ॥

पश्यन्तु सर्वभूतानि रामस्य शरविक्रमम् ।
इदानीं भस्मसात्कुर्यां समुद्रं सरितां पतिम् ॥६५॥
एवं ब्रुवति रामे तु सशैलवनकानना ।
चचाल वसुधा द्यौश्च दिशश्च तमसावृताः ॥६६ ॥
चुक्षुभे सागरो वेलां भयाद्योजनमत्यगात् ।
तिमिनक्रझषा मीनाः प्रतप्ताः परितत्रसुः ॥६७॥

समस्त प्राणी राम के बाण का पराक्रम देखें; मैं इसी समय नदीपति समुद्र को भस्म किये डालता हूँ। भगवान् राम के ऐसा कहते ही वन और पर्वतादि के सहित सम्पूर्ण पृथवी हिलने लगी तथा आकाश और दिशाओं में अन्धकार छा गया। समुद्र क्षुभित हो गया और भय के कारण अपने तट से एक योजन आगे बढ़ आया, तथा बड़े बड़े मत्स्य, नाके, मकर और मछलियाँ सन्तप्त होकर भयभीत हो गये ॥ ६५-६७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे साक्षात्सागरो दिव्यरूपधृक् ।
दिव्याभरणसम्पन्नः स्वभासा भासयन् दिशः ॥६८॥
स्वान्तःस्थदिव्यरत्नानि कराभ्यां परिगृह्य सः ।
पादयोः पुरतः क्षिप्त्वा रामस्योपायनं बहु ॥६९॥
दण्डवत्प्रणिपत्याह रामं रक्तान्तलोचनम् ।
त्राहि त्राहि जगन्नाथ राम त्रैलोक्यरक्षक ॥७०॥

जडोऽहं राम ते सृष्टः सृजता निखिलं जगत् ।
स्वभावमन्यथा कर्तुं कः शक्तो देवनिर्मितम् ॥७१॥

इसी समय नाना प्रकार के दिव्य आभूषण धारण किये दिव्यरूपधारी समुद्र,

हाथों में अपने ही भीतर से उत्पन्न दिव्य रत्न लिये, अपने प्रकाश से दशों दिशाओं को प्रकाशित करता, स्वयं उपस्थित हुआ और भगवान् रामचन्द्रजी के चरणों के आगे नाना प्रकार के उपहार रख, जिन के नेत्रों के मध्यभाग क्रोध से लाल हो रहे हैं उन रघुनाथजी को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर बोला—हे त्रैलोक्य-रक्षक जगत्पति राम, मेरी रक्षा करो, रक्षा करो। हे राम, सम्पूर्ण संसार की रचना करते समय आप ने मुझे जड ही बनाया था, फिर आप के बनाये हुए स्वभाव को कोई कैसे बदल सकता है ?॥६८-७१॥

स्थूलानि पञ्चभूतानि जडान्येव स्वभावतः ।
सृष्टानि भवतैतानि त्वदाज्ञां लङ्घयन्ति न ॥ ७२ ॥

तामसादहमो राम भूतानि प्रभवन्ति हि ।
कारणानुगमात्तेषां जडत्वं तामसं स्वतः ॥ ७३ ॥

निर्गुणस्त्वं निराकारो यदा मायागुणान्प्रभो ।
लीलयाङ्गीकरोषि त्वं तदा वैराजनामवान् ॥ ७४ ॥

पाँचों स्थूल भूतों को आप नें स्वभाव से जड ही बनाया है, वे आप की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं कर सकते। हे राम, पञ्चभूत तामस अहंकार से उत्पन्न होते हैं, अत: अपने कारण का अनुगमन करने से उन में तमोरूप जडत्व तो स्वत:सिद्ध है। हे प्रभो, आप निर्गुण और निराकार हैं। जिस समय आप लीला से ही मायिक गुणों को अङ्गीकार करते हैं उस समय आप का नाम विराट पुरुष पड़ जाता है ॥ ७२-७४ ॥

गुणात्मनो विराजश्च सत्त्वाद्देवा बभूविरे ।
रजोगुणात्प्रजेशाद्या मन्योर्भूतपतिस्तव ॥ ७५ ॥
त्वामहं मायया छन्नं लीलया मानुषाकृतिम् ॥ ७६ ॥
जडबुद्धिर्जडो मूर्खः कथं जानामि निर्गुणम् ।

उस गुणमय विराट् के सात्त्विकांश से देवगण, राजसांश से प्रजापतिगण और तामसांश से रुद्रगण उत्पन्न होते हैं। हे नाथ, लीलावश माया से आच्छन्न होकर मनुष्यरूप हुए आप निर्गुण परमात्मा को मैं जडबुद्धि मूर्ख कैसे जान सकता हूँ ॥ ७५-७६ ॥

दण्ड एव हि मूर्खाणां सन्मार्गप्रापकः प्रभो ॥ ७७ ॥
भूतानाममरश्रेष्ठ पशूनां लगुडो यथा ।
शरणं ते व्रजामीश शरण्यं भक्तवत्सल ।
अभयं देहि मे राम लङ्कामार्गं ददामि ते ॥ ७८ ॥

हे अमरश्रेष्ठ प्रभो, पशुओं को जैसे लाठी ठीक ठीक मार्ग में ले जाती है, उसी प्रकार मुझ जैसे मूर्ख जीवों के लिए तो दण्ड ही सन्मा[र्ग] पर लानेवाला होता है। हे भक्तवत्सल भगवान् राम, आप शरणागत रक्षक की मैं शरण हूँ। आप मुझे अभयदान दीजिये। मैं आप को लङ्का में जाने का मार्ग दूँगा ॥ ७७-७८ ॥

श्रीराम उवाच—

अमोघोऽयं महाबाणः कस्मिन्देशे निपात्यताम् ।
लक्ष्यं दर्शय मे शीघ्रं बाणस्यामोघपातिनः ॥७९॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा करे दृष्ट्वा महाशरम् ।
महोदधिर्महातेजा राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥८०॥

रामोत्तरप्रदेशे तु द्रुमकुल्य इति श्रुतः ।
प्रदेशस्तत्र बहवः पापात्मानो दिवानिशम् ॥८१॥

बाधन्ते मां रघुश्रेष्ठ तत्र ते पात्यतां शरः ।
रामेण सृष्टो बाणस्तु क्षणादाभीरमण्डलम् ॥८२॥
हत्वा पुनः समागत्य तूणीरे पूर्ववत्स्थितः ।

श्री रामचन्द्रजी बोले—मेरा यह महाबाण व्यर्थ जानेवाला नहीं है। अतः यह किस ओर चलाया जाय ? शीघ्र ही मुझे इस अमोघ बाण का लक्ष्य बताओ। श्री राम का यह वचन सुनकर और उन के हाथ में वह बाण देखकर महा तेजस्वी समुद्र ने रघुनाथजी से कहा—हे राम, उत्तर की ओर एक 'द्रुमकुल्य' नामक देश है। वहाँ बहुत से पापी रहते हैं। वे मुझे रात दिन पीड़ा पहुँचाते हैं। हे रघुश्रेष्ठ, आप अपना यह बाण वहीं गिराइये। तदनन्तर राम का छोड़ा हुआ वह बाण एक क्षण में ही समस्त आभीरमण्डल को मारकर फिर पूर्ववत् तरकश में लौट आया ॥७९-८२॥

ततोऽब्रवीद्रघुश्रेष्ठं सागरो विनयान्वितः ॥८३॥
नलः सेतुं करोत्वस्मिन् जले मे विश्वकर्मणः ।
सुतो धीमान् समर्थोऽस्मिन्कार्ये लब्धवरो हरिः ॥८४॥
कीर्तिं जानन्तु ते लोकाः सर्वलोकमलापहाम् ।

तब समुद्र ने रघुनाथजी से अति विनीत भाव से कहा—हे राम, विश्वकर्मा का पुत्र नल मेरे जल पर पुल निर्माण करे। वह चतुर वानर वर के प्रभाव से इस कार्य को करने में समर्थ है। इस से सब लोग आप की संसारमलापहारिणी कीर्ति जान जायँगे ॥ ८३-८४ ॥

इत्युक्त्वा राघवं नत्वा ययौ सिन्धुरदृश्यताम् ॥८५॥

ततो रामस्तु सुग्रीवलक्ष्मणाभ्यां समन्वितः ।
नलमाज्ञापयच्छीघ्रं वानरैः सेतुबन्धने ॥८६॥

रघुनाथजी से इस प्रकार कहकर समुद्र उन्हें प्रणाम कर के अन्तर्धान हो गया। तदनन्तर सुग्रीव और लक्ष्मण के सहित श्रीरामचन्द्रजी ने नल को वानरों की सहायता से तुरन्त पुल बाँधने की आज्ञा दी ॥ ८५-८६ ॥

ततोऽतिहृष्टः प्लवगेन्द्रयूथपै र्महानगेन्द्रप्रतिमैर्युतो नलः ।
बबन्ध सेतुं शतयोजनायतं सुविस्तृतं पर्वतपादपैर्दृढम् ॥८७॥

तब नल ने महापर्वत के समान अन्य वानरयूथपतियों के साथ, अति प्रसन्नतापूर्वक पर्वत और वृक्षादिकों से एक सौ योजन लम्बा, अति विस्तीर्ण और सुदृढ पुल बनाया ॥ ८७ ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के तृतीय सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

ॐ
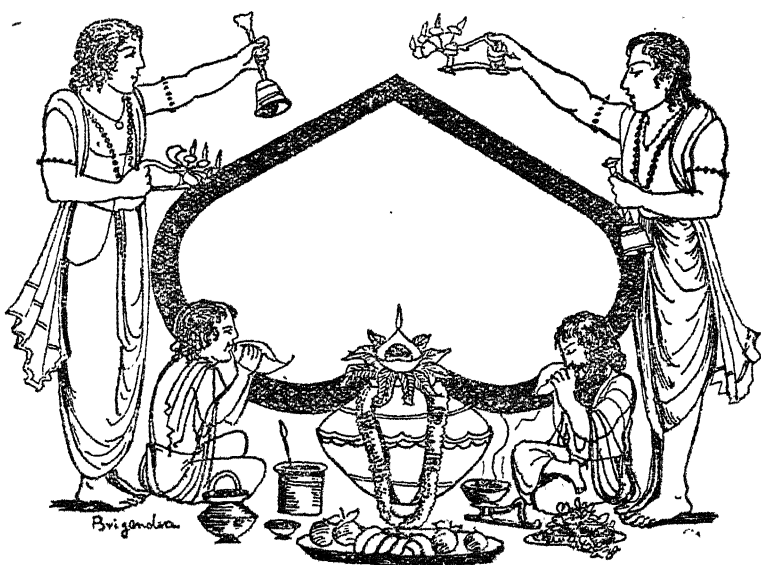
चतुर्थ सर्ग

रामदल का सागरपार होना तथा राक्षस शुक का दौत्यकर्म।

श्रीमहादेव उवाच—

सेतुमारभमाणस्तु तत्र रामेश्वरं शिवम्।
संस्थाप्य पूजयित्वाह रामो लोकहिताय च॥ १॥
प्रणमेत्सेतुबन्धं यो दृष्ट्वा रामेश्वरं शिवम्।
ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मुच्यते मदनुग्रहात्॥ २॥
सेतुबन्धे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा रामेश्वरं हरम्।
सङ्कल्पनियतो भूत्वा गत्वा वाराणसीं नरः॥ ३॥
आनीय गङ्गासलिलं रामेशमभिषिच्य च।
समुद्रे क्षिप्ततद्भारो ब्रह्म प्राप्नोत्यसंशयम्॥ ४॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, सेतुबन्धन आरम्भ होने पर भगवान् राम ने रामेश्वर महादेवजी की स्थापना कर उन का पूजन करते हुए लोकहित के लिए इस प्रकार कहा—जो पुरुष इन रामेश्वर शिव का दर्शन कर सेतुबन्ध को प्रणाम करेगा, वह मेरी कृपा से ब्रह्महत्या आदि पापों से मुक्त हो जायगा। यदि कोई पुरुष सेतुबन्ध में स्नान कर रामेश्वर महादेव के दर्शन कर और फिर संकल्पपूर्वक काशी जाकर वहाँ से गंगाजल लायेगा तथा उस से रामेश्वर का अभिषेक कर उस जल के पात्र को समुद्र में डाल देगा तो वह निःसन्देह ब्रह्म को प्राप्त करेगा॥१-४॥

कृतानि प्रथमेनाह्ना योजनानि चतुर्दश ।
द्वितीयेन तथा चाह्ना योजनानि तु विंशतिः ॥ ५ ॥
तृतीयेन तथा चाह्ना योजनान्येकविंशतिः ।
चतुर्थेन तथा चाह्ना द्वाविंशतिरिति श्रुतम् ॥ ६ ॥
पञ्चमेन त्रयोविंशद्योजनानि समन्ततः ।
बबन्ध सागरे सेतुं नलो वानरसत्तमः ॥ ७ ॥

सुना जाता है, वानरश्रेष्ठ नल ने पहले दिन चौदह योजन, दूसरे दिन बीस योजन, तीसरे दिन इक्कीस योजन, चौथे दिन बाईस योजन और पाँचवें दिन तेईस योजन तक समुद्र पर पुल बाँधा था ॥ ५-७ ॥

तेनैव जग्मुः कपयो योजनानां शतं द्रुतम् ।
असङ्ख्याताः सुवेलाद्रिं रुरुधुः प्लवगोत्तमाः ॥ ८ ॥
आरुह्य मारुतिं रामो लक्ष्मणोऽप्यङ्गदं तथा ।
दिदृक्षू राघवो लङ्कामारुरोहाचलं महत् ॥ ९ ॥

उसी पुल से वानरगण तुरन्त ही सौ योजन चौडे समुद्र के उस पार चले गये। फिर उस प्रदेश में असंख्य वानरवीरों ने सुवेल पर्वत को घेर लिया । फिर श्री राम की लंका देखने की इच्छा होने पर रामचन्द्रजो हनुमान् के और लक्ष्मणजी अङ्गद के ऊपर बैठकर उस महान् पर्वत पर चढ़ गये ॥८-९॥

दृष्ट्वा लङ्कां सुविस्तीर्णां नानाचित्रध्वजाकुलाम् ।
चित्रप्रासादसम्बाधां स्वर्णप्राकारतोरणाम् ॥१०॥
परिखाभिः शतघ्नीभिः सङ्क्रमैश्च विराजिताम् ।

रामजी ने देखा कि लङ्कापुरी अति विस्तीर्ण है, वह नाना प्रकार की ध्वजाओं, विचित्र प्रासादों तथा सुवर्णनिर्मित परकोटों और तोरणों से सुसज्जित है। वह सब ओर से खाइयों, शतघ्नियों और संक्रमों (मोरचेबन्दियों) से भी सुशोभित है ॥१०॥

प्रासादोपरि विस्तीर्णप्रदेशे दशकन्धरः ॥११॥
मन्त्रिभिः सहितो वीरैः किरीटदशकोज्ज्वलः ।
नीलाद्रिशिखराकारः कालमेघसमप्रभः ॥१२॥

रत्नदण्डैः सितच्छत्रैरनेकैः परिशोभितः ।
एतस्मिन्नन्तरे बद्धो मुक्तो रामेण वै शुकः ॥१३॥
वानरैस्ताडितः सम्यक् दशाननमुपागतः ।

लंका के एक राजभवन के ऊपर अति विस्तृत भाग में अपने घोर मन्त्रियों के सहित रावण खड़ा था, उस के शिरों पर दस मुकुट सुशोभित थे, वह नीलाचल के शिखर के समान आकारवाला एवं श्याम मेघ की सी आभावाला था। नाना प्रकार के रत्न-दण्डयुक्त श्वेत छत्रों से रावण की अपूर्व शोभा हो रही थी। इसी समय भगवान् राम द्वारा बाँधकर छोड़ा हुआ शुक-नामक दैत्य वानरों से भली प्रकार मार खाकर रावण के पास पहुँचा ॥११-१३॥

प्रहसन् रावणः प्राह पीडितः किं परैः शुक ॥१४॥
रावणस्य वचः श्रुत्वा शुको वचनमब्रवीत् ।
सागरस्योत्तरे तीरेऽब्रवं ते वचनं यथा ।
तत उत्प्लुत्य कपयो गृहीत्वा मां क्षणात्ततः ॥१५॥
मुष्टिभिर्नखदन्तैश्च हन्तुं लोप्तुं प्रचक्रमुः ।

उसे देखकर रावण ने हँसते हुए पूछा—शुक, क्या शत्रुओं ने तुम्हें कुछ कष्ट पहुँचाया है ? रावण के वचन सुनकर शुक ने कहा—समुद्र के उत्तरतट पर जाकर ज्यों ही मैं आप का सन्देश सुनाने लगा, त्यों ही कुछ वानरों ने उछलकर मुझे तत्क्षण पकड़ लिया और मुझे घूँसों, नखों एवं दाँतों से मारने तथा नष्ट करने का आयोजन करने लगे ॥ १४-१५ ॥

ततो मां राम रक्षेति क्रोशन्तं रघुपुङ्गवः ॥१६॥
विसृज्यतामिति प्राह विसृष्टोऽहं कपीश्वरैः ।
ततोऽहमागतो भीत्या दृष्ट्वा तद्वानरं बलम् ॥१७॥

राक्षसानां बलौघस्य वानरेन्द्रबलस्य च ।
नैतयोर्विद्यते सन्धिर्देवदानवयोरिव ॥१८॥

उस समय 'हे राम ! मेरी रक्षा करो' इस प्रकार मुझे पुकारते सुनकर रघुश्रेष्ठ राम ने कहा—इसे छोड़ दो । इस से उन वानरों ने मुझे छोड़ दिया । तब मैं वानरों की सेना देखकर बड़ा डरता डरता यहाँ आया हूँ । मेरे विचार से देव और दानवों के समान राक्षसों के दल बल और वानरों की सेना में किसी प्रकार मेल नहीं हो सकता ॥ १६-१८ ॥

पुरप्राकारमायान्ति क्षिप्रमेकतरं कुरु ।
सीतां वास्मै प्रयच्छाशु युद्धं वा दीयतां प्रभो ॥१९॥
मामाह रामस्त्वं ब्रूहि रावणं मद्वचः शुक ।
यद्बलं च समाश्रित्य सीतां मे हृतवानसि ॥२०॥
तद्दर्शय यथाकामं ससैन्यः सहबान्धवः ।

हे प्रभो, वे शीघ्र ही नगर के परकोटे पर आनेवाले हैं, आप दोनों में से कोई एक काम कीजिए, या तो उन्हें सीता दे दीजिये; अथवा उन के साथ युद्ध कीजिए । राम ने मुझ से कहा है कि शुक, रावण से मेरी ओर से कहना कि जिस शक्ति के भरोसे तुम ने हमारी जानकी को हरा है, उसे भली प्रकार अपनी सेना और बन्धु बान्धवों के सहित मुझे दिखलाना ॥ १९-२० ॥

श्वःकाले नगरीं लङ्कां सप्राकारां सतोरणाम् ॥२१॥
राक्षसं च बलं पश्य शरैर्विध्वंसितं मया ।
घोररोषमहं मोक्ष्ये बलं धारय रावण ॥२२॥
इत्युक्त्वोपरराामाथ रामः कमललोचनः ।

तुम आज कल में ही प्राकार (दुर्गरचना) और तोरणादि के सहित लंकापुरी और राक्षसों की सेना को मेरे बाणों से विध्वस्त हुई देखोगे । रावण, उस समय मैं भयंकर क्रोध छोड़ूँगा, तुम अपने बल को स्थिर रखना । ऐसा संदेश कहकर कमलनयन भगवान् राम चुप हो गये थे ॥ २१-२२ ॥

एकस्थानगता यत्र चत्वारः पुरुषर्षभाः ॥ २३ ॥

श्रीरामो लक्ष्मणश्चैव सुग्रीवश्च विभीषणः ।
एत एव समर्थास्ते लङ्कां नाशयितुं प्रभो ॥ २४ ॥
उत्पाट्य भस्मीकरणे सर्वे तिष्ठन्तु वानराः ।
तस्य यादृग् बलं दृष्टं रूपं प्रहरणानि च ॥ २५ ॥
वधिष्यति पुरं सर्वमेकस्तिष्ठन्तु ते त्रयः ।

हे प्रभो, और सब वानर एक ओर रहें तो भी, एक साथ मिल जाने पर तो राम, लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषण से चार पुरुषश्रेष्ठ ही लङ्का को जड़ से उखाड़ कर उसे भस्म और नष्ट करने में पर्याप्त हैं। मैंने जैसे उन के बल, रूप और अस्त्र-शस्त्रादि देखे हैं, उस से तो यही मालूम होता है कि और तीनों अन्यत्र रहें, अकेले राम ही समस्त नगर को नष्ट कर सकते हैं ॥ २३-२५ ॥

पश्य वानरसेनां तामसङ्ख्यातां प्रपूरिताम् ॥२६॥
गर्जन्ति वानरास्तत्र पश्य पर्वतसन्निभाः ।
न शक्यास्ते गणयितुं प्राधान्येन ब्रवीमि ते ॥२७॥
एष योऽभिमुखो लङ्कां नर्दंस्तिष्ठति वानरः ।
यूथपानां सहस्राणां शतेन परिवारितः ॥२८॥
सुग्रीवसेनाधिपतिर्नीलो नामाग्निनन्दनः ।

अब सब ओर फैली हुई वानरों की उस असंख्य सेना को देखिये; ये पर्वत-सदृश वानरवीर कैसे गर्ज रहे हैं ? इन्हें गिना नहीं जा सकता, इस लिए मैं आप को इन में से प्रधान प्रधानों को ही बतलाता हूँ। यह वानर, जो लंका की ओर देखकर बारम्बार गर्ज रहा है और एक लाख यूथपतियों से घिरा हुआ है, वानर-राज सुग्रीव का सेनापति अग्निनन्दन नील है ॥ २६-२८ ॥

एष पर्वतशृङ्गाभः पद्मकिञ्जल्कसन्निभः ॥२९॥
स्फोटयत्यभिसंरब्धो लाङ्गूलं च पुनः पुनः ।
युवराजोऽङ्गदो नाम वालिपुत्रोऽतिवीर्यवान् ॥३०॥
येन दृष्टा जनकजा रामस्यातीववल्लभा ।
हनूमानेष विख्यातो हतो येन तवात्मजः ॥३१॥

यह जो कमलकेशर की सी आभा-वाला तथा पर्वतशिखर के समान विशाल-काय है एवं रोषपूर्वक बारम्बार अपनी पूँछ पटक रहा है, वह अति वीर्यवान् वालिपुत्र युवराज अङ्गद है। जिस ने राम की अत्यन्त प्रिया जनकनन्दिनी सीता को देखा और आप के पुत्र का वध किया, यह वही विख्यात वीर हनुमान है ॥ २९-३१ ॥

श्वेतो रजतसङ्काशो महाबुद्धिपराक्रमः ।
तूर्णं सुग्रीवमागम्य पुनर्गच्छति वानरः ॥३२॥
यस्त्वेष सिंहसङ्काशः पश्यत्यतुलविक्रमः ।
रम्भो नाम महासत्त्वो लङ्कां नाशयितुं क्षमः ॥३३॥
एष पश्यति वै लङ्कां दिधक्षन्निव वानरः ।

जिस की कान्ति चाँदी के समान शुक्ल वर्ण है, जो बड़ी शीघ्रता से सुग्रीव के पास आकर फिर लौट जाता है, तथा जो महाबुद्धिमान् पुरुषार्थी और सिंह के समान अतुलित पराक्रमी वानर इधर देख रहा है वह रम्भ है। लंका को नष्ट करने में यह अकेला ही समर्थ है ॥ ३२-३३ ॥

शरभो नाम राजेन्द्र कोटियूथपनायकः ॥३४॥
पनसश्च महावीर्यो मैन्दश्च द्विविदस्तथा ।
नलश्च सेतुकर्तासौ विश्वकर्मसुतो बली ॥३५॥

हे राजेश्वर, यह दूसरा वानर, जो लंका की ओर इस प्रकार देखता है मानो जला ही डालेगा, करोड़ यूथपतियों का नायक शरभ है। इन के अतिरिक्त महापराक्रमी पनस, मैन्द, द्विविद और सेतु बाँधनेवाला विश्वकर्मा का पुत्र महाबली नल; ये सब भी प्रधान प्रधान योद्धा हैं ॥ ३४-३५ ॥

वानराणां वर्णने वा सङ्ख्याने वा क ईश्वरः ।
शूराः सर्वे महाकायाः सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः ॥३६॥
शक्ताः सर्वे चूर्णयितुं लङ्कां रक्षोगणैः सह ।
एतेषां बलसङ्ख्यानं प्रत्येकं वच्मि ते शृणु ॥३७॥
एषां कोटिसहस्राणि नव पञ्च च सप्त च ।
तथा शङ्खसहस्राणि तथार्बुदशतानि च ॥३८॥

इन वानरों का वर्णन करने और गिनने की सामर्थ्य किस में है ? ये सभी बड़े शूरवीर, विशालकाय और युद्ध के लिए उत्सुक हैं। राक्षसों के सहित लंका को चूर्ण करने में ये सभी समर्थ हैं। अब मैं इन में से प्रत्येक की सेना की संख्या बतलाता हूँ, सावधान होकर सुनिये; इन में से प्रत्येक के नीचे इक्कीस हजार करोड़, हजारों शंख और सैकड़ों अरब सेना है ॥ ३६-३८ ॥

सुग्रीवसचिवानां ते बलमेतत्प्रकीर्तितम् ।
अन्येषां तु बलं नाहं वक्तुं शक्तोऽस्मि रावण ॥३९॥
रामो न मानुषः साक्षादादिनारायणः परः ।
सीता साक्षाज्जगद्धेतुश्चिच्छक्तिर्जगदात्मिका ॥४०॥
ताभ्यामेव समुत्पन्नं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।

हे रावण, यह तो मैंने सुग्रीव के मन्त्रियों की ही सेना बतायी है, उस के अतिरिक्त औरों की सेना गिनाने में तो मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। राम भी कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे साक्षात् आदिनारायण परमात्मा हैं। और सीताजी जगत् की कारणरूपा साक्षात् जगद्रूपिणी चित्शक्ति हैं। इन दोनों से ही समस्त स्थावर जंगम संसार उत्पन्न हुआ है ॥ ३९-४० ॥

तस्माद्रामश्च सीता च जगतस्तस्थुषश्च तौ ॥४१॥
पितरौ पृथिवीपाल तयोर्वैरी कथं भवेत् ।
अजानता त्वयानीता जगन्मातैव जानकी ॥४२॥

अतः राम और सीता स्थावर जंगम जगत् के माता पिता हैं। हे पृथिवीपते, सोचो तो, उन का वैरी कोई कैसे हो सकता है ? आप जिस जानकी को अनजान में ले आये हैं वह साक्षात् जगन्माता ही हैं ॥ ४१-४२ ॥

क्षणनाशिनि संसारे शरीरे क्षणभङ्गुरे ।
पञ्चभूतात्मके राजंश्चतुर्विंशतितत्त्वके ॥४३॥
मलमांसास्थिदुर्गन्धभूयिष्ठेऽहङ्कृतालये ।
कैवास्था व्यतिरिक्तस्य काये तव जडात्मके ॥४४॥
यत्कृते ब्रह्महत्यादिपातकानि कृतानि ते ।
भोगभोक्ता तु यो देहः स देहोऽत्र पतिष्यति ॥४५॥

हे राजन्, क्षण क्षण में नष्ट होनेवाले संसार में चौबीस तत्त्वों के समूहरूप इस क्षणभंगुर, पाञ्चभौतिक शरीर में मल, मांस, अस्थि आदि दुर्गन्ध युक्त पदार्थों की ही अधिकता है और यह अहंकार का आश्रयस्थान तथा जडरूप है; आप क्या इस में आस्था करते हैं ? आप तो इस से सर्वथा पृथक् हैं । हाय ! जिस शरीर के लिए आप ने ब्रह्महत्यादि अनेकों पाप किये हैं, सम्पूर्ण भोगों का भोक्ता वह शरीर तो यहीं पड़ा रह जायगा ! ॥ ४३-४५ ॥

पुण्यपापे समायातो जीवेन सुखदुःखयोः ।
कारणे देहयोगादिनात्मनः कुरुतोऽनिशम् ॥४६॥
यावद्देहोऽस्मि कर्तास्मीत्यात्माहङ्कुरुतेऽवशः ।
अध्यासात्तावदेव स्याज्जन्मनाशादिसम्भवः ॥४७॥

सुख दुःख के कारणरूप पूर्वजन्मकृत पाप पुण्य जीव के साथ ही आते हैं और वे ही देहसम्बन्ध आदि के द्वारा जीव को अहर्निश सुख दुःख की प्राप्ति कराते हैं। जब तक अज्ञानजन्य अध्यास के कारण जीव 'मैं देह हूँ, मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा अभिमान करता है तभी तक उसे विवश होकर जन्म मृत्यु आदि भोगने पड़ते हैं ॥ ४६-४७ ॥

तस्मात्त्वं त्यज देहादावभिमानं महामते ।
आत्मातिनिर्मलः शुद्धो विज्ञानात्माचलोऽव्ययः ॥४८॥
स्वाज्ञानवशतो बन्धं प्रतिपद्य विमुह्यति ।
तस्मात्त्वं शुद्धभावेन ज्ञात्वात्मानं सदा स्मर ॥४९॥

अतः हे महामते, आप देह आदि में अभिमान छोड़िये। आत्मा तो अत्यन्त

निर्मल, शुद्धस्वरूप, विज्ञानमय, अविचल और अविकारी है। अपने अज्ञान के कारण ही वह बन्धन में पड़कर मोह को प्राप्त होता है। अतः आप आत्मा को शुद्ध भाव से जानकर नित्य उसी का स्मरण कीजिये ॥ ४८-४९ ॥

विरतिं भज सर्वत्र पुत्रदारगृहादिषु ।
निरयेष्वपि भोगः स्याच्छ्वशूकरतनावपि ॥५०॥
देहं लब्ध्वा विवेकाढ्यं द्विजत्वं च विशेषतः ।
तत्रापि भारते वर्षे कर्मभूमौ सुदुर्लभम् ॥५१॥
को विद्वानात्मसात्कृत्वा देहं भोगानुगो भवेत् ।

प्रभो, आप पुत्र, स्त्री और गृह आदि सभी से उपराम हो जाइये, क्योंकि भोग तो कुत्ते और शूकरादि की योनि में तथा नरकादि में भी मिल सकते हैं। सदसद् विवेकबुद्धि से युक्त मनुष्यशरीर पाकर, उस में भी विशेषतः द्विजत्व पाकर और अति दुर्लभ कर्मभूमि भारतवर्ष में जन्म ग्रहण कर, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो देह में आत्मबुद्धि कर भोगों का सेवन करेगा ? ॥ ५०-५१ ॥

अतस्त्वं ब्राह्मणो भूत्वा पौलस्त्यतनयश्च सन् ॥५२॥
अज्ञानीव सदा भोगाननुधावसि किं मुधा ।
इतः परं वा त्यक्त्वा त्वं सर्वसङ्गं समाश्रय ॥५३॥
राममेव परात्मानं भक्तिभावेन सर्वदा ।
सीतां समर्प्य रामाय तत्पादानुचरो भव ॥५४॥

अतः आप ब्राह्मणशरीर और सो भी पुलस्त्यनन्दन विश्रवा के पुत्र होकर अज्ञानी के समान सदा ही इन भोगों की ओर व्यर्थ क्यों दौड़ते हैं ? आज से आप सब प्रकार का संग छोड़कर अति भक्तिभाव से सदा परमात्मा राम का ही आश्रय लीजिये और श्री सीताजी को भगवान् राम के अर्पण कर उन के चरणकमलों की सेवा कीजिये ॥ ५१-५४ ॥

विमुक्तः सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं प्रयास्यसि ।
नो चेद्गमिष्यसेऽधोऽधः पुनरावृत्तिवर्जितः ।
अङ्गीकुरुष्व मद्वाक्यं हितमेव वदामि ते ॥५५॥

सत्सङ्गतिं कुरु भजस्व हरिं शरण्यं श्रीराघवं मरकतोपलकान्तिकान्तम् ।
सीतासमेतमनिशं धृतचापबाणं सुग्रीवलक्ष्मणविभीषणसेविताङ्घ्रिम् ॥५६॥

यदि आप ऐसा करेंगे तो सब पापों से छूटकर विष्णुलोक प्राप्त करेंगे, नहीं तो पुनः ऊपर लौटने से वञ्चित रहकर उत्तरोत्तर नीचे के लोकों में ही जाते रहेंगे। मैं आप के हित की ही बात कहता हूँ, आप इसे स्वीकार कीजिये। हे रावण, आप अहर्निश सत्संग कीजिये और जिन के शरीर की कान्ति मरकतमणि के समान है तथा सुग्रीव, लक्ष्मण और विभीषण जिन के चरणकमलों की सेवा कर रहे हैं; उन शरणागतवत्सल, धनुर्बाणधारी श्री रघुनाथजी का सीताजी के सहित भजन कीजिए ॥५५-५६॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के
चतुर्थ सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का
प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य हुआ ॥ ४ ॥

ॐ
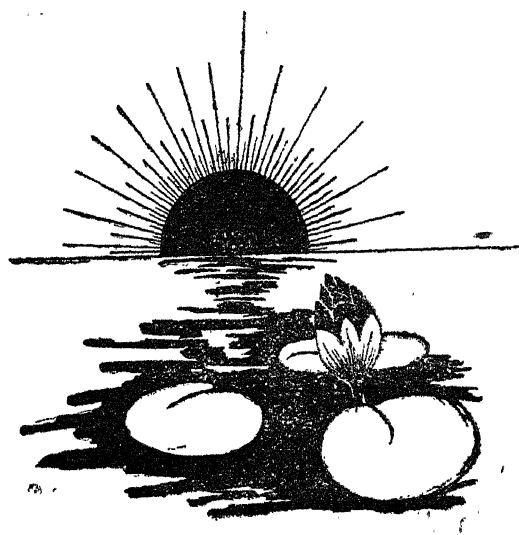
राक्षस शुक का पूर्वचरित्र, नाना माल्यवान् का समझाना तथा वानरराक्षससंग्राम।

श्री महादेव उवाच—

श्रुत्वा शुकमुखोद्गीतं वाक्यमज्ञाननाशनम्।
रावणः क्रोधताम्राक्षो दहन्निव तमब्रवीत्॥ १॥
अनुजीव्य सुदुर्बुद्धे गुरुवद्भाषसे कथम्।
शासिताहं त्रिजगतां त्वं मां शिक्षन्न लज्जसे॥ २॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, शुक के मुख से निकले हुए इन अज्ञाननाशक वचनों को सुनकर रावण क्रोध से मानो जलता हुआ उस से आँखें लाल करके बोला—अरे दुर्बुद्धे. मेरे ही टुकड़ों से पलकर तू इस प्रकार गुरु की भाँति कैसे बोलता है? तीनों लोकों का शासन करनेवाला तो मैं हूँ, मुझे उपदेश देते हुए तुझ को लज्जा नहीं आती?॥ १-२॥

इदानीमेव हन्मि त्वां किन्तु पूर्वकृतं तव।
स्मरामि तेन रक्षामि त्वां यद्यपि वधोचितम्॥ ३॥
इतो गच्छ विमूढ त्वमेवं श्रोतुं न मे क्षमम्।
महाप्रसाद इत्युक्त्वा वेपमानो गृहं ययौ॥ ४॥
शुकोऽपि ब्राह्मणः पूर्वं ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मवित्तमः।
वानप्रस्थविधानेन वने तिष्ठन् स्वकर्मकृत॥ ५॥

तू यद्यपि वध करनेयोग्य है और मैं तुझे अभी मार डालता, परन्तु तेरे पूर्व-कृत्यों को याद करके मैं तुझे छोड़े देता हूँ ; अरे मूढ़, तू तुरन्त यहाँ से टल जा, मैं ऐसी बातें नहीं सुनना चाहता। रावण के ये वचन सुनकर शुक 'महाराज की बड़ी कृपा है' ऐसा कहकर काँपता हुआ अपने घर चला गया। पूर्व जन्म में शुक एक वेदज्ञ और ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण था, तथा वानप्रस्थविधि से अपने धर्म कर्म में तत्पर हुआ वन में रहता था ॥ ५ ॥

देवानामभिवृद्ध्यर्थं विनाशाय सुरद्विषाम् ।
चकार यज्ञविततिमविच्छिन्नां महामतिः ॥ ६ ॥
राक्षसानां विरोधोऽभूच्छुको देवहितोद्यतः ।
वज्रदंष्ट्र इति ख्यातस्तत्रैको राक्षसो महान् ॥ ७ ॥
अन्तरं प्रेप्सुरातिष्ठच्छुकापकरणोद्यतः ।

इस महामति ने देवताओं की वृद्धि और दैत्यों के नाश के लिए लगातार बहुत से बड़े बड़े यज्ञ किये थे, अतः देवताओं के हित में लगे रहने के कारण शुक का राक्षसों से विरोध हो गया। उस समय वज्रदंष्ट्र नामक एक महान् राक्षस शुक का अपकार करने पर उतारू होकर अवसर देखने लगा ॥ ६-७ ॥

कदाचिदागतोऽगस्त्यस्तस्याश्रमपदं मुनेः ॥ ८ ॥
तेन सम्पूजितोऽगस्त्यो भोजनार्थं निमन्त्रितः ।
गते स्नातुं मुनौ कुम्भसम्भवे प्राप्य चान्तरम् ॥ ९ ॥
अगस्त्यरूपधृक् सोऽपि राक्षसः शुकमब्रवीत् ।
यदि दास्यसि मे ब्रह्मन् भोजनं देहि सामिषम् ॥१०॥
बहुकालं न भुक्तं मे मांसं छागाङ्गसम्भवम् ।

एक दिन मुनिवर शुक के आश्रम में महर्षि अगस्त्य पधारे, शुक ने अगस्त्यजी की पूजाकर उन्हें भोजन के लिए निमन्त्रित किया। जिस समय महर्षि अगस्त्य स्नान के लिए गये हुए थे, उस वज्रदंष्ट्र राक्षस ने अपना मौका देखकर अगस्त्य का रूप

बनाया और शुक से कहा—ब्रह्मन्, यदि तुम मुझे भोजन कराना चाहते हो तो मांस-युक्त अन्न खिलाओ, मैं ने बहुत दिनों से बकरे का मांस नहीं खाया है ॥ ८-१० ॥

तथेति कारयामास मांसभोज्यं सविस्तरम् ॥११॥
उपविष्टे मुनौ भोक्तुं राक्षसोऽतीव सुन्दरम् ।
शुकभार्यावपुर्धृत्वा तां चान्तर्मोहयन् खलः ॥१२॥
नरमांसं ददौ तस्मै सुपक्वं बहुविस्तरम् ।
दत्त्वैवान्तर्दधे रक्षस्ततो दृष्ट्वा चुकोप सः ॥१३॥

तब शुक ने 'जो आज्ञा' कहकर बड़ी तैयारी से मांसमय भोजन बनवाया, फिर जिस समय असली अगस्त्यजी भोजन करने बैठे, उस दुष्ट राक्षस ने शुक की पत्नी का अति सुन्दर रूप धारण किया, और शुक की स्त्री को आश्रम के भीतर ही मूर्छित कर मुनिवर को नाना प्रकार से बनाया हुआ नरमांस परोसा। उसे परोसकर वह राक्षस अन्तर्धान हो गया ॥ ११-१३ ॥

अमेध्यं मानुषं मांसमगस्त्यः शुकमब्रवीत् ।
अभक्ष्यं मानुषं मांसं दत्तवानसि दुर्मते ॥१४॥
मह्यं त्वं राक्षसो भूत्वा तिष्ठ त्वं मानुषाशनः ।
इति शप्तः शुको भीत्या प्राहागस्त्यं मुने त्वया ॥१५॥
इदानीं भाषितं मेऽद्य मांसं देहीति विस्तरम् ।
तथैव दत्तं मे देव किं मे शापं प्रदास्यसि ॥१६॥

मुनिवर अगस्त्य अपने आगे अभक्ष्य नरमांस देखकर अति क्रोधित हुए और शुक से बोले—हे दुर्मते, तुम ने मुझे अभक्ष्य नरमांस खाने को दिया है, अतः तुम मनुष्यभोजी राक्षस होकर रहो। अगस्त्यजी के इस प्रकार शाप देने पर शुक ने डरते डरते कहा—मुने, आप ने अभी कहा था कि आज मुझे नाना प्रकार का मांस खाने को दो; हे देव, मैं ने आप के आज्ञानुसार ही आप को मांस दिया है, फिर आप मुझे शाप क्यों देते हैं ? ॥ १४-१६ ॥

श्रुत्वा शुकस्य वचनं मुहूर्तं ध्यानमास्थितः ।
ज्ञात्वा रक्षःकृतं सर्वं ततः प्राह शुकं सुधीः ॥१७॥
तवापकारिणा सर्वं राक्षसेन कृतं त्विदम् ।
अविचार्यैव मे दत्तः शापस्ते मुनिसत्तम ॥१८॥
तथापि मे वचोऽमोघमेवमेव भविष्यति ।
राक्षसं वपुरास्थाय रावणस्य सहायकृत् ॥१९॥

शुक के वचन सुनकर महाबुद्धिमान् अगस्त्यजी ने एक मुहूर्त तक ध्यानस्थ होकर राक्षस की सब करतूत जान ली, तब वे शुक से बोले। हे मुनिश्रेष्ठ, यह सब करतूत तुम्हारे अपकारकर्ता राक्षस की है। मैं ने तुम्हें बिना विचारे ही शाप दे दिया, तथापि मेरा वचन वृथा जानेवाला नहीं है, इस लिए होगा तो ऐसा ही। तुम राक्षस का शरीर धारण कर रावण की सहायता करते रहो॥ १७-१९ ॥

तिष्ठ तावद्यदा रामो दशाननवधाय हि ।
आगमिष्यति लङ्कायाः समीपं वानरैः सह ॥२०॥
प्रेषितो रावणेन त्वं चारो भूत्वा रघूत्तमम् ।
दृष्ट्वा शापाद्विनिर्मुक्तो बोधयित्वा च रावणम् ॥२१॥
तत्त्वज्ञानं ततो मुक्तः परं पदमवाप्स्यसि ।

जब तक उस का नाश करने के लिए श्री रामचन्द्रजी वानरों के सहित लंका के समीप न आयें, तब तक तुम वहाँ रहो; इस के पश्चात् तुम रावण के भेजने से उस के दूत होकर रघुनाथजी के पास जाओगे और उन का दर्शन कर शाप से मुक्त हो जाओगे, फिर रावण को तत्त्वज्ञान का उपदेश कर मुक्त होकर परमपद प्राप्त करोगे ॥ २०-२१ ॥

इत्युक्तोऽगस्त्यमुनिना शुको ब्राह्मणसत्तमः ॥ २२ ॥
बभूव राक्षसः सद्यो रावणं प्राप्य संस्थितः ।
इदानीं चाररूपेण दृष्ट्वा रामं सहानुजम् ॥ २३ ॥
रावणं तत्त्वविज्ञानं बोधयित्वा पुनर्द्रुतम् ।
पूर्ववद्ब्राह्मणो भूत्वा स्थितो वैखानसैः सह ॥ २४ ॥

मुनिवर अगस्त्य के ऐसा कहने पर विप्रवर शुक राक्षस होकर तुरन्त रावण के पास आकर रहने लगे। इस समय रावण के दूतरूप से लक्ष्मणसहित भगवान् राम का दर्शन कर तथा रावण को तत्त्वज्ञान का उपदेश दे, वे फिर शीघ्र ही पूर्ववत् ब्राह्मणशरीर को प्राप्त हो, वानप्रस्थों के साथ रहने लगे ॥ २१–२४ ॥

ततः समागमद्वृद्धो माल्यवान् राक्षसो महान् ।
बुद्धिमान्नीतिनिपुणो राज्ञो मातुः प्रियः पिता ॥२५॥
प्राह तं राक्षसं वीरं प्रशान्तेनान्तरात्मना ।
शृणु राजन्वचो मेऽद्य श्रुत्वा कुरु यथेप्सितम् ॥२६॥
यदा प्रविष्टा नगरीं जानकी रामवल्लभा ।
तदादि पुर्यां दृश्यन्ते निमित्तानि दशानन ॥२७॥

शुक के चले जाने पर रावण की माता का प्रिय पिता, अति बुद्धिमान् और नीतिनिपुण, वृद्ध राक्षस माल्यवान् वहाँ आया। वह शान्तचित्त से उस राक्षसवीर से बोला—हे राजन्; मेरी प्राथना सुनिये, फिर आप की जैसी इच्छा हो वह करना। हे दशानन, जब से नगर में रामभार्या जानकी का प्रवेश हुआ है तभी से यहाँ बड़े भयंकर नाशकारी हेतु दिखायी दे रहे हैं ॥ २५-२७ ॥

घोराणि नाशहेतूनि तानि मे वदतः शृणु ।
खरस्तनितनिर्घोषा मेघा अतिभयङ्कराः ॥ २८ ॥
शोणितेनाभिवर्षन्ति लङ्कामुष्णेन सर्वदा ।
रुदन्ति देवलिङ्गानि स्विद्यन्ति प्रचलन्ति च ॥ २९ ॥

उन्हें मैं आप को बतलाता हूँ, सुनिये—अति भयंकर मेघगण तीक्ष्ण कड़क के साथ गर्जते हैं और सर्वदा लंका के ऊपर गर्म गर्म रक्त की वर्षा करते हैं। देवमूर्तियाँ रोती हैं, उन के शरीर में पसीना आ जाता है और वे अपने स्थान से स्खलित हो जाती हैं ॥ २८—२९ ॥

कालिका पाण्डुरैर्दन्तैः प्रहसत्यग्रतः स्थिता ।
खरा गोषु प्रजायन्ते मूषका नकुलैः सह ॥ ३० ॥
मार्जारेण तु युध्यन्ति पन्नगा गरुडेन तु ।
करालो विकटो मुण्डः पुरुषः कृष्णपिङ्गलः ॥ ३१ ॥

कालो गृहाणि सर्वेषां काले काले त्ववेक्षते ।

एतान्यन्यानि दृश्यन्ते निमित्तान्युद्भवन्ति च ॥ ३२ ॥

कालिका राक्षसों के आगे अपने पीले पीले दाँत निकालकर हँसती है, गौओं के गधे उत्पन्न होते हैं और चूहे न्यौले तथा बिल्ली से एवं सर्प गरुड से युद्ध करते हैं। समस्त राक्षसों के घरों को समय समय पर काले और पीले रंग का एक महाभयंकर विकराल वदन मुण्डित-केश कालपुरुष देखा करता है। इस प्रकार ये तथा और भी बहुत से अपशकुन उत्पन्न होते और दिखायी देते हैं ॥३०-३२॥

अतः कुलस्य रक्षार्थं शान्तिं कुरु दशानन ।

सीतां सत्कृत्य सधनां रामायाशु प्रयच्छ भोः ॥ ३३ ॥

रामं नारायणं विद्धि विद्वेषं त्यज राघवे ।

यत्पादपोतमाश्रित्य ज्ञानिनो भवसागरम् ॥ ३४ ॥

तरन्ति भक्तिपूतान्तास्ततो रामो न मानुषः ।

अतः हे जगदीश, अपने कुल की रक्षा के लिए इन की शान्ति कीजिए और तुरंत ही सीता को सत्कारपूर्वक बहुत से धन के सहित रघुनाथजी को दे दीजिए। राम को आप साक्षात् नारायण समझिए, इस लिए उन में द्वेषभाव छोड़ दीजिए। इन रघुनाथजी के चरणकमलरूप नौका का आश्रय लेकर भक्ति से पवित्र अन्तःकरण हुए योगिजन संसारसागर को पार करते जाते हैं। अतः ये कोई साधारण पुरुष नहीं हैं ॥ ३३-३४ ॥

भजस्व भक्तिभावेन रामं सर्वहृदालयम् ॥ ३५ ॥

यद्यपि त्वं दुराचारो भक्त्या पूतो भविष्यसि ।

मद्वाक्यं कुरु राजेन्द्र कुलकौशलहेतवे ॥ ३६ ॥

ये राम सब के अन्तःकरणों में विराजमान हैं, आप भक्तिभाव से इन रघुनाथजी का भजन कीजिये। यद्यपि आप का आचरण अच्छा नहीं है, तथापि उन की भक्ति से आप पवित्र हो जायँगे। हे राजेन्द्र, अपने कुल की कुशलता के लिए मेरा यह वचन मान लीजिये ॥ ३६ ॥

तत्तु माल्यवतो वाक्यं हितमुक्तं दशाननः।
न मर्षयति दुष्टात्मा कालस्य वशमागतः ॥३७॥
मानवं कृपणं राममेकं शाखामृगाश्रयम्।
समर्थं मन्यसे केन हीनं पित्रा मुनिप्रियम् ॥३८॥
रामेण प्रेषितो नूनं भाषसे त्वमनर्गलम्।
गच्छ वृद्धोऽसि बन्धुस्त्वं सोढं सर्वं त्वयोदितम् ॥३९॥

माल्यवान् के ये हितकर वाक्य दुष्टचित्त रावण को सहन न हुए, क्योंकि वह काल के वशीभूत हो रहा था। वह बोला—इस बेचारे एक तुच्छ मनुष्य राम को, जिस ने बन्दरों का आश्रय लिया है और जिसे उस के पिता ने भी निकाल दिया है, तुम किस बात में समर्थ मानते हो? वह तो केवल वनवासी मुनीजनों का ही प्यारा है। मालूम होता है, तुम्हें राम ने ही भेजा है इसी लिए तुम इस प्रकार ऊटपटाँग बातें बनाते हो। जाओ, तुम बूढ़े और अपने सगे संबन्धी हो इस लिए मैं ने तुम्हारी सब बातें सहन कर ली हैं ॥ ३७-३९ ॥

इतो मत्कर्णपदवीं दहत्येतद्वचस्तव।
इत्युक्त्वा सर्वसचिवैः सहितः प्रस्थितस्तदा ॥ ४० ॥
प्रासादाग्रे समासीनः पश्यन्वानरसैनिकान्।
युद्धायायोजयत्सर्वराक्षसान्समुपस्थितान् ॥ ४१ ॥

अब तुम्हारे वचन मेरे कानों को जलाते हैं। अपने नाना से ऐसा कहकर रावण अपने समस्त मन्त्रियों सहित वहाँ से चल दिया और अपने राजभवन के सर्वोच्च तल पर बैठकर वानरसैनिकों को देखता हुआ अपने आस पास बैठे हुए राक्षसों को युद्ध के लिए नियुक्त करने लगा ॥ ४०-४१

रामोऽपि धनुरादाय लक्ष्मणेन समाहृतम्।
दृष्ट्वा रावणमासीनं कोपेन कलुषीकृतः ॥४२॥

किरीटिनं समासीनं मन्त्रिभिः परिवेष्टितम् ।
　　शशाङ्कार्धनिभेनैव बाणेनैकेन राघवः ॥४३।
श्वेतच्छत्रसहस्राणि किरीटदशकं तथा ।
　　चिच्छेद निमिषार्धेन तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४४॥

इधर रामचन्द्रजी ने रावण को बैठा देख, अति क्रोधातुर हो, लक्ष्मणजी का लाया हुआ धनुष उठाया। वह शिरपर मुकुट धारण किये अपने अनेकों मन्त्रियों से घिरा हुआ बैठा था। भगवान् राम ने आधे निमेष में ही एक अर्धचन्द्राकार बाण से उस के हजारों श्वेत छत्र और दशों मुकुट काट डाले। यह बड़ा आश्चर्य सा हो गया ॥ ४२-४४ ॥

लज्जितो रावणस्तूर्णं विवेश भवनं स्वकम् ।
　　आहूय राक्षसान् सर्वान्प्रहस्तप्रमुखान् खलः ॥४५॥
वानरैः सह युद्धाय नोदयामास सत्वरः ।

इस से लज्जित होकर रावण तुरन्त अपने घर में घुस गया और उस दुष्ट ने शीघ्र ही प्रहस्त आदि मुख्य मुख्य राक्षसों को बुलाकर वानरों के साथ युद्ध करने की आज्ञा दी। ॥ ४५ ॥

　　ततो भेरीमृदङ्गाद्यैः पणवानकगोमुखैः ॥४६॥
महिषोष्ट्रैः खरैः सिंहैर्द्वीपिभिः कृतवाहनाः ।
　　खड्गशूलधनुःपाशयष्टितोमरशक्तिभिः ॥ ४७ ॥
लक्षिताः सर्वतो लङ्कां प्रतिद्वारमुपाययुः ।

तब राक्षस लोग भेरी, मृदंग, पणव, आनक और गोमुख आदि बाजे बजाते भैंसों, ऊँटों, गधों, सिंहों और व्याघ्रों पर चढ़कर खड्ग, शूल, धनुष, पाश, यष्टि, तोमर और शक्तिआदि अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हो लङ्का के प्रत्येक द्वार पर आ गये ॥ ४६-४७ ॥

　　तत्पूर्वमेव रामेण नोदिता वानरर्षभाः ॥४८॥
उद्यम्य गिरिशृङ्गाणि शिखराणि महान्ति च ।
　　तरूंश्चोत्पाट्य विविधान्युद्धाय हरियूथपाः ॥४९॥
प्रेक्षमाणा रावणस्य तान्यनीकानि भागशः ।
　　राघवप्रियकामार्थं लङ्कामारुरुहुस्तदा ॥५०॥

भगवान् राम ने भी वानरों को चढ़ाई की ही आज्ञा दे दी थी; अतः वे पर्वतों की शिलाएँ तथा बड़े बड़े शिखर उठाकर और नाना प्रकार के वृक्ष उखाड़कर युद्ध के लिए चले और रावण की पृथक् पृथक् सेना को देखकर रघुनाथजी का प्रिय कार्य करने के लिए लंका पर चढ़ गये ।।४८-५०।।

ते द्रुमैः पर्वताग्रैश्च मुष्टिभिश्च प्लवङ्गमाः ।
ततः सहस्रयूथाश्च कोटियूथाश्च यूथपाः ।।५१।।
कोटीशतयुताश्चान्ये रुरुधुर्नगरं भृशम् ।
आप्लवन्तः प्लवन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवङ्गमाः ।। ५२ ।।
रामो जयत्यतिबलो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणानुपालितः ।। ५३ ।।
इत्येव घोषयन्तश्च समं युयुधिरेऽरिभिः ।

उन में से कोई सहस्रयूथपति, कोई कोटियूथप और कोई शतकोटियूथनायक थे । उन वानरों ने उछलते कूदते और गर्जते हुए वृक्ष, पर्वतशिखर और मुट्ठियाँ तानकर नगर को सब ओर से घेर लिया। उनका जयघोष था कि महाबली राम और वीरवर लक्ष्मण की जय हो। इस प्रकार शब्द करते हुए वे शत्रुओं से लड़ने लगे।।५१-५३।।

हनूमानङ्गदश्चैव कुमुदो नील एव च ।। ५४ ।।
नलश्च शरभश्चैव मैन्दो द्विविद एव च ।
जाम्बवान्दधिवक्त्रश्च केसरी तार एव च ।।५५।।
अन्ये च बलिनः सर्वे यूथपाश्च प्लवङ्गमाः ।

द्वाराण्युत्प्लुत्य लङ्कायाः सर्वतो रुरुधुर्भृशम् ।
तदा वृक्षैर्महाकायाः पर्वताग्रैश्च वानराः ॥ ५६ ॥
निजघ्नुस्तानि रक्षांसि नखैर्दन्तैश्च वेगिताः ।

हनुमान्, अङ्गद, कुमुद, नील, नल, शरभ, मैन्द, द्विविद, जाम्बवान्, दधिमुख, केसरी, तार तथा अन्य समस्त बलवान् वानर और यूथपतियों ने उछल उछलकर लंका के सब द्वारों को चारों ओर से घेर लिया। तब वे महाकाय वानरगण वृक्ष, पर्वतशिखर और नख तथा दाँतों से अति वेगपूर्वक उन राक्षसों को मारने लगे ॥५४-५६॥

राक्षसाश्च तदा भीमा द्वारेभ्यः सर्वतो रुषा ॥ ५७ ॥
निर्गत्य भिन्दिपालैश्च खड्गैः शूलैः परश्वधैः ।
निजघ्नुर्वानरानीकं महाकाया महाबलाः ॥ ५८ ॥
राक्षसांश्च तथा जघ्नुर्वानरा जितकाशिनः ।
तदा बभूव समरो मांसशोणितकर्दमः ॥ ५९ ॥
रक्षसां वानराणां च सम्बभूवाद्भुतोपमः ।

तब महाभयानक और बड़े बड़े डीलवाले महाबली राक्षसगण भी अति रोषपूर्वक सब द्वारों से निकलकर भिन्दिपाल, खड्ग, शूल और परशु आदि विविध अस्त्र शस्त्रों से वानरसेना पर प्रहार करने लगे। इसी प्रकार विजयी वानरवीर भी राक्षसों को मारने लगे। उस समय वहाँ राक्षसों और वानरों का बड़ा विचित्र युद्ध छिड़ गया, जिस से उस रणभूमि में रक्त और मांस की कीच हो गयी ॥ ५७-५९ ॥

ते हयैश्च गजैश्चैव रथैः काञ्चनसन्निभैः ॥ ६० ॥
रक्षोव्याघ्रा युयुधिरे नादयन्तो दिशो दश ।
राक्षसाश्च कपीन्द्राश्च परस्परजयैषिणः ॥ ६१ ॥
राक्षसान्वानरा जघ्नुर्वानरांश्चैव राक्षसाः

वीर राक्षस घोड़ों, हाथियों और सुवर्णमय रथों पर चढ़कर अपने शब्द से दशों दिशाओं को गुञ्जायमान करते हुए लड़ रहे थे, और राक्षस तथा वानर दोनों ही परस्पर एक दूसरे को जीतना चाहते थे, वानरगण राक्षसों को और राक्षस लोग वानरों को मारने लगे ॥ ६०-६१ ॥

रामेण विष्णुना दृष्टा हरयो दिविजांशजाः ॥६२॥

बभूवुर्बलिनो हृष्टास्तदा पीतामृता इव ।

सीताभिमर्शपापेन रावणेनाभिपालितान् ॥६३॥

हतश्रीकान्हतबलान् राक्षसान् जघ्नुरोजसा ।

चतुर्थांशावशेषेण निहतं राक्षसं बलम् ॥६४॥

विष्णुरूप भगवान् राम की दृष्टि पड़ने से देवताओं के अंश से उत्पन्न हुए वानरगण बड़े प्रबल हो गये, और मानो अमृत पान कर अति हर्ष से उत्साहपूर्वक, सीताजी को हरण करते समय स्पर्श करने के कारण महापापी रावण से पालित, निस्तेज और बलहीन राक्षसों को मारने लगे। धीरे धीरे राक्षसों की सेना नष्ट होकर केवल एक चौथाई रह गयी ॥ ६२-६४ ॥

स्वसैन्यं निहतं दृष्ट्वा मेघनादोऽथ दुष्टधीः ।

ब्रह्मदत्तवरः श्रीमानन्तर्धानं गतोऽसुरः ॥ ६५ ॥

सर्वास्त्रकुशलो व्योम्नि ब्रह्मास्त्रेण समन्ततः ।

नानाविधानि शस्त्राणि वानरानीकमर्दयन् ॥६६॥

ववर्ष शरजालानि तदद्भुतमिवाभवत् ।

अपनी सेना को नष्ट हुई देख, ब्रह्माजी वर से श्रीसंपन्न हुआ दुष्टबुद्धि राक्षस मेघनाद अन्तर्धान हो गया; वह दैत्य सब प्रकार के अस्त्र शस्त्र चलाने में कुशल था। अतः वह आकाश में चढ़कर ब्रह्मास्त्र द्वारा वानर-सेना को दलित करता हुआ सब ओर नाना प्रकार के शस्त्र और बाणसमूह बरसाने लगा। उस का यह संहार बड़ा आश्चर्य सा होने लगा ॥ ६५-६६ ॥

रामोऽपि मानयन्ब्राह्ममस्त्रमस्त्रविदां वरः ॥ ६७ ॥

क्षणं तूष्णीमुवासाथ ददर्श पतितं बलम् ।
वानराणां रघुश्रेष्ठस्तुकोपानलसन्निभः ॥ ६८ ॥
चापमानय सौमित्रे ब्रह्मास्त्रेणासुरं क्षणात् ।
भस्मीकरोमि मे पश्य बलमद्य रघूत्तम ॥ ६९ ॥

अस्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ भगवान् राम भी ब्रह्मास्त्र का मान रखने के लिए एक क्षण तक चुपचाप वानरसेना का पतन देखते रहे। अन्त में वे रघुश्रेष्ठ क्रोध से अग्नि के समान प्रज्वलित हो उठे और बोले—लक्ष्मण, मेरा धनुष तो लाओ, मैं एक क्षण में ही इस दुष्ट दानव को ब्रह्मास्त्र से भस्म कर डालूँगा। हे रघुश्रेष्ठ, आज तुम मेरा पराक्रम देखना ॥ ६७-६९ ॥

मेघनादोऽपि तच्छ्रुत्वा रामवाक्यमतन्द्रितः ।
तूर्णं जगाम नगरं मायया मायिकोऽसुरः ॥ ७० ॥
पतितं वानरानीकं दृष्ट्वा रामोऽतिदुःखितः ।
उवाच मारुतिं शीघ्रं गत्वा क्षीरमहोदधिम् ॥ ७१ ॥
तत्र द्रोणगिरिर्नाम दिव्यौषधिसमुद्भवः ।
तमानय द्रुतं गत्वा सञ्जीवय महामते ॥ ७२ ॥
वानरौघान्महासत्त्वान्कीर्तिस्ते सुस्थिरा भवेत् ।

मेघनाद भी बहुत सावधान था, रामचन्द्रजी के ये वाक्य सुनते ही वह महामायावी दैत्य मायापूर्वक तुरन्त अपने नगर को चला गया। वानरसेना को नष्ट हुई देख, श्री रामचन्द्रजी अति दुःखित होकर हनुमान्‌जी से बोले—हनुमान्, तुम तुरन्त ही क्षीरसागर पर जाओ। वहाँ द्रोणाचल नामक पर्वत है, जिस पर नाना प्रकार की दिव्य ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। हे महामते! तुम झटपट जाकर उस पर्वत को ले आओ और इन महापराक्रमी वानरयूथों को जीवित करो। इस से तुम्हारी कीर्ति अविचल हो जायगी ॥ ७०-७२ ॥

आज्ञाप्रमाणमित्युक्त्वा जगामानिलनन्दनः ॥ ७३ ॥
आनीय च गिरिं सर्वान्वानरान्वानरर्षभः ।
जीवयित्वा पुनस्तत्र स्थापयित्वाययौ द्रुतम् ॥ ७४ ॥

यह सुनकर पवनकुमार 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर चल दिये, और तुरन्त ही उस पर्वत को लाकर उस की ओषधियों से समस्त वानरों को जीवित कर उसे फिर वहीं रख आये ॥ ७३-७४ ॥

पूर्ववद्भैरवं नादं वानराणां बलौघतः ।
श्रुत्वा विस्मयमापन्नो रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७५ ॥
राघवो मे महान् शत्रुः प्राप्तो देवविनिर्मितः ।
हन्तुं तं समरे शीघ्रं गच्छन्तु मम यूथपाः ॥ ७६ ॥
मन्त्रिणो बान्धवाः शूरा ये च मत्प्रियकाङ्क्षिणः ।
सर्वे गच्छन्तु युद्धाय त्वरितं मम शासनात् ॥ ७७ ॥

तब वानरसेना का फिर पूर्ववत् भयानक शब्द सुनकर रावण अति विस्मित होकर कहने लगा—देवताओं का प्रकट किया हुआ यह राम मेरा महान् शत्रु आया है । इसे युद्ध में मारने के लिए मेरे सेनापति, मन्त्री, बन्धु बान्धव तथा और भी जो शूरवीर मेरा हित चाहते हों, वे सब मेरी आज्ञा मानकर तुरन्त जायँ ॥ ७५-७७ ॥

ये न गच्छन्ति युद्धाय भीरवः प्राणविप्लवात् ।
तान्हनिष्याम्यहं सर्वान्मच्छासनपराङ्मुखान् ॥ ७८ ॥
तच्छ्रुत्वा भयसन्त्रस्ता निर्जग्मू रणकोविदाः ।
अतिकायः प्रहस्तश्च महानादमहोदरौ ॥ ७९ ॥
देवशत्रुर्निकुम्भश्च देवान्तकनरान्तकौ ।
अपरे बलिनः सर्वे ययुर्युद्धाय वानरैः ॥ ८० ॥
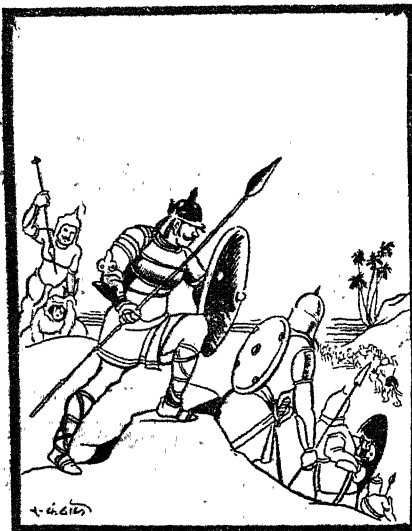
जो डरपोक अपने प्राणों के भय से युद्ध करने नहीं जायँगे, अपनी आज्ञा न माननेवाले उन सब को मैं मार डालूँगा । रावण की यह आज्ञा सुनकर अतिकाय, प्रहस्त, महानाद, महोदर, देवशत्रु, निकुम्भ, देवान्तक और नरान्तक आदि रणकुशल वीर तथा और भी समस्त बलवान् योद्धा भयभीत होकर वानरों के साथ युद्ध करने के लिए चले ॥ ७८-८० ॥

एते चान्ये च बहवः शूराः शतसहस्रशः ।
प्रविश्य वानरं सैन्यं ममन्थुर्बलदर्पिताः ॥ ८१ ॥
भुशुण्डीभिन्दिपालैश्च बाणैः खड्गैः परश्वधैः ।
अन्यैश्च विविधैरस्त्रैर्निजघ्नुर्हरियूथपान् ॥ ८२ ॥

और भी बहुत से सैकड़ों सहस्त्रों शूरवीर अपने अपने बल के गर्व से उन्मत्त हो वानरसेना में घुसकर उसे दलित करने लगे। वे भुशुण्डी, भिन्दिपाल,वाण खड्ग, परशु, तथा और भी नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से वानरयूथपतियों पर प्रहार करते थे॥८१-८२॥

ते पादपैः पर्वताग्रैर्नखदंष्ट्रैश्च मुष्टिभिः ।
प्राणैर्विमोचयामासुः सर्वराक्षसयूथपान् ॥ ८३ ॥
रामेण निहताः केचित्सुग्रीवेण तथापरे ।
हनूमता चाङ्गदेन लक्ष्मणेन महात्मना ।
यूथपैर्वानराणां च निहताः सर्वराक्षसाः ॥ ८४ ॥

इधर वानरवीर भी वृक्षों, पर्वतशिखरों, नखों, दाढ़ों और मुट्ठियों से समस्त राक्षस, यूथपों को निष्प्राण करने लगे। उन राक्षसों में से कोई श्री राम के हाथ से, कोई सुग्रीव के द्वारा, कोई हनुमान् और अंगद के द्वारा, कोई महात्मा लक्ष्मणजी के हाथ से और कोई अन्यान्य वानर, यूथपों के द्वारा मारे गये। इस प्रकार उन समस्त राक्षसों का अन्त हो गया ॥ ८३-८४ ॥

रामतेजः समाविश्य वानरा बलिनोऽभवन् ।
रामशक्तिविहीनानामेवं शक्तिः कुतो भवेत् ॥८५॥
सर्वेश्वरः सर्वमयो विधाता मायामनुष्यत्वविडम्बनेन ।
सदा चिदानन्द मयोऽपि रामो युद्धादिलीलां वितनोति मायाम् ॥८६॥

श्री राम के तेज के समावेश से वानरगण अत्यन्त प्रबल हो रहे थे। उन की शक्ति से शून्य होने पर वानरों में इतनी सामर्थ्य कैसे हो सकती थी ? भगवान् राम सर्वेश्वर, सर्वमय, सब के नियन्ता और सर्वदा चिदानन्दमय हैं, तथापि माया से मानवचरित्र का अनुकरण करते हुए युद्धादि लीला का विस्तार करते रहते हैं ॥ ८५-८६ ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के पञ्चम सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

रावण द्वारा लक्ष्मणजी पर शक्तिप्रहार, और हनुमानजी द्वारा संजीवनी बूँटी न ला सकने के लिए रावण कालनेमि की मन्त्रणा।

श्रीमहादेव उवाच—

श्रुत्वा युद्धे बलं नष्टमतिकायमुखं महत्।
रावणो दुःखसन्तप्तः क्रोधेन महतावृतः॥ १॥
निधायेन्द्रजितं लङ्कारक्षणार्थं महाद्युतिः।
स्वयं जगाम युद्धाय रामेण सह राक्षसः॥ २॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वती, युद्ध में अतिकाय आदि राक्षसों की महती सेना को नष्ट हुई सुन, रावण अति दुःखातुर हो महान् क्रोध से भर गया, और वह महातेजस्वी राक्षस लङ्का की रक्षा के लिए इन्द्रजित् को नियुक्त कर स्वयं रघुनाथजी से लड़ने के लिये चला॥ १-२॥

दिव्यं स्यन्दनमारुह्य सर्वशस्त्रास्त्रसंयुतम्।
राममेवाभिदुद्राव राक्षसेन्द्रो महाबलः॥ ३॥
वानरान्बहुशो हत्वा बाणैराशीविषोपमैः।
पातयामास सुग्रीवप्रमुखान्यूथनायकान्॥ ४॥

महाबली राक्षसराज समस्त शस्त्रास्त्र से सुसज्जित एक दिव्य रथ पर आरूढ़ हो, श्रीरामचन्द्रजी की ओर ही दौड़ा। उस ने अपने सर्प के समान उग्र बाणों से बहुत से वानरों को मारकर सुग्रीव आदि यूथपतियों को भी पृथिवीपर गिरा दिया॥ ३-४॥

गदापाणिं महासत्त्वं तत्र दृष्ट्वा विभीषणम्।
उत्ससर्ज महाशक्तिं मयदत्तां विभीषणे॥ ५॥

तामापतन्तीमालोक्य विभीषणविघातिनीम् ।
दत्ताभयोऽयं रामेण वधार्हो नायमासुरः ॥ ६ ॥
इत्युक्त्वा लक्ष्मणो भीमं चापमादाय वीर्यवान् ।
विभीषणस्य पुरतः स्थितोऽकम्प इवाचलः ॥ ७ ॥

फिर महापराक्रमी विभीषण को वहाँ गदा लिए खड़ा देख, रावण ने उस की ओर मयदानव की दी हुई महान् शक्ति छोड़ी। उस शक्ति को विभीषण का नाश करने के लिए बढ़ती देखकर 'राम ने इसे अभय दिया है, यह असुरकुमार वध किये जानेयोग्य नहीं है' ऐसा कहते हुए महावीर्यवान् लक्ष्मणजी अपना प्रचण्ड धनुष लेकर विभीषण के आगे पर्वत के समान अचल होकर खड़े हो गये ॥ ५-७ ॥

सा शक्तिर्लक्ष्मणतनुं विवेशामोघशक्तितः ।
यावन्त्यः शक्तयो लोके मायायाः सम्भवन्ति हि ॥ ८ ॥
तासामाधारभूतस्य लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
मायाशक्त्या भवेत्किं वा शेषांशस्य हरेस्तनोः ॥ ९ ॥
तथापि मानुषं भावमापन्नस्तदनुव्रतः ।
मूर्च्छितः पतितो भूमौ तमादातुं दशाननः ॥१०॥

उस शक्ति की सामर्थ्य कभी व्यर्थ न जानेवाली थी, अतः वह लक्ष्मणजी के शरीर में घुस गयी। संसार में माया से जितनी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, महात्मा लक्ष्मणजी उन सब के आधार भगवान् विष्णु के स्वरूपभूत शेषनाग के अंशावतार हैं। उन का उस माया शक्ति से क्या बिगड़ सकता था ? तथापि इस समय मनुष्य-भाव अंगीकार करने से उस का अनुकरण करते हुए वे मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ८-१० ॥

हस्तैस्तोलयितुं शक्तो न बभूवातिविस्मितः ।
सर्वस्य जगतः सारं विराजं परमेश्वरम् ॥११॥
कथं लोकाश्रयं विष्णुं तोलयेल्लघुराक्षसः ।

लक्ष्मणजी को ले जाने के लिए रावण उन्हें अपने हाथों से उठाने में सफल न हुआ, अतः उसे बड़ा ही विस्मय हुआ। भला, जो संपूर्ण जगत् का सार परमेश्वर विराट् पुरुष है, उस निखिल लोकाधार विष्णु को एक क्षुद्र राक्षस कैसे उठा सकता था ? ॥ ११ ॥

ग्रहीतुकामं सौमित्रिं रावणं वीक्ष्य मारुतिः ॥ १२ ॥
आजघानोरसि क्रुद्धो वज्रकल्पेन मुष्टिना ।
तेन मुष्टिप्रहारेण जानुभ्यामपतद्भुवि ॥ १३ ॥
आस्यैश्च नेत्रश्रवणैरुद्वमन् रुधिरं बहु ।
विघूर्णमाननयनो रथोपस्थ उपाविशत् ॥ १४ ॥

जब हनुमान्‌जी ने देखा कि रावण लक्ष्मणजी को ले जाना चाहता है तो उन्होंने अति क्रुद्ध होकर उस की छाती में एक वज्रसदृश घूँसा मारा। उस घूँसे के आघात से रावण घुटनों के बल पृथिवी पर गिर पड़ा, और अपने मुख, नेत्र और कानों से बहुत सा रुधिर वमन करता हुआ घूमती हुई आँखों से रथ के पिछले भाग में बैठ गया ॥ १२-१४ ॥

अथ लक्ष्मणमादाय हनूमान् रावणार्दितम् ।
आनयद्रामसामीप्यं बाहुभ्यां परिगृह्य तम् ॥ १५ ॥
हनूमतः सुहृत्त्वेन भक्त्या च परमेश्वरः ।
लघुत्वमगमद्देवो गुरूणां गुरुरप्यजः ॥ १६ ॥

सा शक्तिरपि तं त्यक्त्वा ज्ञात्वा नारायणांशजम् ।
रावणस्य रथं प्रागाद्रावणोऽपि शनैस्ततः ॥ १७ ॥

तदनन्तर हनुमान्जी रावण द्वारा आहत लक्ष्मणजी को अपनी भुजाओं पर उठाकर श्री रामचन्द्रजी के पास ले आये । सौहार्द और भक्तिभाव के कारण हनुमान्जी के लिए अजन्मा और प्रकाशस्वरूप परमेश्वर लक्ष्मणजी भारी से भारी होने पर भी अत्यन्त हल्के हो गये । श्री लक्ष्मणजी को साक्षात् नारायण का अंश जानकर वह शक्ति भी उन्हें छोड़कर फिर रावण के रथ पर चली गयी ॥ १५-१७ ॥

संज्ञामवाप्य जग्राह बाणासनमथो रुषा ।
राममेवाभिदुद्राव दृष्ट्वा रामोऽपि तं क्रुधा ॥ १८ ॥
आरुह्य जगतां नाथो हनूमन्तं महाबलम् ।
रथस्थं रावणो दृष्ट्वा अभिदुद्राव राघवः ॥ १९ ॥

इधर रावण को भी जब धीरे धीरे कुछ चेत हुआ तो उस ने अत्यन्त क्रोध से अपना धनुष उठाया और रामचन्द्रजी की ओर दौड़ा । उसे अपनी ओर आता देख, जगत्पति भगवान् राम अति क्रुद्ध होकर महाबली हनुमान्जी के कन्धे पर चढ़े और रावण को रथ में बैठा देख, उस की ओर दौड़े ॥ १८-१९ ॥

ज्याशब्दमकरोत्तीव्रं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम् ।
रामो गम्भीरया वाचा राक्षसेन्द्रमुवाच ह ॥ २० ॥
राक्षसाधम तिष्ठाद्य क गमिष्यसि मे पुरः ।
कृत्वापराधमेवं मे सर्वत्र समदर्शिनः ॥ २१ ॥
येन बाणेन निहता राक्षसास्ते जनालये ।
तेनैव त्वां हनिष्यामि तिष्ठाद्य मम गोचरे ॥ २२ ॥

भगवान् राम ने अपने धनुष की प्रत्यञ्चा का ऐसा कठोर शब्द किया जो मानो वज्र को भी चूर्ण करनेवाला था और फिर अति गम्भीर वाणी से राक्षसराज रावण से ऐसा कहा—अरे राक्षसाधम, जरा ठहर तो, मुझ सर्वत्र समदर्शी का ऐसा अपराध करके तू कहाँ जा सकता है ? अरे, तू तनिक मेरे सामने खड़ा रह, जिस बाण से मैं ने जनस्थान में तेरे खर दूषणादि राक्षसों को मारा था आज उसी से तुझे भी मार डालूँगा ॥ २०-२२ ॥

श्रीरामस्य वचः श्रुत्वा रावणो मारुतात्मजम् ।
वहन्तं राघवं सङ्ख्ये शरैस्तीक्ष्णैरताडयत् ॥ २३ ॥
हतस्यापि शरैस्तीक्ष्णैर्वायुसूनोः स्वतेजसा ।
व्यवर्धत पुनस्तेजो ननर्द च महाकपिः ॥ २४ ॥

श्री रामचन्द्रजी के ये वचन सुनकर रावण ने उन्हें वहन करनेवाले हनुमान्‌जी को बड़े तीखे बाण मारे, किन्तु उन तीक्ष्ण बाणों के लगने पर भी पवनपुत्र का तेज अपने प्रभाव से बराबर बढ़ता ही गया और वे महान् कपीश्वर बड़े जोर से गर्जने लगे ॥ २३-२४ ॥

ततो दृष्ट्वा हनूमन्तं सव्रणं रघुसत्तमः ।
क्रोधमाहारयामास कालरुद्र इवापरः ॥ २५ ॥
साश्वं रथं ध्वजं सूतं शस्त्रौघं धनुरञ्जसा ।
छत्रं पताकां तरसा चिच्छेद शितसायकैः ॥ २६ ॥
ततो महाशरेणाशु रावणं रघुसत्तमः ।
विव्याध वज्रकल्पेन पाकारिरिव पर्वतम् ॥ २७ ॥

जब रघुनाथजी ने हनुमान्‌जी को क्षत विक्षत देखा तो दूसरे कालरुद्र के समान बड़ा भयंकर क्रोध धारण किया और अपने तीक्ष्ण बाणों से बड़ी फुर्ती के साथ सुगमता से ही रावण के घोड़ेसहित रथ, ध्वजा, सारथी, शस्त्रसमूह, धनुष, छत्र और पताका आदि काट डाले, फिर इन्द्र ने जैसे पर्वतों पर आक्रमण किया था वैसे ही उन्होंने एक वज्रतुल्य महाबाण से रावण को वेध डाला ॥ २५-२७ ॥

रामबाणहतो वीरश्चचाल च मुमोह च ।
हस्तान्निपतितश्चापस्तं समीक्ष्य रघूत्तमः ॥ २८ ॥

अर्धचन्द्रेण चिच्छेद तत्किरीटं रविप्रभम् ।
अनुजानामि गच्छ त्वमिदानीं बाणपीडितः ॥ २९ ॥
प्रविश्य लङ्कामाश्वास्य श्वः पश्यसि बलं मम ।

भगवान् राम का बाण लगने से वह वीर विचलित हो गया, उसे मूर्च्छा आ गयी और उस के हाथ से धनुष छूट गया। उस की ऐसी दशा देखकर रघुनाथजी ने एक अर्द्धचन्द्राकार बाण से उस का सूर्यसदृश प्रकाशमान मुकुट काट डाला और कहा—रावण, तुम मेरे बाण से पीड़ित हो ; अतः मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ ; इस समय तुम जाओ, आज लंका में जाकर विश्राम करो, फिर कल मेरा पराक्रम देखना ॥२८-२९॥

रामबाणेन संविद्धो हतदर्पोऽथ रावणः ॥ ३० ॥
महत्या लज्जया युक्तो लङ्कां प्राविशदातुरः ।
रामोऽपि लक्ष्मणं दृष्ट्वा मूर्च्छितं पतितं भुवि ॥ ३१ ॥
मानुषत्वमुपाश्रित्य लीलयानुशुशोच ह ।
ततः प्राह हनूमन्तं वत्स जीवय लक्ष्मणम् ॥ ३२ ॥
महौषधीः समानीय पूर्ववद्वानरानपि ।

श्री रामचन्द्रजी के बाण से विद्ध होने के कारण सारा दर्प चूर्ण हो जाने पर रावण ने लज्जित और व्याकुल हो, लंका में प्रवेश किया। इधर रामचन्द्रजी भी लक्ष्मणजी को मूर्च्छित अवस्था में पृथिवी पर पड़े देख, मनुष्यभाव का आश्रय ले लीला से शोक करने लगे और हनुमान्जी से बोले—वत्स, पहली तरह ही द्रोणाचल से महौषधि लाकर लक्ष्मण और वानरों को जीवित करो ॥ ३०-३२ ॥

तथेति राघवेणोक्तो जगामाशु महाकपिः ॥ ३३ ॥
हनूमान्वायुवेगेन क्षणात्तीर्त्वा महोदधिम् ।
एतस्मिन्नन्तरे चारा रावणाय न्यवेदयन् ॥ ३४ ॥
रामेण प्रेषितो देव हनूमान् क्षीरसागरम् ।
गतो नेतुं लक्ष्मणस्य जीवनार्थं महौषधीः ॥ ३५ ॥

रघुनाथजी के इस प्रकार कहने पर महाकपि हनुमान्जी 'बहुत अच्छा' कह, एक क्षण में ही महासागर को पारकर वायुवेग से चले। इसी समय रावण के

गुप्तचरों ने उस से कहा—स्वामिन्, राम ने हनुमान् को क्षीरसमुद्र पर भेजा है और वह लक्ष्मण को जीवित करने के लिए महौषधि लेने गया है ॥ ३३-३५ ॥

श्रुत्वा तच्चारवचनं राजा चिन्तापरोऽभवत् ।
जगाम रात्रावेकाकी कालनेमिगृहं क्षणात् ॥ ३६ ॥

गृहागतं समालोक्य रावणं विस्मयान्वितः ।
कालनेमिरुवाचेदं प्राञ्जलिर्भयविह्वलः ।
अर्घ्यादिकं ततः कृत्वा रावणस्याग्रतः स्थितः ॥ ३७॥

गुप्तचरों के ये वचन सुनकर राक्षसराज अति चिन्तातुर हुआ और उसी क्षण रात्रि में ही अकेला कालनेमि के घर गया; रावण को घर आया देख,कालनेमि को बड़ा आश्चर्य हुआ, वह उसे अर्घ्यादि दे उस के सामने खड़ा हो गया और अति भयभीत हो हाथ जोड़कर बोला—॥ ३६-३७ ॥

किं ते करोमि राजेन्द्र किमागमनकारणम् ।
कालनेमिमुवाचेदं रावणो दुःखपीडितः ॥ ३८ ॥

ममापि कालवशतः कष्टमेतदुपस्थितम् ।
मया शक्त्या हतो वीरो लक्ष्मणः पतितो भुवि ॥३९॥

तं जीवयितुमानेतुमोषधीर्हनुमान् गतः ।
यथा तस्य भवेद्विघ्नं तथा कुरु महामते ॥ ४०॥
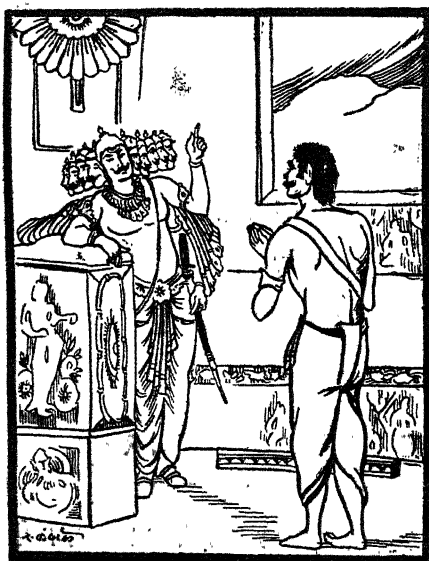
राजराजेश्वर, आज किस निमित्त से आना हुआ ? कहिये मैं आप की क्या सेवा करूँ ? तब रावण ने अति दुःखित होकर कालनेमि से कहा—आज कालक्रम से मुझे भी यह कष्ट उपस्थित हो गया । मेरी शक्ति से आहत होकर वीर लक्ष्मण पृथिवी पर गिर पड़ा है, उसे जीवित करने के लिए हनुमान् ओषधि लेने गया है । हे महामते, तुम कोई ऐसा उपाय करो जिस से उस के लाने में विघ्न खड़ा हो जाय ॥ ३८-४० ॥

मायया मुनिवेषेण मोहयस्व महाकपिम् ।
कालात्ययो यथा भूयात्तथा कृत्वैहि मन्दिरे ॥४१॥
रावणस्य वचः श्रुत्वा कालनेमिरुवाच तम् ।
रावणेश वचो मेऽद्य शृणु धारय तत्त्वतः ॥ ४२ ॥

तुम माया से मुनिवेष बनाकर हनुमान् को मोहित करो, जिस से ओषधि के प्रयोग का समय निकल जाय। यह कार्य करके फिर अपने घर लौट आना। रावण के वचन सुनकर कालनेमि ने उस से कहा—महाराज रावण, मेरी बात सुनिये और उसे यथार्थ समझ कर धारण कीजिये ॥ ४१-४२ ॥

प्रियं ते करवाण्येव न प्राणान् धारयाम्यहम् ।
मारीचस्य यथारण्ये पुराभून्मृगरूपिणः ॥४३॥
तथैव मे न सन्देहो भविष्यति दशानन ।
हताः पुत्राश्च पौत्राश्च बान्धवा राक्षसाश्च ते ॥४४।
घातयित्वासुरकुलं जीवितेनापि किं तव ।
राज्येन वा सीतया वा किं देवेन जडात्मना ॥४५॥

मैं आप का प्रिय करूँगा ही, उस के लिए मैं अपने प्राणों की परवा नहीं करता, तथापि हे दशानन, इस में सन्देह नहीं; जो कुछ दण्डकारण्य में मृगरूपधारी मारीच का हुआ था वही दशा मेरी भी होगी। देखिये, आप के पुत्र, पौत्र और अनेकों सगे-संबन्धी राक्षस लोग मारे गये। इस प्रकार राक्षसवंश का नाश कराकर आप के जीवन, राज्य, सीता अथवा इस जड देह से भी क्या लाभ है ? ॥४३-४५॥

सीतां प्रयच्छ रामाय राज्यं देहि विभीषणे ।
वनं याहि महाबाहो रम्यं मुनिगणाश्रमम् ॥४६॥
स्नात्वा प्रातः शुभजले कृत्वा सन्ध्यादिकाः क्रियाः ।
तत एकान्तमाश्रित्य सुखासनपरिग्रहः ॥४७॥
विसृज्य सर्वतः सङ्गमितरान्विषयान्बहिः ।
बहिःप्रवृत्ताक्षगणं शनैः प्रत्यक् प्रवाहय ॥४८॥

हे महाबाहो, आप रामचन्द्रजी को सीता, और विभीषण को राज्य देकर मुनिगण

सेवित सुरम्य तपोवन को जाइये, वहाँ प्रातःकाल शुद्ध जल में स्नान कर तथा सन्ध्योपासनादि नित्यकर्मों से निवृत्त हो, एकान्त देश में सुखमय आसन से बैठिये और सब ओर से निःसंग हो बाह्य विषयों को छोड़, अपनी बाह्य वृत्तिवाली इन्द्रियों को धीरे धीरे अन्तर्मुख कीजिये ॥ ४६-४८ ॥

प्रकृतेर्भिन्नमात्मानं विचारय सदानघ ।
चराचरं जगत्कृत्स्नं देहबुद्धीन्द्रियादिकम् ॥४६॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं दृश्यते श्रूयते च यत् ।
सैषा प्रकृतिरित्युक्ता सैव मायेति कीर्तिता ॥५०॥
सर्गस्थितिविनाशानां जगद्वृक्षस्य कारणम् ।
लोहितश्वेतकृष्णादिप्रजाः सृजति सर्वदा ॥५१॥

हे अनघ, अपने आत्मा को सदा प्रकृति से भिन्न विचारिये । देह बुद्धि और इन्द्रियादि से युक्त संपूर्ण चराचर जगत् अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त जो कुछ दिखायी या सुनायी देता है, वह सब प्रकृति है और वही माया भी कहलाती है । वही सर्वदा संसार रूपी वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की कारणरूप श्वेत (सात्त्विक), लोहित (राजस) और कृष्णवर्ण (तामस) प्रजा उत्पन्न करती है ॥४६-५१ ॥

कामक्रोधादिपुत्राद्यान्हिंसातृष्णादिकन्यकाः ।
मोहयन्त्यनिशं देवमात्मानं स्वैर्गुणैर्विभुम् ॥५२॥
कर्तृत्वभोक्तृत्वमुखान् स्वगुणानात्मनीश्वरे ।
आरोप्य स्ववशं कृत्वा तेन क्रीडति सर्वदा ॥५३॥
शुद्धोऽप्यात्मा यया युक्तः पश्यतीव सदा बहिः ।
विस्मृत्य च स्वमात्मानं मायागुणविमोहितः ॥५४॥

वही माया अपने गुणों से अहर्निश सर्वव्यापक आत्मदेव को मोहित कर काम क्रोधादि पुत्रों और हिंसा तृष्णादि कन्याओं को उत्पन्न करती है । वह कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि अपने गुणों को अपने प्रभु आत्मा में आरोपित कर उसे अपने वशीभूत कर उस से सदा खेलती रहती है । जिस से युक्त होकर आत्मा मायिक गुणों से मोहित होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है और नित्य शुद्ध होता हुआ भी सदा बाह्य विषयों को देखने लगता है ॥५२-५४॥

यदा सद्गुरुणा युक्तो बोध्यते बोधरूपिणा ।
निवृत्तदृष्टिरात्मानं पश्यत्येव सदा स्फुटम् ॥ ५५ ॥
जीवन्मुक्तः सदा देही मुच्यते प्राकृतैर्गुणैः ।
त्वमप्येवं सदात्मानं विचार्य नियतेन्द्रियः ॥ ५६ ॥

जिस समय सद्गुरु का साक्षात्कार होता है और वे उसे निर्मल ज्ञानदृष्टि से जागृत करते हैं उस समय यह बाह्य विषयों से अपनी दृष्टि हटाकर अपने आप को ही स्पष्ट देखता है और फिर यह देहधारी जीव जीवन्मुक्त होकर प्राकृत गुणों से छूट जाता है। हे रावण, आप भी संयतेन्द्रिय होकर इसी प्रकार अपने वास्तविक आत्मस्वरूप का चिन्तन कीजिये ॥ ५५-५६ ॥

प्रकृतेरन्यमात्मानं ज्ञात्वा मुक्तो भविष्यसि ।
ध्यातुं यद्यसमर्थोऽसि सगुणं देवमाश्रय ॥ ५७ ॥
हृत्पद्मकर्णिके स्वर्णपीठे मणिगणान्विते ।
मृदुश्लक्ष्णतरे तत्र जानक्या सह संस्थितम् ॥ ५८ ॥
वीरासनं विशालाक्षं विद्युत्पुञ्जनिभाम्बरम् ।
किरीटहारकेयूरकौस्तुभादिभिरन्वितम् ॥ ५९ ॥

इस से आत्मा को प्रकृति से भिन्न जानकर आप मुक्त हो जायँगे। और यदि आप इस प्रकार ध्यान करने में असमर्थ हों तो सगुण भगवान् का आश्रय लीजिये उस के ध्यान की विधि इस प्रकार है—हृदयकमल की कर्णिकाओं में मणिगणजटित अति मृदुल और स्वच्छ सुवर्ण-सिंहासन पर जो जानकीजी सहित विराजमान हैं, जो वीरासन से बैठे हैं, जिन के नेत्र अति विशाल और वस्त्र विद्युल्लता के समान तेजोमय हैं तथा जो भगवान् किरीट, हार, केयूर और कौस्तुभमणि आदि आभूषणों से सुशोभित हैं ॥५७-५९॥

नूपुरैः कटकैर्भान्तं तथैव वनमालया ।
लक्ष्मणेन धनुर्द्वन्द्वकरेण परिसेवितम् ॥ ६० ॥
एवं ध्यात्वा सदात्मानं रामं सर्वहृदि स्थितम् ।
भक्त्या परमया युक्तो मुच्यते नात्र संशयः ॥ ६१ ॥

नूपुर, कटक और वनमाला आदि से जिन भगवान् की अपूर्व शोभा हो रही है तथा लक्ष्मणजी अपने हाथों में दोनों के धनुष लिये जिन की सेवा में खड़े हैं, उन सब के हृदय में विराजमान अपने आत्मारूप भगवान् राम का इस प्रकार सर्वदा अत्यन्त भक्तिपूर्वक ध्यान करने से आप मुक्त हो जायँगे, इस में सन्देह नहीं ॥ ६०-६१ ॥

शृणु वै चरितं तस्य भक्तैर्नित्यमनन्यधीः ।
एवं चेत्कृतपूर्वाणि पापानि च महान्त्यपि ।
क्षणादेव विनश्यन्ति यथाग्नेस्तूलराशयः ॥ ६२ ॥
भजस्व रामं परिपूर्णमेकं विहाय वैरं निजभक्तियुक्तः ।
हृदा सदा भावितभावरूपमनामरूपं पुरुषं पुराणम् ॥ ६३ ॥

नित्य अनन्यबुद्धि होकर उन के भक्तों के मुखारविन्द से उन के पवित्र चरित्र सुनिये । ऐसा करने से आप के पूर्वकृत महान् पाप भी एक क्षण में ही इस प्रकार भस्म हो जायँगे जैसे अग्नि से रूई का ढेर भस्म हो जाता है । जो सर्वत्र परिपूर्ण हैं उन अद्वितीय भगवान् राम के साथ वैर छोड़कर आप प्रेमपूर्वक उन नामरूपरहित पुराणपुरुष की हृदय में सगुणभाव से भावना कर उन का सर्वदा भजन कीजिये ॥ ६२-६३ ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के षष्ठ सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

सप्तम सर्ग
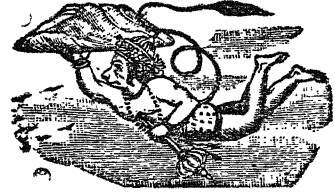
हनुमान्‌जी द्वारा कालनेमि का भंडाफोड, संजीवनी बूँटी लाकर लक्ष्मण को सचेत करना तथा रावण द्वारा कुम्भकर्णजागरण ।

श्रीमहादेव उवाच

कालनेमिवचः श्रुत्वा रावणोऽमृतसन्निभम् ।
जज्वाल क्रोधताम्राक्षः सर्पिरद्भिरिवाग्निमत् ॥१॥

श्री महादेवजी बोले —हे पार्वति, जैसे अग्नि से तपाया हुआ घृत जल डालने से छनछनाने लगता है वैसे ही कालनेमि के अमृततुल्य वचन सुनकर रावण जल उठा और क्रोध से उस के नेत्र लाल हो गये ॥ १ ॥

निहन्मि त्वां दुरात्मानं मच्छासनपराङ्मुखम् ।
परैः किञ्चिद्गृहीत्वा त्वं भाषसे रामकिंकर ॥२॥
कालनेमिरुवाचेदं रावणं देव किं क्रुधा ।
न रोचते मे वचनं यदि गत्वा करोमि तत् ॥ ३ ॥
इत्युक्त्वा प्रययौ शीघ्रं कालनेमिर्महासुरः ।
नोदितो रावणेनैव हनूमद्विघ्नकारणात् ॥ ४ ॥

रावण बोला—अरे, मालूम होता है तू शत्रु से कुछ लेकर ही इस प्रकार राम के दास की भाँति बातें बनाता है। याद रख, मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन करनेवाला तुझ दुष्ट को मैं अभी मार डालूँगा ; तब कालनेमि ने रावण से कहा—देव, क्रोध की क्या बात है ? यदि आप को मेरा कथन अच्छा नहीं लगता तो मैं अभी जाकर आप जैसा कहें वही करता हूँ, इतना कहकर महादैत्य कालनेमि रावण की ही प्रेरणा से हनुमान्‌जी के कार्य में विघ्न करने के लिए वहाँ से तुरन्त चल दिया ॥ ३-४ ॥

स गत्वा हिमवत्पार्श्वे तपोवनमकल्पयत् ।
तत्र शिष्यैः परिवृतो मुनिवेषधरः खलः ॥ ५ ॥
गच्छतो मार्गमासाद्य वायुसूनोर्महात्मनः ।

उसने हिमालय की तराई में पहुँचकर उधर से जाते हुए वायुपुत्र महात्मा हनुमान् के मार्ग में एक तपोवन बनाया और वह दुष्ट स्वयं मुनिवेष बनाकर शिष्यवर्ग से घिरकर बैठ गया ॥ ५ ॥

ततो गत्वा ददर्शाथ हनूमानाश्रमं शुभम् ॥ ६ ॥
चिन्तयामास मनसा श्रीमान्पवननन्दनः ।
पुरा न दृष्टमेतन्मे मुनिमण्डलमुत्तमम् ॥ ७ ॥
मार्गो विभ्रंशितो वा मे भ्रमो वा चित्तसम्भवः ।
यद्वाविश्याश्रमपदं दृष्ट्वा मुनिमशेषतः ॥ ८ ॥
पीत्वा जलं ततो यामि द्रोणाचलमनुत्तमम् ।

जिस समय हनुमानजी वहाँ पहुँचे तो उन्होंने वह सुन्दर आश्रम देखा । उसे देखकर श्रीमान् पवननन्दन मन ही मन सोचने लगे,—मैं ने पहले तो यह उत्तम मुनिमण्डल देखा नहीं था, क्या मैं मार्ग भूल गया हूँ, या मेरे चित्त में कोई भ्रम हो गया है ? अथवा चलो, इस आश्रम में चलकर सब मुनीश्वरों का दर्शन करूँ और जल पीऊँ, तदुपरान्त पर्वतश्रेष्ठ द्रोणाचल पर चलूँगा ॥ ६-८ ॥

इत्युक्त्वा प्रविवेशाथ सर्वतो योजनायतम् ॥ ९ ॥
आश्रमं कदलीशालखर्जूरपनसादिभिः ।
समावृतं पक्वफलैर्नम्रशाखैश्च पादपैः ॥१०॥
वैरभावविनिर्मुक्तं शुद्धं निर्मललक्षणम् ।
तस्मिन्महाश्रमे रम्ये कालनेमिः स राक्षसः ॥११ ॥
इन्द्रयोगं समास्थाय चकार शिवपूजनम् ।

ऐसा विचार, वे उस आश्रम में गये । वह सब ओर से एक योजन विस्तार-वाला था तथा उस में सब ओर, पके हुए फलों से जिन की शाखाएँ झुकी हुई हैं ऐसे कदली, शाल, खजूर और कटहल आदि के वृक्ष लगे हुए थे । वह शुद्ध और निर्मल आश्रम वैरभाव से सर्वथा रहित था । उस अति सुरम्य महाश्रम में राक्षस कालनेमि इन्द्रजालविद्या का आश्रय कर शिवजी का पूजन कर रहा था ॥ ९-११ ॥

हनूमानभिवाद्याह गौरवेण महासुरम् ॥१२॥
भगवन् रामदूतोऽहं हनूमान्नाम नामतः ।
रामकार्येण महता क्षीराब्धिं गन्तुमुद्यतः ॥१३॥
तृषा मां बाधते ब्रह्मन्नुदकं कुत्र विद्यते ।
यथेच्छं पातुमिच्छामि कथ्यतां मे मुनीश्वर ॥१४॥

हनुमान्जी ने उस महादैत्य को बड़े गौरव से नमस्कार कर कहा—भगवन्, मैं भगवान् राम का दूत हूँ, मेरा नाम हनुमान् है और मैं श्रीरामचन्द्रजी के एक महान् कार्य से क्षीरसागर को जा रहा हूँ। ब्रह्मन्, मुझे बहुत प्यास लगी हुई है, मैं खूब जल पीना चाहता हूँ। हे मुनीश्वर, कृपया बतलाइये यहाँ जल कहाँ है ? ॥ १२-१४ ॥

तच्छ्रुत्वा मारुतेर्वाक्यं कालनेमिस्तमब्रवीत् ।
कमण्डलुगतं तोयं मम त्वं पातुमर्हसि ॥१५॥
भुङ्क्ष्व चेमानि पक्वानि फलानि तदनन्तरम् ।
निवसस्व सुखेनात्र निद्रामेहि त्वरास्तु मा ॥१६॥
भूतं भव्यं भविष्यं च जानामि तपसा स्वयम् ।
उत्थितो लक्ष्मणः सर्वे वानरा रामवीक्षिताः ॥१७॥

हनुमान्जी के ये वचन सुनकर कालनेमि ने कहा—तुम मेरे कमण्डलु का जल पी सकते हो, यहाँ ये फल मौजूद हैं, इन्हें खाओ और फिर सुखपूर्वक यहाँ विश्राम लेकर कुछ सो लो। ऐसी जल्दी मत करो, मैं अपने तपोबल से भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों की बात जानता हूँ। इस समय रामचन्द्रजी के देखने से ही लक्ष्मणजी और समस्त वानरगण सचेत होकर उठ बैठे हैं ॥ १५-१७ ॥

तच्छ्रुत्वा हनुमानाह कमण्डलुजलेन मे ।
न शाम्यत्यधिका तृष्णा ततो दर्शय मे जलम् ॥१८॥
तथेत्याज्ञापयामास बटुं मायाविकल्पितम् ।
बटो दर्शय विस्तीर्णं वायुसूनोर्जलाशयम् ॥१९॥
निमील्य चाक्षिणी तोयं पीत्वागच्छ ममान्तिकम् ।
उपदेक्ष्यामि ते मन्त्रं येन द्रक्ष्यसि चौषधीः ॥२०॥

यह सुनकर हनुमान्‌जी ने कहा—मुझे बड़े जोर की प्यास लगी हुई है । इस कमण्डलु के जल से वह शान्त नहीं हो सकती, अतः मुझे जलाशय ही दिखला दीजिये । तब 'अच्छी बात है' ऐसा कहकर उस ने एक मायाकल्पित ब्रह्मचारी को आज्ञा दी कि ब्रह्मचारिन्, हनुमान्‌जी को वह विस्तृत जलाशय दिखला दो । फिर हनुमान्‌जी से बोला—देखो, तुम आँखें मूँदकर जल पीना और फिर तुरन्त मेरे पास चले आना । मैं तुम्हें एक मन्त्र का उपदेश करूँगा, जिस से तुम ओषधि को देख सकोगे ॥२०॥

तथेति दर्शितं शीघ्रं बटुना सलिलाशयम् ।
प्रविश्य हनुमांस्तोयमपिबन्मीलितेक्षणः ॥२१॥
ततश्चागत्य मकरी महामाया महाकपिम् ।
अग्रसत्तं महावेगान्मारुतिं घोररूपिणी ॥२२॥

तब बटु ने 'जो आज्ञा' कहकर तुरन्त ही जलाशय दिखला दिया, उस में घुसकर हनुमान्‌जी आँख मूँदकर जल पीने लगे । इतने ही में वहाँ एक महामायाविनी घोररूपिणी मकरी (मगरमच्छी) आकर बड़ी शीघ्रता से महाकपि हनुमान्‌जी को निगलने लगी ॥ २१-२२ ॥

ततो ददर्श हनुमान् ग्रसन्तीं मकरीं रुषा ।
दारयामास हस्ताभ्यां वदनं सा ममार ह ॥२३॥
ततोऽन्तरिक्षे ददृशे दिव्यरूपधराङ्गना ।
धान्यमालीति विख्याता हनूमन्तमथाब्रवीत् ॥२४॥
त्वत्प्रसादादहं शापाद्विमुक्तास्मि कपीश्वर ।
शप्ताहं मुनिना पूर्वमप्सरा कारणान्तरे ॥ २५ ॥

हनुमान्‌जी ने उस मकरी को अपने को निगलते देख, अति क्रुद्ध हो अपने हाथों से उस का मुख फाड़ डाला, जिस से वह तत्काल मर गयी। इसी समय आकाश में एक दिव्यरूपधारिणी स्त्री दिखलायी दी, उस का नाम धान्यमाली था। वह हनुमान्‌जी से बोली—हे कपीश्वर, आप की कृपा से मैं आज शापमुक्त हो गयी। पहले मैं एक अप्सरा थी, किसी कारणवश एक मुनीश्वर के शाप देने से मैं मकरी हो गयी थी॥ २३-२५॥

आश्रमे यस्तु ते दृष्टः कालनेमिर्महासुरः।
रावणप्रहितो मार्गे विघ्नं कर्तुं तवानघ॥ २६॥
मुनिवेषधरो नासौ मुनिर्विप्रविहिंसकः।
जहि दुष्टं गच्छ शीघ्रं द्रोणाचलमनुत्तमम्॥ २७॥
गच्छाम्यहं ब्रह्मलोकं त्वत्स्पर्शाद्धतकल्मषा।

इस आश्रम में आप ने जिस पुरुष को देखा है वह कालनेमि नामक महादैत्य है। हे अनघ, इसे रावण ने आप के मार्ग में विघ्न डालने के लिए भेजा है। यह मुनिवेष धारण करनेवाला वस्तुतः कोई मुनि नहीं है, बल्कि ब्राह्मणों की हिंसा करनेवाला है। इस दुष्ट को शीघ्र ही मारकर आप पर्वतश्रेष्ठ द्रोणाचल को जाइये; मैं आप के स्पर्श से निष्पाप होकर अब ब्रह्मलोक को जाती हूँ॥ २६-२७॥

इत्युक्त्वा सा ययौ स्वर्गं हनूमानप्यथाश्रमम्॥ २८॥
आगतं तं समालोक्य कालनेमिरभाषत।
किं विलम्बेन महता तव वानरसत्तम॥ २९॥
गृहाण मत्तो मन्त्रांस्त्वं देहि मे गुरुदक्षिणाम्।

ऐसा कहकर वह स्वर्गलोक को चली गयी और हनुमान्‌जी भी आश्रम को चले;

उन को आये देखकर कालनेमि ने कहा—हे वानरश्रेष्ठ, अब बहुत विलम्ब करने से तुम्हें क्या लाभ है ? मुझ से मन्त्र ग्रहण करो और मुझे गुरुदक्षिणा दो ॥ २८-२९ ॥

इत्युक्तो हनुमान्मुष्टिं दृढं बद्ध्वाह राक्षसम् ॥ ३० ॥
गृहाण दक्षिणामेतामित्युक्त्वा निजघान तम् ।
विसृज्य मुनिवेषं स कालनेमिर्महासुरः ॥ ३१ ॥

कालनेमि के इस प्रकार कहने पर हनुमान्‌जी ने अपनी मुट्ठी कसकर बाँधी और उस राक्षस से कहा—लो दक्षिणा तो यह लो ; ऐसा कहकर उस को एक मुक्का मारा । उस के लगते ही महादैत्य कालनेमि मुनिवेष त्यागकर नाना प्रकार की मायाओं से पवनपुत्र के साथ लड़ने लगा ॥ ३०-३१ ॥

युयुधे वायुपुत्रेण नानामायाविधानतः ।
महामायिकदूतोऽसौ हनूमान्मायिनां रिपुः ॥ ३२ ॥
जघान मुष्टिना शीर्ष्णि भग्नमूर्धा ममार सः ।
ततः क्षीरनिधिं गत्वा दृष्ट्वा द्रोणं महागिरिम् ॥ ३३ ॥
अदृष्ट्वा चौषधीस्तत्र गिरिमुत्पाट्य सत्वरः ।
गृहीत्वा वायुवेगेन गत्वा रामस्य सन्निधिम् ॥ ३४ ॥

किन्तु हनुमान्‌जी तो मायापति भगवान् राम के दूत और इन तुच्छ मायावी राक्षसों के शत्रु थे । उन पर इन तुच्छ मायाओं का क्या प्रभाव हो सकता था ? हनुमान्‌जी ने उस के शिर में एक मुक्का मारा, जिस से मस्तक फट जाने के कारण वह तुरन्त मर गया । तदनन्तर वे क्षीरसमुद्र पर पहुँचे और महापर्वत द्रोणाचल को देखा । किन्तु उन्हें वह ओषधि न मिली । अतः फौरन ही उस पर्वत को उखाड़ लिया और उसे वायुवेग से रामचन्द्रजी के पास ले चले ॥ ३२-३४ ॥

उवाच हनूमान् राममानीतोऽयं महागिरिः ।
यद्युक्तं कुरु देवेश विलम्बो नात्र युज्यते ॥ ३५ ॥
श्रुत्वा हनूमतो वाक्यं रामः सन्तुष्टमानसः ।
गृहीत्वा चौषधीः शीघ्रं सुषेणेन महामतिः ॥३६॥
चिकित्सां कारयामास लक्ष्मणाय महात्मने ।

वहाँ जाकर हनुमान्‌जी ने कहा—हे देवेश्वर, मैं इस महापर्वत को ले आया हूँ । आप जो उचित समझें शीघ्र ही करें, इस कार्य में विलम्ब करना ठीक नहीं है । हनुमान्‌जी का यह वचन सुनकर भगवान् राम अति प्रसन्न हुए और उन महामति प्रभु ने तुरन्त ही उस पर्वत से ओषधि लेकर सुषेण वैद्य द्वारा महात्मा लक्ष्मण की चिकित्सा करायी ॥३५-३६ ॥

ततः सुप्तोत्थित इव बुद्ध्वा प्रोवाच लक्ष्मणः ॥३७॥
तिष्ठ तिष्ठ क्व गन्तासि हन्मीदानीं दशानन ।
इति ब्रुवन्तमालोक्य मूर्ध्न्यवघ्राय राघवः ॥३८॥
मारुतिं प्राह वत्साद्य त्वत्प्रसादान्महाकपे ।
निरामयं प्रपश्यामि लक्ष्मणं भ्रातरं मम ॥३९॥

तब नींद से उठे हुए के समान लक्ष्मणजी ने सचेत होकर कहा—अरे दुष्ट दशानन, खड़ा रह, खड़ा रह, तू जायगा कहाँ ? मैं तुझे अभी मारे डालता हूँ । उन्हें इस प्रकार कहते देख,रघुनाथजी ने उन का शिर सूँघकर हनुमान्‌जी से कहा—हे वत्स, हे महाकपे, आज तुम्हारी कृपा से ही मैं अपने भाई लक्ष्मण को सकुशल देख रहा हूँ ॥३७-३९॥

इत्युक्त्वा वानरैः सार्धं सुग्रीवेण समन्वितः ।
विभीषणमतेनैव युद्धाय समवस्थितः ॥ ४० ॥
पाषाणैः पादपैश्चैव पर्वताग्रैश्च वानराः ।
युद्धायाभिमुखा भूत्वा ययुः सर्वे युयुत्सवः ॥४१॥

हनुमान्‌जी से इस प्रकार कहकर श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीव और अन्यान्य वानरों के साथ विभीषण की संमति से युद्ध की तैयारी करने लगे । तब युद्ध के लिए अत्यन्त

उत्सुक समस्त वानरगण पाषाण, वृक्ष और पर्वत शिखर आदि लेकर लड़ने के लिए चले ॥४०-४१॥

रावणो विव्यथे रामबाणैर्विद्धो महासुरः ।
मातङ्ग इव सिंहेन गरुडेनेव पन्नगः ॥४२॥
अभिभूतोऽगमद्राजा राघवेण महात्मना ।
सिंहासने समाविश्य राक्षसानिदमब्रवीत् ॥४३॥

इधर भगवान् राम के बाणों से घायल होकर रावण ऐसा व्याकुल हो रहा था जैसे सिंह से हाथी और गरुड़ से सर्प हो जाता है। अतः वह राक्षसराज महात्मा राम से परास्त होकर लंकापुरी में गया और अपने राजसिंहासन पर ? बैठकर राक्षसों से इस प्रकार कहने लगा ॥४२-४३॥

मानुषेणैव मे मृत्युमाह पूर्वं पितामहः ।
मानुषो हि न मां हन्तुं शक्तोऽस्ति भुवि कश्चन ॥४४॥
ततो नारायणः साक्षान्मानुषोऽभून्न संशयः ।
रामो दाशरथिर्भूत्वा मां हन्तुं समुपस्थितः ॥४५॥

पूर्वकाल में पितामह ब्रह्माजी ने मेरी मृत्यु मनुष्य के ही हाथ से बतलायी थी, किन्तु संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो मुझे मार सके। अतः इस में सन्देह नहीं कि साक्षात् नारायण ही ने मनुष्य का अवतार लिया है और वे दशरथकुमार राम होकर मुझे मारने के लिए आये हैं ॥४४-४५॥

अनरण्येन यत्पूर्वं शप्तोऽहं राक्षसेश्वर ।
उत्पत्स्यते च मद्वंशे परमात्मा सनातनः ॥४६॥
तेन त्वं पुत्रपौत्रैश्च बान्धवैश्च समन्वितः ।
हनिष्यसे न सन्देह इत्युक्त्वा मां दिवं गतः ॥४७॥
स एव रामः संजातो मदर्थे मां हनिष्यति ।

पूर्वकाल में मुझे जो राजा अनरण्य ने शाप दिया था कि हे राक्षसराज, मेरे वंश में सनातनपुरुष परमात्मा अवतार लेंगे और उन्हीं के हाथ से तुम निःसन्देह अपने पुत्र, पौत्र और बान्धवों के सहित मारे जाओगे। ऐसा कहकर वह स्वर्ग को चला गया था, सो उन्हीं राम ने मेरे लिए अवतार लिया है, ये मुझे अवश्य मारेंगे ॥४६-४७॥

कुम्भकर्णस्तु मूढात्मा सदा निद्रावशं गतः ॥४८॥
तं विबोध्य महासत्त्वमानयन्तु ममान्तिकम् ।
इत्युक्तास्ते महाकायास्तूर्णं गत्वा तु यत्नतः ॥४९॥
विबोध्य कुम्भश्रवणं निन्यू रावणसन्निधिम् ।
नमस्कृत्य स राजानमासनोपरि संस्थितः ॥५०॥

हमारा भाई कुम्भकर्ण तो बड़ा ही मूढ है, वह सदा ही निद्रा के वशीभूत रहता है। तुम उस महावीर को जगाकर मेरे पास ले आओ। रावण के इस प्रकार कहने पर वे महाकाय राक्षसगण तुरन्त ही गये और प्रयत्नपूर्वक कुम्भकर्ण को जगाकर रावण के पास ले आये। वहाँ पहुँचने पर वह राजा को प्रणाम कर आसन पर बैठ गया ॥४८-५०॥

तमाह रावणो राजा भ्रातरं दीनया गिरा ।
कुम्भकर्ण निबोध त्वं महत्कष्टमुपस्थितम् ॥५१॥
रामेण निहताः शूराः पुत्राः पौत्राश्च बान्धवाः ।
किं कर्तव्यमिदानीं मे मृत्युकाल उपस्थिते ॥५२॥

तब राजा रावण ने अत्यन्त दीन वाणी में उस अपने भाई से कहा—कुम्भकर्ण, इस समय हमारे ऊपर बड़ा संकट है, सो तुम सुनो; राम ने हमारे बड़े बड़े वीर, पुत्र, पौत्र और बन्धु बान्धवगण मार डाले हैं। भाई, इस समय मेरा मृत्युकाल आ गया है, अब मुझे क्या करना चाहिये ॥ ५१-५२ ॥

एष दाशरथी रामः सुग्रीवसहितो बली ।
समुद्रं सबलस्तीर्त्वा मूलं नः परिकृन्तति ॥५३॥

ये राक्षसा मुख्यतमास्ते हता वानरैर्युधि ।
वानराणां क्षयं युद्धे न पश्यामि कदाचन ॥५४॥
नाशयस्व महाबाहो यदर्थं परिबोधितः ।
भ्रातुरर्थे महासत्त्व कुरु कर्म सुदुष्करम् ॥५५॥

यह महाबली दशरथकुमार राम सुग्रीव सहित दलबल के साथ समुद्र पारकर सब ओर से हमारी जड़ काट रहा है, हमारे जो मुख्य मुख्य राक्षस थे वे सब युद्ध में वानरों के हाथ से मारे गये। किन्तु इस युद्ध में हमें वानरों का क्षय होता कभी दिखायी नहीं देता; हे महाबाहो, तुम इन का नाश करो, मैं ने इसी लिए तुम्हें जगाया है। हे महावीर, अपने भाई के लिए इस दुष्कर कार्य को करो ॥ ५३-५५ ॥

श्रुत्वा तद्रावणेन्द्रस्य वचनं परिदेवितम् ।
कुम्भकर्णो जहासोच्चैर्वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ५६ ॥
पुरा मन्त्रविचारे ते गदितं यन्मया नृप ।
तदद्य त्वामुपगतं फलं पापस्य कर्मणः ॥ ५७ ॥
पूर्वमेव मया प्रोक्तो रामो नारायणः परः ।
सीता च योगमायेति बोधितोऽपि न बुध्यसे ॥५८॥

राजा रावण के ये दुःखमय वचन सुनकर कुम्भकर्ण बड़े जोर से ठट्ठा मारकर हँसा और इस प्रकार कहने लगा—राजन्, आप ने जब पहले सम्मति ली थी, उस समय मैं ने जो कुछ कहा था; आप के पाप का वह फल आज उपस्थित हो ही गया। मैं ने तो आप से पहले ही कहा था कि राम साक्षात् परब्रह्म नारायण हैं और सीताजी योगमाया हैं, किन्तु आप तो समझाने पर भी नहीं समझते ॥ ५६-५८ ॥

एकदाहं वने सानौ विशालायां स्थितो निशि ।
दृष्टो मया मुनिः साक्षान्नारदो दिव्यदर्शनः ॥ ५९ ॥
तमब्रवं महाभाग कुतो गन्तासि मे वद ।
इत्युक्तो नारदः प्राह देवानां मन्त्रणे स्थितः ॥ ६० ॥

एक दिन मैं रात्रि के समय वन में एक विशाल शिला पर बैठा था। इसी समय मैं ने दिव्यमूर्ति साक्षात् नारद मुनि को देखा, उन्हें देखकर मैं ने कहा—हे महाभाग, कहिये इस समय आप कहाँ जा रहे हैं ? मेरे इस प्रकार पूछने पर नारदजी ने कहा—मैं अभी तक देवताओं की एक गुप्त गोष्ठी में था ॥ ५९-६० ॥

तत्रोत्पन्नमुदन्तं ते वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः ।
युवाभ्यां पीडितादेवाः सर्वे विष्णुमुपागताः ॥६१॥
ऊचुस्ते देवदेवेशं स्तुत्वा भक्त्या समाहिताः ।
जहि रावणमक्षोभ्यं देव त्रैलोक्यकण्टकम् ॥६२॥
मानुषेण मृतिस्तस्य कल्पिता ब्रह्मणा पुरा ।
अतस्त्वं मानुषो भूत्वा जहि रावणकण्टकम् ॥६३॥

वहाँ जो कुछ हुआ वह मैं तुम्हें ज्यों का त्यों सुनाता हूँ । तुम दोनों भाइयों से अत्यन्त पीडित होकर समस्त देवगण विष्णुभगवान् के पास गये और उन देव-देवेश्वर की अत्यन्त भक्ति और एकाग्रता से इस प्रकार स्तुति कर कहने लगे—हे देव, इस रावण के आगे हमारी कुछ नहीं चलती, आप इस त्रिलोकी के काँटे का शीघ्र ही संहार कीजिये, पूर्वकाल में ब्रह्माजी ने उस की मृत्यु मनुष्य के हाथ से निश्चित की है, अतः आप मनुष्य होकर इस रावणरूप कण्टक को नष्ट कीजिये ६१-६३।

तथेत्याह महाविष्णुः सत्यसङ्कल्प ईश्वरः ।
जातो रघुकुले देवो राम इत्यभिविश्रुतः ॥ ६४ ॥
स हनिष्यति वः सर्वानित्युक्त्वा प्रययौ मुनिः ।
अतो जानीहि रामं त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ॥ ६५ ॥

तब सत्यसंकल्प भगवान् विष्णु ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहा था, अब वे रघुकुल में अवतीर्ण होकर रामनाम से विख्यात हुए हैं, वे तुम सब को मारेंगे। ऐसा कहकर नारद मुनि चले गये। अतः आप राम को सनातन परब्रह्म ही जानिये ॥ ६४-६५ ॥

त्यज वैरं भजस्वाद्य मायामानुषविग्रहम् ।
भजतो भक्तिभावेन प्रसीदति रघूत्तमः ॥ ६६ ॥

भक्तिर्जनित्री ज्ञानस्य भक्तिर्मोक्षप्रदायिनी ।
भक्तिहीनेन यत्किञ्चित्कृतं सर्वमसत्समम् ॥ ६७ ॥
अवताराः सुबहवो विष्णोर्लीलानुकारिणः ।
तेषां सहस्रसदृशो रामो ज्ञानमयः शिवः ॥ ६८ ॥

आप वैर छोड़कर उन मायामानवरूप भगवान् का भजन कीजिये । श्री रघुनाथजी भक्तिभाव से भजन करनेवाले से प्रसन्न हो जाते हैं; भक्ति ही ज्ञान की जननी और मोक्ष को देनेवाली है । भक्तिहीन पुरुष जो कुछ करता है वह सब न किये के समान ही है । भगवान् विष्णु के अनेकों अवतार हुए हैं और वे सभी अपने स्वरूप के अनुसार लीला करनेवाले थे । किन्तु यह शिवस्वरूप ज्ञानमय रामावतार वैसे एक सहस्र अवतारों के समान है ॥ ६६-६८ ॥

रामं भजन्ति निपुणा मनसा वचसानिशम् ।
अनायासेन संसारं तीर्त्वा यान्ति हरेः पदम् ॥६९॥
ये राममेव सततं भुवि शुद्धसत्त्वा
ध्यायन्ति तस्य चरितानि पठन्ति सन्तः ।
मुक्तास्त एव भवभोगमहाहिपाशैः
सीतापतेः पदमनन्तसुखं प्रयान्ति ॥७०॥

जो लोग रात दिन मन और वचन से भगवान् राम का भली प्रकार भजन करते हैं, वे विना प्रयास ही संसार को पारकर श्री हरि के परमधाम को जाते हैं, जो शुद्धचित्त महानुभाव इस भूमण्डल में निरन्तर राम का ही ध्यान करते और उन्हीं के चरित्र पढ़ते हैं, वे ही सांसारिक विषयरूप महान् नागपाश से छूटकर श्री सीतापति के अनन्त सुखमय चरणकमलों को प्राप्त होते हैं ॥ ६९-७० ॥

रा० च०—प्रभु के प्रेमियो ! आप लोग जिस अध्यात्म रामायण के युद्धकाण्ड की कथा श्रवण कर रहे हो उस के सात सर्ग समाप्त हो गये । मैं ने उक्त सर्गों का व्याख्यान—जिसे मैं रामचर्चा के रूप में किया करता हूँ—नहीं किया । इस का कारण यह है कि मैं शान्तिप्रिय संन्यासी होने की वजह से युद्ध को मानवहित की दृष्टि से अच्छा नहीं समझता, इस से युद्धविषयक विशेष व्याख्यान न करके रामायण का भाव सुना रहा हूँ, आप लोग रामायण के मौलिक पाठार्थ से यह अच्छी तरह समझ जायँगे कि रावण द्वारा आहूत इस रामरावणयुद्ध ने रावण का समृद्ध राज्य किस तरह धूल में मिला दिया ।

सज्जनो! संसार की सारी त्रैकालिक उन्नति शान्ति का ही फल है। शान्ति के साम्राज्य में याने शान्त वातावरण में ही हमें विचार और मनन करने का समय प्राप्त हुआ है, शान्ति ने ही हमें ज्ञान विज्ञान सिखाया है। पर शान्ति का सब से बड़ा शत्रु है युद्ध। युद्ध एक बहुत बड़ा अभिशाप है, यह मानवी उन्नति के पथ का हिमाचल है, यह मनुष्य के भाग्याकाश का राहु है, यह मानवविकास का भयानक विरोधी है, युद्ध दासता का जनक है। विकास के लिए स्वतन्त्रता चाहिए, किन्तु युद्ध के कारण मनुष्य को अपने स्वभाव और प्रकृत सुझाव के अनुसार बढ़ने तथा फलने का अवसर नहीं प्राप्त होता।

युद्ध में जो परास्त हो जाता है वह तो मिट हो जाता है, पर विजेता की भी कम दुर्दशा नहीं होती, वह भी इतना निःसार हो जाता है कि वर्षों बाद होश आती है। परन्तु मनुष्य ने अभी तक अपने स्वार्थी, स्वेच्छाचारी और असामाजिक स्वभाव का सर्वथा परित्याग नहीं कर दिया है। लड़ाई को वह अब भी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखता है। युद्ध में अनेक निर्दोषों की हत्या करनेवाला, हरे भरे खेतों को मरुस्थल बना देनेवाला, असंख्यों को अनाथ और निराश्रित बनानेवाला, कोलाहलपूर्ण ग्रामों को सदा के लिए निस्तब्ध कर देनेवाला योद्धा उन लोगों की अपेक्षा संमान की दृष्टि से देखा जाता है जो निरुपद्रव श्रम से जीवन-यापन करते हैं।

मैं इस विषय में अधिक नहीं कहना चाहता, आप लोग स्वयं अनुभव करें कि इस मित्रता और संबन्धित्वविनाशक युद्ध से समाज का कितना अहित हो सकता है। जब सिर आन पड़ती है तब तो लड़ना ही पड़ता है। श्री राम के समक्ष जटिल समस्या सुलझाने का सिवाय युद्ध के और कोई उपाय ही नहीं था। इस ग्रन्थ में जो युद्ध की घटना का वर्णन है, आज आप जिसे सुन रहे हैं इस से हेयता का उपदेश लीजिये, उपादेयता का नहीं। अर्थात् युद्ध नहीं करना चाहिये, जहाँ तक संभव हो लड़ाई झगड़ा टालना ही चाहिये अङ्गीकार करना नहीं।

यह अध्यात्म रामायण है, इस में आत्मज्ञान की प्रधानता है, जो कथाभाग है वह उस का समर्थक है। ब्रह्माण्ड पुराण के उत्तरखण्ड में शिवपार्वतीसंवादरूप में इस आख्यान को ग्रथित करके व्यासमुनि ने सोने से सुगन्ध का योग कर दिया है। 'साख्यानात्मचिन्तन' का सुन्दर अध्ययन अध्यात्म रामायण में जैसा मिलता है ऐसा किसी ग्रन्थान्तर में प्रायः सुलभ नहीं। जैसे—

१—इस काण्ड के प्रथम सर्ग में—

अगाधं गगनाकारं सागरं वीक्ष्यदुःखिताः।
तरिष्यामः कथं घोरं सागरं वरुणालयम्॥

यह श्लोक आया है, श्री राम की सेना लंकापुरी पर आक्रमण की तैयारी कर रही है, लंका जैसे सुरक्षित गिरि दुर्ग पर हमला करने की कल्पना करनी कितनी कठिन है यह बात तो है ही। पर रामचन्द्रजी को सब से अधिक चिन्ता और दुःख इस बात का है कि इस अथाह सागर को पार कैसे किया जायगा ? "आध्यात्मिक दृष्टि से राम आनन्दस्वरूप अविनाशी हैं, दुःख, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह और मद आदि सब अज्ञान के ही चिन्ह हैं। चिदात्मा राम में ये कैसे हो सकते हैं ? ये दुःखादि सब बुद्धि के ही धर्म हैं, भगवान् राम परमात्मा, पुराणपुरुष, नित्य प्रकाशस्वरूप, नित्य सुखस्वरूप और निरीह हैं, किन्तु अज्ञानी पुरुषों को वे मायिक गुणों के संबन्ध से सुखी या दुखी से प्रतीत होते हैं," यह वर्णन भी उसी सर्ग के अन्त में किया गया है।

मायोपाधिक–कौशलकिशोर रामचरित का रसास्वाद करनेवालों को प्रतीत होना चाहिये कि इस काण्ड के प्रथम सर्ग में श्री रामजी समुद्र के तट पर बैठकर उस के पार होने का उपाय सोचते हुए सागर की दुर्लङ्घिता विचारकर दुखी हो रहे हैं। भगवान् का समुद्रतरणोद्योग लोगों को यह उपदेश देता है कि कर्मयोगियों के मार्ग की कठिनाइयाँ उन्हें उद्देश्यसिद्धि से रोक नहीं सकतीं। जो श्री राम के उपदेशचरित को हृदय में धारण करते हैं, जो राम का नाम लेते हैं उन के उद्धार के विषय में मन्त्रमहोदधि आदि ग्रन्थों में लिखा है कि–

असारे चैव संसारे, सागरोत्तारकारकम्।
हारकं दुःखजालानां श्रीरामेत्यक्षरद्वयम्॥

इस असार संसार से पार लंघानेवाले, दुःखद्वन्द्वों को नाश करनेवाले 'श्री राम' ये दो अक्षर ही हैं। प्रथम सर्ग में वर्णित मर्कटसैन्यप्रस्थान आप लोगों को विघ्नों की परवाह न करके कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होने का उपदेश देता है।

२—दूसरे सर्ग में—हनुमान् के लंकादहन कर जाने के बाद राजा रावण ने एक 'युद्ध कौन्सिल' की बैठक की, उस में कुम्भकरण, मेघनाद, महापार्श्व, महोदर, निकुम्भ, कुम्भ और अतिकाय प्रभृति मन्त्रि तथा योद्धाओं ने राम के साथ युद्धविषयक प्रस्ताव का समर्थन किया। कुम्भकर्ण रावण के सीताहरणकार्य के विरुद्ध थे, पर फिर भी जो हुआ सो हुआ समझकर रावण की सहायता के लिए उन्होंने युद्ध करने में अपनी संमति प्रदान की और वीरों ने भी युद्ध का समर्थन किया। एक विभीषण ही ऐसा था, जिस ने अपनी जाति का पक्षपात, अपने ज्येष्ठ भ्राता राजा रावण की आज्ञा की परवाह न करते हुए इस अधर्मयुद्ध का तीव्र विरोध करके सन्धि का नया प्रस्ताव उपस्थित किया।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

और इस नीति का अक्षरशः पालन किया। पर 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' न्यायानुसार वे लोग धर्माधर्म का विचार नहीं करते, जिन्हें आपत्सागर में डूबना होता है। रावण ने विभीषण की नेक सलाह नहीं मानी, और—

अनार्येण कृतघ्नेन सङ्गतिर्मे न युज्यते।

इत्यादि दुर्वचनों से भरी सभा में उस का अपमान किया।

बहुत से बड़े कहानेवाले लोग, दूसरों से अपने अन्याय का समर्थन कराने का यत्न किया करते हैं। रावण को विभीषण से भी यही आशा थी, पर उसने ऐसा करने से साफ इन्कार कर दिया। अब इस प्रसंग में यहाँ थोड़ा सा यह विचार कर लेना है कि 'जब कि शत्रु दरवाजे तक आ गया हो, युद्ध ही नहीं, बल्कि जीवन मरण का प्रश्न सामने हो, ऐसी नाजुक घड़ी में विभीषण को भाई और अपनी जाति का साथ नहीं छोड़ना चाहिये था। यदि रावण की नीति इसे पसन्द नहीं थी तो उस का साथ छोड़कर इस प्रकार कहीं चले जाना चाहिये था, जैसे बलरामजी महाभारतयुद्ध के समय उस से बचने के लिए तीर्थाटन करने चले गये थे। विभीषण का राम से मिल जाना किसी राजपरिवारवाले व्यक्ति के लिए कहाँ तक न्याय्य है इस पर आप लोग स्वयं विचार कर सकते हैं।

मित्रो ! विभीषण अपनी जाति का सुधार चाहता था, यह काम तभी होना संभव था जब लंका के सिंहासन से रावण हट जाय और उस के साथ ही कुम्भकर्ण, इन्द्रजित प्रभृति तामसी योद्धा न रहने पावें। यह काम श्री राम की सहायता से ही हो सकता था, इसी राजनैतिक कार्यसिद्ध्यर्थ विभीषण राम से मिला।

३—तृतीय सर्ग में शरणागतवत्सल भगवान् ने मन्त्रियों के निषेध करने पर भी विभीषण को अपना लिया। रघुनाथजी की शरण में आने से विभीषण दैत्यराज विभीषण हो गया। किसी जगह ऐसी कथा लिखी है कि 'एक मनुष्य समुद्र में डूबता तैरता अकस्मात् लंका के किनारे जा पहुँचा। उस मनुष्य को श्री रामराज्य का समझकर विभीषण ने उस का बहुत आदर सत्कार किया। पश्चात् उस को अपने देश लौटने के लिए उस के ललाट पर 'श्री राम' लिख दिया। इसी रामनाम लिखने के प्रभाव से वह अधम पामर भी रामनाम लिखी शिलाओं की तरह तैरता हुआ सकुशल घर पहुँच गया। श्री राम में भक्ति और श्रद्धा इसी को कहते हैं, रामनाम का ऐसा ही माहात्म्य है—

'श्री रघुवीरप्रताप ते सिन्धुतरे पाषान॥

जो प्रभु की शरण में आ जाता है, उसे किसी का भय नहीं रहता।'

संसारामयभेषजं सुमधुरं श्री जानकीजीवनम्॥

४—चौथे सर्ग में समुद्रतरण का प्रयास किया गया है, पर इस सर्ग का रावण के

साथ जो शुक नाम दूत का संवाद हुआ है वह विचारणीय है। शुक कहता है कि हे रावण ! यह भारतवर्ष कर्मभूमि है, तूँ यहाँ ब्राह्मणशरीर से पुलस्त्य मुनि के प्रतिष्ठित कुल में उत्पन्न हुआ है, तेरे पास किसी तरह के ऐश्वर्य की कमी नहीं है, ऐसा समर्थ पुरुष अन्याय-मार्ग का अनुसरण करता है तो हृदय को क्लेश होता है।

ऐसी दशा में तुम्हें परात्पर राम से द्वेष नहीं करना चाहिये। वे जगन्मङ्गल अवधेश-कुमार तेरा सर्वथा हितसाधन करने में समर्थ हैं, ब्रह्माजी ने मरीचि ऋषि से कहा था कि—

अहं च शङ्करो विष्णुस्तथा सर्वे दिवौकसः।
रामनामप्रभावेण संप्राप्ताः सिद्धिमुत्तमाम् ॥

अर्थात् मैं, शिव, विष्णु और संपूर्ण देवतागण श्री राम के प्रभाव से ही सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

रावण ! तूँ स्वयं अनुभव करके देख, कि तेरे पास विपुल संपत्ति आदि सब कुछ होते हुए भी तुझे शान्ति नहीं प्राप्त हो रही है, रात दिन हवा में सूखे पत्ते की तरह इधर उधर मारा मारा फिरता है। एक तरफ कार्य सिद्ध करके आता है तो दूसरी तरफ बिगड़ जाता है। किसी एक शत्रु को परास्त करता है तो दूसरा सिर ऊँचा कर लेता है। तुझे न बाहर सुख है, न घर में शान्ति है। मैं तेरी दिनरात्रिचर्या से अवगत हूँ, अतः इसी आधार पर कहता हूँ कि तूँ सुग्रीव-लक्ष्मण-विभीषण-सेवितचरण, शरणागतवत्सल, धनुर्धारी श्री रघुनाथजी का सीतासहित भजन करके अलौकिक शान्तिरसास्वाद का लाभ ले।

५—पांचवें सर्ग में शुक के समझाने का रावण पर जो प्रतिकूल प्रभाव पड़ा उस से मनुष्यों को जो शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए उस के वर्णन के साथ रावण को माल्यवान् मन्त्री के समझाने का सम्वाद भी कहा गया है। दरअसल जब मनुष्य के रोम रोम में पाप समा जाता है, जब कि हृदयपट अनर्थवर्णरंजित हो जाता है और उस के संस्कार सर्वथा हीनाव-स्थापन्न हो जाते हैं तो उसे किसी की शिक्षा ऐसे ही अप्रिय लगती है जैसे चिररोगी को पथ्य-सेवन की बात अच्छी नहीं लगती। रावण को वृद्ध मन्त्री का परामर्श ग्राह्य नहीं हुआ, क्योंकि उस का सर्वनाश होनेवाला था। राम की महिमा के विषय में पुराणों में कहा है कि—

यज्जिह्वा रघुनाथस्य नामकीर्तनमादरात्।
करोति विपरीता या फणिनो रसना समा ॥

अर्थात् जिस पुरुष की जिह्वा से श्री रघुनाथजी का नाम नहीं निकलता उस की जीभ सर्प की जहरीली जिह्वा के सदृश है।

जो अपने हितकारियों की बात पर ध्यान नहीं देता उसे नीतिमानों ने गतायु कहा है—

दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम् ।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ।।

अर्थात्—दीवे के बुझा देने पर जो एक प्रकार की गन्ध निकलती है, वह जिसे नहीं प्रतीत होती, जो अपने हितैषियों की बात पर ध्यान नहीं देता और जिसे अरुन्धती तारा नहीं दिखाई देता यह समझो कि वह जल्दी ही मर जानेवाला है ।

रावण के हितैषियों की शिक्षा न मानने का यह परिणाम हुआ कि इसी सर्ग के अन्त में राम के सैन्यसागर की बाढ लङ्का को बहाने आ पहुँची । दशानन की शान्ति नष्ट हो गई, जो आज तक दूसरों पर आक्रमण करता रहा वही नर वानरों से आक्रान्त हो नवा-वतार अपवादानुभव करने लगा ।

६—छठे सर्ग में—पवनतनय हनुमान्‌जी के लोकोत्तर श्रम का वर्णन है, जो उन्होंने लक्ष्मणजी के लिए ओषधि लाने में दिखाया । हनुमान्‌जी बाल ब्रह्मचारी थे, ऐसे पुरुष जिस का साथ देंगे उस का कोई बाल बांका नहीं कर सकता । हनुमान्‌जी ने स्वर्णभू लङ्का को जानकीजी की शोकाग्नि से जलाया था । सीता के हृदय में जो चिन्ता की आग थी, उसे हनु-मान्‌जी ने सारी लङ्का में फैलाकर यह साबित कर दिया था कि एक अबला की आग की आँच सारे नगर को कैसे तपा सकती है । मूल रामायण में यह कहा गया है कि—

उल्लङ्घ्यसिन्धोः सलिलंसलीलं यः शोकवन्हिं जनकात्मजायाः ।
आदायतेनैव ददाह लङ्कां नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ।।

हनुमान्‌जी श्री अवधेश कौशलकिशोर राम के बड़े भक्त थे । सन्तों से सुना है कि जब अवधेश श्री रामचन्द्रजी महाराज का राज्याभिषेक हुआ तब सागर की दी हुई रत्नों की माला विभीषण ने श्री जानकीजी की भेंट की । उस माला की इतनी ज्योति थी कि कोई राजा उस की ओर ताकने को ताब नहीं रखता था । वह माला मिथिलेशकुमारी ने श्री रामचन्द्रजी की आज्ञा से प्रसादरूप से हनुमान्‌जी के गले में पहना दी, इस माला में कोई बड़ा भारी गुण होगा, यह समझकर हनुमान्‌जी बहुत प्रसन्न हुए और प्रत्येक रत्न को गौर से देखने लगे । माला के प्रकाश से हनुमान्‌जी की तृप्ति नहीं हुई उन्होंने सोचा इस के भीतर कुछ सार भी अवश्य होगा । यह विचार, माला का एक मोती तोड़ डाला; यह देख, राजागण आश्चर्यान्वित हो रहे थे । मारुति ने वह मोती फेंक, दूसरा फोड़ा, उस में भी जब कुछ नहीं दिखाई दिया तब उसे फेंककर तीसरा फोड़ा । इसी प्रकार जब सब दानों को फोड़ फोड़कर फेकने लगे तो सब राजाओं को बड़ा दुःख हुआ । उस में से एक से न रहा गया उसने पूछा—'आप यह क्या गजब कर रहे हैं ?' महावीरजी ने उत्तर दिया कि 'इन रत्नों में सुखदायक "श्री रामनाम" की खोज कर रहा हूँ ।' यह सुन, दूसरा राजा बोला । 'क्या

सभी वस्तुओं में राम का नाम होता है ? हम ने तो ऐसा न कहीं देखा न सुना। यह सुन, हनुमान्‌जी ने जवाब दिया कि 'जिस में राम का नाम नहीं वह वस्तु किसी काम की नहीं।'

शास्त्रं न तत्स्यान्न हि यत्र रामः तीर्थं न यद्यत्र न रामचन्द्रः।
यागः स अग्निर्नहि यत्र रामो योगः स रोगो नहि यत्र रामः॥

इस पर राजा बोल उठा, आप के शरीर में रामनाम अवश्य लिखा होगा। उन्होंने कहा—'हाँ अवश्य'। यह कहकर पवनतनय ने अपनी छाती चीरकर दिखा दी, जिस के रोम रोम में राम रमा हुआ लिखा दिखाई दिया, पश्चात् रामचन्द्रजी ने उन के शरीर की ओर निहारा इस से केशरीनन्दन का शरीर वज्र का हो गया, और भक्तिबस रघुनाथजी ने कहा था कि—

प्रति उपकार करौं का तोरा ❀ सन्मुख ह्वै न सकत मन मोरा॥

इसी सर्ग के कालनेमिव्यवहार ने यह बोधन किया है कि परोपकाररत महापुरुषों के मार्ग में आनेवाली भयानक बाधायें प्रभुप्रताप से कैसे टल जाती हैं। संसार में दुष्ट अपनी हरकतों से बाज नहीं आते, पर प्रभुप्रेमियों को इन की कुछ परवाह न करके अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँचने में शिथिल यत्न नहीं होना चाहिये।

रामतत्त्वं विजानाति हनूमानथ लक्ष्मणः।
तद्विमर्षे तु का शक्तिरितरस्योदरम्भरेः॥

अर्थात्—श्री राम का तत्त्व (सही मतलब) हनुमान् और लछमणजी जानते हैं, दूसरे पेट भरनेवालों की क्या सामर्थ्य है जो उसे जान सकें।

७—सप्तम सर्ग में एक पक्ष दूसरे दल को दलन करने का कौशल दिखा रहा है, सुलह और कलह में जमीन आसमान का फर्क है। सुलह में, शान्ति में निर्माणकार्य होता है और कलह में, युद्ध में बनी बनाई व्यवस्था बिगाड़ी जाती है; यही नहीं, प्रत्युत ऐसी अवस्था उपस्थित कर दी जाती है जिस में जीवन तक खतरे में पड़ जाता है।

संसार में शान्ति कम है, अशान्ति ही अधिक संख्या में सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है। आप लोग नित्य अनुभव कर रहे हैं कि युद्ध याने लड़ाई झगड़े कितनों की जिन्दगी बरबाद कर रहे हैं। मैं इस युद्धकाण्ड का अधिक व्याख्यान नहीं करना चाहता। आप लोग समझें कि एक ओर रामदल है, दूसरी तरफ राक्षसराज का सैन्यसागर हिलोरें मार रहा है। एक ओर राम की नवशिक्षित वानरचमू है, दूसरी ओर चिरशिक्षित शूरवीरों का समुदाय है। इधर मैदान है, उधर गिरिदुर्ग दुर्गम लंका है। कहने का भाव यह है कि राक्षसराज की ओर सब प्रकार की युद्धानुकूल समुचित व्यवस्था है, पर राम की ओर यह बात नहीं है। राम के पास रथ तक नहीं है। यह देखकर विभीषण ने कहा—

रावण रथी विरथ रघुवीरा ❀ देखि विभीषण भयो अधीरा॥

घबराकर श्री रामचन्द्रजी से—

अधिक प्रीति उर भा संदेहा ❀ बन्दि चरण कह सहित सनेहा ॥

कहने लगा—

नाथ न रथ नहिं तनु पद त्राना ❀ केहि विधि जीतब रिपु बलवाना ॥

यह सुनकर रघुवंशविभूषण ने उत्तर दिया—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना ❀ जेहि जय होय सो स्यन्दन आना ॥
शौरज धीर जाहि रथ चाका ❀ सत्य शील दृढ ध्वजा पताका ॥
बल विवेक दम परहित घोरे ❀ क्षमा दया समता जनु जोरे ॥
ईश भजन सारथी सुजाना ❀ विरति चरम सन्तोष कृपाना ॥
दान परशु बुधि शक्ति प्रचण्डा ❀ वर विज्ञान कठिन कोदण्डा ॥
संयम नियम शिलीमुख बाना ❀ अमल अचल मन तूण समाना ॥
कवच अभेद विप्रपद पूजा ❀ यहि सम विजय उपाय न दूजा ॥
सखा धर्ममय अस रथ जाके ❀ जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके ॥

महा क्रोध संग्राम रिपु, जीति सकै को वीर।
जाके अस रथ होहि दृढ, सुनहु सखा मतिधीर ॥

रघुनाथजी ने विभीषण को जिस अध्यात्मरथ का बोधन कराया है यदि उस रथ पर चढ़कर कोई युद्ध करेगा तो आजकल के नूतन आविष्कारजन्य वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों से सज्जित किसी सैनिक की मजाल नहीं है जो उसे परास्त कर सके। हिन्दूजाति श्री राम का नाम इसी लिये जपा करती है उस से कितनों हो का उद्धार हो गया। कुछ उदाहरणरूप में ये नामस्मरण रखने योग्य हैं, यथा—

ऋषि नारि उधारि कियो शठ केवट, मीत पुनीत सुकीर्ति लही।
निज लोक दिया सवरी खग को, कपि थाप्यो सो मालुम है सबही।
दसशीस विरोध सभीत विभीषण, भूप कियो जग लीक रही।
करुणानिधि को भजु रे तुलसी, रघुनाथ अनाथ के नाथ सही ॥

इस सर्ग में फिर भी कुम्भकर्ण ने रावण को, राम के स्वरूप को समझाने का यत्न किया, पर वह दुराग्रहावतार दशग्रीव उस के सदुपदेश से जरा भी न पसीजा। पत्थर पर काहे को जोंक लगती थी?

अध्यात्म रामायण में यह खूबी है कि उस में कथा भी चलती रहती है और साथ ही भगवान् राम के स्वरूप को लक्ष्य करके अध्यात्मज्ञान की आवृत्ति भी होती रहती है। इस में इतिवृत्त भी है और ब्रह्मविद्या भी है।

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के सप्तम सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

ॐ

अष्टम सर्ग
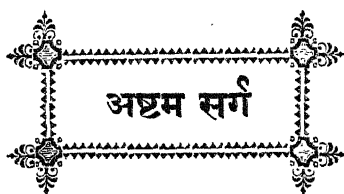
संग्राम में कुम्भकर्ण की वीरगति।

श्रीमहादेव उवाच—

कुम्भकर्णवचः श्रुत्वा भ्रुकुटीविकटाननः।
दशग्रीवो जगादेदमासनादुत्पतन्निव॥ १॥
त्वमानीतो न मे ज्ञानबोधनाय सुबुद्धिमान्।

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति, कुम्भकर्ण के ये वचन सुनकर रावण का मुख और भृकुटि क्रोध से विकराल हो गये। उस ने मानो आसन से उछलते हुए इस प्रकार कहा—मैं जानता हूँ तुम बड़े बुद्धिमान् हो, किन्तु इस समय मैं ने तुम्हें ज्ञानोपदेश करने के लिए नहीं बुलाया है॥ १॥

मया कृतं समीकृत्य युध्यस्व यदि रोचते॥ २॥
नो चेद्गच्छ सुषुप्स्यर्थं निद्रा त्वां बाधतेऽधुना।
रावणस्य वचः श्रुत्वा कुम्भकर्णो महाबलः॥ ३॥
रुष्टोऽयमिति विज्ञाय तूर्णं युद्धाय निर्ययौ।

यदि तुम्हें अच्छा लगे तो मेरे कृत्य को ठीक मानकर युद्ध करो, नहीं तो जाओ शयन करो; तुम्हें इस समय नींद सता रही होगी। रावण के ये वचन सुनकर महाबली कुम्भकर्ण यह जानकर कि रावण रुष्ट हो गया है, तुरन्त युद्ध के लिए चल पड़ा॥ २-३॥

स लङ्घयित्वा प्राकारं महापर्वतसन्निभः॥ ४॥
निर्ययौ नगरात्तूर्णं भीषयन्हरिसैनिकान्।
स ननाद महानादं समुद्रमभिनादयन्॥ ५॥
वानरान्कालयामास बाहुभ्यां भक्षयन् रुषा।

महापर्वत के समान विशालकाय राक्षस कुम्भकर्ण नगर के परकोटे को लाँघकर बाहर आया, अत्यन्त दीर्घकाय होने के कारण वह नगर के द्वारों में होकर नहीं निकल सकता था, और सम्पूर्ण वानरसैनिकों को भयभीत करते हुए उसने बड़ा घोर शब्द किया, जिस से समुद्र भी गूँज उठा। फिर वह अत्यन्त क्रुद्ध हो, अपनी भुजाओं से वानरों को निगल निगलकर नष्ट करने लगा ॥ ४-५ ॥

कुम्भकर्णं तदा दृष्ट्वा सपक्षमिव पर्वतम् ॥ ६ ॥
दुद्रुवुर्वानराः सर्वे कालान्तकमिवाखिलाः ।
भ्रमन्तं हरिवाहिन्यां मुद्गरेण महाबलम् ॥ ७ ॥
कालयन्तं हरीन्वेगाद्भक्षयन्तं समन्ततः ।
चूर्णयन्तं मुद्गरेण पाणिपादैरनेकधा ॥ ८ ॥
कुम्भकर्णं तदा दृष्ट्वा गदापाणिर्विभीषणः ।
ननाम चरणं तस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य बुद्धिमान् ॥ ९ ॥

तब तो जिस प्रकार समस्त प्राणी यमराज को देखकर भागते हैं उसी प्रकार सपक्ष पर्वत के समान विशालकाय कुम्भकर्ण को देखकर समस्त वानरगण भागने लगे। इसी समय, महाबली कुम्भकर्ण को मुद्गर धारणकर वानरसेना में घूमते, ठौर ठौर वानरों को मारते, उन्हें अत्यन्त वेग से भक्षण करते और अपने मुद्गर तथा लात और घूसों से नाना प्रकार कुचलते देख, परमबुद्धिमान् गदापाणि विभीषण ने उस अपने ज्येष्ठ भ्राता के चरणों में प्रणाम किया ॥ ६-९ ॥

विभीषणोऽहं भ्रातुर्मे दयां कुरु महामते ।
रावणस्तु मया भ्रातर्बहुधा परिबोधितः ॥१०॥
सीतां देहीति रामाय रामः साक्षाज्जनार्दनः ।
न शृणोति च मां हन्तुं खड्गमुद्यम्य चोक्तवान् ॥११॥
धिक् त्वां गच्छेति मां हत्वा पदा पापिभिरावृतः ।

विभीषण ने कहा—हे महामते, मैं आप का भाई विभीषण हूँ, आप मुझ पर दया करें। भाई, मैं ने रावण को बारम्बार समझाया कि राम साक्षात् विष्णुभगवान् हैं, तुम उन्हें सीताजी को सौंप दो, किन्तु उन्होंने मेरी बात नहीं सुनी और मुझे मारने के लिए तलवार खींचकर कहा कि 'तुझे धिक्कार है' तू यहाँ से टल जा। पापी मन्त्रियों से घिरे हुए भाई रावण ने ऐसा कहकर मेरे लात मारी ॥ १०-११ ॥

चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सार्धं रामं शरणमागतः ॥ १२॥
तच्छ्रुत्वा कुम्भकर्णोऽपि ज्ञात्वा भ्रातरमागतम् ।
समालिङ्ग्य च वत्स त्वं जीव रामपदाश्रयात् ॥१३॥
कुलसंरक्षणार्थाय राक्षसानां हिताय च ।
महाभागवतोऽसि त्वं पुरा मे नारदाच्छ्रुतम् ॥१४॥

तब मैं अपने चार मन्त्रियों के सहित भगवान् राम की शरण में चला आया। ऐसा सुनकर कुम्भकर्ण ने भी अपने भाई को आया जान, उन्हें हृदय से लगाया और कहा—वत्स, भगवान् राम के चरण का आश्रय पाकर अपने कुल की रक्षा और राक्षसों के कल्याण के लिए तुम चिरकाल तक जीवित रहो। पूर्वकाल में मैं ने नारदजी से सुना था कि तुम बड़े ही भगवद्भक्त हो ॥ १२-१४ ॥

गच्छ तात ममेदानीं दृश्यते न च किञ्चन ।
मदीयो वा परो वापि मदमत्तविलोचनः ॥ १५ ॥
इत्युक्तोऽश्रुमुखो भ्रातुश्चरणावभिवन्द्य सः ।
रामपार्श्वमुपागत्य चिन्तापर उपस्थितः ॥ १६ ॥

भैया, अब तुम जाओ, मेरे नेत्र मद से मतवाले हो रहे हैं, अतः इस समय मुझे अपना पराया कुछ नहीं सूझता। भाई कुम्भकर्ण के इस प्रकार कहने पर विभीषण के नेत्रों में जल भर आया और वे उस के चरणों में प्रणाम कर चिन्ताग्रस्त हो, भगवान् राम के पास आकर खड़े हो गये ॥ १५-१६ ॥

कुम्भकर्णोऽपि हस्ताभ्यां पदाभ्यां पेषयन्हरीन् ।
चचार वानरीं सेनां कालयन् गन्धहस्तिवत् ॥ १७॥

दृष्ट्वा तं राघवः क्रुद्धो वायव्यं शस्त्रमाददात् ।
चिक्षेप कुम्भकर्णाय तेन चिच्छेद रक्षसः ॥ १८ ॥
समुद्गरं दक्षहस्तं तेन घोरं ननाद सः ।

इधर कुम्भकर्ण भी मदमत्त गजराज के समान अपने हाथ और पैरों से वानरों को रौंदता हुआ समस्त वानरसेना में घूमने लगा। उस को देखकर श्री रघुनाथजी ने क्रुद्ध हो, वायव्यास्त्र चढाया और उसे सावधानी से उस की ओर छोड दिया। उस अस्त्र से उन्होंने उस राक्षस का मुद्गरसहित दाहिना हाथ काट डाला। इस से वह महाभयंकर गर्जना करने लगा ॥ १७-१८ ॥

स हस्तः पतितो भूमावनेकानर्दयन्कपीन् । १९ ॥
पर्यन्तमाश्रिताः सर्वे वानरा भयवेपिताः ।
रामराक्षसयोर्युद्धं पश्यन्तः पर्यवस्थिताः ॥ २० ॥
कुम्भकर्णश्छिन्नहस्तः शालमुद्यम्य वेगतः ।
समरे राघवं हन्तुं दुद्राव तमथाऽच्छिनत् ॥ २१ ॥
शालेन सहितं वामहस्तमैन्द्रेण राघवः ।

उस का वह कटा हुआ हाथ अनेकों वानरों को कुचलता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा तब इधर उधर खड़े हुए समस्त वानरगण भय से काँपते हुए भगवान् राम और राक्षस कुम्भकर्ण का युद्ध देखने लगे; अपने दायें हाथ के कट जाने पर कुम्भकर्ण युद्ध में रघुनाथजी को मारने के लिए एक शालवृक्ष उठाकर बड़े वेग से दौड़ा। किन्तु रघुनाथजी ने ऐन्द्र शस्त्र से शालसहित उस का बायाँ हाथ भी काट डाला ॥१९-२१॥

छिन्नबाहुमथायान्तं नदन्तं वीक्ष्य राघवः ॥ २२ ॥
द्वावर्धचन्द्रौ निशितावादायास्य पदद्वयम् ।
चिच्छेद पतितौ पादौ लङ्काद्वारि महास्वनौ ॥ २३ ॥

दोनों भुजाओं के कट जाने पर भी जब श्री रामचन्द्रजी ने उसे गर्ज गर्जकर अपनी ओर आते देखा तो दो अत्यन्त तीक्ष्ण अर्द्धचन्द्राकार बाण चढ़ाकर उस के दोनों चरण भी काट डाले। वे दोनों चरण बड़ा शब्द करते हुए लंका के द्वार पर गिरे ॥२२-२३॥

निकृत्तपाणिपादोऽपि कुम्भकर्णोऽतिभीषणः ।
वडवामुखवद्वक्त्रं व्यादाय रघुनन्दनम् ॥ २४ ॥

अभिदुद्राव निनदन्राहुश्चन्द्रमसं यथा ।
अपूरयच्छिताग्रैश्च सायकैस्तद्वपूत्तम ॥ २५ ॥
शरपूरितवक्त्रोऽसौ चुक्रोशातिभयङ्करः ।

हाथ पाँवों के कट जाने पर भी महाभयानक कुम्भकर्ण राहु जैसे चन्द्रमा की ओर दौड़ता है, वैसे ही घोड़े के समान मुख फाड़कर चिंघाड़ता हुआ भगवान् राम की ओर दौड़ा। किन्तु रघुनाथजी ने उस के मुख को अत्यन्त तीक्ष्ण बाणों से भर दिया। बाणों से मुख भर जाने पर भयंकर राक्षस चिल्लाने लगा। ॥ २४-२५ ॥

अथ सूर्यप्रतीकाशमैन्द्रं शरमनुत्तमम् ॥ २६ ॥
वज्राशनिसमं रामश्चिक्षेपासुरमृत्यवे ।
स तत्पर्वतसङ्काशं स्फुरत्कुण्डलदंष्ट्रकम् ॥ २७ ॥
चकर्त रक्षोऽधिपतेः शिरो वृत्रमिवाशनिः ।
तच्छिरः पतितं लङ्काद्वारि कायो महादधौ ॥ २८ ॥

तब रघुनाथजी ने सूर्य के समान देदीप्यमान अति उत्तम ऐन्द्र बाण चढ़ाया और वह वज्र के समान कठोर बाण उस राक्षस का वध करने के लिए छोड़ा। इन्द्र के वज्र ने जिस प्रकार वृत्रासुर का शिर काटा था उसी प्रकार उस बाण ने उस का पर्वतसदृश शिर, जिस में कुण्डल और दाढ़ें चमक रही थीं, काट डाला। कुम्भकर्ण का शिर लंका के द्वार पर और उस का धड़ समुद्र में गिरा ॥ २६-२८ ॥

रा० च०— जिस प्रकार रावण जगत्प्रसिद्ध योद्धा था, उस से किसी अंश में कुम्भकर्ण में कम स्वरूप योग्यता नहीं थी। पर कुम्भकर्ण ने अपने हाथों अपना विकास रोक दिया। नशा पीना और सोते रहना ये दोनों दुर्व्यसन मनुष्य को ही क्यों प्रत्युत देवता को भी पशुता में परिणत कर देनेवाले अभिशाप हैं। समय-समय पर रावण को समझाने के लिए कुम्भकरण ने जो विचार प्रकट किये हैं वे धर्मसम्मत रहे हैं। प्रतीत होता है, जहाँ रावण धर्मकृत्यों का घोर शत्रु था, वह अपना कर्तव्य तक भूल गया था, वह इतना मदोन्मत्त हो गया था कि उसे हिताहित का कुछ भान ही नहीं रह गया था। वहाँ कुम्भकरण को पाप पुण्य का परिज्ञान था, वह अपने विचारों से समय पर प्रकट भी कर देता था, जिसे श्रोताओं ने इन्हीं कुछ सर्गों में कुम्भकरण के मुख से सुना होगा। पर प्रमाद में अति प्रवृत्त होने के कारण वह विचारस्वातन्त्र्य खो बैठा था, वह अपने लिए किसी स्वतन्त्र मार्ग का अवलम्बन करने का साहस नहीं कर सकता था। जैसे विभीषण ने अपने विचारों के अनुकूल अपना मार्ग चुन लिया था वैसा ही इसे करने का साहस न हो सका।

रावण को कुम्भकर्ण से बड़ी आशा थी, देवताओं को भी विदित था कि कुम्भकर्ण युद्ध में प्रवृत्त होकर रामदल की दिक्कतें बढ़ा देगा, शायद युद्ध का पासा ही बदल दे। पर कुम्भकर्ण ऐसा कुछ भी करने में असमर्थ रहा। क्योंकि—वह मादक द्रव्य सेवन और अहर्निश निद्राभिभूत होने से अपनी सभी शक्ति नष्ट कर चुका था। वह युद्धस्थल में आया, और कुठार से कटकर शालवृक्ष की तरह श्री राम के सायकों से क्रमशः हाथ, पाँव, शिर कटाकर धराशायी हो गया। उसने इह लीला संवरण कर ली। याने मिट गया, पर कर कुछ न गया।

शिरोऽस्य रोधयद्द्वारं कायो नक्राद्यचूर्णयत्।
ततो देवाः सऋषयो गन्धर्वाः पन्नगाः खगाः ॥२९॥
सिद्धा यक्षा गुह्यकाश्च अप्सरोभिश्च राघवम्।
ईडिरे कुसुमासारैर्वर्षन्तश्चाभिनन्दिताः ॥ ३० ॥

उस मस्तक ने लंका के द्वार को रोक लिया और धड़ ने बहुत से नाके आदि जलजन्तुओं को कुचल डाला। इस प्रकार कुम्भकर्ण के मारे जाने पर ऋषियों के सहित देवगण तथा अप्सराओं के सहित गन्धर्व, नाग, पक्षी, सिद्ध, यक्ष और गुह्यक आदि अति प्रसन्न होकर श्री रघुनाथजी पर पुष्पावली बरसाते हुए उन की स्तुति करने लगे ॥ २९-३० ॥

आजगाम तदा रामं द्रष्टुं देवमुनीश्वरः।
नारदो गगनात्तूर्णं स्वभासा भासयन्दिशः ॥३१॥
राममिन्दीवरश्याममुदाराङ्गं धनुर्धरम्।
ईषत्ताम्रविशालाक्षमैन्द्रास्त्राश्रितबाहुकम् ॥३२॥
दयार्द्रदृष्ट्या पश्यन्तं वानरांश्छरपीडितान्।
दृष्ट्वा गद्गदया वाचा भक्त्या स्तोतुं प्रचक्रमे ॥३३॥

इसी समय अपने प्रकाश से संपूर्ण दिशाओं को प्रकाशित करते हुए देवर्षि नारद भगवान् राम का दर्शन करने के लिए तुरन्त ही आकाश से आये। जो नीलकमल के समान श्यामवर्ण, अति मनोहरमूर्ति और धनुष धारण किये हुए हैं, जिन के नेत्र अति विशाल और कुछ अरुणवर्ण हैं तथा भुजाएँ ऐन्द्रास्त्र से सुशोभित हैं, जो अपनी दयामयी दृष्टि से बाणों से पीडित वानरों की ओर देख रहे हैं; उन भगवान् राम का दर्शन कर श्री नारदजी भक्ति से गद्गदकण्ठ हो इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥ ३१-३३॥

नारद उवाच

देवदेव जगन्नाथ परमात्मन्सनातन।
नारायणाखिलाधार विश्वसाक्षिन्नमोऽस्तु ते ॥३४॥
विशुद्धज्ञानरूपोऽपि त्वं लोकानतिवञ्चयन्।
मायया मनुजाकारः सुखदुःखादिमानिव ॥३५॥

नारदजी बोले—हे देवाधिदेव, हे जगत्पते, हे परमात्मन्, हे सनातन पुरुष, हे नारायण, हे सर्वाधार, हे विश्वसाक्षिन्, आप को नमस्कार है। आप विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप हैं, तथापि लोकों की वञ्चना करने के लिए आप अपनी माया से मनुष्याकार धारणकर सुखी दुखी से दिखायी देते हैं॥ ३४-३५॥

त्वं मायया गुह्यमानः सर्वेषां हृदि संस्थितः।
स्वयंज्योतिः स्वभावस्त्वं व्यक्त एवामलात्मनाम् ॥३६॥
उन्मीलयन् सृजस्येतन्नेत्रे राम जगत्त्रयम्।
उपसंह्रियते सर्वं त्वया चक्षुर्निमीलनात् ॥३७॥

आप अपनी माया से आच्छादित होकर अन्तर्यामीरूप से सब के अन्तःकरणों में स्थित हैं। आप स्वभाव से ही स्वयंप्रकाश हैं और शुद्धचित्त व्यक्तियों को ही आप का साक्षात्कार होता है। हे राम, आप नेत्र खोलकर ही इस संपूर्ण त्रिलोकी की रचना कर देते हैं और आप के नेत्र मूँदते ही इस सब का लय हो जाता है॥ ३६-३७॥

यस्मिन्सर्वमिदं भाति यतश्चैतच्चराचरम्।
यस्मान्न किञ्चिल्लोकेऽस्मिंस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः ॥३८॥
प्रकृतिं पुरुषं कालं व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणम्।
यं जानन्ति मुनिश्रेष्ठास्तस्मै रामाय ते नमः ॥३९॥

जिस में यह संपूर्ण चराचर जगत् भास रहा है, जिस से इस की उत्पत्ति हुई है तथा जिस के अतिरिक्त संसार में और कुछ भी नहीं है, वह ब्रह्म आप ही हैं; आप को नमस्कार है। जिन्हें मुनिश्रेष्ठगण प्रकृति, पुरुष, काल और व्यक्ताव्यक्तस्वरूप जानते हैं उन्हीं श्री रामरूप आप को नमस्कार है॥ ३८-३९॥

विकाररहितं शुद्धं ज्ञानरूपं श्रुतिर्जगौ।
त्वां सर्वजगदाकारमूर्तिं चाप्याह सा श्रुतिः ॥४०॥

विरोधो दृश्यते देव वैदिको वेदवादिनाम् ।
निश्चयं नाधिगच्छन्ति त्वत्प्रसादं विना बुधाः ॥४१॥

श्रुति ने विकाररहित, शुद्ध और ज्ञानस्वरूप कहकर आप का वर्णन किया है और वही आप को संपूर्ण जगद्रूप भी बतलाती है। हे देव, इस प्रकार वेदवादियों को यह वेदवचनों में विरोध दिखायी देता है, किन्तु आप की कृपा के बिना तो विज्ञजन भी किसी निश्चय पर नहीं पहुँचते ॥ ४०-४१ ॥

मायया क्रीडतो देव न विरोधो मनागपि ।
रश्मिजालं रवेर्यद्वद्दृश्यते जलवद् भ्रमात् ॥४२॥
भ्रान्तिज्ञानात्तथा राम त्वयि सर्वं प्रकल्प्यते ।
मनसोऽविषयो देव रूपं ते निर्गुणं परम् ॥४३॥
कथं दृश्यं भवेद्देव दृश्याभावे भजेत्कथम् ।

हे देव, आप माया से ही लीला कर रहे हैं, अतः इन वेदवाक्यों में कुछ भी विरोध नहीं है। जिस प्रकार सूर्य का किरणसमूह भ्रम से जल के समान प्रतीत होता है, हे राम, उसी प्रकार यह संपूर्ण जगत् अज्ञान से ही आप में कल्पित हुआ है, आप का वास्तविक निर्गुणरूप तो मन का अविषय है। हे देव, वह किस प्रकार किसी को दिखायी दे सकता है ? और दिखायी न देने से कोई उस का भजन भी कैसे कर सकता है ? ॥ ४२-४३ ॥

अतस्तवावतारेषु रूपाणि निपुणा भुवि ॥४४॥
भजन्ति बुद्धिसम्पन्नास्तरन्त्येव भवार्णवम् ।
कामक्रोधादयस्तत्र बहवः परिपन्थिनः ॥४५॥
भीषयन्ति सदा चेतो मार्जारा मूषकं यथा ।
त्वन्नाम स्मरतां नित्यं त्वद्रूपमपि मानसे ॥४६॥
त्वत्पूजानिरतानां ते कथामृतपरात्मनाम् ।
त्वद्भक्तसङ्गिनां राम संसारो गोष्पदायते ॥४७॥

अतः संसार में बुद्धिमान् और निपुण लोग आप के अवतारस्वरूपों का ही चिन्तन करते हैं और वे ज्ञानसंपन्न होकर संसारसागर को पार कर ही लेते हैं। इस भक्तिमार्ग में काम, क्रोध आदि बहुत से विघ्न भी होते हैं। वे, बिल्ली जिस प्रकार

चूहे को डराती है उसी प्रकार चित्त को सर्वदा भयभीत करते रहते हैं। हे राम, जो लोग निरन्तर आप का नामस्मरण करते हैं, आप के रूप का हृदय में ध्यान करते हैं, आप की पूजा में तत्पर रहते हैं, आप के कथामृत का पान करते रहते हैं तथा आप के भक्तों का संग करते हैं उन के लिए यह संसार समुद्र के समान दुस्तर गोखुर के समान तुच्छ हो जाता है ॥ ४४-४७ ॥

अतस्ते सगुणं रूपं ध्यात्वाहं सर्वदा हृदि ।
मुक्तश्चरामि लोकेषु पूज्योऽहं सर्वदैवतैः ॥४८॥
राम त्वया महत्कार्यं कृतं देवहितेच्छया ।
कुम्भकर्णवधेनाद्य भूभारोऽयं गतः प्रभो ॥४९॥
श्वो हनिष्यति सौमित्रिरिन्द्रजेतारमाहवे ।
हनिष्यसेऽथ राम त्वं परश्वो दशकन्धरम् ॥५०॥

अतः मैं हृदय में सर्वदा आप के सगुणरूप का ध्यान करता हुआ जीवन्मुक्त होकर लोकान्तरों में विचरता हूँ और समस्त देवताओं से पूजित होता हूँ। हे राम, आप ने देवहित की कामना से यह बहुत बड़ा काम किया है, हे प्रभु, इस कुम्भकर्ण के वध से आज पृथिवी का बहुत कुछ भार उतर गया। कल लक्ष्मणजी युद्ध में इन्द्रजित् को मारेंगे और परसों आप रावण का वध करेंगे ॥ ४८-५० ॥

पश्यामि सर्वं देवेश सिद्धैः सह नभोगतः ।
अनुगृह्णीष्व मां देव गमिष्यामि सुरालयम् ॥५१॥
इत्युक्त्वा राममामन्त्र्य नारदो भगवानृषिः ।
ययौ देवैः पूज्यमानो ब्रह्मलोकमकल्मषम् ॥५२॥

हे देवेश्वर, मैं सिद्धों के साथ आकाश में स्थित होकर यह सब चरित्र देखूँगा। हे देव, आप मुझ पर दयादृष्टि रखें, अब मैं स्वर्गलोक को जाता हूँ। ऐसा कहकर मुनिवर भगवान् नारदजी श्री रामचन्द्रजी की आज्ञा पा, देवताओं से पूजित हो, पापहीन ब्रह्मलोक को चले गये ॥ ५१-५२ ॥

भ्रातरं निहतं श्रुत्वा कुम्भकर्णं महाबलम् ।
रावणः शोकसन्तप्तो रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥५३॥
मूर्च्छितः पतितो भूमावुत्थाय विललाप ह ।
पितृव्यं निहतं श्रुत्वा पितरं चातिविह्वलम् ॥५४॥

इन्द्रजित्प्राह शोकार्तं त्यज शोकं महामते ।
मयि जीवति राजेन्द्र मेघनादे महाबले ॥५५॥

बिना प्रयास ही अद्भुत कर्म करनेवाले भगवान् राम द्वारा महाबली भाई कुम्भकर्ण को मारा गया सुन, रावण अत्यन्त शोकाकुल हुआ और मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़ा तथा मूर्च्छा निवृत्त होने पर उठकर विलाप करने लगा। तब इन्द्रजित् ने अपने चचा को मारा गया और पिता को अति विह्वल सुन, अपने शोकाकुल पिता से कहा—हे महामते, शोक दूर कीजिये। हे राजेन्द्र, मुझ महाबली मेघनाद के जीते हुए आप के दुःख का कारण ही कहाँ है ॥ ५३-५५ ॥

दुःखस्यावसरः कुत्र देवान्तक महामते ।
व्येतु ते दुःखमखिलं स्वस्थो भव महीपते ॥५६॥
सर्वं समीकरिष्यामि हनिष्यामि च वै रिपून् ।
गत्वा निकुम्भिलां सद्यस्तर्पयित्वा हुताशनम् ॥५७॥
लब्ध्वा रथादिकं तस्मादजेयोऽहं भवाम्यरेः ।
इत्युक्त्वा त्वरितं गत्वा निर्दिष्टं हवनस्थलम् ॥५८॥

हे देवताओं के कालस्वरूप महाबुद्धिमान् पृथिवीपते, अपना समस्त दुःख छोड़कर आप शान्त होइये, मैं अभी सब कुछ ठीक किये देता हूँ, इन शत्रुओं को मैं अवश्य मार डालूँगा। इस समय मैं निकुम्भिला गुफा में जाता हूँ, वहाँ अग्नि को तृप्तकर रथ आदि प्राप्त करूँगा, इस से मैं शत्रुओं के लिए अजेय हो जाऊँगा, ऐसा कहकर वह निर्दिष्ट यज्ञशाला में गया ॥ ५७-५८ ॥

रक्तमाल्याम्बरधरो रक्तगन्धानुलेपनः ।
निकुम्भिलास्थले मौनी हवनायोपचक्रमे ॥ ५९ ॥
विभीषणोऽथ तच्छ्रुत्वा मेघनादस्य चेष्टितम् ।
प्राह रामाय सकलं होमारम्भं दुरात्मनः ॥ ६० ॥

उस निकुम्भिला देवी के स्थान में उसने रक्त वर्ण के वस्त्र; रक्त पुष्पों की माला

और रक्त चन्दन का लेप धारण कर हवन करना आरम्भ किया, जब विभीषण को मेघनाद के इस कार्य का पता लगा तो उन्होंने उस दुरात्मा के होमारम्भ का सारा समाचार श्री रामचन्द्रजी को सुनाया ॥ ५९-६० ॥

समाप्यते चेद्धोमोऽयं मेघनादस्य दुर्मतेः ।
तदाजेयो भवेद्राम मेघनादः सुरासुरैः ॥ ६१ ॥
अतः शीघ्रं लक्ष्मणेन घातयिष्यामि रावणिम् ।
आज्ञापय मया सार्धं लक्ष्मणं बलिनां वरम् ।
हनिष्यति न सन्देहो मेघनादं तवानुजः ॥ ६२ ॥

विभीषण ने कहा—हे राम, यदि दुरात्मा मेघनाद का यह होम निर्विघ्न समाप्त हो गया तो वह देवता या असुर किसी से भी नहीं जीता जा सकेगा; अतः मैं शीघ्र ही लक्ष्मणजी के द्वारा उस रावणकुमार का वध कराये देता हूँ। आप बलवानों में श्रेष्ठ श्री लक्ष्मणजी को मेरे साथ जाने की आज्ञा दीजिये। इस में सन्देह नहीं, आप के छोटे भाई लक्ष्मणजी मेघनाद को अवश्य मार डालेंगे ॥ ६१-६२ ॥

श्रीरामचन्द्र उवाच—

अहमेवागमिष्यामि हन्तुमिन्द्रजितं रिपुम् ।
आग्नेयेन महास्त्रेण सर्वराक्षसघातिना ॥ ६३ ॥
विभीषणोऽपि तं प्राह नासावन्यैर्निहन्यते ।
यस्तु द्वादश वर्षाणि निद्राहारविवर्जितः ॥ ६४ ॥

श्री रामचन्द्रजी बोले—समस्त राक्षसों को मारनेवाले महान् आग्नेय अस्त्र से अपने शत्रु इन्द्रजित् को मारने के लिए मैं स्वयं ही आऊँगा; तब विभीषण ने कहा—यह राक्षस किसी और से नहीं मारा जा सकता। जिस ने बारह वर्ष तक निद्रा और आहार को छोड़ दिया हो, ब्रह्माजी ने इस दुरात्मा की मृत्यु उस के हाथ निश्चित की है ॥ ६३-६४ ॥

तेनैव मृत्युर्निर्दिष्टो ब्रह्मणास्य दुरात्मनः ।
लक्ष्मणस्तु अयोध्याया निर्गम्यायात्त्वया सह ॥६५॥
तदादि निद्राहारादीन्न जानाति रघूत्तम ।
सेवार्थं तव राजेन्द्र ज्ञातं सर्वमिदं मया ॥ ६६ ॥

तदाज्ञापय देवेश लक्ष्मणं त्वरया मया ।
हनिष्यति न सन्देहः शेषः साक्षाद्धराधरः ॥ ६७ ॥

हे रघुनाथजी, ये लक्ष्मणजी जब से अयोध्या से निकलकर आप के साथ आये हैं, तभी से, आप की सेवा में लगे रहने के कारण, ये निद्रा और आहारादि तो जानते ही नहीं। हे राजेन्द्र, मैं ये सब बातें जानता हूँ; अतः हे देवेश्वर, आप शीघ्र ही लक्ष्मणजी को मेरे साथ जाने की आज्ञा दीजिये । ये साक्षात् धराधारी शेषनाग हैं, इस में सन्देह नहीं उस राक्षस को ये अवश्य मार डालेंगे ॥ ६५-६७ ॥

त्वमेव साक्षाज्जगतामधीशो नारायणो लक्ष्मण एव शेषः ।
युवां धराभारनिवारणार्थं जातौ जगन्नाटकसूत्रधारौ ॥ ६८ ॥

आप ही साक्षात् जगत्पति नारायण हैं और लक्ष्मणजी ही शेषनाग हैं। आप दोनों इस संसाररूपी नाटक के सूत्रधार हैं। पृथिवी का भार उतार ने के लिए ही आप ने जन्म लिया है ॥ ६८ ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के
अष्टम सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप
रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

ॐ

नवम सर्ग
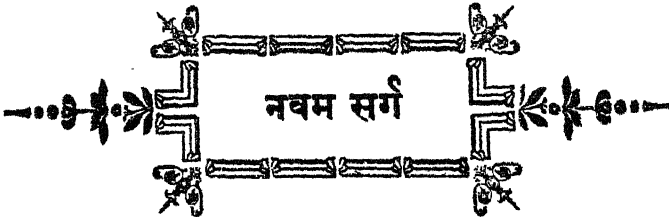
मेघनाद का यज्ञभंग तथा वध ।

श्रीमहादेव उवाच

विभीषणवचः श्रुत्वा रामो वाक्यमथाब्रवीत् ।
जानामि तस्य रौद्रस्य मायां कृत्स्नां विभीषण ॥१॥
स हि ब्रह्मास्त्रविच्छूरो मायावी च महाबलः ।
जानामि लक्ष्मणस्यापि स्वरूपं मम सेवनम् ॥ २ ॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, विभीषण के ये वचन सुनकर श्री रघुनाथजी ने कहा—विभीषण, उस महाभयङ्कर दैत्य की मैं सारी माया जानता हूँ; वह ब्रह्मास्त्रविद्या का जाननेवाला, बड़ा शूरवीर, मायावी और महाबली है। तथा लक्ष्मण मेरी जैसी सेवा करते हैं मैं उस का स्वरूप भी जानता हूँ (अर्थात् मुझे यह पता है कि मेरी सेवा के कारण उन्होंने निद्रा और आहार आदि को छोड़ रखा है) ॥ १-२ ॥

ज्ञात्वैवासमहं तूष्णीं भविष्यत्कार्यगौरवात् ।
इत्युक्त्वा लक्ष्मणं प्राह रामो ज्ञानवतांवरः ॥ ३ ॥
गच्छ लक्ष्मण सैन्येन महता जहि रावणिम् ।
हनूमत्प्रमुखैः सर्वैर्यूथपैः सह लक्ष्मण ॥ ४ ॥

किन्तु इस आगामी कार्य की कठिनता का विचार करके ही मैं ने यह सब जान बूझकर भी अभी तक कुछ नहीं कहा। विभीषण से इस प्रकार कहकर ज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवान् रामचन्द्र लक्ष्मणजी से बोले—भैया लक्ष्मण, तुम और हनुमान् आदि समस्त यूथपति, बहुत बड़ी सेना के साथ जाओ और रावण के पुत्र मेघनाद को मारो ॥ ३-४ ॥

जाम्बवानृक्षराजोऽयं सह सैन्येन संवृतः ।
विभीषणश्च सचिवैः सह त्वामभियास्यति ॥ ५ ॥

अभिज्ञस्तस्य देहस्य जानाति विवराणि सः ।

अपनी सेना के सहित ऋक्षराज जाम्बवान् और मन्त्रियों के सहित विभीषण तुम्हारे साथ जायँगे। ये विभीषण उस से परिचित हैं और उस के छिपने की समस्त कन्दराओं को जानते हैं, इन से तुम्हें उस का पता लगाने में बहुत सहायता मिलेगी ॥ ५ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणः सविभीषणः ॥६॥
जग्राह कार्मुकं श्रेष्ठमन्यद्भीमपराक्रमः ।
रामपादाम्बुजं स्पृष्ट्वा हृष्टः सौमित्रिरब्रवीत् ॥७॥
अद्य मत्कार्मुकान्मुक्ताः शरा निर्भिद्य रावणिम् ।
गमिष्यन्ति हि पातालं स्नातुं भोगवतीजले ॥८॥

रामचन्द्रजी के वचन सुनकर महापराक्रमी लक्ष्मणजी ने विभीषण को साथ ले, अपना एक दूसरा उत्तम धनुष उठाया और अति प्रसन्नतापूर्वक भगवान् राम के चरणकमल का स्पर्श कर कहा—प्रभो, आज मेरे धनुष से छुटे हुए बाण रावणपुत्र इन्द्रजित् के शरीर को भेदकर भोगवती नदी के जल में स्नान करने के लिए पाताल-लोक को चले जायँगे ॥ ६-८ ॥

एवमुक्त्वा स सौमित्रिः परिक्रम्य प्रणम्य तम् ।
इन्द्रजिन्निधनाकाङ्क्षी ययौ त्वरितविक्रमः ॥९॥
वानरैर्बहुसाहस्रैर्हनूमान्पृष्ठतोऽन्वगात् ।
विभीषणश्च सहितो मन्त्रिभिस्त्वरितं ययौ ॥१०॥
जाम्बवत्प्रमुखा ऋक्षाः सौमित्रिं त्वरयान्वयुः ।
गत्वा निकुम्भिलादेशं लक्ष्मणो वानरैः सह ॥११॥
अपश्यद्बलसङ्घातं दूराद्राक्षससङ्कुलम् ।

रघुनाथजी से इस प्रकार कह, सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजी ने उन की परिक्रमा की और इन्द्रजित् को मारने के लिए बड़ी तेजी से चले। उन के पीछे हजारों वानरों के साथ हनुमान्जी और मन्त्रियों के सहित विभीषण ने भी बड़ी शीघ्रता से कूँच किया, तथा जाम्बवान् आदि रीछ भी तुरन्त ही श्री लक्ष्मणजी के साथ चले। जिस समय वानरों के सहित लक्ष्मणजी निकुम्भिला के स्थान पर पहुँचे, उन्होंने दूर से ही वहाँ राक्षसों की बड़ी भारी सेना एकत्रित देखी ॥ ९-११ ॥

धनुरायम्य सौमित्रिर्यत्तोऽभूद्भूरिविक्रमः ॥१२॥
अङ्गदेन च वीरेण जाम्बवान् राक्षसाधिपः।
तदा विभीषणः प्राह सौमित्रिं पश्य राक्षसान् ॥१३॥
यदेतद्राक्षसानीकं मेघश्यामं विलोक्यते।
अस्यानीकस्य महतो भेदने यत्नवान् भव ॥१४॥

तब महापराक्रमी लक्ष्मणजी धनुष चढाकर सावधान हो गये, उन के साथ ही वीरवर अंगद के सहित जाम्बवान् भी सावधान हो गये। तब राक्षसराज विभीषण ने लक्ष्मणजी से कहा—लक्ष्मणजी, इन राक्षसों को देखिये ! सामने जो मेघ के समान श्यामवर्ण राक्षससेना दिखायी दे रही है इस प्रबल अनी को नष्ट करने का यत्न कीजिये ॥ १३-१४ ॥

राक्षसेन्द्रसुतोऽप्यस्मिन् भिन्ने दृश्यो भविष्यति।
अभिद्रवाशु यावद्वै नैतत्कर्म समाप्यते ॥१५॥
जहि वीर दुरात्मानं हिंसापरमधार्मिकम्।

इस सेना के नष्ट हो जाने पर राक्षसराज रावण का पुत्र इन्द्रजित् भी दिखायी देने लगेगा। इस कर्म के समाप्त होने से पहले ही तुरन्त धावा कर दीजिये। हे वीर, इस हिंसापरायण दुरात्मा पापी को आप शीघ्र ही मार डालिये ॥ १५ ॥

विभीषणवचः श्रुत्वा लक्ष्मणः शुभलक्षणः ॥१६॥
ववर्ष शरवर्षाणि राक्षसेन्द्रसुतं प्रति।
पाषाणैः पर्वताग्रैश्च वृक्षैश्च हरियूथपाः ॥१७॥
निर्जघ्नुः सर्वतो दैत्यांस्तेऽपि वानरयूथपान्।
परश्वधैः शितैर्बाणैरसिभिर्यष्टितोमरैः ॥१८॥

निजघ्नुर्वानरानीकं तदा शब्दो महानभूत् ।
स सम्प्रहारस्तुमुलः संजज्ञे हरिरक्षसाम् ॥१९॥

विभीषण के वचन सुनकर शुभलक्षण लक्ष्मण ने राक्षसराजकुमार मेघनाद की ओर बाण बरसाने आरम्भ किये तथा वानरयूथपति भी सब ओर से पत्थर, पर्वत-शिखर और वृक्षादि से दैत्यों पर प्रहार करने लगे। इसी प्रकार राक्षसों ने भी वानर-यूथपतियों और वानरसेना पर परशु, तीक्ष्ण बाण, खड्ग, यष्टि और तोमरादि शस्त्रों से आक्रमण किया। तब वहाँ बड़ा भारी कोलाहल हुआ और राक्षस तथा वानरों में बड़ा घमासान युद्ध छिड़ गया ॥ १६-१९ ॥

इन्द्रजित्स्वबलं सर्वमर्द्यमानं विलोक्य सः ।
निकुम्भिलां च होमं च त्यक्त्वा शीघ्रं विनिर्गतः ॥२०॥
रथमारुह्य सधनुः क्रोधेन महतागमत् ।
समाह्वयन् स सौमित्रिं युद्धाय रणमूर्धनि ॥२१॥
सौमित्रे मेघनादोऽहं मयाजीवन्न मोक्ष्यसे ।

अपनी सेना को इस प्रकार दलित होते देख, इन्द्रजित् निकुम्भिला और होम को छोड़कर बाहर निकला और तुरन्त ही रथ पर चढ़, अत्यन्त क्रोध से हाथ में धनुष ले, रणभूमि में सामने आया तथा लक्ष्मणजी को युद्ध के लिए ललकारते हुए बोला—लक्ष्मण, मैं मेघनाद हूँ, अब तुम मुझ से जीवित नहीं बच सकते ॥ २०-२१ ॥

तत्र दृष्ट्वा पितृव्यं स प्राह निष्ठुरभाषणम् ॥२२॥
इहैव जातः संवृद्धः साक्षाद् भ्राता पितुर्मम ।
यस्त्वं स्वजनमुत्सृज्य परभृत्यत्वमागतः ॥२३॥
कथं द्रुह्यसि पुत्राय पापीयानसि दुर्मतिः ।

फिर वहाँ अपने चचा विभीषण को देखकर वह कठोर शब्दों में कहने लगा; तुम इस लङ्कापुरी में ही उत्पन्न हुए हो और इसी में रहकर इतने बड़े हुए हो तथा मेरे पिता के सगे भाई हो। किन्तु अब तुम ने अपने स्वजनों को छोड़कर शत्रुओं का दासत्व स्वीकार किया है ! मैं तुम्हारे पुत्र के समान हूँ, न जाने तुम कैसे मुझ से द्रोह कर रहे हो ? अवश्य ही तुम बड़े पापी और दुरात्मा हो ॥ २२-२३ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं दृष्ट्वा हनूमत्पृष्ठतः स्थितम् ॥२४॥

उद्यदायुधनिस्त्रिंशे रथे महति संस्थितः ।
महाप्रमाणमुद्यम्य घोरं विस्फारयन्धनुः ॥२५॥
अद्य वो मामका बाणाः प्राणान्पास्यन्ति वानराः ।

ऐसा कहकर उसने हनुमान्‌जी की पीठ पर बैठे हुए लक्ष्मणजी की ओर देखा तथा जिस में नाना प्रकार के तीक्ष्ण शस्त्र उपस्थित थे उस महान् रथ में बैठे हुए उस दैत्य ने एक बड़ा लम्बा धनुष उठाकर उस की भयङ्कर टंकार की और बोला—अरे वानरो, आज मेरे बाण तुम्हारे प्राणों को पीयेंगे ॥ २४-२५ ॥

ततः शरं दाशरथिः सन्धायामित्रकर्षणः ॥२६॥
ससर्ज राक्षसेन्द्राय क्रुद्धः सर्प इव श्वसन् ।
इन्द्रजिद्रक्तनयनो लक्ष्मणं समुदैक्षत ॥२७॥
शक्राशनिसमस्पर्शैर्लक्ष्मणेनाहतः शरैः ।
मुहूर्तमभवन्मूढः पुनः प्रत्याहृतेन्द्रियः ॥२८॥
ददर्शावस्थितं वीरं वीरो दशरथात्मजम् ।

तब क्रोध से सर्प के समान फुफकारते हुए, शत्रु का दमन करनेवाले, दशरथ-कुमार लक्ष्मणजी ने भी अपने धनुष पर एक बाण चढ़ाकर उसे मेघनाद पर छोड़ा। इधर इन्द्रजित् ने भी क्रोध से लाल लाल नेत्र कर लक्ष्मणजी की ओर देखा; श्री लक्ष्मणजी के छोड़े हुए इन्द्रवज्र के समान महाकठोर बाणों के लगने से वह एक मुहूर्त के लिए अचेत हो गया। फिर चेत होने पर उसने अपने सामने दशरथनन्दन वीरवर लक्ष्मणजी को खड़े देखा ॥ २६-२८ ॥

सोऽभिचक्राम सौमित्रिं क्रोधसंरक्तलोचनः ॥२९॥
शरान्धनुषि सन्धाय लक्ष्मणं चेदमब्रवीत् ।
यदि ते प्रथमे युद्धे न दृष्टो मे पराक्रमः ॥३०॥
अद्य त्वां दर्शयिष्यामि तिष्ठेदानीं व्यवस्थितः ।
इत्युक्त्वा सप्तभिर्बाणैरभिविव्याध लक्ष्मणम् ॥३१॥
दशभिश्च हनूमन्तं तीक्ष्णधारैः शरोत्तमैः ।
ततः शरशतेनैव सम्प्रयुक्तेन वीर्यवान् ॥३२॥
क्रोधाद्द्विगुणसंरब्धो निर्बिभेद विभीषणम् ।

उन्हें देखकर वह राक्षस क्रोध से नेत्र लाल कर उन की ओर दौड़ा तथा अपने धनुष पर बाण चढ़ाकर उन से यों कहने लगा—यदि तू ने पहले युद्ध में मेरा पराक्रम न देखा हो तो मैं तुझे अभी दिखाये देता हूँ, तू जरा स्थिरतापूर्वक खड़ा रह। ऐसा कहकर उस महावीर्यवान् ने सात बाणों से लक्ष्मणजी को, बड़ी पैनी धारवाले दश बाणों से हनुमान्जी को और क्रोध से दूने उत्साह के साथ भली प्रकार छोड़े हुए सौ बाणों से विभीषण को वेध डाला। इधर लक्ष्मणजी भी शत्रु पर बाणों की वर्षा सी करने लगे ॥ २९-३२ ॥

लक्ष्मणोऽपि तथा शत्रुं शरवर्षैरवाकिरत् ॥३३॥
तस्य बाणैः सुसंविद्धं कवचं काञ्चनप्रभम् ।
व्यशीर्यत रथोपस्थे तिलशः पतितं भुवि ॥३४॥

उन के बाणों से छिन्न भिन्न होकर मेघनाद का सुवर्ण की सी आभावाला कवच तिल तिल होकर रथ के पिछले भाग में गिर पड़ा और फिर वहाँ से पृथिवी पर जा गिरा ॥ ३३-३४ ॥

ततः शरसहस्रेण सङ्क्रुद्धो रावणात्मजः ।
बिभेद समरे वीरं लक्ष्मणं भीमविक्रमम् ॥३५॥
व्यशीर्यतापतद्दिव्यं कवचं लक्ष्मणस्य च ।
कृतप्रतिकृतान्योन्यं बभूवतुरभिद्रुतौ ॥३६॥
अभीक्ष्णं निःश्वसन्तौ तौ युध्येतां तुमुलं पुनः ।
शरसंवृतसर्वाङ्गौ सर्वतो रुधिरोक्षितौ ॥३७॥

तब रावणकुमार मेघनाद ने संग्राम में अत्यन्त क्रोधित हो, महापराक्रमी लक्ष्मणजी को हजारों बाणों से बींध डाला; इस से लक्ष्मणजी का दिव्य कवच भी छिन्न भिन्न होकर गिर पड़ा। इस प्रकार वे दोनों ही एक दूसरे की क्रिया का प्रतीकार करते हुए आपस में लड़ने लगे; वे दोनों ही बारम्बार दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए बड़ा घोर युद्ध कर रहे थे। उन के शरीरों के अङ्ग प्रत्यङ्ग सब ओर से बाणों से छिन्न भिन्न होकर लोहूलुहान हो गये ॥ ३५-३७ ॥
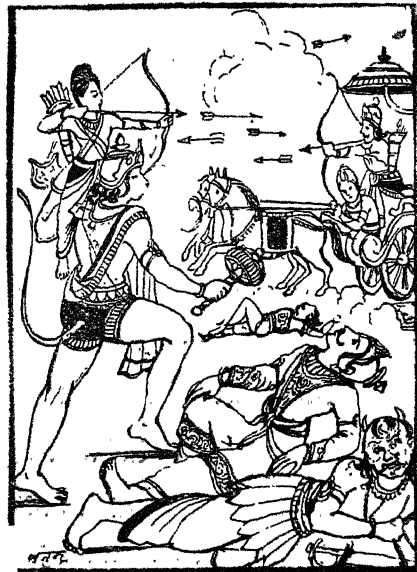
सुदीर्घकालं तौ वीरावन्योन्यं निशितैः शरैः ।
अयुध्येतां महासत्त्वौ जयाजयविवर्जितौ ॥३८॥
एतस्मिन्नन्तरे वीरो लक्ष्मणः पञ्चभिः शरैः ।
रावणेः सारथिं साश्वं रथं च समचूर्णयत् ॥३९॥
चिच्छेद कार्मुकं तस्य दर्शयन्हस्तलाघवम् ।
सोऽन्यत्तु कार्मुकं भद्रं सज्यं चक्रे त्वरान्वितः ॥४०॥

इतने ही में वीरवर लक्ष्मण ने पाँच बाण छोड़कर मेघनाद के सारथि और घोड़ों के सहित रथ को चूर्ण कर डाला, और अपने हाथ की सफाई दिखलाते हुए उस का धनुष भी काट डाला। तब मेघनाद ने तुरन्त ही दूसरा उत्तम धनुष चढ़ाया ॥ ३८-४० ॥

तच्चापमपि चिच्छेद लक्ष्मणस्त्रिभिराशुगैः ।
तमेव छिन्नधन्वानं विव्याधानेकसायकैः ॥४१॥
पुनरन्यत्समादाय कार्मुकं भीमविक्रमः ।
इन्द्रजिल्लक्ष्मणं बाणैः शितैरादित्यसन्निभैः ॥४२॥

लक्ष्मणजी ने तीन बाणों से उसे फिर भी काट डाला और धनुषहीन हुए उस राक्षस को अनेक बाणों से बींध दिया। फिर भीमविक्रम इन्द्रजित् ने एक और धनुष लेकर सूर्य के समान चमकीले और पैने बाणों से संपूर्ण दिशाओं को व्याप्त करते हुए लक्ष्मणजी तथा समस्त वानरों को वेध डाला ॥ ४१-४२ ॥

बिभेद वानरान्सर्वान्बाणैरापूरयन्दिशः ।
तत ऐन्द्रं समादाय लक्ष्मणो रावणिं प्रति ॥४३॥
सन्धायाकृष्य कर्णान्तं कार्मुकं दृढनिष्ठुरम् ।
उवाच लक्ष्मणो वीरः स्मरन् रामपदाम्बुजम् ॥४४॥
धर्मात्मा सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यदि ।
त्रिलोक्यामप्रतिद्वन्द्वस्तदेनं जहि रावणिम् ॥४५॥

तब लक्ष्मणजी ने ऐन्द्र बाण निकालकर उसे मेघनाद की ओर लक्ष्य बाँधकर धनुष पर चढ़ाया और उस कठोर धनुष को कर्णपर्यन्त खींचकर वीरवर लक्ष्मणजी

हृदय में भगवान् राम के चरणकमलों का स्मरण करते हुए बोले। यदि दशरथनन्दन भगवान् राम परमधार्मिक, सत्य की मर्यादा रखनेवाले और त्रिलोकी में मुकाबिला करनेवाले से रहित हैं तो हे बाण, तू इस मेघनाद को मार डाल ॥ ४३-४५ ॥

इत्युक्त्वा बाणमाकर्णाद्विकृष्य तमजिह्मगम्।
लक्ष्मणः समरे वीरः ससर्जेन्द्रजितं प्रति ॥४६॥
स शरः सशिरस्त्राणं श्रीमज्ज्वलितकुण्डलम्।
प्रमथ्येन्द्रजितः कायात्पातयामास भूतले ॥४७॥

वीरवर लक्ष्मणजी ने रणभूमि में ऐसा कहकर उस सीधे जानेवाले बाण को कान तक खींचकर इन्द्रजित् की ओर छोड़ दिया। उस बाण ने शीर्षत्राण के सहित इन्द्रजित् के कान्तिमान् मस्तक को, जिस में अति उज्ज्वल कुण्डल झिलमिला रहे थे, काटकर धड़ से पृथिवी पर गिरा दिया ॥ ४६-४७ ॥

ततः प्रमुदिता देवाः कीर्तयन्तो रघूत्तमम्।
ववर्षुः पुष्पवर्षाणि स्तुवन्तश्च मुहुर्मुहुः ॥४८॥
जहर्ष शक्रो भगवान्सह देवैर्महर्षिभिः।
आकाशेऽपि च देवानां शुश्रुवे दुन्दुभिस्वनः ॥४९॥

इस प्रकार मेघनाद के मारे जाने पर देवगण प्रसन्न होकर रघुश्रेष्ठ लक्ष्मणजी का गुण गाने और उन की बारम्बार प्रशंसा कर पुष्प बरसाने लगे। देवता और महर्षियों के सहित भगवान् इन्द्र अति हर्षित हुए। उस समय आकाशमण्डल में भी देवताओं के नगाड़ों का शब्द सुनायी देने लगा ॥ ४८-४९ ॥

विमलं गगनं चासीत्स्थिराभूद्विश्वधारिणी।
निहतं रावणिं दृष्ट्वा जयजल्पसमन्वितः ॥५०॥
गतश्रमः स सौमित्रिः शङ्खमापूरयद्रणे।
सिंहनादं ततः कृत्वा ज्याशब्दमकरोद्विभुः ॥५१॥
तेन नादेन संहृष्टा वानराश्च गतश्रमाः।

रावण के पुत्र मेघनाद को मारा गया देख, सर्वत्र जयजयकार शब्द भर गया। आकाश निर्मल हो गया और जगद्धात्री धरणी स्थिर हो गयी; जब लक्ष्मणजी की थकान उतर गयी तो उन्होंने शङ्ख बजाकर रणभूमि को गुञ्जायमान कर दिया और फिर भयङ्कर सिंहनाद कर अपने धनुष की टङ्कार की उस सिंहनाद से समस्त वानरगण अति आनन्दित और श्रमहीन हो गये ॥ ५०-५१ ॥

वानरेन्द्रैश्च सहितः स्तुवद्भिर्हृष्टमानसैः ॥५२॥
लक्ष्मणः परितुष्टात्मा ददर्शाभ्येत्य राघवम्।
हनूमद्राक्षसाभ्यां च सहितो विनयान्वितः ॥५३॥
ववन्दे भ्रातरं रामं ज्येष्ठं नारायणं विभुम्।
त्वत्प्रसादाद्रघुश्रेष्ठ हतो रावणिराहवे ॥५४॥

फिर प्रसन्नचित्त वानरवीरों से प्रशंसित होते हुए श्री लक्ष्मणजी ने उन सब के साथ प्रमुदित मन से श्री रघुनाथजी के पास आकर उन का दर्शन किया। श्री लक्ष्मणजी ने हनुमान् और विभीषण के सहित अति विनयपूर्वक अपने ज्येष्ठ भ्राता साक्षात् नारायणस्वरूप भगवान् राम को प्रणाम कर कहा—हे रघुश्रेष्ठ, आप की कृपा से इन्द्रजित् युद्ध में मारा गया ॥ ५२-५४ ॥

रा० च०—वीर लोग युद्ध में मरने तथा मारने को ही जाते हैं, अन्तर यही है कि मारने की तो इच्छा होती, पर खुद मारा जाना अनिच्छा से होता है। रावण के वीरपुत्र मेघनाद की जगत् में इन्द्रजित् उपाधि से प्रसिद्धि थी, क्योंकि इसने देवाधिपति इन्द्र को युद्ध में परास्त कर दिया था। मेघनाद के देवबल में याने देवाराधनप्राप्त शक्तिविशेष में पूर्ण विश्वास था। क्योंकि वह स्वयं वीर था, अतः इसे राम की अजेय सैन्यशक्ति का परिचय मिल गया था; इस लिए वह—

रक्तमाल्याम्बरधरो रक्तगन्धानुलेपनः ।
निकुम्भिलास्थले मौनी हवनायोपचक्रमे ॥

निकुम्भिला नामक गुफा में जाकर तन्नाम्नी देवी की आराधना करने लगा। अवश्य ही इष्टबल में बड़ी सामर्थ्य है, जो कोई किसी प्रकार का विशेष कार्य करना चाहे उसे उचित है कि इष्टदेव से शक्ति प्राप्त करे। जो योगी हैं, त्यागी हैं, विरागी या संन्यासी हैं वे भी योगाभ्यासशक्ति से आत्मस्वरूप सच्चिदानन्दानुभव करने में सफल होते हैं, बिना योगबल के याने बिना चित्तवृत्तिनिरोधसामर्थ्य के संसारत्यागी महापुरुष भी कृतकृत्य नहीं हो सकते। फिर संसारी लोगों को तो किसी शक्ति की छत्रछाया में ही रहकर अपने काम्य कृत्य पूरे करने होंगे। इस घटना से यह शिक्षा मिलती है कि चाहे कितना तामसी मनुष्य हो—भोगपरायण हो, पर वह भी उपासना द्वारा अपनी कमी पूरी करके कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने की अभिलाषा रखता है। यहाँ जरा लोकहितार्थ उपासना पर प्रकाश डालना असामयिक न होगा।

उपासनातत्त्व—

मनुष्य अपूर्ण होता है, उस के सामने बहुत से अभाव हैं, उन की पूर्ति की अभिलाषा होनी उन के लिए स्वाभाविक बात है। जैसे जिस के पास धन नहीं वह उस का अर्जन करके उस के अभाव की पूर्ति करना चाहता है। इसी तरह ज्ञानहीन ज्ञानाभाव को मिटाकर, अल्पायु; दीर्घायु बनकर, शक्तिहीन; शक्तिशाली होकर और दुखी आनन्दी बन, अपनी त्रुटि पूर्ण करने का उद्योग करता है। जीव में सभी वस्तुओं का अभाव है और परमात्मा में वे सभी वस्तुयें पूर्णरूप से विद्यमान हैं, इस लिए मनुष्य चाहता है कि मैं उस से मिलकर अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लूँ। बस, उस के पास पहुँचने की लालसा का नाम है 'उपासना।' 'उप'—समीप, 'आस्'—प्राप्त होना, यह पदार्थ है।

यह बात दूसरी है कि—विभिन्न जाति, अधिकार, धर्म के भेद से मनुष्य इसे नाना रीतियों से किया करता है। जैसे उपासनाप्रकार में भेद हैं उसी तरह जिस को उद्देश्य बनाकर उपासना की जाती है उन प्रभु के स्वरूपों में भी भेद है, रुचि की विचित्रता से कोई विष्णु की उपासना उस का विग्रह (मूर्ति) बनाकर करता है। कोई शिव, शक्ति, गणेश प्रभृति देवताओं के रूप में उसे पूजता है, पर सब यह प्रभु की ही उपासना है। क्योंकि—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय, यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

इस गीतावचन में प्रभु ने सभी पूजाओं को अपनी उपासना स्वीकार कर ली है। किसी देवता, उपदेवता, अपदेवता को पूजा करो वह परोक्षरूप में परमात्मा की ही पूजा हो जाती है। अपनी प्रकृति के वश में होकर वासनाबद्ध जीव छोटी छोटी देवताओं की पूजा

करता है, परमात्मा जीव की रुचि के अनुसार उसी पूजा में उस के चित्त को लगा देता है और उसी से उस की इच्छापूर्ती करा देता है। इस से शक्तिसंचार होकर वह अपनी इष्टसिद्धि में याने वाञ्छासाफल्य में समर्थ हो जाता है।

मित्रो ! यह विषय इतना कठिन, जटिल और अधिक है कि यहाँ इस का व्याख्यान नहीं हो सकता। हाँ, संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी रुचि के अनुसार यथासंभव उपासना अवश्य करनी चाहिये। रावण के पास जो विभूति थी वह उपासना से प्राप्त हुई थी, यदि मेघनाद की यह शक्तिपूजा सफल हो जाती तो रघुनाथजी को पराजित हो, लौट जाना पड़ता। श्री राम साक्षात् भगवान् हैं, पर उन्हें देवाराधन से प्राप्त शक्ति के सामने झुक जाना पड़ता; क्योंकि वे मर्यादापुरुषोत्तम हैं, अपनी बाँधी मर्यादोल्लङ्घन उन से न होता। जब कि घननाद जैसे तामसजनों को भी उपासना पर इतनी आस्था है तो मनुष्यों को उस में अधिक ही अनुराग होना चाहिये। अस्तु;

रामरावणयुद्ध में मेघनाद का प्रमुख भाग रहा है, वह लड़ा खूब लड़ा। एक बार तो लक्ष्मणजी को क्षत विक्षत (घायल) करके रामसैन्य के हौसले पस्त कर दिये। इन्द्रजित् युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ, पर 'यावचन्द्रदिवाकरौ' अपनी अमर कीर्ति को भूमण्डल पर छोड़ गया।

श्रुत्वा तल्लक्ष्मणाद्भक्त्या तमालिङ्ग्य रघूत्तमः।
मूर्ध्न्यवघ्राय मुदितः सस्नेहमिदमब्रवीत् ॥५५॥
साधुलक्ष्मण तुष्टोऽस्मि कर्म ते दुष्करं कृतम्।
मेघनादस्य निधने जितं सर्वमरिन्दमम् ॥५६॥

लक्ष्मणजी के ये भक्तिमय वचन सुनकर श्री रघुनाथजी ने अति प्रसन्न होकर उन का आलिङ्गन किया और फिर प्रेमपूर्वक सिर सूँघकर कहा—लक्ष्मण, तुम धन्य हो ! मैं तुम्हारे इस कार्य से बहुत सन्तुष्ट हूँ, आज तुम ने बड़ा ही कठिन कार्य किया है। हे शत्रुदमन, इस मेघनाद के मारे जाने से हम ने मानो सभी कुछ जीत लिया ॥ ५५-५६ ॥

अहोरात्रैस्त्रिभिर्वीरः कथञ्चिद्विनिपातितः।
निःसपत्नः कृतोऽस्म्यद्य निर्यास्यति हि रावणः ॥५७॥
पुत्रशोकान्मया योद्धुं तं हनिष्यामि रावणम् ॥५८॥

तुम ने तीन दिन और तीन रात्रि तक निरन्तर संग्राम कर, किसी प्रकार उस महान् योद्धा को मार डाला। इस से आज तुम ने मुझे शत्रुहीन कर दिया। अब पुत्र-शोक से व्याकुल हुआ रावण मुझ से लड़ने आयगा, सो उसे मैं मार डालूँगा ॥५७-५८॥

मेघनादं हतं श्रुत्वा लक्ष्मणेन महाबलम् ।
रावणः पतितो भूमौ मूर्च्छितः पुनरुत्थितः ।
विललापातिदीनात्मा पुत्रशोकेन रावणः ॥५९॥
पुत्रस्य गुणकर्माणि संस्मरन्पर्यदेवयत् ।
अद्य देवगणाः सर्वे लोकपाला महर्षयः ॥६०॥
हतमिन्द्रजितं ज्ञात्वा सुखं स्वप्स्यन्ति निर्भयाः ।
इत्यादि बहुशः पुत्रलालसो विललाप ह ॥६१॥

महाबली मेघनाद को लक्ष्मणजी द्वारा मारा गया सुन, रावण मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़ा, फिर मूर्च्छा से उठने पर पुत्रशोक से अत्यन्त दीन होकर विलाप करने लगा। पुत्र के गुण और कर्मों का स्मरण कर वह अत्यन्त शोक करने लगा। आज समस्त देवता, लोकपाल और महर्षिगण इन्द्रजित् को मारा गया सुनकर निर्भयतापूर्वक सुख से सोयेंगे; इस प्रकार पुत्र की आसक्तिवश वह भाँति भाँति से विलाप करने लगा ॥ ५९-६१ ॥

ततः परमसङ्क्रुद्धो रावणो राक्षसाधिपः ।
उवाच राक्षसान्सर्वान्निनाशयिषुराहवे ॥६२॥
स पुत्रवधसन्तप्तः शूरः क्रोधवशं गतः ।
संवीक्ष्य रावणो बुद्ध्या हन्तुं सीतां प्रदुद्रुवे ॥६३॥

तदनन्तर राक्षसराज रावण अत्यन्त क्रुद्ध हो, अपने शत्रुओं को युद्ध में नष्ट कराने की कामना से समस्त राक्षसों से बातचीत करने लगा। फिर शूरवीर रावण पुत्रशोक से व्याकुल हो, अपनी बुद्धि से कुछ सोचकर क्रोधपूर्वक सीताजी को मारने के लिए दौड़ा ॥ ६२-६३ ॥

खड्गपाणिमथायान्तं क्रुद्धं दृष्ट्वा दशाननम् ।
राक्षसीमध्यगा सीता भयशोकाकुलाभवत् ॥६४॥
एतस्मिन्नन्तरे तस्य सचिवो बुद्धिमाञ्छुचिः ।
सुपार्श्वो नाम मेधावी रावणं वाक्यमब्रवीत् ॥६५॥

रावण को हाथ में खड्ग लिये क्रोधपूर्वक अपनी ओर आता देख, राक्षसियों के

बीच में बैठी हुई सीताजी भयभीत हो गयीं। इसी समय रावण के सुपार्श्व नामक मन्त्री ने, जो परमबुद्धिमान् शुद्ध हृदय और विचारवान् था, उस से कहा ॥६४-६५॥

ननु नाम दशग्रीव साक्षाद्वैश्रवणानुजः।
वेदविद्याव्रतस्नातः स्वकर्मपरिनिष्ठितः ॥६६॥
अनेकगुणसम्पन्नः कथं स्त्रीवधमिच्छसि।
अस्माभिः सहितो युद्धे हत्वा रामं च लक्ष्मणम्।
प्राप्स्यसे जानकीं शीघ्रमित्युक्तः स न्यवर्तत ॥६७॥

अहो दशानन, यह क्या ? आप तो साक्षात् विश्रवानन्दन कुबेरजी के छोटे भाई हैं, वेदविद्या में निपुण और यज्ञान्त में स्नान करनेवाले एवं स्वधर्मपरायण हैं। इस प्रकार अनेक गुणसम्पन्न होकर भी आप स्त्रीवध करना कैसे चाहते हैं ? हम सब को साथ लेकर आप राम और लक्ष्मण को युद्ध में मारकर बहुत शीघ्र जानकी को प्राप्त कर लेंगे। सुपार्श्व के इस प्रकार समझाने पर रावण लौट आया ॥ ६६-६७ ॥

ततो दुरात्मा सुहृदा निवेदितं वचः सुधर्म्यं प्रतिगृह्य रावणः।
गृहं जगामाशु शुचा विमूढधीः पुनः सभां च प्रययौ सुहृद्वृतः ॥६८॥

तदनन्तर दुरात्मा रावण अपने बन्धु के कहे हुए धर्मानुकूल वाक्यों को ग्रहण कर शोक से मूढबुद्धि हो तुरन्त अपने घर गया और फिर दूसरे दिन अपने बन्धु-बान्धवों के साथ सभा में आया ॥ ६८ ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के नवम सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

रावण का यज्ञविध्वंस तथा मन्दोदरीसंवाद।

श्रीमहादेव उवाच—

स विचार्य सभामध्ये राक्षसैः सह मन्त्रिभिः।
निर्ययौ येऽवशिष्टास्तै राक्षसैः सह राघवम् ॥ १ ॥

शलभः शलभैर्युक्तः प्रज्वलन्तमिवानलम्।
ततो रामेण निहताः सर्वे ते राक्षसा युधि ॥ २ ॥

स्वयं रामेण निहतस्तीक्ष्णबाणेन वक्षसि।
व्यथितस्त्वरितं लङ्कां प्रविवेश दशाननः ॥ ३ ॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, फिर रावण सभा में अपने राक्षसमन्त्रियों के साथ विचार कर पतङ्ग जिस प्रकार अन्यान्य पतङ्गों के साथ प्रज्वलित अग्नि पर गिरता है उसी प्रकार बचे खुचे राक्षसों को लेकर रघुनाथजी के पास चला, किन्तु श्री रामचन्द्र-जी ने उन समस्त राक्षसों को युद्ध में मार डाला और स्वयं रावण भी हृदय में भगवान् राम का तीक्ष्ण बाण लगने से व्याकुल हो, तुरन्त लङ्का में लौट आया ॥ १-३ ॥

दृष्ट्वा रामस्य बहुशः पौरुषं चाप्यमानुषम्।
रावणो मारुतेश्चैव शीघ्रं शुक्रान्तिकं ययौ ॥ ४ ॥

नमस्कृत्य दशग्रीवः शुक्रं प्राञ्जलिरब्रवीत्।
भगवन् राघवेणैवं लङ्का राक्षसयूथपैः ॥ ५ ॥

विनाशिता महादैत्या निहताः पुत्रबान्धवाः।
कथं मे दुःखसन्दोहस्त्वयि तिष्ठति सद्गुरौ ॥ ६ ॥

भगवान् राम और हनुमान्जी के बहुत से अतिमानुष पौरुष देखकर रावण अति शीघ्रता से शुक्राचार्यजी के पास गया और उन्हें नमस्कार कर वह हाथ जोड़कर

कहने लगा—भगवन्, राम ने समस्त राक्षसयूथपों के सहित लङ्कापुरी नष्ट कर दी और जितने बड़े बड़े दैत्य और मेरे पुत्र बान्धव थे वे सभी मार डाले! आप जैसे सद्गुरु के रहते हमें यह महान् दुःख क्यों देखना पड़ा? ॥ ४-६ ॥

इति विज्ञापितो दैत्यगुरुः प्राह दशाननम्।
होमं कुरु प्रयत्नेन रहसि त्वं दशानन ॥ ७ ॥
यदि विघ्नो न चेद्धोमे तर्हि होमानलोत्थितः ॥ ८ ॥
महान् रथश्च वाहाश्च चापतूणीरसायकाः।
सम्भविष्यन्ति तैर्युक्तस्त्वमजेयो भविष्यसि ॥ ९ ॥
गृहाण मन्त्रान्मद्दत्तान् गच्छ होमं कुरु द्रुतम्।

रावण के इस प्रकार प्रार्थना करने पर दैत्यगुरु शुक्राचार्यजी ने उस से कहा—हे दशानन, तुम जैसे हो सके वैसे किसी एकान्त देश में हवन करो। यदि तुम्हारे हवन में कोई विघ्न न हुआ तो उस होमाग्नि से एक बहुत बड़ा रथ, घोड़े, धनुष, तरकश और बाण उत्पन्न होंगे। उन्हें पाकर तुम अजेय हो जाओगे। मेरे दिये हुए मन्त्रों को ग्रहण करो और इन से तुरन्त जाकर हवन करो॥ ७-९ ॥

इत्युक्तस्त्वरितं गत्वा रावणो राक्षसाधिपः ॥१०॥
गुहां पातालसदृशीं मन्दिरे स्वे चकार ह।
लङ्काद्वारकपाटादि बद्ध्वा सर्वत्र यत्नतः ॥११॥
होमद्रव्याणि सम्पाद्य यान्युक्तान्याभिचारिके।
गुहां प्रविश्य चैकान्ते मौनी होमं प्रचक्रमे ॥१२॥

शुक्राचार्यजी के इस प्रकार कहने पर राक्षसराज रावण ने तुरन्त ही जाकर

अपने महल में एक पाताल के समान गम्भीर गुहा तैयार करायी और बड़ी सावधानी से लङ्का के सब द्वारों के फाटक आदि बन्द करा दिये तथा शास्त्रों में अभिचार मारण-कर्मों की जो जो हवनसमाग्रियाँ बतायी गयी हैं, वे सब एकत्रित कीं और गुहा में घुसकर एकान्त में मौनावलम्बनपूर्वक होम करने लगा ॥ १०-१२ ॥

उत्थितं धूममालोक्य महान्तं रावणानुजः ।
रामाय दर्शयामास होमधूमं भयाकुलः ॥ १३ ॥
पश्य राम दशग्रीवो होमं कर्तुं समारभत् ।
यदि होमः समाप्तः स्यात्तदाजेयो भविष्यति ॥१४॥
अतो विघ्नाय होमस्य प्रेषयाशु हरीश्वरान् ।

तब रावण के छोटे भाई विभीषण ने बड़ा भारी धुआँ उठते देख, अति भयभीत हो उसे श्री रामचन्द्रजी को दिखाया। और कहा—हे राम, देखिये, दशशीश ने हवन करना आरम्भ किया है यदि यह हवन निर्विघ्न समाप्त हो गया तो वह अजेय हो जायगा। अतः इस में विघ्न डालने के लिए शीघ्र ही वानरसेनापतियों को भेजिये ॥ १३-१४ ॥

तथेति रामः सुग्रीवसम्मतेनाङ्गदं कपिम् ॥ १५ ॥
हनूमत्प्रमुखान्वीरानादिदेश महाबलान् ।
प्राकारं लङ्घयित्वा ते गत्वा रावणमन्दिरम् ॥१६॥
दशकोट्यः प्लवङ्गानां गत्वा मन्दिररक्षकान् ।
चूर्णयामासुरश्वांश्च गजांश्च न्यहनन् क्षणात् ॥१७॥

तब रघुनाथजी ने 'अच्छा' कहकर सुग्रीव की सम्मति से कपिवर अंगद और हनुमान् आदि महाबलवान् वानरवीरों को आज्ञा दी। वे सब नगर के परकोटे को लाँघकर रावण के महल पर पहुँचे। इन दस करोड़ वानरों ने वहाँ पहुँचकर महल के द्वारपालों को चूर्ण कर डाला और एक क्षण में ही बहुत से घोड़ों तथा हाथियों का संहार कर दिया ॥ १५-१७ ॥

ततश्च सरमा नाम प्रभाते हस्तसंज्ञया ।
विभीषणस्य भार्या सा होमस्थानमसूचयत् ॥१८॥
गुहापिधानपाषाणमङ्गदः पादघट्टनैः ।
चूर्णयित्वा महासत्त्वः प्रविवेश महागुहाम् ॥१९॥

दृष्ट्वा दशाननं तत्र मीलिताक्षं दृढासनम् ।
ततोऽङ्गदाज्ञया सर्वे वानरा विविशुर्द्रुतम् ॥२०॥

इस प्रकार लङ्का में रात भर बड़ा भारी कोलाहल मचा रहा । प्रातःकाल होते ही विभीषण की भार्या सरमा ने हाथ के संकेत से होमस्थान बतला दिया । गुहा को ढँकने के लिए उस के मुख पर रखे हुए पत्थर को महापराक्रमी अंगद पैर की ठोकर से चूर चूरकर उस महा-कन्दरा में घुस गये; वहाँ उन्होंने रावण को नेत्र मूँदे, दृढ आसन लगाये बैठे देखा । तदनन्तर अंगदजी की आज्ञा से समस्त वानरगण तुरन्त उस गुहा में घुस गये ॥ १८-२० ॥

तत्र कोलाहलं चक्रुस्ताडयन्तश्च सेवकान् ।
सम्भारांश्चिक्षिपुस्तस्य होमकुण्डे समन्ततः ॥२१॥
स्रुवमाच्छिद्य हस्ताच्च रावणस्य बलाद्रुषा ।
तेनैव सञ्जघानाशु हनूमान् प्लवगाग्रणीः ॥२२॥

गुहा में घुस कर वे सेवकों को पीटने और बड़ा भारी कोलाहल करने लगे, जहाँ तहाँ रखी हुई यज्ञसामग्री को उन्होंने हवनकुण्ड में डाल दिया, वानराग्रणी हनुमान्जी ने अति रोषपूर्वक बलात्कार से रावण के हाथ से स्रुवा छीनकर उसी से उस पर आघात किया ॥ २१-२२ ॥

घ्नन्ति दन्तैश्च काष्ठैश्च वानरास्तमितस्ततः ।
न जहौ रावणो ध्यानं हतोऽपि विजिगीषया ॥२३॥
प्रविश्यान्तः पुरे वेश्मन्यङ्गदो वेगवत्तरः ।
समानयत्केशबन्धे धृत्वा मन्दोदरीं शुभाम् ॥२४॥
रावणस्यैव पुरतो विलपन्तीमनाथवत् ।
विददाराङ्गदस्तस्याः कञ्चुकं रत्नभूषितम् ॥२५॥

वानरगण रावण पर इधर उधर से दाँतों और लकड़ियों से प्रहार कर रहे थे, किन्तु उसने विजय की कामना से इस प्रकार आहत होने पर भी अपना ध्यान नहीं छोड़ा, तब अत्यन्त वेगवान् अंगदजी अन्तःपुर में जाकर तुरन्त ही शुभलक्षणा मन्दोदरी को चोटी पकड़कर ले आये और रावण के सामने ही उन्होंने अनाथ के समान विलाप करती हुई मन्दोदरी की रत्नजटित कञ्चुकी फाड़ डाली ॥ २३-२५ ॥

मुक्ता विमुक्ताः पतिताः समन्ताद्रत्नसञ्चयैः ।
श्रोणिसूत्रं निपतितं त्रुटितं रत्नचित्रितम् ॥२६॥
कटिप्रदेशाद्विस्रस्ता नीवी तस्यैव पश्यतः ।
भूषणानि च सर्वाणि पतितानि समन्ततः ॥२७॥

उस के मोती टूट टूटकर रत्नसमूह सब ओर बिखर गये। इसी प्रकार मन्दोदरी की रत्नजटित करधनी भी टूटकर पृथिवी पर गिर पड़ी, रावण के देखते देखते ही उस के अधोवस्त्र का बन्धन ढीला पड़कर कटिप्रदेश से खिसक गया और समस्त आभूषण जहाँ तहाँ गिर गये ॥ २६-२७ ॥

देवगन्धर्वकन्याश्च नीता हृष्टैः प्लवङ्गमैः ।
मन्दोदरी रुरोदाथ रावणस्याग्रतो भृशम् ॥२८॥
क्रोशन्ती करुणं दीना जगाद दशकन्धरम् ।
निर्लज्जोऽसि परैरेवं केशपाशे विकृष्यते ॥२९॥
भार्या तवैव पुरतः किं जुहोषि न लज्जसे ।

ऐसे ही अन्यान्य वानरगण भी कुतूहलवश देव और गन्धर्व आदि की कन्याओं को जो रावण की पत्नियाँ थीं पकड़ लाये। तब मन्दोदरी रावण के सामने अत्यन्त विलाप करने लगी और करुणावश अति दीन होकर रावण से कहने लगी, अहो, तुम बड़े निर्लज्ज हो। तुम्हारे सामने ही शत्रुगण तुम्हारी भार्या को चोटी पकड़कर खींच रहे हैं, और फिर भी तुम हवन कर रहे हो ॥ २८-२९ ॥

हन्यते पश्यतो यस्य भार्या पापैश्च शत्रुभिः ॥३०॥
मर्तव्यं तेन तत्रैव जीवितान्मरणं वरम् ।
हा मेघनाद ते माता क्लिश्यते बत वानरैः ॥३१॥

क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती ? जिस की भार्या को उसी के सामने पापी शत्रुगण मारते हों उसे तो वहीं मर जाना चाहिये। उस के जीने से तो मरना ही अच्छा है। हा मेघनाद, आज तेरी माता वानरों के हाथों में पड़कर क्लेश पा रही है॥ ३०-३१ ॥

रा० च०—रावण की सैन्यशक्ति विघटित हो चुकी, अतः शत्रुदल नगर में प्रविष्ट हो गया। जब रावण के सब उपाय विफल हो गये तो वह यज्ञ करने बैठा। परन्तु शत्रु का हौसला बढ़ा हुआ था, उसने उस के अनुष्ठान को सफल न होने दिया।

अभिमानी रावण से अपनी स्त्रियों का अपमान न सहा गया। अखिल विश्व को कम्पायमान कर देनेवाला—याने सब को रुला देनेवाला रावण आज घबरा गया। क्योंकि वह वीर था, अतः अपनी स्त्री के समझाने पर शत्रु से सन्धि करने पर उद्यत न हुआ। सिंह कुचलकर मर जाना पसन्द करेगा, पर हाथियों के यूथ में फँसकर 'भूमौ निपत्य वदनोदर-दर्शनञ्च' याने कुत्ते की तरह जमीन में लेटकर पूँछ हिला और पेट दिखाकर, जीवनभिक्षा माँगना नहीं स्वीकार करेगा। रावण ने मन्दोदरी का कहना नहीं माना। वह समझता था कि स्त्रियाँ शान्तिकाल की मन्त्रिणी हैं, सलाहकार हैं, पर युद्धावसर में तो तलवार की संमति ली जाती है। ऐसे समय जब कि बहुत से बड़े बड़े वीर मारे गये, ऐसी दशा में रावण शत्रु के समक्ष नतमस्तक हो, जीवनधारण करके कैसे शान्त रह सकता था ? रावण जानता था कि 'स्वतन्त्रता ही जीवन है, बिना स्वतन्त्रता के जीवन जीवन नहीं, क्योंकि जीवन का लक्षण है वृद्धि, प्रसार, विस्तार, बढ़ना या फैलना। जीवन का लक्षण है अबाध, अविश्रान्त, फैलाव। स्वतन्त्रता के द्वारा ही जीवन पूर्ण रूप से उन्नत और विकसित हो सकता है।'

उक्त विचारों में यही अन्तर था कि रावण को जैसी अपनी स्वतन्त्रता प्रिय थी, जैसे अपने संमान से प्रेम था, उसी प्रकार उन को वह दूसरे के लिए नहीं चाहता था। बस, यही उस की निशाचरी प्रवृत्ति थी। यह दोष न होता तो आज उसे इन्द्रासन पर बैठा देखते।

त्वयि जीवति मे दुःखमीदृशं च कथं भवेत्।
भार्या लज्जा च सन्त्यक्ता भर्त्रा मे जीविताशया ॥३२॥
श्रुत्वा तद्देवितं राजा मन्दोदर्या दशाननः।
उत्तस्थौ खड्गमादाय त्यज देवीमिति ब्रुवन् ॥३३॥
जघानाङ्गदमव्यग्रः कटिदेशे दशाननः।
तदोत्सृज्य ययुः सर्वे विध्वंस्य हवनं महत् ॥३४॥

बेटा ! तेरे जीते रहने पर मुझे यह दुःख क्यों देखना पड़ता ? मेरे पति ने तो अपना जीवन बचाने के लिए अपनी स्त्री और लज्जा से भी मुँह मोड़ लिया है ! मन्दोदरी का यह विलाप सुनकर राक्षसराज रावण हाथ में खड्ग लेकर 'अरे देवी को छोड़ो' यों कहता हुआ उठ पड़ा; रावण ने उठते ही अंगदजी की कमर में प्रहार किया। तब समस्त वानरगण उस का महायज्ञ विध्वंस कर वहाँ से चल दिये ॥ ३२-३४ ॥

रामपार्श्वमुपागम्य तस्थुः सर्वे प्रहर्षिताः ॥ ३५ ॥

रावणस्तु ततो भार्यामुवाच परिसान्त्वयन् ।
दैवाधीनमिदं भद्रे जीवता किं न दृश्यते ।
त्यज शोकं विशालाक्षि ज्ञानमालम्ब्य निश्चितम्
अज्ञानप्रभवः शोकः शोको ज्ञानविनाशकृत् ॥ ३६ ॥

सब के सब वानर अति प्रसन्न हो, रघुनाथजी के पास आ उपस्थित हुए; तब रावण अपनी भार्या मन्दोदरी को ढाँढस बँधाते हुए बोला—हे कल्याणि, ये सुख दुःखादि दैव के अधीन हैं, जीता हुआ प्राणी क्या नहीं देखता ? अतः हे विशालनयनि, इस निश्चित ज्ञान का आश्रय कर तुम शोक छोड़ दो ॥ ३५-३६ ॥

अज्ञानप्रभवाहन्धीः शरीरादिष्वनात्मसु ॥ ३७ ॥

तन्मूलः पुत्रदारादिसम्बन्धः संसृतिस्ततः ।
हर्षशोकभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ॥ ३८ ॥

शोक अज्ञान से होता है और वह ज्ञान को नष्ट कर देता है। शरीरादि अनात्म-पदार्थों में अहंबुद्धि भी अज्ञान से ही होती है; इस मिथ्या अहंकार के कारण ही पुत्र, स्त्री आदि का सम्बन्ध होता है और इन सम्बन्धों में आस्था होने से ही जन्म मरणरूप संसार तथा हर्ष, शोक, भय, क्रोध, लोभ, मोह और स्पृहा आदि होते हैं ॥ ३७-३८ ॥

अज्ञानप्रभवा ह्येते जन्ममृत्युजरादयः ।
आत्मा तु केवलः शुद्धो व्यतिरिक्तो ह्यलेपकः ॥३९॥
आनन्दरूपो ज्ञानात्मा सर्वभावविवर्जितः ।
न संयोगो वियोगो वा विद्यते केनचित्सतः ॥४०॥

ये जन्म, मृत्यु और जरा आदि अवस्थाएँ अज्ञानजन्य ही हैं। आत्मा तो एकमात्र, शुद्ध, सब से पृथक् और असंग है। वह आनन्दस्वरूप, ज्ञानमय और समस्त भावों से रहित है। उस सत्स्वरूप का कभी किसी से संयोग वियोग नहीं होता ॥३९-४०॥

एवं ज्ञात्वा स्वमात्मानं त्यज शोकमनिन्दिते ।
इदानीमेव गच्छामि हत्वा रामं सलक्ष्मणम् ॥४१॥
आगमिष्यामि नो चेन्मां दारयिष्यति सायकैः ।
श्रीरामो वज्रकल्पैश्च ततो गच्छामि तत्पदम् ॥४२॥
तदा त्वया मे कर्तव्या क्रिया मच्छासनात्प्रिये ।
सीतां हत्वा मया सार्धं त्वं प्रवेक्ष्यसि पावकम् ॥४३॥

हे अनिन्दिते, अपने आत्मा का ऐसा स्वरूप जानकर तुम शोक छोड़ दो, मैं अभी जाता हूँ, और या तो लक्ष्मणसहित राम को मारकर ही आऊँगा या श्री राम ही अपने वज्रसदृश बाणों से मुझे छिन्न भिन्न कर देंगे। तब मैं उन के पद को प्राप्त होऊँगा; हे प्रिये, मेरी आज्ञा से तब तुम मेरे लिए एक काम करना; तुम सीता को मारकर मेरी देह के साथ अग्नि में प्रवेश कर जाना ॥ ४१-४३ ॥

एवं श्रुत्वा वचस्तस्य रावणस्यातिदुःखिता ।
उवाच नाथ मे वाक्यं शृणु सत्यं तथा कुरु ॥४४॥
शक्यो न राघवो जेतुं त्वया चान्यैः कदाचन ।
रामो देववरः साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ॥४५॥

रावण के ये वचन सुनकर मन्दोदरी ने अति दुःखित होकर कहा—प्रभो, मैं आप से ठीक ठीक बात कहती हूँ, आप उसे सुनकर वैसा कीजिये; राम तुम से अथवा और भी किसी से कभी नहीं जीते जा सकते। देवाधिदेव भगवान् राम साक्षात् प्रकृति और पुरुष के नियामक हैं ॥ ४४-४५ ॥

मत्स्यो भूत्वा पुरा कल्पे मनुं वैवस्वतं प्रभुः ।
रररक्ष सकलापद्भ्यो राघवो भक्तवत्सलः ॥ ४६ ॥
रामः कूर्मोऽभवत्पूर्वं लक्षयोजनविस्तृतः ।
समुद्रमथने पृष्ठे दधार कनकाचलम् ॥ ४७ ॥
हिरण्याक्षोऽतिदुर्वृत्तो हतोऽनेन महात्मना ।
क्रोडरूपेण वपुषा क्षोणीमुद्धरता क्वचित् ॥ ४८ ॥

भक्तवत्सल रघुनाथजी ने ही कल्प के आरम्भ में मत्यरूप होकर वैवस्वत मनु की समस्त आपत्तियों से रक्षा की थी। भगवान् राम ही पूर्वकाल में एक लक्ष योजन विस्तारवाले कच्छप हुए थे और समुद्रमन्थन के समय इन्हीं ने अपनी पीठ पर सुमेरु पर्वत को धारण किया था, किसी समय वाराहरूप धारण कर पृथिवी का उद्धार करते समय इन्हीं महात्मा ने महादुराचारी हिरण्याक्ष दैत्य को मारा था ॥ ४६-४८ ॥

त्रिलोककण्टकं दैत्यं हिरण्यकशिपुं पुरा ।
हतवान्नारसिंहेन वपुषा रघुनन्दनः ॥ ४९ ॥
विक्रमैस्त्रिभिरेवासौ बलिं बद्ध्वा जगत्त्रयम् ।
आक्रम्यादात्सुरेन्द्राय भृत्याय रघुसत्तमः ॥ ५० ॥

इन रघुनन्दन ने नृसिंहशरीर से त्रिलोकी के कण्टकरूप हरिण्यकशिपु दैत्य को मारा था और इन्हीं ने वामन अवतार में बलि को बाँधकर सम्पूर्ण त्रिलोकी को तीन ही पगों से नापकर अपने सेवक इन्द्र को दे दिया था ॥ ४९-५० ॥

राक्षसाः क्षत्रियाकारा जाता भूमेर्भरावहाः ।
तान्हत्वा बहुशो रामो भुवं जित्वा ह्यदान्मुनेः ॥५१॥
स एव साम्प्रतं जातो रघुवंशे परात्परः ।
भवदर्थे रघुश्रेष्ठो मानुषत्वमुपागतः ॥५२॥

जिस समय राक्षसगण क्षत्रियरूप से उत्पन्न होकर पृथिवी के भाररूप हुए, तब इन्हीं ने परशुरामरूप से उन्हें कई बार संग्राम में मारा और पृथिवी को जीतकर

उसे कश्यप मुनि को दे दिया, इस समय वे ही परात्पर प्रभु रघुवंश में रामरूप से अवतीर्ण होकर आप के लिए मनुष्यरूप हुए हैं ॥ ५१-५२ ॥

तस्य भार्या किमर्थं वा हृता सीता वनाद्बलात् ।
मम पुत्रविनाशार्थं स्वस्यापि निधनाय च ॥५३॥
इतः परं वा वैदेहीं प्रेषयस्व रघूत्तमे ।
विभीषणाय राज्यं तु दत्त्वा गच्छामहे वनम् ॥५४॥

आप ने उन की स्त्री सीता को मेरे पुत्र के नाश के लिए और अपनी भी मौत बुलाने के लिए भला, बलात्कार से तपोवन से क्यों चुरा लिया ? आप अब भी जानकी को रघुनाथजी के पास भेज दीजिये, फिर विभीषण को राज्य देकर हम वन को चलेंगे ॥ ५३-५४ ॥

मन्दोदरीवचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
कथं भद्रे रणे पुत्रान् भ्रातॄन् राक्षसमण्डलम् ॥५५॥
घातयित्वा राघवेण जीवामि वनगोचरः ।
रामेण सह योत्स्यामि रामबाणैः सुशीघ्रगैः ॥५६॥
विदार्यमाणो यास्यामि तद्विष्णोः परमं पदम् ।

मन्दोदरी के वचन सुनकर रावण बोला—अयि भद्रे, युद्ध में रघुनाथजी से अपने पुत्र, भ्राता और राक्षससमूह का नाश कराकर भला मैं वनवासी होकर कैसे जीवन काट सकता हूँ ? अब तो मैं भी राम के साथ युद्ध करूँगा और उन के शीघ्रगामी बाणों से विद्ध होकर उन विष्णु भगवान् के परमधाम को जाऊँगा ॥ ५५-५६ ॥

जानामि राघवं विष्णुं लक्ष्मीं जानामि जानकीम् ।
ज्ञात्वैव जानकी सीता मयानीता वनाद्बलात् ॥५७॥
रामेण निधनं प्राप्य यास्यामीति परं पदम् ।
विमुच्य त्वां तु संसाराद्गमिष्यामि सह प्रिये ॥५८॥
परानन्दमयी शुद्धा सेव्यते या मुमुक्षुभिः ।
तां गतिं तु गमिष्यामि हतो रामेण संयुगे ॥५९॥

मैं राम को साक्षात् विष्णु और जानकी को भगवती लक्ष्मी जानता हूँ और यह जानकर ही कि राम के हाथ से मरकर उन का परमपद प्राप्त करूँगा, मैं जनकनन्दिनी सीता को बलात्कार से तपोवन से ले आया था। हे प्रिये, अब मैं तुम्हें छोड़कर अपने अन्यान्य राक्षसवीरों के साथ संसार से कूच करूँगा और मुमुक्षुगण जिस परमानन्दमयी विशुद्ध गति का सेवन करते हैं, संग्राम में भगवान् राम के हाथ से मरकर मैं उसी गति को प्राप्त करूँगा॥ ५७-५९॥

प्रक्षाल्य कल्मषाणीह मुक्तिं यास्यामि दुर्लभाम् ॥६०॥

क्लेशादिपञ्चकतरङ्गयुतं भ्रमाढ्यं दारात्मजाप्तधनबन्धुझषाभियुक्तम् ।
और्वानलाभनिजरोषमनङ्गजालं संसारसागरमतीत्य हरिं व्रजामि॥६१॥

इस प्रकार अपने समस्त पापपुञ्ज का प्रक्षालन कर मैं दुर्लभ मोक्षपद प्राप्त करूँगा। इस संसारसागर में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँच क्लेश ही तरंगें हैं, भ्रम ही भँवरें हैं, स्त्री, पुत्र, स्वजन, विभव और बन्धु आदि मत्स्य हैं, अपना क्रोध ही बड़वानल है तथा इस के भीतर कामरूपी जाल फैला हुआ है; ऐसे संसारसागर को पारकर अब मैं श्री हरि के निकट जाऊँगा॥ ६०-६१॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के दशम सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ॥ १०॥

एकादश सर्ग
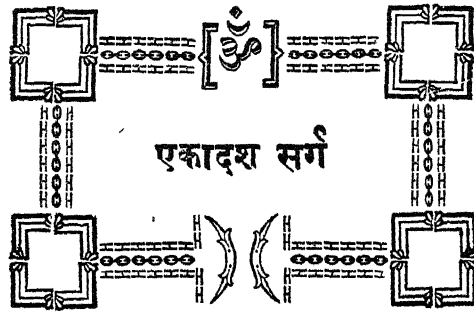
श्री राम के साथ रावण का घोर युद्ध और वीरगति ।

श्रीमहादेव उवाच—

इत्युक्त्वा वचनं प्रेम्णा राज्ञीं मन्दोदरीं तदा ।
रावणः प्रययौ योद्धुं रामेण सह संयुगे ॥ १ ॥
दृढं स्यन्दनमास्थाय वृतो घोरैर्निशाचरैः ।
चक्रैः षोडशभिर्युक्तं सवरूथं सकूबरम् ॥ २ ॥
पिशाचवदनैर्घोरैः खरैर्युक्तं भयावहम् ।
सर्वास्त्रशस्त्रसहितं सर्वोपस्करसंयुतम् ॥ ३ ॥
निश्चक्रामाथ सहसा रावणो भीषणाकृतिः ।

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, महारानी मन्दोदरी को प्रेमपूर्वक इस प्रकार समझा बुझाकर रावण श्री रामचन्द्रजी के साथ युद्ध करने के लिए रणभूमि को चला। वह महाभयंकर राक्षसों से घिरकर एक सुदृढ रथ पर सवार हुआ, उस रथ में सोलह पहिये, लोहे का परदा तथा दृढ युगबन्धन लगे हुए थे। पिशाच के समान मुखवाले गधों के जुते रहने से वह रथ अति भयानक जान पड़ता था, तथा सब प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित एवं समस्त युद्धसामग्री से सम्पन्न था। इस प्रकार महा-भयंकर राक्षसराज रावण लंकापुरी से निकला ॥ १-३ ॥

आयान्तं रावणं दृष्ट्वा भीषणं रणकर्कशम् ॥ ४ ॥
सन्त्रस्ताभूत्तदा सेना वानरी रामपालिता ॥ ५ ॥
हनूमानथ चोत्प्लुत्य रावणं योद्धुमाययौ ।
आगत्य हनुमान् रक्षोवक्षस्यतुलविक्रमः ॥ ६ ॥
मुष्टिबन्धं दृढं बद्ध्वा ताडयामास वेगतः ।

युद्ध में अत्यन्त निष्ठुर भीषणाकार रावण को आता देख भगवान् राम से सुरक्षित वानरसेना भयभीत हो गयी। तब हनुमान्जी रावण से युद्ध करने के लिए उछलकर सामने आये। वहाँ आते ही अतुलित पराक्रमी पवनकुमार ने कसकर मुट्ठी बाँधी और बड़े वेग से उस राक्षस की छाती में प्रहार किया ॥ ४-६ ॥

तेन मुष्टिप्रहारेण जानुभ्यामपतद्रथे ॥ ७ ॥
मूर्च्छितोऽथ मुहूर्तेन रावणः पुनरुत्थितः।
उवाच च हनूमन्तं शूरोऽसि मम सम्मतः ॥ ८ ॥
हनूमानाह तं धिङ्मां यस्त्वं जीवसि रावण।
त्वं तावन्मुष्टिना वक्षो मम ताडय रावण ॥ ९ ॥
पश्चान्मया हतः प्राणान्मोक्ष्यसे नात्र संशयः।

उस घूँसे के लगते ही वह रथ में घुटनों के बल गिर गया। एक मुहूर्त मूर्च्छित रहने के अनन्तर रावण को फिर चेत हुआ। तब उस ने हनुमान्जी से कहा—मैं मानता हूँ, तू वास्तव में बड़ा शूरवीर है। फिर हनुमान्जी ने कहा—अरे रावण, मुझे धिक्कार है कि मेरा घूँसा खाकर भी तू जीता रह गया। अच्छा, अब तू मेरी छाती में घूँसा मार, फिर बदले में मेरा घूँसा लगने पर तू प्राण छोड़ देगा, इस में सन्देह नहीं।

तथेति मुष्टिना वक्षो रावणेनापि ताडितः ॥१०॥
विघूर्णमाननयनः किञ्चित्कश्मलमाययौ।
संज्ञामवाप्य कपिराट् रावणं हन्तुमुद्यतः ॥११॥
ततोऽन्यत्र गतो भीत्या रावणो राक्षसाधिपः।

तब रावण ने 'अच्छा' ऐसा कह-कर हनुमान्जी की छाती में घूँसा मारा, उस के लगने से उन के नेत्र घूमने लगे और वे कुछ तिलमिला उठे। फिर चेत होने पर कपिराज हनुमान्जी रावण को मारने के लिए तैयार हुए तब राक्षस-राज रावण भयभीत होकर कहीं अन्यत्र चला गया ॥ १०-११ ॥

हनूमानङ्गदश्चैव नलो नीलस्तथैव च ॥ १२ ॥
चत्वारः समवेत्याग्रे दृष्ट्वा राक्षसपुङ्गवम् ।
अग्निवर्णं तथा सर्परोमाणं खड्गरोमकम् ॥ १३ ॥
तथा वृश्चिकरोमाणं निर्जघ्नुः क्रमशोऽसुरान् ।
चत्वारश्चतुरो हत्वा राक्षसान् भीमविक्रमान् ।
सिंहनादं पृथक् कृत्वा रामपार्श्वमुपागताः ॥ १४ ॥

इतने ही में हनुमान्, अंगद, नल और नील इन चारों ने एकत्र होकर अपने सामने अग्निवर्ण, सर्परोमा, खड्गरोमा और वृश्चिकरोमा नामक चार राक्षसों को खड़े देखा। तब उन चारों ने क्रमशः इन चारों महापराक्रमी राक्षसों को मार डाला और फिर पृथक् पृथक् गरजते हुए श्री रघुनाथजी के पास आ खड़े हुए ॥ १२-१४ ॥

ततः क्रुद्धो दशग्रीवः सन्दश्य दशनच्छदम् ॥१५॥
विवृत्य नयने क्रूरो राममेवान्वधावत ।
दशग्रीवो रथस्थस्तु रामं वज्रोपमैः शरैः ॥१६॥
आजघान महाघोरैर्धाराभिरिव तोयदः ।
रामस्य पुरतः सर्वान्वानरानपि विव्यथे ॥१७॥

तदनन्तर अत्यन्त क्रूर दशग्रीव रावण क्रुद्ध होकर दाँतों से ओठ चबाता हुआ आँखें फाड़कर श्री रामचन्द्रजी की ओर ही दौड़ा। रावण रथ में चढ़ा हुआ था और श्री रघुनाथजी रथहीन थे, तो भी वह मेघ जिस प्रकार जल की धाराएँ बरसाता है, वैसे ही महाभयंकर वज्रसदृश बाणों से श्री रामचन्द्रजी पर प्रहार करने लगा और भगवान् राम के सामने ही उस ने समस्त वानरों को भी व्यथित कर दिया ॥ १५-१७ ॥

ततः पावकसङ्काशैः शरैः काञ्चनभूषणैः ।
अभ्यवर्षद्रणे रामो दशग्रीवं समाहितः ॥१८॥
रथस्थं रावणं दृष्ट्वा भूमिष्ठं रघुनन्दनम् ।
आहूय मातलिं शक्रो वचनं चेदमब्रवीत् ॥१९॥
रथेन मम भूमिष्ठं शीघ्रं याहि रघूत्तमम् ।
त्वरितं भूतलं गत्वा कुरु कार्यं ममानघ ॥२०॥

तब श्री रामचन्द्रजी भी सावधान होकर रणभूमि में रावण पर अग्नि के समान तेजस्वी सुवर्णभूषित बाणों की वर्षा करने लगे। इन्द्र ने जब देखा कि रावण रथ पर चढ़ा हुआ है और श्री रघुनाथजी पृथिवी पर ही खड़े हैं तो उस ने अपने सारथि मातलि को बुलाकर कहा—हे अनघ, देखो रघुनाथजी पृथिवी पर खड़े हैं। तुम तुरन्त मेरा रथ लेकर भूलोक में उन के पास जाओ और मेरा कार्य करो ॥ १८-२० ॥

एवमुक्तोऽथ तं नत्वा मातलिर्देवसारथिः।
ततो हयैश्च संयोज्य हरितैः स्यन्दनोत्तमम् ॥२१॥
स्वर्गाज्जयार्थं रामस्य ह्युपचक्राम मातलिः।
प्राञ्जलिर्देवराजेन प्रेषितोऽस्मि रघूत्तम ॥२२॥

इन्द्र की यह आज्ञा पाकर देवसारथि मातलि ने उन्हें नमस्कार किया और उन के उत्तम रथ में हरे रंग के घोड़े जोतकर भगवान् राम की विजय के लिए स्वर्ग से चलकर उन के पास उपस्थित हुआ, तथा उन से हाथ जोड़कर बोला—हे रघुश्रेष्ठ, मुझे देवराज इन्द्र ने भेजा है ॥ २१-२२ ॥

रथोऽयं देवराजस्य विजयाय तव प्रभो।
प्रेषितश्च महाराज धनुरैन्द्रं च भूषितम् ॥२३॥
अभेद्यं कवचं खड्गं दिव्यतूणीयुगं तथा।
आरुह्य च रथं राम रावणं जहि राक्षसम् ॥२४॥
मया सारथिना देव वृत्रं देवपतिर्यथा।

हे प्रभो, यह रथ इन्द्र का ही है, इसे उन्होंने आप की विजय के लिए भेजा है। हे महाराज, इस के साथ ही यह शोभायमान ऐन्द्र धनुष, अभेद्य कवच, खड्ग और दो दिव्य तूणीर भी भेजे हैं। हे राम, मुझ सारथि के साथ, इन्द्र ने जिस प्रकार वृत्रासुर का वध किया था उसी प्रकार हे देव, आप इस रथ पर आरूढ होकर राक्षस रावण का वध कीजिये ॥ २३-२४ ॥

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य रथोत्तमम् ॥२५॥
आरुरोह रथं रामो लोकाँल्लक्ष्म्या नियोजयन्।

ततोऽभवन्महायुद्धं भैरवं रोमहर्षणम् ॥२६॥
महात्मनो राघवस्य रावणस्य च धीमतः ।

मातलि के इस प्रकार कहने पर श्री रामचन्द्रजी ने उस रथ की परिक्रमा कर उसे नमस्कार किया और सम्पूर्ण लोकों को श्रीसम्पन्न करते हुए उस पर आरूढ हुए। फिर महात्मा राम और बुद्धिमान् रावण का महाभयानक और रोमाञ्चकारी घोर युद्ध होने लगा ॥ २५-२६ ॥

आग्नेयेन च आग्नेयं दैवं दैवेन राघवः ॥२७॥
अस्त्रं राक्षसराजस्य जघान परमास्त्रवित् ।
ततस्तु ससृजे घोरं राक्षसं चास्त्रमस्त्रवित् ।
क्रोधेन महताविष्टो रामस्योपरि रावणः ॥२८॥
रावणस्य धनुर्मुक्ताः सर्पा भूत्वा महाविषाः ।
शराः काञ्चनपुङ्खाभा राघवं परितोऽपतन् ॥२९॥

अस्त्र विद्या में परम कुशल श्री रामचन्द्रजी ने रावण के आग्नेयास्त्र को आग्नेयास्त्र से और दैवास्त्र को दैवास्त्र से काट डाला। तब अस्त्रविद्या विशारद रावण ने अत्यन्त क्रोधाविष्ट हो श्री रामचन्द्रजी पर महाभयंकर राक्षसास्त्र छोड़ा। रावण के धनुष से छूटे हुए बाण, जो सुवर्णमय पंख से भासमान हो रहे थे, महाविषधर सर्प होकर श्री रघुनाथजी के चारों ओर गिरने लगे ॥ २७-२९ ॥

तैः शरैः सर्पवदनैर्वमद्भिरनलं मुखैः ।
दिशश्च विदिशश्चैव व्याप्तास्तत्र तदाभवन् ॥३०॥
रामः सर्पांस्ततो दृष्ट्वा समन्तात्परिपूरितान् ।
सौपर्णमस्त्रं तद्घोरं पुरः प्रावर्तयद्रणे ॥३१॥
रामेण मुक्तास्ते बाणा भूत्वा गरुडरूपिणः ।
चिच्छिदुः सर्पबाणांस्तान्समन्तात्सर्पशत्रवः ॥३२॥

जिन के मुख से अग्नि की लपटें निकल रही थीं, उन सर्पमुख बाणों से उस समय सम्पूर्ण दिशा विदिशाएँ व्याप्त हो गयीं। राम ने जब रणभूमि में सब ओर सर्पों को व्याप्त देखा तो महाभयंकर गारुडास्त्र छोड़ा। श्री रामचन्द्रजी के छोड़े हुए वे बाण सर्पों के शत्रु गरुड होकर जहाँ तहाँ सर्परूप बाणों को काटने लगे ॥ ३०-३२ ॥

अस्त्रे प्रतिहते युद्धे रामेण दशकन्धरः ।
अभ्यवर्षत्ततो रामं घोराभिः शरवृष्टिभिः ॥३३॥
ततः पुनः शरानीकैः राममक्लिष्टकारिणम् ।
अर्दयित्वा तु घोरेण मातलिं प्रत्यविध्यत ॥३४॥
पातयित्वा रथोपस्थे रथकेतुं च काञ्चनम् ।
ऐन्द्रानश्वानभ्यहनद्रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥३५॥

इस प्रकार भगवान् राम द्वारा अपने शस्त्र को नष्ट हुआ देख रावण ने उन के ऊपर भयंकर बाणवर्षा की और फिर लीलाविहारी भगवान् राम को अति तीव्र बाणावली से पीडित कर मातलि को घायल कर डाला। इतना ही नहीं, क्रोध से उन्मत्त हुए रावण ने रथ की सुवर्णमयी ध्वजा काटकर उस के पृष्ठभाग पर गिरा दी और इन्द्र के घोड़ों को भी हताहत कर दिया ॥ ३३-३५ ॥

विषेदुर्देवगन्धर्वाश्चारणाः पितरस्तथा ।
आर्त्ताकारं हरिं दृष्ट्वा व्यथिताश्च महर्षयः ॥३६॥
व्यथिता वानरेन्द्राश्च बभूवुः सविभीषणाः ।
दशास्यो विंशतिभुजः प्रगृहीतशरासनः ॥३७॥

ददृशे रावणस्तत्र मैनाक इव पर्वतः ।

भगवान् को इस आपत्ति में देखकर देवता, गन्धर्व, चारण और पितर आदि विषादग्रस्त हो गये तथा महर्षिगण मन ही मन दुःख मानने लगे, विभीषण के सहित समस्त वानर यूथपतिगण भी अति चिन्तित हुए। उस समय हाथ में धनुषबाण लिये हुए दस मुखों और बीस भुजाओंवाला रावण मैनाक पर्वत के समान दीख पड़ता था ॥ ३६-३७ ॥

रामस्तु भ्रुकुटिं बद्ध्वा क्रोधसंरक्तलोचनः ॥३८॥
कोपं चकार सदृशं निर्दहन्निव राक्षसम् ।
धनुरादाय देवेन्द्रधनुराकारमद्भुतम् ॥ ३९ ॥
गृहीत्वा पाणिना बाणं कालानलसमप्रभम् ।
निर्दहन्निव चक्षुर्भ्यां ददृशे रिपुमन्तिके ॥४०॥

भगवान् राम के नेत्र क्रोध से लाल हो गये, उन की त्यौरी चढ़ गयी और उस राक्षस को मानो जला डालेंगे, ऐसा क्रोध करते हुए उन्होंने इन्द्रधनुष के समान एक विचित्र धनुष उठाया तथा हाथ में एक कालाग्नि के समान तेजोमय बाण लेकर अपने नेत्रों से समीपवर्ती शत्रु की ओर इस प्रकार निहारा मानो भस्म कर देंगे ॥ ३८-४० ॥

पराक्रमं दर्शयितुं तेजसा प्रज्वलन्निव ।
प्रचक्रमे कालरूपी सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ ४१ ॥
विकृष्य चापं रामस्तु रावणं प्रतिविध्य च ।
हर्षयन्वानरानीकं कालान्तक इवाबभौ ॥ ४२ ॥

काल के समान भगवान् राम ने अपने तेज से प्रज्वलित से होकर सम्पूर्ण लोकों के सामने अपना पराक्रम दिखाना आरम्भ किया, उन्होंने अपना धनुष खींचकर रावण को बींध डाला और वे सम्पूर्ण वानरसेना को आनन्दित करते हुए लोकान्तकारी काल के समान सुशोभित होने लगे ॥ ४१-४२ ॥

क्रुद्धं रामस्य वदनं दृष्ट्वा शत्रुं प्रधावतः ।
तत्रसुः सर्वभूतानि चचाल च वसुन्धरा ॥ ४३ ॥
रामं दृष्ट्वा महारौद्रमुत्पातांश्च सुदारुणान् ।
त्रस्तानि सर्वभूतानि रावणं चाविशद्भयम् ॥ ४४ ॥

शत्रु पर धावा करते हुए भगवान् राम का क्रोधयुक्त मुख देखकर समस्त प्राणी भयभीत हो गये और पृथिवी डगमगाने लगी। राम का अति रौद्ररूप और इन दारुण उत्पातों को देखकर समस्त जीवों में त्रास छा गया और रावण के अन्तःकरण में भी आतंक समा गया ॥ ४३-४४ ॥

विमानस्थाः सुरगणाः सिद्धगन्धर्वकिन्नराः ।
ददृशुः सुमहायुद्धं लोकसंवर्तकोपमम् ।
ऐन्द्रमस्त्रं समादाय रावणस्य शिरोऽच्छिनत् ॥४५॥
मूर्धानो रावणस्याथ बहवो रुधिरोक्षिताः ।
गगनात्प्रपतन्ति स्म तालादिव फलानि हि ॥४६॥

उस समय देवता, सिद्ध, गन्धर्व और किन्नरगण विमानों पर चढ़े हुए, संसार के महाप्रलय के समान इस घोर युद्ध को देख रहे थे। इसी बीच में श्री रामचन्द्रजी ने ऐन्द्रास्त्र छोड़कर रावण के शिर काट डाले। तब रावण के बहुत से शिर रुधिर से लथपथ हो आकाशमण्डल से इस प्रकार गिरने लगे जैसे तालवृक्ष से उस के फल गिरते हैं॥ ४५-४६ ॥

न दिनं न च वै रात्रिर्न सन्ध्या न दिशोऽपि वा ।
प्रकाशन्ते न तद्रूपं दृश्यते तत्र सङ्गरे ॥ ४७ ॥
ततो रामो बभूवाथ विस्मयाविष्टमानसः ।

उस समय दिन, रात, सन्ध्या अथवा दिशाएँ आदि कुछ भी स्पष्ट नहीं जान पड़ती थीं तथा उस संग्रामभूमि में रावण का रूप भी दिखायी नहीं देता था, केवल कटे हुए शिर ही दीख पड़ते थे। तब तो श्री रामचन्द्रजी को बड़ा ही विस्मय हुआ ॥ ४७ ॥

शतमेकोत्तरं छिन्नं शिरसां चैकवर्चसाम् ॥ ४८ ॥
न चैव रावणः शान्तो दृश्यते जीवितक्षयात् ।
ततः सर्वास्त्रविद्धीरः कौसल्यानन्दवर्धनः ॥४९॥
अस्त्रैश्च बहुभिर्युक्तश्चिन्तयामास राघवः ।
यैर्यैर्बाणैर्हता दैत्या महासत्त्वपराक्रमाः ॥५०॥
त एते निष्फलं याता रावणस्य निपातने ।

राम सोचने लगे कि मैंने एक ही तरह के तेजसम्पन्न एक सौ एक शिर काटे हैं

किन्तु फिर भी रावण प्राणनाशपूर्वक निश्चेष्ट हुआ दिखायी नहीं देता। तब अनेक अस्त्रों से युक्त सर्वास्त्रविशारद धीरवीर कौसल्यानन्दन रघुनाथजी ने फिर विचारा कि मैं ने जिन जिन बाणों से बड़े बड़े तेजस्वी और पराक्रमी दैत्यों को मारा था; इस रावण का वध करने में वे सभी निष्फल हो गये ॥ ४८-५० ॥

इति चिन्ताकुले रामे समीपस्थो विभीषणः ॥५१॥
उवाच राघवं वाक्यं ब्रह्मदत्तवरो ह्यसौ।
विच्छिन्ना बाहवोऽप्यस्य विच्छिन्नानि शिरांसि च ।५२।
उत्पत्स्यन्ति पुनः शीघ्रमित्याह भगवानजः।
नाभिदेशेऽमृतं तस्य कुण्डलाकारसंस्थितम् ॥५३॥
तच्छोषयानलास्त्रेण तस्य मृत्युस्ततो भवेत्।

भगवान् राम को इस प्रकार चिन्ताग्रस्त देखकर उन के पास खड़े हुए विभीषण ने कहा—भगवान् ब्रह्माजी ने रावण को एक वर दिया था। उन्होंने कहा था कि इस की भुजाएँ और शिर बारम्बार काट दिये जाने पर भी फिर तुरन्त नये उत्पन्न हो जायँगे। उन्होंने इस के नाभिदेश में कुण्डलाकार से अमृत रख दिया है। उसे आप आग्नेयास्त्र से सुखा डालिये, तभी इस की मृत्यु हो जायगी ॥ ५१-५३ ॥

विभीषणवचः श्रुत्वा रामः शीघ्रपराक्रमः ॥५४॥
पावकास्त्रेण संयोज्य नाभिं विव्याध रक्षसः।
अनन्तरं च चिच्छेद शिरांसि च महाबलः ॥५५॥
बाहूनपि च संरब्धो रावणस्य रघूत्तमः।

विभीषण के वचन सुनकर शीघ्रपराक्रमी भगवान् राम ने अपने धनुष पर

आग्नेयास्त्र चढ़ाकर उस राक्षस की नाभि में मारा और फिर महाबली रघुनाथजी ने क्रोधित होकर उस के शिर और भुजाएँ काट डालीं ॥ ५४-५५ ॥

ततो घोरां महाशक्तिमादाय दशकन्धरः ॥ ५६ ॥
विभीषणवधार्थाय चिक्षेप क्रोधविह्वलः ।
चिच्छेद राघवो बाणैस्तां शितैर्हेमभूषितैः ॥ ५७ ॥
दशग्रीवशिरश्छेदात्तदा तेजो विनिर्गतम् ।
म्लानरूपो बभूवाथ छिन्नैः शीर्षैर्भयङ्करः ॥ ५८ ॥

इस पर रावण ने अत्यन्त क्रोधातुर हो विभीषण को मारने के लिए महाभयानक शक्ति छोड़ी। किंतु रघुनाथजी ने उसे तुरन्त ही सुवर्णमण्डित तीक्ष्ण बाणों से काट डाला। रावण के शिर काटे जाने से उस का तेज निकल गया और वह उन भयंकर शिरों के कट जाने से विरूप दिखायी देने लगा ॥ ५६-५८ ॥

एकेन मुख्यशिरसा बाहुभ्यां रावणो बभौ ।
रावणस्तु पुनः क्रुद्धो नानाशस्त्रास्त्रवृष्टिभिः ॥५९॥
ववर्ष रामं तं रामस्तथा बाणैर्ववर्ष च ।
ततो युद्धमभूद्घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ॥६०॥

अब रावण के एक मुख्य शिर और दो भुजाएँ रह गयी थीं। किन्तु फिर भी वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर भगवान् राम पर नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्र बरसाने लगा। इसी प्रकार राम ने भी उस पर भयंकर बाणवर्षा की। फिर तो वहाँ अत्यन्त रोमाञ्चकारी घमासान युद्ध छिड़ गया ॥ ५९-६० ॥

अथ संस्मारयामास मातली राघवं तदा ।
विसृज्यास्त्रं वधायास्य ब्राह्मं शीघ्रं रघूत्तम ॥६१॥
विनाशकालः प्रथितो यः सुरैः सोऽद्य वर्तते ।
उत्तमाङ्गं न चैतस्य छेत्तव्यं राघव त्वया ॥६२॥
नैव शीर्ष्णि प्रभो वध्यो वध्य एव हि मर्मणि ।

तब मातलि ने श्री रामचन्द्रजी को स्मरण दिलाया कि हे रघुश्रेष्ठ, इस का वध करने के लिए आप शीघ्र ही ब्रह्मास्त्र छोड़िये, देवताओं ने इस के नाश का जो समय निश्चित किया है, वह इस समय वर्तमान है। हे रघुनन्दन, आप इस का मस्तक न

काटियेगा, क्योंकि हे प्रभो, यह शिर काटने से नहीं मर सकता, बल्कि, हृदयरूप मर्म-स्थान के विद्ध होने पर ही इस का अन्त हो सकता है ॥ ६१-६२ ॥

ततः संस्मारितो रामस्तेन वाक्येन मातलेः ॥६३॥
जग्राह सशरं दीप्तं निश्वसन्तमिवोरगम् ।
यस्य पार्श्वे तु पवनः फले भास्करपावकौ ॥६४॥
शरीरमाकाशमयं गौरवे मेरुमन्दरौ ।
पर्वस्वपि च विन्यस्ता लोकपाला महौजसः ॥६५॥

मातलि के इन वाक्यों से स्मरण दिलाये जाने पर भगवान् राम ने फुफकारते हुए सर्प के समान एक परम तेजस्वी बाण निकाला। उस के पार्श्वभाग में पवन की, नोंक पर सूर्य और अग्नि की, सारभाग में सुमेरु और मन्दराचल की तथा गाँठों में महातेजस्वी लोकपालों की स्थापना की गयी थी, एवं उस का स्वरूप आकाशमय था ॥ ६३-६३ ॥

जाज्वल्यमानं वपुषा भातं भास्करवर्चसा ।
तमुग्रमस्त्रं लोकानां भयनाशनमद्भुतम् ॥ ६६ ॥
अभिमन्त्र्य ततो रामस्तं महेषुं महाभुजः ।
वेदप्रोक्तेन विधिना सन्दधे कार्मुके बली ॥ ६७ ॥
तस्मिन्सन्धीयमाने तु राघवेण शरोत्तमे ।
सर्वभूतानि वित्रेसुश्चचाल च वसुन्धरा ॥ ६८ ॥

उस का आकार अत्यन्त देदीप्यमान होने के कारण वह सूर्य के समान प्रकाशमान था। महाबाहु भगवान् राम ने सम्पूर्ण लोकों का भय दूर करनेवाले उस अत्यन्त उग्र और अद्भुत अस्त्र को धनुर्वेदोक्त विधि से अभिमन्त्रित कर अपने धनुष पर चढ़ाया। भगवान् राम द्वारा उस उत्तम बाण के चढ़ाये जाने पर समस्त प्राणी भयभीत हो गये और पृथिवी काँपने लगी ॥ ६६-६८ ॥

स रावणाय सङ्क्रुद्धो भृशमानम्य कार्मुकम् ।
चिक्षेप परमायत्तस्तमस्त्रं मर्मघातिनम् ॥ ६९ ॥
स वज्र इव दुर्द्धर्षो वज्रपाणिविसर्जितः ।
कृतान्त इव घोरास्यो न्यपतद्रावणोरसि ॥ ७० ॥

स निमग्नो महाघोरः शरीरान्तकरः परः ।
विभेद हृदयं तूर्णं रावणस्य महात्मनः ॥ ७१ ॥
रावणस्याहरत्प्राणान्विवेश धरणीतले ।
स शरो रावणं हत्वा रामतूणीरमाविशत् ॥७२॥

इसी समय उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध हो धनुष को भली प्रकार खींचकर बड़ी सावधानी से वह मर्मघातक बाण रावण पर छोड़ दिया। वह काल के समान अति भयंकर मुखवाला, और वज्रपाणि इन्द्र द्वारा छोड़े हुए वज्र के समान अति असह्य बाण रावण के वक्षःस्थल में लगा। वह शरीरान्तकारी महाभयंकर बाण उस महाकाय रावण के शरीर में घुस गया और उस ने तुरन्त ही उस का हृदय फाड़ डाला, उस ने रावण के प्राणों का अन्त कर दिया और फिर पृथिवी में घुस गया। इस प्रकार रावण का वध करने के उपरान्त बाण फिर भगवान् राम के तरकश में चला आया ॥ ६९-७२ ॥

तस्य हस्तात्पपाताशु सशरं कार्मुकं महत् ।
गतासुर्भ्रमिवेगेन राक्षसेन्द्रोऽपतद्भुवि ॥ ७३ ॥
तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ हतशेषाश्च राक्षसाः ।
हतनाथा भयत्रस्ता दुद्रुवुः सर्वतोदिशम् ॥ ७४ ॥

बाण के लगते ही रावण का बड़ा भारी धनुष बाणसहित तुरन्त उस के हाथ से गिर गया और वह राक्षसराज प्राणरहित हो चक्कर खाकर पृथिवी पर गिर पड़ा। उसे पृथिवी पर गिरा देख मरने से बचे हुए राक्षसगण अनाथ हो जाने से भयभीत होकर चारों ओर भाग गये ॥ ७३-७४ ॥

रा० च०—मित्रो, श्री रामचन्द्रजी के हाथ से देवविरोधी महाभिमानी राजा दशकण्ठ रावण मारा गया, वह चक्कर खाकर सदा के लिए जमीन की शय्या पर लेट गया, ऐसा सोया, ऐसी निद्रा में निमग्न हो गया जिस से कभी कोई उठा नहीं करता।

राम के प्रतिभट रावण के जीवन पर एक दृष्टि डालें तो उस को आज लोग बुरा बताते हैं, उस की राजनीति में गलती निकाली जाती है, उस की सामाजिक व्यवस्था अच्छी नहीं बताई जाती। यह कथन कहाँ तक सही है, इस पर आप लोग निष्पक्ष होकर शान्त चित्त से विचार करें। यह तो आप लोगों को मालूम है कि उस समय जब कि रावण लङ्केश्वर था, यहाँ दो दल प्रबल थे, एक देवताओं का, और दूसरा राक्षसों का। इन दोनों दलों में भारी शत्रुता थी।

ये सदा लड़ते झगड़ते रहते थे। यद्यपि इन दोनों के मूलपुरुष, इष्टदेव तक एक थे। पर फिर भी इन में सदा अनबन रही। देवताओं में रजोगुण की प्रधानता थी, और राक्षसों में तमोगुण को प्राधान्य प्राप्त था। इन दोनों के स्वभाव की विशेष विवेचना करना आप लोगों के सामने बेकार है, क्योंकि आप लोग इन दोनों के विषय में बहुत कुछ सुना करते हैं। मुझे तो आज प्रसङ्गोपात्त राजा रावण के विषय में कुछ कहना है।

रावण राक्षसपक्ष का निडर, साहसी और वीर राजा था। उस का परम कर्तव्य था कि वह जिस पक्ष का सरदार था, उस की पूर्ण उन्नति करे, और देवताओं से अपनी जाति का पहला बदला चुकाये, देवताओं की दृष्टि में अपनी जाति को प्रतिष्ठित करे, देवता हमेशा राक्षसों से घृणा करते चले आये हैं, वे इन्हें निशाचर कहकर चिढ़ाते रहते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक हो जाता है कि रावण अपने दल, वंश तथा जाति की उन्नति करे।

निःसंदेह उस ने अपनी जाति को गौरवान्वित किया। पर तो भी आज तक जनता उस की बुराई ही करती चली आ रही है। इस का कारण यह है कि वह युद्ध में हार गया, मारा गया। उस के विरुद्ध लोगों ने जो कहा, वह उस का समाधान न कर सका, क्योंकि वह दुनियाँ से उठ चुका था।

मित्रो ! हम तथा आप लोग जब रामायण पढते या सुनते हैं तो उस समय हाव, भाव या इङ्गित चेष्टा से रावण की मसखरी ही किया करते हैं। व्यंगों से मीठी चुटकी लिया करते हैं और स्पष्ट शब्दों में उसे पापी बताया करते हैं। उस के बहुत से दोष प्रकट किया करते हैं, पर सब से बड़ा दोष सीताहरण का उस के सिर मढा जाता है। अवश्य ही किसी भी वीर को अपने शत्रु से ऐसा बदला या ऐसी शत्रुता नहीं करनी चाहिये थी कि जिस से नारीजाति को कष्ट में डाला जाय। यह रावण का अन्याय था। पर आज कल की जनता जब कि स्वयं स्त्रीजाति का अपमान कर रही है, नारीवर्ग के साथ रावण से बढकर बुरा सलूक कर रही है तो फिर रावण को बुरा कहना, रामकथा सुनकर या रामलीला देखकर आप लोगों का स्वयं न्यायाधीश (जज) बनकर रावण के विरुद्ध फैसला (जजमेंट) देना कहाँ तक न्यायसंगत है, इस पर भी कभी विचार किया है ? जो स्वयं बुरा है उसे दूसरे को खराब बताकर उस के प्रति हास्य या घृणा करने का क्या हक हासिल है ? चोरों के चोर न्यायाधीश नहीं हुआ करते। आप लोग जिन दोषों से रावण को बुरा समझते हैं, और जिन गुणों से श्री राम की प्रशंसा करते नहीं अघाते, क्या कभी यही बात अपने लिए भी सोचने का कष्ट किया है। जिन दोषों से रावण दूषित समझा जा रहा है यदि वे ही दोष आप में भी हूबहू विद्यमान हों तो कहिए तब आप क्या समझे जायँगे ? पहले आप आत्मावलोकन कीजिये, फिर सिर उठाकर दूसरों का छिद्रान्वेषण करने में प्रविष्ट होना।

जो खुद स्वस्थ होगा वही दूसरे की सहायता कर सकता है, जिसे स्वयं ज्वर चढ़ा है, वह अन्य के लिए औषधानयनादि उपचार करने में लग सकता है ? अतः आप लोग पहले अपना दोष दूर करने का यत्न करें, बाद में किसी को बुरा भला बताना।

प्यारे मित्रो ! आप लोगों के सामने रामचरित भी है और रावण की भी कथा है। इस का मतलब यह है कि—

"रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न तु रावणादिवत्"

अर्थात् आप लोग किसी भी व्यवहार में रामजी की तरह प्रवृत्त होओ, रावण के सदृश नहीं। यानी आप लोगों के जीवन का आदर्श श्री रामचरित तथा रामोपदेश होना चाहिये, रावण के जीवन का नहीं। राम के चरणचिन्हों का अनुगमन करने से ही भला होगा, रावण की पद्धति अङ्गीकार करने से नहीं।

दरअसल—

"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव,
अतिथिदेवो भव, स्वाध्यान्मा प्रमदितव्यम्।"

इत्यादि वेदोपदेशों के उदाहरण हैं ये राम और रावण के जीवनेतिवृत्त। भाव यह है कि वेदाज्ञा प्रतिपालन करनेवालों का जीवन अपने लिए तथा दूसरों के लिए भी ऐसा उज्ज्वल भव्य, दिव्य और उपयोगी हो जाता है जैसा श्री रामजी का जीवनचरित्र है, और जो वेद-मार्ग का परित्याग करके उच्छृङ्खल जीवनयापन करते हैं वे अपने तथा अन्यों के लिए ऐसे अनुपयुक्त भारभूत और निन्दित हो जाते हैं जैसा राजा रावण। रावण वीर था, अपनी जाति का हितेच्छु था, अपने शत्रुओं से बदला लेने की सामर्थ्य रखता था। कहने का अभिप्राय यह है कि रावण राजनीति में जितना पटु और तेजस्वी था, उतना ही उस ने अपना सामाजिक जीवन अतीव गन्दा, हीन बना लिया था, वह दूसरों के लिए ऐसा ही बर्ताव करना नहीं चाहता था, जो अन्य लोगों से अपने तथा अपनी जाति के लिए चाहता था। वह समर्थ होकर भी लोकसंग्रहविध्वंसक था।

बन्धुओ ! रावण मर गया, और श्री रामजी अपना कार्य करके अपनी ज्योति में लीन हो गये। यह घटना लाखों या हजारों वर्ष पुरानी हो गयी, पर उनके चरित हिन्दूजाति के सामने आज भी ताजे हैं। हमें उक्त चरित्रद्वय से शिक्षा ग्रहण करके मानवजन्म सफल करने का प्रयास करना चाहिये। रामायण ने प्रकाशित और अन्धकारयुक्त दोनों पहलू आप लोगों के सामने रख दिये हैं। इन में आप लोग चाहे अमीय स्वीकार कर लें या हलाहल अङ्गीकार कर लें।

मैं संन्यासी सर्वभूतहित चाहता हूँ। मैं कौशलकिशोर, सीतापति, अवधेश, सुरेश,

महेश, विश्वेश से हृदय से चाहता हूँ कि वे कृपालु आप को बल दें, सद्बुद्धि प्रदान करें, जिस से आप लोगों को रामचर्चा परमप्रिय प्रतीत हो, उस से आप का जीवन साङ्गोपाङ्ग प्रभावित हो, कृतकृत्य हो और रावणी या आसुरीवृत्ति से अरुचि हो।

आप लोग यह न समझें कि मैं ने रावण के विषय में यहाँ आवश्यकता से अधिक कह दिया। भाइयो ! आप लोग विचार करेंगे तो मालूम होगा कि मैं ने लंकेश के लिए कुछ भी नहीं कहा, बहुत कुछ कहना चाहिये था। अस्तु,

दशग्रीवस्य निधनं विजयं राघवस्य च।
ततो विनेदुः संहृष्टा वानरा जितकाशिनः ॥७५॥
वदन्तो रामविजयं रावणस्य च तद्वधम्।
अथान्तरिक्षे व्यनदत्सौम्यस्त्रिदशदुन्दुभिः ॥७६॥

तब विजयविभूषित वानरगण अति प्रसन्न होकर श्री रामचन्द्रजी की जय और रावण की उस पराजय का बखान करते हुए 'भगवान् राम की जय ! और रावण का क्षय !!' ऐसे नारे लगाने लगे। तथा आकाशमण्डल में दिव्य दुन्दुभियों का गम्भीर नाद होने लगा ॥ ७५-७६ ॥

पपात पुष्पवृष्टिश्च समन्ताद्राघवोपरि।
तुष्टुवुर्मुनयः सिद्धाश्चारणाश्च दिवौकसः ॥७७॥
अथान्तरिक्षे ननृतुः सर्वतोऽप्सरसो मुदा।

भगवान् राम पर सब ओर से फूलों की वर्षा होने लगी तथा मुनि, सिद्ध, चारण और देवगण उन की स्तुति करने लगे। आकाश में सब ओर अप्सराएँ भी प्रसन्नतापूर्वक नाचने लगीं ॥ ७७ ॥

रावणस्य च देहोत्थं ज्योतिरादित्यवत्स्फुरत् ॥७८॥
प्रविवेश रघुश्रेष्ठं देवानां पश्यतां सताम्।
देवा ऊचुरहो भाग्यं रावणस्य महात्मनः ॥७९॥
वयं तु सात्त्विका देवा विष्णोः कारुण्यभाजनाः।
भयदुःखादिभिर्व्याप्ताः संसारे परिवर्तिनः ॥८०॥

इसी समय रावण की देह से एक सूर्य के समान प्रकाशमान ज्योति निकली, और वह सब देवताओं के देखते देखते श्री रघुनाथजी में प्रवेश कर गयी। यह देखकर देवगण कहने लगे—अहो, महात्मा रावण का बडा भाग्य है ! हम देवगण

सत्त्वगुणप्रधान हैं और श्री विष्णुभगवान् के कृपापात्र हैं, फिर भी हम भय और दुःखादि से व्याप्त होकर संसार में भटका करते हैं ॥ ७८-८० ॥

अयं तु राक्षसः क्रूरो ब्रह्महातीव तामसः ।
परदाररतो विष्णुद्वेषी तापसहिंसकः ॥८१॥
पश्यत्सु सर्वभूतेषु राममेव प्रविष्टवान् ।
एवं ब्रुवत्सु देवेषु नारदः प्राह सुस्मितः ॥८२॥
शृणुतात्र सुरा यूयं धर्मतत्त्वविचक्षणाः ।

यह रावण महाक्रूर राक्षस था, यही नहीं, यह ब्रह्मघाती, अत्यन्त तमोगुणी, परस्त्रीपरायण, भगवद्-विरोधी और तपस्वियों को पीडित करनेवाला भी था। किन्तु देखो; यह सब के देखते देखते भगवान् राम में ही लीन हो रहा है ! देवगण के इस प्रकार कहने पर नारदजी ने मुसकाते हुए कहा—हे देवगण, तुम लोग धर्म के तत्त्व को भली प्रकार जाननेवाले हो, अतः इस विषय में मेरा मत सुनो ॥ ८१-८२ ॥

रावणो राघवद्वेषादनिशं हृदि भावयन् ॥८३॥
भृत्यैः सह सदा रामचरितं द्वेषसंयुतः ।
श्रुत्वा रामात्स्वनिधनं भयात्सर्वत्र राघवम् ॥८४॥
पश्यन्ननुदिनं स्वप्ने राममेवानुपश्यति
क्रोधोऽपि रावणस्याशु गुरुबोधाधिकोऽभवत् ॥८५॥

रघुनाथजी से द्वेष रहने के कारण रावण अहर्निश अपने सेवकों सहित द्वेषपूर्वक हृदय में सदा श्री रामचन्द्रजी के चरित्र की ही भावना रखता था। यह राम के हाथ से अपना वध सुनकर सर्वत्र राम ही को देखता हुआ स्वप्न में भी उन्हीं को देखता था।

इस प्रकार रावण का क्रोध भी उस के हितार्थ गुरु के उपदेश से कहीं अधिक उपयोगी हुआ ॥ ८३-८५ ॥

रामेण निहतश्चान्ते निर्धूताशेषकल्मषः ।
रामसायुज्यमेवाप रावणो मुक्तबन्धनः ॥ ८६ ॥

अन्त में स्वयं भगवान् राम के हाथ से मारे जाने के कारण उस के समस्त पाप धुल गये थे । अतः बन्धनहीन हो जाने से उस ने राम में सायुज्य मोक्ष प्राप्त किया ॥ ८६ ॥

पापिष्ठो वा दुरात्मा परधनपरदारेषु सक्तो यदि स्या-
न्नित्यं स्नेहाद्भयाद्वा रघुकुलतिलकं भावयन्सम्परेतः ।
भूत्वा शुद्धान्तरङ्गो भवशतजनितानेकदोषैर्विमुक्तः
सद्यो रामस्य विष्णोः सुरवरविनुतं याति वैकुण्ठमाद्यम् ॥ ८७ ॥

यद्यपि कोई पुरुष पहले का महापापी, दुराचारी तथा परधन और परस्त्री में आसक्त भी हो, तथापि यदि नित्यप्रति प्रेम से अथवा भय से रघुकुलतिलक भगवान् राम का चिन्तन करता हुआ प्राणत्याग करता है, तो वह शुद्धचित्त होकर सैकड़ों जन्म के उपार्जित नाना दुःखों से छूटकर शीघ्र ही विष्णुस्वरूप भगवान् राम के देवेन्द्र-वन्दित आदिस्थान वैकुण्ठधाम को चला जाता है ॥ ८७ ॥

हत्वा युद्धे दशास्यं त्रिभुवनविषमं वामहस्तेन चापं
भूमौ विष्टभ्य तिष्ठन्नितरकरधृतं भ्रामयन्बाणमेकम् ।
आरक्तोपान्तनेत्रः शरदलितवपुः सूर्यकोटिप्रकाशो
वीरश्रीबन्धुराङ्गस्त्रिदशपतिनुतः पातु मां वीररामः ॥ ८८ ॥

जो त्रिलोकी के कण्टकस्वरूप रावण को युद्ध में मारकर अपने बायें हाथ से धनुष को पृथिवी पर टेके हुए खड़े हैं, तथा दूसरे हाथ में एक बाण लेकर उसे घुमा रहे हैं, जिन के नेत्रों के उपान्तभाग कुछ लाल हो रहे हैं, बाणों से छिन्न भिन्न हुआ जिन का शरीर करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशित हो रहा है और उन्नत देह वीरश्री से सुशोभित है ; वे देवराज इन्द्र द्वारा वन्दित वीरवर राम हमारी रक्षा करें ॥ ८८ ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के एकादश सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

द्वादश सर्ग
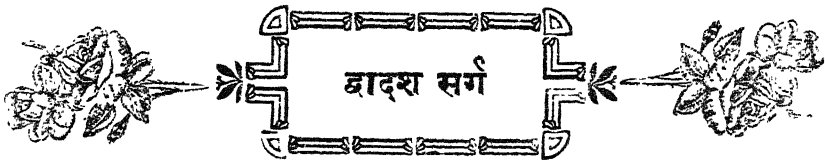
विभीषण को लंकाराज्यप्राप्ति और सीताजी की अग्निपरीक्षा ।

श्रीमहादेव उवाच—

रामो विभीषणं दृष्ट्वा हनूमन्तं तथाङ्गदम् ।
लक्ष्मणं कपिराजं च जाम्बवन्तं तथा परान् ॥१॥
परितुष्टेन मनसा सर्वानेवाब्रवीद्वचः ।
भवतां बाहुवीर्येण निहतो रावणो मया ॥२॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, श्री रामचन्द्रजी ने विभीषण, हनुमान्, अंगद, लक्ष्मण, वानरराज सुग्रीव, जाम्बवान् तथा अन्यान्य वीरों की ओर देखकर सभी लोगों से प्रसन्न चित्त से कहा—आप लोगों के बाहुबल से आज मैंने रावण को मार दिया ॥ १-२ ॥

कीर्तिः स्थास्यति वः पुण्या यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।
कीर्तयिष्यन्ति भवतां कथां त्रैलोक्यपावनीम् ॥३॥
मयोपेतां कलिहरां यास्यन्ति परमां गतिम् ।

हे वीरों, आप सब लोगों की पवित्र कीर्ति जबतक सूर्य और चन्द्र रहेंगे तबतक स्थिर रहेगी और जो लोग मेरे सहित आप सब की कलिकल्मषनाशिनी त्रिलोकपावनी पवित्र कथा का कीर्तन करेंगे, वे परमपद को प्राप्त होंगे ॥ ३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे रावणं पतितं भुवि ॥ ४ ॥
मन्दोदरीमुखाः सर्वाः स्त्रियो रावणपालिताः ।
पतिता रावणस्याग्रे बहुधा पर्यदेवयन् ॥ ५ ॥
विभीषणः शुशोचार्तः शोकेन महतावृतः ।
पतितो रावणस्याग्रे बहुधा पर्यदेवयत् ॥ ६ ॥

इसी समय रावण को पृथिवी पर गिरा हुआ देखकर उस की प्रियपालित मन्दोदरी आदि समस्त स्त्रियाँ उस के पास आकर गिर गयीं तथा शोक से विलाप करने लगीं । विभीषण भी महान् शोकाकुल हो आर्तभाव से चिन्ताग्रस्त हो गये और रावण के पास गिरकर नाना प्रकार से विलाप करने लगे ॥ ६ ॥

प्रसुप्तस्यानहम्भावात्तदा भाति न संसृतिः ।
जीवतोऽपि तथा तद्वद्विमुक्तस्यानहङ्कृतेः ॥१९॥

मिथ्या भ्रान्ति के कारण आत्मा के साथ देह का संयोग मानने से जिस प्रकार ये जन्म आदि धर्म सत्यवत् भासते हैं वैसे ही सत्यरूप आत्मा का निश्चय कर उसी का ध्यान करते रहने से ये असत्य प्रतीत होने लगते हैं। जिस प्रकार गाढ़ निद्रा में सोये हुए पुरुष को अहंकार का अभाव हो जाने से प्रपञ्च की प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार अहंकारहीन और आसक्तिरहित पुरुष को जीते हुए ही प्रपञ्च का भान नहीं होता (वह जीवन्मुक्त हो जाता है) ॥ १८-१९ ॥

तस्मान्मायामनोधर्मं जह्यहम्ममताभ्रमम् ।
रामभद्रे भगवति मनो धेह्यात्मनीश्वरे ॥ २० ॥
सर्वभूतात्मनि परे मायामानुषरूपिणि ।
बाह्येन्द्रियार्थसम्बन्धात्त्याजयित्वा मनः शनैः ॥२१॥

अतः हे विभीषण, तुम अहंता ममता एवं भ्रान्तिरूप, मायामय मन के धर्मों को त्यागो और इन्द्रियों के बाह्य विषयों से अपने मन का सम्बन्ध छुडाकर उसे धीरे धीरे अपने आत्मस्वरूप, सर्वभूतान्तर्यामी, परमेश्वर, मायामानवरूप भगवान् राम में स्थिर करो ॥ २०-२१ ॥

तत्र दोषान्दर्शयित्वा रामानन्दे नियोजय ।
देहबुद्ध्या भवेद्भ्राता पिता माता सुहृत्प्रियः ॥२२॥
विलक्षणं यदा देहाज्जानात्यात्मानमात्मना ।
तदा कः कस्य वा बन्धुर्भ्राता माता पिता सुहृत् ॥२३॥

चित्त को बाह्य विषयों में दोष दिखाकर उसे रामानन्द में नियुक्त कर दो। ये माता, पिता, भ्राता, सुहृद् और स्नेहीजन तो देहबुद्धि से ही होते हैं। जिस समय अपने विशुद्ध अन्तःकरण द्वारा मनुष्य आत्मा को देह से पृथक् जान लेता है, उस समय कौन किस का माता, पिता, भाई, बन्धु अथवा सुहृद् है ? ॥ २२-२३ ॥

मिथ्याज्ञानवशाज्जाता दारागारादयः सदा ।
शब्दादयश्च विषया विविधाश्चैव सम्पदः ॥२४॥
बलं कोशो भृत्यवर्गो राज्यं भूमिः सुतादयः ।
अज्ञानजत्वात्सर्वे ते क्षणसङ्गमभङ्गुराः ॥२५॥

अथोत्तिष्ठ हृदा रामं भावयन् भक्तिभावितम्।
अनुवर्तस्व राज्यादि भुञ्जन्प्रारब्धमन्वहम् ॥२६॥

ये स्त्री और गृह आदि, शब्दादि विषय, नाना प्रकार की सम्पत्ति, बल, कोश, सेवकगण, राज्य, पृथिवी और पुत्रादि तो सदा मिथ्या ज्ञान के कारण ही उत्पन्न हुए हैं और अज्ञानजन्य होने के कारण वे सब क्षणभङ्गुर हैं। अतः भाई, अब खड़े हो जाओ और हृदय में भक्तिभावित भगवान् राम का स्मरण करते हुए निरन्तर प्रारब्ध भोगों में तत्पर होकर राज्यादि का पालन करो ॥ २४-२६ ॥

भूतं भविष्यदभजन्वर्तमानमथाचरन्।
विहरस्व यथान्यायं भवदोषैर्न लिप्यसे ॥२७॥
आज्ञापयति रामस्त्वां यद्भ्रातुः साम्परायिकम्।
तत्कुरुष्व यथाशास्त्रं रुदतीश्चापि योषितः ॥२८॥
निवारय महाबुद्धे लङ्कां गच्छन्तु मा चिरम्।

हे विभीषण, भूत और भविष्यत् की चिन्ता न करते हुए तथा वर्तमान का अनुगमन करते हुए न्यायानुकूल आचरण करो। इस से तुम संसारदोष से लिप्त न होगे। भगवान् राम तुम्हें आज्ञा देते हैं कि अपने भाई का जो कुछ और्ध्वदेहिक कर्म हो, वह सब शास्त्रानुसार करो और हे महाबुद्धे, इन रोती हुई स्त्रियों को यहाँ से अलग करो। ये सब लंकापुरी को जायँ, इस में देरी न हो ॥ २७-२८ ॥

श्रुत्वा यथावद्वचनं लक्ष्मणस्य विभीषणः ॥२९॥
त्यक्त्वा शोकं च मोहं च रामपार्श्वमुपागमत्।
विमृश्य बुद्ध्या धर्मज्ञो धर्मार्थसहितं वचः ॥३०॥
रामस्यैवानुवृत्त्यर्थमुत्तरं पर्यभाषत।

लक्ष्मणजी के ये यथार्थ वचन सुनकर विभीषण शोक और मोह को छोड़कर भगवान् राम के पास आये। धर्मज्ञ विभीषण ने चित्त में कुछ सोच विचार कर श्री रामचन्द्रजी का ही अनुवर्तन करने के लिए यों धर्मार्थयुक्त उत्तर दिया ॥२९-३४॥

नृशंसमनृतं क्रूरं त्यक्तधर्मव्रतं प्रभो ॥३१॥
नार्होऽस्मि देव संस्कर्तुं परदाराभिमर्शिनम्।
श्रुत्वा तद्वचनं प्रीतो रामो वचनमब्रवीत् ॥३२॥

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम् ।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥३३॥

प्रभो, यह रावण बड़ा दुष्ट, मिथ्यावादी, क्रूर और समस्त धर्म, व्रत आदि से रहित था । हे देव, इस परस्त्रीगामी का सत्कार करने में मैं समर्थ नहीं हूँ । उस के ये वचन सुनकर श्री रामचन्द्रजी ने प्रसन्न होकर कहा—भैया, वैर तो मरने तक ही होता है । सो अब हमारा काम हो चुका; अब तो यह जैसा तुम्हारा है वैसा ही मेरा है, अतः इस का संस्कार करो ॥ ३१-३३ ॥

रामाज्ञां शिरसा धृत्वा शीघ्रमेव विभीषणः ।
सान्त्ववाक्यैर्महाबुद्धिं राज्ञीं मन्दोदरीं तदा ॥३४॥
सान्त्वयामास धर्मात्मा धर्मबुद्धिर्विभीषणः ।
त्वरयामास धर्मज्ञः संस्कारार्थं स्वबान्धवान् ॥३५॥

तब विभीषण ने भगवान् राम की आज्ञा शिर पर धारण कर तुरन्त ही शान्त वचनों से महाबुद्धिशालिनी रानी मन्दोदरी को ढाँढस बँधाया और तदनन्तर धर्मबुद्धि, धर्मात्मा, धर्मज्ञ विभीषण ने अपने बन्धु बान्धवों से संस्कार के लिए शीघ्रता करने को कहा ॥ ३४-३५ ॥

चित्यां निवेश्य विधिवत्पितृमेधविधानतः ।
आहिताग्नेर्यथा कार्यं रावणस्य विभीषणः ॥३६॥
तथैव सर्वमकरोद्बन्धुभिः सह मन्त्रिभिः ।
ददौ च पावकं तस्य विधियुक्तं विभीषणः ॥३७॥

बिभीषण ने पितृमेध की विधि से रावण के शव को विधिपूर्वक चिता पर रक्खा और जिस प्रकार अग्निहोत्री का संस्कार होना चाहिये, उसी प्रकार उस के बन्धु बान्धवों और मन्त्रियों के साथ मिलकर रावण के अन्त्येष्टिसंस्कार किये। तत्पश्चात् विभीषण ने उसे विधिवत् अग्निदान दिया ॥ ३६-३७ ॥

स्नात्वा चैवार्द्रवस्त्रेण तिलान्दर्भाभिमिश्रितान् ।
उदकेन च सम्मिश्रान्प्रदाय विधिपूर्वकम् ॥३८॥
प्रदाय चोदकं तस्मै मूर्ध्ना चैनं प्रणम्य च ।
ताः स्त्रियोऽनुनयामास सान्त्वमुक्त्वा पुनः पुनः ॥३९॥
गम्यतामिति ताः सर्वा विविशुर्नगरं तदा ।

फिर विभीषण ने स्नान कर गीले वस्त्र से तिल और दूब मिले जल से विधिवत् जलाञ्जलि दी तथा तिलाञ्जलि देने के अनन्तर पृथिवी पर शिर रखकर उसे प्रणाम किया और उन स्त्रियों को बारम्बार सान्त्वना के वचन कहकर ढाँढस बँधाते हुए कहा कि अब तुम जाओ। तब वे सब लङ्कापुरी को चली गयीं ॥ ३८-३९ ॥

प्रविष्टासु च सुर्वासु राक्षसीषु विभीषणः ॥४०॥
रामपार्श्वमुपागत्य तदातिष्ठद्विनीतवत् ।
रामोऽपि सह सैन्येन ससुग्रीवः सलक्ष्मणः ॥४१॥
हर्षं लेभे रिपून्हत्वा यथा वृत्रं शतक्रतुः ।

समस्त राक्षसियों के नगर में चले जाने पर विभीषण भगवान् राम के पास आकर अति विनीतभाव से खड़े हो गये। सेना, सुग्रीव और लक्ष्मण के सहित भगवान् राम को भी शत्रुओं का नाश कर चुकने पर बड़ा आनन्द हुआ, जैसा कि वृत्रासुर को मारने के अनन्तर इन्द्र को हुआ था ॥ ४०-४१ ॥

मातलिश्च तदा रामं परिक्रम्याभिवन्द्य च ॥४२॥
अनुज्ञातश्च रामेण ययौ स्वर्गं विहायसा ।
ततो हृष्टमना रामो लक्ष्मणं चेदमब्रवीत् ॥४३॥

तदनन्तर मातलि ने श्री रामचन्द्रजी की परिक्रमा की और उन्हें प्रणाम कर उन की आज्ञा से आकाश में चढकर स्वर्गलोक को चला गया। तब श्री रघुनाथजी ने प्रसन्नचित्त से श्री लक्ष्मणजी से इस प्रकार कहा ॥ ४२-४३ ॥

विभीषणाय मे लङ्काराज्यं दत्तं पुरैव हि ।
इदानीमपि गत्वा त्वं लङ्कामध्ये विभीषणम् ॥४४॥
अभिषेचय विप्रैश्च मन्त्रवद्विधिपूर्वकम् ।
इत्युक्तो लक्ष्मणस्तूर्णं जगाम सह वानरैः ॥४५॥
लङ्कां सुवर्णकलशैः समुद्रजलसंयुतैः ।
अभिषेकं शुभं चक्रे राक्षसेन्द्रस्य धीमतः ॥४६॥

मैंने तो पहले ही विभीषण को लङ्का का राज्य दे दिया है, तथापि तुम इस समय भी लङ्का में जाकर ब्राह्मणों के द्वारा मन्त्र पाठपूर्वक विधिवत् विभीषण का अभिषेक कराओ। भगवान् राम की ऐसी आज्ञा पाकर वानरों के सहित श्री लक्ष्मणजी तुरन्त ही लङ्कापुरी को गये तथा समुद्र के जल से भरे हुए सुवर्णकलशों से महाबुद्धिमान् राक्षसराज विभीषण का मङ्गलमय अभिषेक किया ॥४४-४६॥

रा० च०—भगवतप्रेमियो, विभीषण के जीवनेतिवृत्त पर हम स्वतन्त्रता से कभी फिर सुनावेंगे। आज तो हमें यही कहना है कि सन्मार्गानुयायियों की उत्तरोत्तर श्रीवृद्धि अवश्यंभावी है। विभीषण ने लङ्का का राज्य पाकर अपनी जाति का आमूल सुधार कर दिया। सब से बड़ी बात तो विभीषण के राजा होने पर यह हुई कि देवता और राक्षसों का जो पुराना द्वेष था, जिस के कारण कई बार घोर देवासुरसंग्राम हुए, वह जाता रहा। स्वर्ग की इन्द्रपुरी और भूस्था लङ्का नगरी का यातायात खुल गया। अर्थात् देवताओं का भूमि पर और दैत्यों का स्वर्ग में बराबर आना जाना हो गया। अपने अपने विश्वास और सुभीते के साथ सभी निज निज काम काज में शान्ति के साथ लग गये। विभीषण राजा की अन्तः-सुधार और बहिःकलहनिवृत्ति की चिरभिलषित कामना पूरी हो गई। यह श्री राम की शरण जाने से हो सका, क्योंकि—

बड़ी है राम नाम की ओट।
शरण गये प्रभु काटि देत हैं, करत कृपा के कोट॥
पक्षपात तहाँ तनकहु नाहीं, कौन बड़ो को छोट॥
'सूरदास' पारस के परसे, मिटत लोह कौ खोट॥

मित्रो, आप लोगों ने 'रामराज्य' की महिमा सुनी होगी। वही रामराज्य की स्थापना विभीषण ने राजा होकर लङ्का में भी की।

ततः पौरजनैः सार्धं नानोपायनपाणिभिः ।
विभीषणः ससौमित्रिरुपायनपुरस्कृतः ॥ ४७ ॥
दण्डप्रणाममकरोद्रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
रामो विभीषणं दृष्ट्वा प्राप्तराज्यं मुदान्वितः ॥ ४८ ॥
कृतकृत्यमिवात्मानममन्यत सहानुजः ।

तब हाथों में नाना प्रकार की भेटें लिये पुरवासियों के साथ लक्ष्मणजी के सहित विभीषण ने उपहार आगे रख लीलाविहारी भगवान् राम को दण्डवत् प्रणाम किया। विभीषण को राज्य प्राप्त हुआ देखकर श्री रामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए और भाई लक्ष्मण के सहित अपने को कृतकृत्य सा मानने लगे ॥ ४७-४८ ॥

सुग्रीवं च समालिङ्ग्य रामो वाक्यमथाब्रवीत् ॥४९॥
सहायेन त्वया वीर जितो मे रावणो महान् ।
विभीषणोऽपि लङ्कायामभिषिक्तो मयानघ ॥५०॥
ततः प्राह हनूमन्तं पार्श्वस्थं विनयान्वितम् ।
विभीषणस्यानुमतेर्गच्छ त्वं रावणालयम् ॥ ५१ ॥
जानक्यै सर्वमाख्याहि रावणस्य वधादिकम् ।
जानक्याः प्रतिवाक्यं मे शीघ्रमेव निवेदय ॥५२ ॥

तदनन्तर भगवान् राम ने सुग्रीव को हृदय से लगाकर कहा—हे वीर, तुम्हारी सहायता से ही मैंने महाबली रावण को जीता है और हे अनघ, उसी से विभीषण को भी लङ्का के राज्य पर अभिषिक्त किया है। फिर बड़े विनीत भाव से पास ही खड़े हुए हनुमान्जी से कहा—तुम विभीषण की सम्मति से रावण के महल में जाओ और जानकीजी को रावण के वध आदि का समस्त वृत्तान्त सुनाओ, फिर वे जो कुछ उत्तर दें वह मुझे सुनाना ॥ ४९-५२ ॥

एवमाज्ञापितो धीमान् रामेण पवनात्मजः ।
प्रविवेश पुरीं लङ्कां पूज्यमानो निशाचरैः ॥५३॥
प्रविश्य रावणगृहं शिंशपामूलमाश्रिताम् ।
ददर्श जानकीं तत्र कृशां दीनामनिन्दिताम् ॥५४॥

राक्षसीभिः परिवृतां ध्यायन्तीं राममेव हि ।

बुद्धिमान् पवननन्दन ने भगवान् राम की ऐसी आज्ञा पाकर राक्षसों से पूजित हो, लङ्कापुरी में प्रवेश किया। फिर रावण के महल में जाकर शिंशपावृक्ष के तले बैठी हुई, अति दुर्बल और दुःखिनी, अनिन्दिता जनकनन्दिनी को देखा। वे राक्षसियों से घिरी हुई थीं और एकमात्र भगवान् राम का ही ध्यान कर रही थीं ॥ ५३-५४ ॥

विनयावनतो भूत्वा प्रणम्य पवनात्मजः ॥५५॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा प्रह्वो भक्त्याग्रतः स्थितः ।
तं दृष्ट्वा जानकी तूष्णीं स्थित्वा पूर्वस्मृतिं ययौ ॥५६॥
ज्ञात्वा तं रामदूतं सा हर्षात्सौम्यमुखी बभौ ।
स तां सौम्यमुखीं दृष्ट्वा तस्यै पवननन्दनः ।
रामस्य भाषितं सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ५७ ॥

पवनकुमार ने अति विनयावनत होकर उन्हें प्रणाम किया और अत्यन्त नम्रतापूर्वक भक्तिभाव से हाथ जोड़कर सामने खड़े हो गये। उन्हें देखकर जानकीजी पहले कुछ देर चुप रहीं, फिर उन्हें पूर्व स्मृति हो आयी और उन्हें राम का दूत जानकर उन का मुख हर्ष से खिल गया। हनुमान्जी ने उन्हें प्रसन्नमुखी देख उन से राम का सारा सन्देश कहना आरम्भ किया ॥ ५५-५७ ॥

देवि रामः ससुग्रीवो विभीषणसहायवान् ।
कुशली वानराणां च सैन्यैश्च सहलक्ष्मणः ॥५८॥
रावणं ससुतं हत्वा सबलं सह मन्त्रिभिः ।
त्वामाह कुशलं रामो राज्ये कृत्वा विभीषणम् ॥५९॥

हनुमान्जी बोले—देवि, विभीषण जिन के सहायक हैं वे श्री रामचन्द्रजी लक्ष्मण, सुग्रीव और वानरसेना के सहित कुशलपूर्वक हैं। उन भगवान् राम ने पुत्र, सेना और मन्त्रियों के सहित रावण को मारकर तथा लंका का राज्य विभीषण को देकर तुम्हें अपनी कुशल भेजी है ॥ ५८-५९ ॥

श्रुत्वा भर्तुः प्रियं वाक्यं हर्षगद्गदया गिरा ।
किं ते प्रियं करोम्यद्य न पश्यामि जगत्त्रये ॥६०॥
समं ते प्रियवाक्यस्य रत्नान्याभरणानि च ।
एवमुक्तस्तु वैदेह्या प्रत्युवाच प्लवङ्गमः ॥ ६१ ॥

रत्नौघाद्विविधाद्वापि देवराज्याद्विशिष्यते ।
हतशत्रुं विजयिनं रामं पश्यामि सुस्थिरम् ॥६२॥

पति का यह प्रिय सन्देश सुनकर श्री सीताजी हर्षयुक्त गद्गद वाणी से बोली—भैया, मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूँ ? तुम्हारे प्रिय वाक्यों के समान मुझे त्रिलोकी में कोई रत्न आभूषणादि भी दिखायी नहीं देते, जिन्हें देकर तुम से उऋण होऊँ। जानकीजी के इस प्रकार कहने पर वानरश्रेष्ठ हनुमानजी बोले—मातः, मैं शत्रु के नष्ट होने पर स्वस्थचित्त से विराजमान, विजयशाली श्री राम का दर्शन करता हूँ; यह मेरे लिए नाना प्रकार की रत्नराशि और देवराज्य से भी बढ़कर है ॥ ६०-६२ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा मैथिली प्राह मारुतिम् ।
सर्वे सौम्या गुणाः सौम्य त्वय्येव परिनिष्ठिताः ॥६३॥
रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रं मामाज्ञापयतु राघवः ।
तथेति तां नमस्कृत्य ययौ द्रष्टुं रघूत्तमम् ॥६४॥

उन के ये वचन सुनकर मिथिलेशकुमारी ने मारुति से कहा—हे सौम्य, जितने शुभ गुण हैं वे सब तुम्हीं में वर्तमान हैं। अब मैं रघुनाथजी के दर्शन करूँगी, वे शीघ्र ही मुझे भी आज्ञा दें। तब हनुमानजी 'बहुत अच्छा' कहकर उन्हें प्रणाम कर श्री रघुनाथजी के दर्शनों के लिए चल दिये ॥ ६३-६४ ॥

जानक्या भाषितं सर्वं रामस्याग्रे न्यवेदयत् ।
यन्निमित्तोऽयमारम्भः कर्मणां च फलोदयः ॥६५॥
तां देवीं शोकसन्तप्तां द्रष्टुमर्हसि मैथिलीम् ।
एवमुक्तो हनुमता रामो ज्ञानवतां वरः ॥ ६६ ॥
मायासीतां परित्यक्तुं जानकीमनले स्थिताम् ।
आदातुं मनसा ध्यात्वा रामः प्राह विभीषणम् ॥६७॥

हनुमानजी ने श्री रामचन्द्रजी के आगे जानकीजी का सारा सम्भाषण कह सुनाया और कहा कि भगवन्, जिन के लिए यह युद्धादि सम्पूर्ण कर्म आरम्भ हुए थे, और जो उन समस्त कर्मों की फलस्वरूपा हैं; अब उन शोकसन्तप्ता मिथिलेशनन्दिनी देवी जानकी को आप देखिये। हनुमानजी के इस प्रकार कहने पर ज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवान् राम ने मायासीता को त्यागने और अग्निस्थिता जानकी को ग्रहण करने के लिए मन से विचार करते हुए विभीषण से कहा—॥ ६५-६७ ॥

गच्छ राजन् जनकजामानयाशु ममान्तिकम् ।
स्नातां विरजवस्त्राढ्यां सर्वाभरणभूषिताम् ॥ ६८ ॥
विभीषणोऽपि तच्छ्रुत्वा जगाम सहमारुतिः ।
राक्षसीभिः सुवृद्धाभिः स्नापयित्वा तु मैथिलीम् ॥६९॥
सर्वाभरणसम्पन्नामारोप्य शिबिकोत्तमे ।
याष्टिकैर्बहुभिर्गुप्तां कञ्चुकोष्णीषिभिः शुभाम् ॥७०॥

राजन्, तुम जाओ और तुरन्त ही जानकी को स्नान कराकर शुद्ध निर्मल वस्त्र तथा सम्पूर्ण आभूषणों से सुसज्जित कर मेरे पास ले आओ। यह सुनकर विभीषण हनुमान्‌जी को साथ ले तुरन्त ही चले और शुभलक्षणा जानकीजी को बड़ी बूढ़ी राक्षसियों द्वारा स्नान एवं सम्पूर्ण वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कराकर एक सुन्दर पालकी पर चढ़ाया। फिर उन्हें जामा पगड़ी आदि से बने ठने बहुत से छड़ीदारों से सुरक्षित कर रामजी के पास ले चले ॥ ६८-७० ॥

तां द्रष्टुमागताः सर्वे वानरा जनकात्मजाम् ।
तान्वारयन्तो बहवः सर्वतो वेत्रपाणयः ॥ ७१ ॥
कोलाहलं प्रकुर्वन्तो रामपार्श्वमुपाययुः ।
दृष्ट्वा तां शिबिकारूढां दूरादथ रघूत्तमः ॥ ७२ ॥

उस समय सीताजी को देखने के लिए सब वानर दौड़ कर आये। उन्हें चारों ओर से रोकते तथा हटो-हटो कहकर बड़ा कोलाहल करते हुए बहुत से छड़ीदार रामचन्द्रजी के पास ले आये। रघुनाथजी ने दूर से ही सीताजी को पालकी पर चढ़ी देखकर कहा—॥ ७१-७२ ॥

विभीषण किमर्थं ते वानरान्वारयन्ति हि ।
पश्यन्तु वानराः सर्वे मैथिलीं मातरं यथा ॥७३॥
पादचारेण सायातु जानकी मम सन्निधिम् ।
श्रुत्वा तद्रामवचनं शिबिकादवरुह्य सा ॥ ७४ ॥
पादचारेण शनकैरागता रामसन्निधिम् ।
रामोऽपि दृष्ट्वा तां मायासीतां कार्यार्थनिर्मिताम् ॥७५॥
अवाच्यवादान्बहुशः प्राह तां रघुनन्दनः ।

विभीषण, तुम्हारे ये छड़ीदार वानरों को क्यों रोकते हैं ? समस्त वानरगण जानकी का माता के समान दर्शन करें और जानकीजी मेरे पास पैदल चलकर आयें। श्री रामजी के ये वचन सुनकर श्री सीताजी पालकी से उतर पड़ीं और धीरे धीरे पैदल ही श्री रामचन्द्रजी के पास पहुँचीं। भगवान् राम ने कार्यवश रची हुई मायासीता को देखकर उन से बहुत सी न कहने योग्य, चरित्र के विषय में संदेहयुक्त बातें कहीं ॥ ७३-७५ ॥

अमृष्यमाणा सा सीता वचनं राघवोदितम् ॥७६॥
लक्ष्मणं प्राह मे शीघ्रं प्रज्वालय हुताशनम् ।
विश्वासार्थं हि रामस्य लोकानां प्रत्ययाय च ॥७७॥

श्री रघुनाथजी द्वारा कहे हुए उन वाक्यों को सहन न कर सकने के कारण सीताजी ने लक्ष्मणजी से कहा—भगवान् राम के विश्वास के लिए और लोकों को निश्चय कराने के लिए तुम शीघ्र ही मेरे लिए अग्नि प्रज्वलित करो ॥ ७६-७७ ॥

राघवस्य मतं ज्ञात्वा लक्ष्मणोऽपि तदैव हि ।
महाकाष्ठचयं कृत्वा ज्वालयित्वा हुताशनम् ॥७८॥
रामपार्श्वमुपागम्य तस्थौ तूष्णीमरिन्दमः ।
ततः सीता परिक्रम्य राघवं भक्तिसंयुता ॥७९॥
पश्यतां सर्वलोकानां देवराक्षसयोषिताम् ।
प्रणम्य देवताभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली ॥८०॥
बद्धाञ्जलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपगा ।

श्री रघुनाथजी की भी सम्मति समझकर शत्रुदमन लक्ष्मणजी ने उसी समय बड़ा भारी काष्ठसमूह इकट्ठा किया और उस में अग्नि प्रज्वलित कर चुपचाप रामजी के पास आकर खड़े हो गये। तब सीताजी ने भक्तिपूर्वक श्री रामचन्द्रजी की परिक्रमा की और फिर श्री मिथिलेशकुमारी ने समस्त लोकों तथा देव और राक्षसों की स्त्रियों के देखते देखते देवता और ब्राह्मणों को नमस्कार कर अग्नि के पास जा हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा—॥ ७८-८० ॥

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात् ॥८१॥
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ।
एवमुक्त्वा तदा सीता परिक्रम्य हुताशनम् ॥८२॥
विवेश ज्वलनं दीप्तं निर्भयेन हृदा सती ॥८३॥

यदि मेरा हृदय श्री रघुनाथजी को छोड़कर कभी अन्यत्र नहीं जाता तो समस्त लोकों के साक्षी अग्निदेव मेरी सब ओर से रक्षा करें। ऐसा कहकर सतीशिरोमणि श्री सीताजी अग्नि की परिक्रमा कर निर्भय चित्त से उस प्रज्वलित अग्नि में घुस गयीं ॥ ८१-८३ ॥

भा० च०—प्रिय सज्जनो, भगवती सती सीता के उद्धार करने के अनन्तर श्री राम ने व्यवहारशुद्ध्यर्थ सीता की परीक्षा की। आर्यों के विवाह, उपवीतसंस्कार, यज्ञ, हवन प्रभृति सभी शुभ कार्य अग्निसाक्षिक होते हैं। अग्नि को आज भी गुजरात आदि देशों में 'देवता' कहा जाता है। सीता की परीक्षा के लिए भी यही विधि अपनाई गई। जनकतनया इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गई। यह सब सतीधर्म का महत्त्व है। अनेक तपस्या, त्याग, ब्रह्मचर्य, योगसाधन, आत्मानुसन्धान आदि कठिन उपायों से कितने ही जन्मों में पुरुष जिस पद को प्राप्त करता है, उसी की अनायास प्राप्ति बिना किसी त्याग या योगसाधन के स्त्रीजाति केवल [illegible] ती है। सतीधर्म के द्वारा ही स्त्रीजाति पुरुष

की अपेक्षा अधिक संमानयोग्य बन जाती है। स्त्री में पातिव्रत्य, सतीत्व, सत्य, विश्वास और दृढ़ता, इन्हीं को परमसंपत्तिरूप से पाकर पुरुष सब की अपेक्षा उस से अधिक प्रेम करते हैं।

सज्जनो, अलौकिक परमपवित्र पतिपरायण भाव के विषय में आदर्श सती सीता के जीवन की एक घटना हनुमन्नाटक में लिखी गई है।

लंकापुरी की अशोकवाटिका में एक दिन सीता देवी ने त्रिजटा को बुलाकर कहा—

कीटोऽयं भ्रमरीभवत्यतिनिदिध्यासैर्यथाऽहं तथा।
स्यामेवं रघुनन्दनोऽपि त्रिजटे दाम्पत्यसौख्यं गतम्॥

अर्थात् जिस प्रकार तिलचट्टा नामक कीड़ा भ्रमरकीट की तीव्र चिन्ता करता हुआ भ्रमरकीट बन जाता है, ऐसी ही मुझे भी आशङ्का है कि राम की रात दिन चिन्ता द्वारा किसी समय राम में तन्मय होकर मैं राम बन जाऊँगी तो मेरा दासीभाव का आनन्द जाता रहेगा। इस के उत्तर में त्रिजटा ने कहा—

शोकं मा वह मैथिलेन्द्रतनये तेनाऽपि योगः कृतः।
सीता सोऽपि भविष्यतीति सरले तन्नो मतं जानकि॥

सीते, आप को शोक नहीं करना चाहिये, क्योंकि जैसी तन्मयता आप की राम में है, ऐसी ही राम की भी आप में है। इस लिए यदि आप राम में तन्मय होकर राम हो जायँगी तो राम भी आप में तन्मय होकर सीता बन जायँगे, जिस से सीता राम का दाम्पत्य प्रेम संसार में अटूट रहेगा, ऐसी मेरी संमति है। इधर तो सीता का यह भाव है पति परमेश्वर श्री राम के प्रति। उधर सीता के प्रति राम का अनन्य प्रेम उसी हनुमन्नाटक में अन्यत्र दिखाया गया है। सीताहरणजन्य वियोगानलसन्तप्त राघवेन्द्र ने कहा था—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।
इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः॥

अर्थात् मैं अपने गले में हार इस भय से नहीं पहनता था कि कहीं हमारे बीच में किसी अन्य वस्तु का व्यवधान न हो जाय, अब तो दुर्भाग्य से तुम्हारे हमारे बीच में अनेक पहाड़ों, नदियों और वृक्षों का व्यवधान पड़ गया। कहने का अभिप्राय यह है कि सीता राममय थीं, उन्हें शरीराध्यास नहीं था, अपने शरीर का भान नहीं था। यही कारण है कि सीताजी अग्नि में प्रविष्ट होकर प्रह्लाद की तरह शुद्धभाव से निकल आईं, इस में दैवी चमत्कार कुछ भी हो। राम सर्वेश्वर प्रभु थे, सीता उन की साक्षात् माया थी। प्रकृति पुरुष इन दोनों के रहस्य को समझना अति कठिन कार्य है। जो अग्नि को भी दाहकत्व

शक्ति प्रदान करता है उसे या उस के भक्त को वह अग्नि जला कैसे सकता है ? इस प्रसंग में प्रह्लाद का यह वचन ध्यान देने योग्य है—

रामनाम जपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम् ।
पश्य तात मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ॥

दृष्ट्वा ततो भूतगणाः ससिद्धाः सीतां महावह्निगतां भृशार्ताः ।
परस्परं प्राहुरहो स सीतां रामः श्रियं स्वां कथमत्यजज्ज्ञः ॥८४॥

उस समय सीताजी को महा प्रचण्ड अग्नि में प्रविष्ट हुई देख समस्त सिद्ध और भूतगण अत्यन्त व्याकुल हो गये और आपस में कहने लगे—अहो, सब कुछ जानते हुए भी श्री रामचन्द्रजी ने अपनी लक्ष्मीतुल्य सीताजी को कैसे छोड़ दिया ? ॥ ८४ ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के द्वादश सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

સીતાજીની વહ્નિપરીક્ષા.
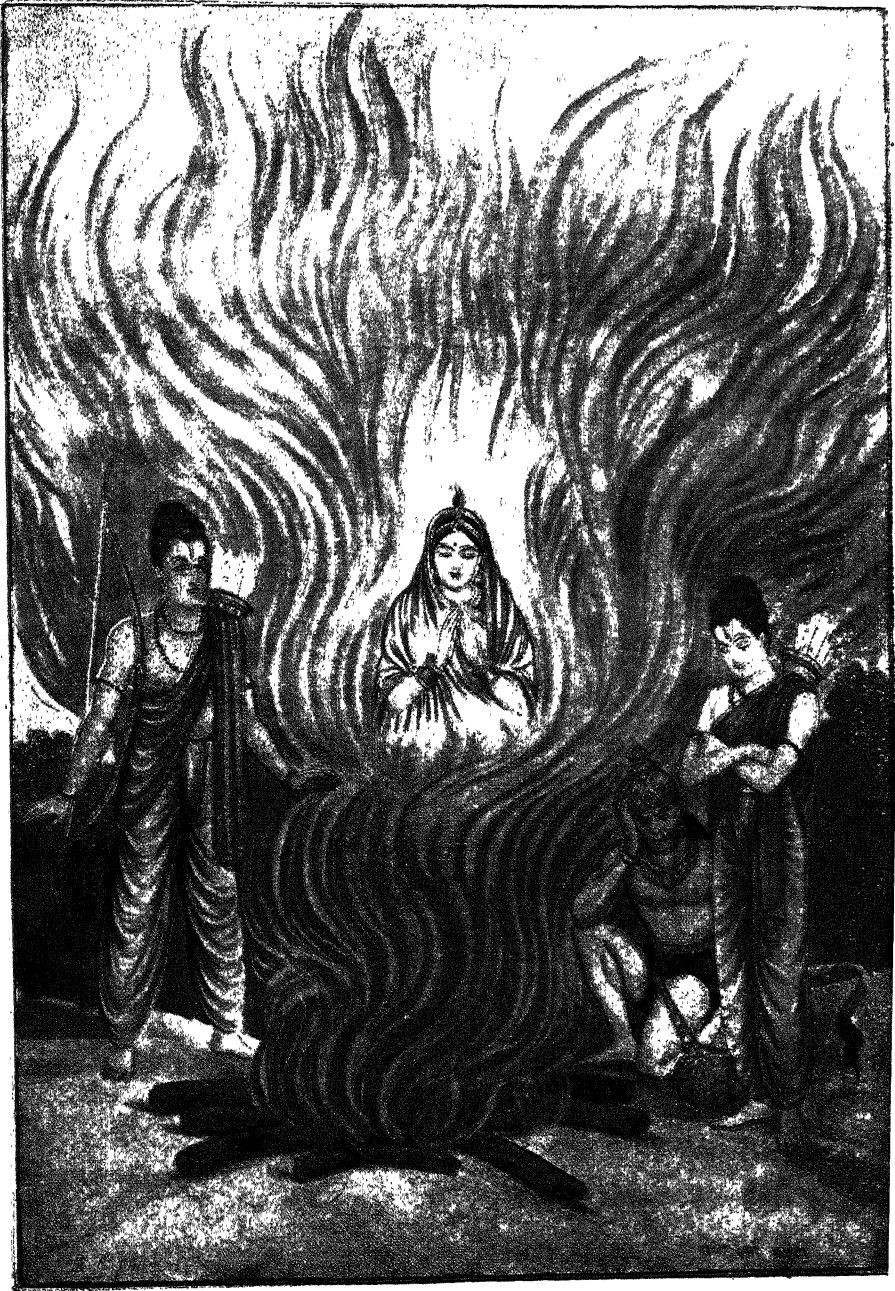
सीताजी का वह्निपरीक्षा।

देवताओं द्वारा भगवान् राम की स्तुति, अग्निदेव का सीताजी को लौटाना तथा सब का अयोध्या के लिए प्रस्थान।

श्री महादेव उवाच—

ततः शक्रः सहस्राक्षो यमश्च वरुणस्तथा।
कुबेरश्च महातेजाः पिनाकी वृषवाहनः॥ १॥
ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो मुनिभिः सिद्धचारणैः।
पितरो ऋषयः साध्या गन्धर्वाप्सरसोरगाः॥२॥
एते चान्ये विमानाग्र्यैराजग्मुर्यत्र राघवः।

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, इसी समय सहस्राक्ष इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर महातेजस्वी वृषभवाहन महादेवजी, मुनि, सिद्ध, और चारणों के सहित ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ब्रह्माजी, पितृगण, ऋषि, साध्य, गन्धर्व, अप्सराएँ और नागगण; ये सब तथा और भी अन्यान्य देवगण श्रेष्ठ विमानों पर चढकर श्री रघुनाथजी के समीप आये॥१-२॥

अब्रुवन्परमात्मानं रामं प्राञ्जलयश्च ते॥ ३॥
कर्ता त्वं सर्वलोकानां साक्षी विज्ञानविग्रहः।
वसूनाष्टमोऽसि त्वं रुद्राणां शङ्करो भवान्॥ ४॥
आदिकर्तासि लोकानां ब्रह्मा त्वं चतुराननः।
अश्विनौ घ्राणभूतौ ते चक्षुषी चन्द्रभास्करौ॥५॥

वे सब हाथ जोड़कर परमात्मा श्री राम से बोले—हे देव, आप समस्त लोकों के कर्ता, सब के साक्षी और विशुद्ध विज्ञानस्वरूप हैं, तथा आप ही वसुओं में अष्टम वसु और रुद्रों में श्री महादेवजी हैं। आप ही समस्त लोकों के आदिकर्ता चतुर्मुख ब्रह्माजी हैं, अश्विनीकुमार आप की घ्राणेन्द्रिय हैं और सूर्य तथा चन्द्रमा नेत्र हैं॥३-५॥

लोकानामादिरन्तोऽसि नित्य एकः सदोदितः।
सदा शुद्धः सदा बुद्धः सदा मुक्तगुणोऽद्वयः ॥६॥
त्वन्मायासंवृतानां त्वं भासि मानुषविग्रहः।
त्वन्नाम स्मरतां राम सदा भासि चिदात्मकः ॥७॥
रावणेन हृतं स्थानमस्माकं तेजसा सह।
त्वयाद्य निहतो दुष्टः पुनः प्राप्तं पदं स्वकम् ॥८॥

हे प्रभो, सब लोक आप ही से उत्पन्न और आप में ही लीन होते हैं। आप अविनाशी, अद्वितीय, सदा प्रकट, रजस्तमोविकारों से रहित, अखंड ज्ञानमय, निर्गुण और निर्द्वन्द्व हैं। आप की माया ने जिन्हें घेर रखा है उन्हें आप मनुष्यरूप में दिखाई देते हैं, किंतु हे राम, जो लोग आप के नाम का स्मरण करते हैं उन्हें आप सदा चैतन्यरूप परमात्मा ज्ञात होते हैं। इस दुष्ट रावण ने हमारा तेज और स्थान हर लिया था, आज आप के द्वारा इस के मरने से वह पद हमें फिर मिल गया ॥६-८॥

रा० च०—प्रिय सज्जनो, भगवान् श्री रामचन्द्र के अवतार लेने का मुख्य प्रयोजन रावण का विनाश था और इस के लिए सर्वाधिक प्रयत्न किया था देवताओं ने। वैसे भगवान् के अवतारों का प्रयोजन तो तृषित प्रेमी भक्तों को अपनी रूपमाधुरी का पान कराना होता है और रामावतार में भी प्रभु का उद्देश्य यही था, पर इस के लिए वे प्रभु अपनी लीलानुसार तरह तरह के निमित्त खड़े कर लेते हैं। जैसे कि इस अवतार में रावणभय से प्रेरित देवताओं की प्रार्थना निमित्त बनी थी। भगवान् ने आज रावण को मारकर देवताओं का भय दूर कर दिया, इस लिए कृतज्ञ होकर वे सब उन की स्तुति कर रहे हैं। देवताओं ने रावण के राज्य में बड़ा कष्ट उठाया था, उस के कोप के एक मात्र लक्ष्य ये ही लोग थे। इन्होंने पद पद पर अपमानभरी ठोकरें खाते हुए खून के आँसुओं को पीकर रावण की किंकरता में अपने दुर्दिन काटे थे, रावण को इन्हें तिरस्कृत करने में ही मजा आता था, जैसा कि इस अवस्था की द्योतक यह उक्ति है—

ब्रह्मन् अध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयताम्।
स्वल्पं जल्प बृहस्पते जडमते नैषा सभा वज्रिणः॥

'बूढ़े ब्रह्मा, यह वेदपाठ का वक्त नहीं, चुप चाप बाहर बैठ जाओ, उजड्ड बृहस्पति, बढ़ बढ़कर बातें मत बनाओ, यह इन्द्र की सभा नहीं है।' मर्मघातक वचनों का यह एक नमूना है, सभी देवों के साथ ऐसा बुरा बर्ताव होता था। संसार भर के सुख दुःखविधाता कहे जानेवाले

नवग्रह रावण ने अपने सिंहासन की सीढ़ी बनाये थे और वह उन की पीठ पर सगर्व पैर रखकर राजगद्दी पर चढ़ता था। ऐसे अत्याचारों से पीड़ित देवगण उस के विनाश के लिए यों तो अनेकों कोशिशें कर ही रहे थे, पर कहते हैं कि देवगणों की दयनीय दशा पर तरस खाकर नारदजी ने भी रावण के विनाशार्थ एक युक्ति निकाली थी।

उन्होंने रावण से कहा कि प्रतापी सम्राट्! अपनी समृद्धि से शत्रुओं को तिरस्कृत करना भी एक महान् ऐश्वर्यभोग है, और आप इस सुख का अनुभव कर भी रहे हैं। किंतु संसार के भाग्यविधाता नवग्रहों की पीठ पर चरण रखते हुए जो आप सिंहासन पर चढ़ते हैं, इस शत्रुपीडक कार्य में जरा सी कसर है। आप इन लोगों की पीठ के बदले इन की छाती पर पैर रखा करें तो ऐसा करना इन की आँखों के सामने ही इन का अपमान होगा और ग्रहों की इस दुर्गति से आप के ऐश्वर्य की महिमा खूब बढ़ेगी। रावण ने भी सोचा कि नारद ने कही तो पते की बात? शत्रु का सन्मुख अपमान और भी करारा होता है। यह सोचकर उस ने नवग्रहों को सिंहासन की सीढ़ी में सीधा कर जड़वा दिया। अब जो रावण सिंहासन पर चढ़ने लगा तो शनैश्चरजी की क्रूर उग्र दृष्टि उस के सन्मुख पड़ने लगी और उस के प्रभाव से लंकायुद्ध में उसे कहीं सफलता न मिली, उस का ऐश्वर्य भी क्षीण होता चला गया। ग्रहबल का यह प्रत्यक्ष असर उस पर पड़ा। अस्तु,

मित्रो, नवग्रह जिस प्रकार सब के सुखदुःखविधायक हैं या परमात्मा की प्रेरणा से इस कर्म में नियुक्त हैं, उसी प्रकार अन्यान्य देवगण संसारसंचालन के लिए परमात्मा द्वारा विविध कर्मों में नियुक्त किये गये हैं। अर्थात् जल वायु धूप वर्षा चाँदनी फलपुष्पवृद्धि प्राणशक्ति सुख संपत्ति ज्ञान कला कौशल बल पराक्रम तथा जन्म मृत्यु; इन सब की ईश्वरप्रेरित क्रियाशक्ति ही विविध देवगण हैं। परमात्मा की ओर से अखिल चराचर, जड़ चेतन के निर्वाह के लिए साम्यभाव से उक्त वस्तुओं को वितरण करना ही देवगणों का कर्तव्य है। आजकल की साम्राज्यवादी या पूँजीवादी नीति के माफिक रावण ने इन शक्तियों के स्रोत को सारे जगत और खासकर कर्मभूमि भारत से बटोरकर लंका की ओर ही मोड़ लिया था। रावण के विद्या, विज्ञान, कौशल, तपस्या, योगबल, पराक्रम आदि की अद्वितीय सामर्थ्य से अतिमानुष, अलौकिक शक्तियोंपर भी उस का नियन्त्रण स्थापित हो गया था। देवशक्तियों को वश में कर दास बना लेने का आशय यही है कि जीवनयापन, सुख, समृद्धि की सभी वस्तुओं को लूट शोषण अत्याचार से छीनकर उस ने लङ्का में भर लिया था। जो ज्ञान, विज्ञान, योगसिद्धियाँ लोकहित, ईश्वराराधन और शाश्वत शान्ति के साधन थे, उन को रावण ने भौतिक ऐश्वर्य, विषयभोग और अत्याचार के साधन उसी प्रकार बना लिया था जैसे आजकल विज्ञान और यन्त्रकला के साधन विश्वविध्वंस में लगाये जा रहे हैं।

आर्यावर्त के राजाओं की, ऋषियों की अनुमति के अनुसार यह नीति रही थी कि विद्या, धन, अन्न, अन्यान्य संपत्ति जैसी प्राणिमात्र के जीवनोपयोग की भोग्य सामग्री समाज में विषमरूप से कहीं परिमित क्षेत्र में संचित, पुंजीभूत हो रही हो तो उस को अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञों के निमित्त पुंजीभूत क्षेत्रों से बटोरकर ईश्वरार्पण करते हुए उस सब तरह की भोग्य सामग्री को योग्यता, आवश्यकता के ख़याल से सब समाज में वितरण कर दिया जाता था। किंतु रावण यज्ञ यागादि का कट्टर विरोधी था, इस लिए अपहरण की नीति के साथ उस के यहाँ वितरण की कोई गुंजाइश न थी। इसी से वह पृथ्वी के लिए भारभूत हो गया था। भले ही वह गूढभक्ति या द्वेषभक्ति की तत्परता से अपना पारलौकिक कल्याण चाहता था, पर विकर्मी होने के हेतु, मनुष्य और देवताओं के हितार्थ लोकसंग्रह को देखते हुए जितनी जल्दी हो सके उस का संसार से मिट जाना अच्छा था। इसी लिए उस के विनाश की लीला देवताओं ने भगवान् के द्वारा कराई है और आज अपनी सफलता पर वे भगवान् की स्तुति करते हुए उन पर अपनी कृतज्ञता प्रकट कर रहे हैं।

देवगणों ने यहाँ श्री रामचन्द्रजी की स्तुति नपे तुले शब्दों में बड़ी ही प्रामाणिक की है, कहा गया है कि आप सब लोकों के कर्ता, सब के साक्षी, केवल ज्ञानरूप ही आकारवाले, विराटरूप से सब भुवनों और देवों में व्याप्त, शुद्ध बुद्ध मुक्त नित्य निर्गुण अद्वितीय और सदा उदय रहनेवाले हैं। अर्थात् राम सब के साक्षी, सब में समाये हुए और सदा उदय रहने यानी कभी न छिपनेवाले हैं। फिर उन से रावणवध की प्रार्थना करना, उन का अवतार लेकर लंका में जाना कैसे कहा गया है? इस का समाधान देवताओं ने स्वयं यह किया है—

त्वन्मायासंवृतानां त्वं भासि मानुषविग्रहः।

आप की माया से जिन का ज्ञान ढक गया या व्याप्त हो गया है उन को आप मनुष्य शरीरधारी से प्रतिभासित होते हैं। अर्थात् भगवान् मनुष्य शरीरधारी हैं नहीं, किंतु जो लोग भक्तिवश प्रभु को ऐसे नरदेह में लीला रचते हुए प्रेमभावना से देखना चाहते हैं, उन को भगवान् वैसे ही स्वरूप में दिखलाई पड़ जाते हैं। यहाँ भक्तों की कामना थी कि भगवान् दुष्टनिग्रह करते हुए नरलीला का नाटक हमें दिखावें, तो वे ऐसा ही करते हुए नजर आये। अस्तु,

इन देवों के बीच ब्रह्माजी भी थे, उन्होंने देखा कि भोले देवताओं ने भगवान् के असली स्वरूप की स्तुति करते हुए भी अन्त में यह भी कह दिया कि रावण ने जो कुछ हमारा स्वत्व हर लिया था, वह उसे मारकर आप ने हमें दिला दिया। बुजुर्ग ब्रह्माजी को परब्रह्म राम के प्रति यह बनियों का सा व्यवहार अच्छा न लगा, अतः वे अपनी ओर से विशुद्ध ज्ञानमयी स्तुति इस प्रकार करने को उद्यत हुए हैं—

एवं स्तुवत्सु देवेषु ब्रह्मा साक्षात्पितामहः ।
अब्रवीत्प्रणतो भूत्वा रामं सत्यपथे स्थितम् ॥९॥

देवताओं के इस प्रकार स्तुति करने पर साक्षात् पितामह ब्रह्माजी अति विनम्र होकर सत्पथ पर स्थित भगवान् राम से बोले ॥ ९ ॥

ब्रह्मोवाच— (मत्तमयूरं छन्दः)

वन्दे देवं विष्णुमशेषस्थितिहेतुं त्वामध्यात्मज्ञानिभिरन्तर्हृदि भाव्यम् ।
हेयाहेयद्वन्द्वविहीनं परमेकं सत्तामात्रं सर्वहृदिस्थं दृशिरूपम् ॥१०॥
प्राणापानौ निश्चयबुद्ध्या हृदि रुद्ध्वा छित्त्वा सर्वं संशयबन्धं विषयौघान् ।
पश्यन्तीशं यं गतमोहा यतयस्तं वन्दे रामं रत्नकिरीटं रविभासम् ॥११॥

ब्रह्माजी बोले—हे राम, सम्पूर्ण प्राणियों की स्थिति के कारण, आत्मज्ञानियों द्वारा हृदय में ध्यान किये जानेवाले, त्याज्य और ग्राह्यरूप द्वन्द्व से रहित, सब से परे, अद्वितीय, सत्तामात्र, सब के हृदय में विराजमान, साक्षीस्वरूप आप विष्णुभगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ। मोहहीन संन्यासीगण निश्चित बुद्धि के द्वारा प्राण और अपान को हृदय में रोककर तथा अपने सम्पूर्ण संशयबन्धन और विषय-वासनाओं का छेदन कर जिस ईश्वर का दर्शन करते हैं, उन रत्नकिरीटधारी, सूर्य के समान तेजस्वी भगवान् राम को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १०-११ ॥

मायातीतं माधवमाद्यं जगदादिं मानातीतं मोहविनाशं मुनिवन्द्यम् ।
योगिध्येयं योगविधानं परिपूर्णं वन्दे रामं रञ्जितलोकं रमणीयम् ॥१२॥

जो माया से परे, लक्ष्मी के पति, सब के आदि कारण, जगत् के उत्पत्तिस्थान, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परे, मोह का नाश करनेवाले, मुनिजनों से वन्दनीय, योगियों से

ध्यान किये जानेयोग्य, योगमार्ग के प्रवर्त्तक, सर्वत्र परिपूर्ण और सम्पूर्ण संसार को आनन्दित करनेवाले हैं, उन परम सुन्दर भगवान् राम को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १२ ॥

भावाभावप्रत्ययहीनं भवमुख्यैर्योगासक्तैरर्चितपादाम्बुजयुग्मम् ।
नित्यं शुद्धमनन्तं प्रणवाख्यं वन्दे रामं वीरमशेषासुरदावम् ॥१३॥

जो भाव और अभावरूप दोनों प्रकार की प्रतीतियों से रहित हैं तथा जिन के युगलचरणकमलों का योगपरायण शंकर आदि पूजन करते हैं और जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध और अनन्त हैं, सम्पूर्ण दानवों के लिए दावानल के समान उन ओंकारनामक वीरवर राम को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १३ ॥

त्वं मे नाथो नाथितकार्याखिलकारी मानातीतो माधवरूपोऽखिलधारी ।
भक्त्या गम्यो भावितरूपो भवहारी योगाभ्यासैर्भावितचेतःसहचारी ॥१४॥

हे राम, आप मेरे प्रभु हैं और मेरे सम्पूर्ण प्रार्थित कार्यों को पूर्ण करनेवाले हैं। आप देश कालादि के परिमाण से रहित, नारायणस्वरूप, अखिल विश्व को धारण करनेवाले, भक्ति से प्राप्य, अपने स्वरूप का ध्यान किये जाने पर संसारभय को दूर करनेवाले और योगाभ्यास से शुद्ध हुए चित्त में विहार करनेवाले हैं ॥ १४ ॥

त्वामाद्यन्तं लोकततीनां परमीशं लोकानां नो लौकिकमानैरधिगम्यम् ।
भक्तिश्रद्धाभावसमेतैर्भजनीयं वन्दे रामं सुन्दरमिन्दीवरनीलम् ॥१५॥

आप इस लोकपरम्परा के आदि और अन्त अर्थात् उत्पत्ति और प्रलय के स्थान हैं, सम्पूर्ण लोकों के महेश्वर हैं, आप किसी भी लौकिक प्रमाण से जाने नहीं जा सकते, आप तो भक्ति और श्रद्धासम्पन्न पुरुषों द्वारा ही भजन किये जानेयोग्य हैं, ऐसे नीलकमल के समान श्यामसुन्दर आप श्री रामचन्द्रजी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥१५॥

को वा ज्ञातुं त्वामतिमानं गतमानं मायासक्तो माधव शक्तो मुनिमान्यम् ।
वृन्दारण्ये वन्दितवृन्दारकवृन्दं वन्दे रामं भवमुखवन्द्यं सुखकन्दम् ॥१६॥

हे लक्ष्मीपते, आप प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परे तथा सर्वथा निर्मान हैं। माया में आसक्त कौन प्राणी आप को जानने में समर्थ हो सकता है ? आप महर्षियों के माननीय हैं, तथा कृष्णावतार के समय वृन्दावन में अखिल देवसमूह जिन की वन्दना करेंगे और जो शिव आदि देवताओं के स्वयं वन्दनीय हैं; ऐसे आप आनन्दघन भगवान् राम को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १६ ॥

नानाशास्त्रैर्वेदकदम्बैः प्रतिपाद्यं
नित्यानन्दं निर्विषयज्ञानमनादिम् ।
मत्सेवार्थं मानुषभावं प्रतिपन्नं
वन्दे रामं मरकतवर्णं मथुरेशम् ॥१७॥
श्रद्धायुक्तो यः पठतीमं स्तवमाद्यं
ब्राह्मं ब्रह्मज्ञानविधानं भुवि मर्त्यः ।
रामं श्यामं कामितकामप्रदमीशं
ध्यात्वा ध्याता पातकजालैर्विगतः स्यात् ॥१८॥

जो नाना शास्त्र और वेदसमूह से प्रतिपादित नित्य आनन्दस्वरूप, निर्विषय ज्ञानस्वरूप और अनादि हैं तथा जिन्होंने मेरा कार्य करने के लिए मनुष्यरूप धारण किया है, उन मरकतमणि के समान नीलवर्ण, मथुरा के भावी स्वामी भगवान् राम को प्रणाम करता हूँ। जो मनुष्य इच्छित कामनाओं को पूर्ण करनेवाले श्याममूर्ति भगवान् राम का ध्यान करते हुए मुझ ब्रह्मा के कहे इस ब्रह्मज्ञानविधायक आद्य स्तोत्र का श्रद्धापूर्वक पाठ करेगा वह ध्यानशील पुरुष सकल पापों से मुक्त हो जायगा।१७-१८।

श्रुत्वा स्तुतिं लोकगुरोर्विभावसुः स्वाङ्के समादाय विदेहपुत्रिकाम् ।
विभ्राजमानां विमलारुणद्युतिं रक्ताम्बरां दिव्यविभूषणान्विताम् ॥१९॥
प्रोवाच साक्षी जगतां रघूत्तमं प्रपन्नसर्वार्तिहरं हुताशः ।
गृहाण देवीं रघुनाथ जानकीं पुरा त्वया मय्यवरोपितां वने ॥२०॥

लोकगुरु भगवान् ब्रह्माजी की यह स्तुति सुनकर लोकसाक्षी अग्निदेव ने अपनी गोद में निर्मल अरुण कान्ति से सुशोभित और लाल वस्त्र तथा दिव्य आभूषणों से विभूषित विदेहपुत्री जानकीजी के साथ प्रकट होकर शरणागत दुःख-हारी श्री रघुनाथजी से कहा—हे रघुवीर, पहले तपोवन में मुझे सौंपी हुई देवी जानकी को अब ग्रहण कीजिये ॥ १९-२० ॥

विधाय मायाजनकात्मजां हरे दशाननप्राणविनाशनाय च ।
हतो दशास्यः सह पुत्रबान्धवैर्निराकृतोऽनेन भरो भुवः प्रभो ॥२१॥
तिरोहिता सा प्रतिबिम्बरूपिणी कृता यदर्थं कृतकृत्यतां गता ।
ततोऽतिहृष्टां परिगृह्य जानकीं रामः प्रहृष्टः प्रतिपूज्य पावकम् ॥२२॥

हे हरे, रावण का प्राणहरण करने के लिए आप ने मायामयी सीता रचकर रावण को उस के पुत्र और बन्धु बान्धवों के सहित मार डाला। हे प्रभो, ऐसा करके आप ने पृथिवी का भार उतार दिया। वह प्रतिबिम्ब-रूपिणी मायासीता, जिस कार्य के लिए रची गयी थी, उसे पूरा करके अब अदृश्य हो गयी है। अग्निदेव के ये वचन सुनकर श्री रामचन्द्रजी ने अति प्रसन्न हो उन का पूजन कर प्रसन्नवदना जानकीजी को ग्रहण किया ॥ २१-२२ ॥

स्वाङ्के समावेश्य सदानपायिनीं श्रियं त्रिलोकीजननीं श्रियः पतिः।
दृष्ट्वाथ रामं जनकात्मजायुतं श्रिया स्फुरन्तं सुरनायको मुदा।
भक्त्या गिरा गद्गदया समेत्य कृताञ्जलिः स्तोतुमथोपचक्रमे ।२३॥

फिर लक्ष्मीपति भगवान् राम ने अपने से कभी अलग न होनेवाली जगज्जननी जानकी को गोद में बैठा लिया। उस समय जनकनन्दिनी सीताजी के सहित भगवान् राम को कान्ति से सुशोभित देख देवराज इन्द्र अति प्रसन्नतापूर्वक हाथ जोड़कर भक्तिगद्गद वाणी से स्तुति करने लगे ॥ २३ ॥

इन्द्र उवाच—

भजेऽहं सदा राममिन्दीवराभं भवारण्यदावानलाभाभिधानम्।
भवानीहृदा भावितानन्दरूपं भवाभावहेतुं भवादिप्रपन्नम् ॥ २४ ॥
सुरानीकदुःखौघनाशैकहेतुं नराकारदेहं निराकारमीड्यम्।
परेशं परानन्दरूपं वरेण्यं हरिं राममीशं भजे भारनाशम् ॥ २५ ॥

इन्द्र बोले—जो श्री राम नीलकमल की सी आभावाले हैं, संसाररूप वन के के लिए जिन का नाम दावानल के समान है, श्री पार्वतीजी जिन के आनन्दस्वरूप का हृदय में ध्यान करती हैं, जो जन्म मरणरूप संसार से छुड़ानेवाले हैं और शंकरादि देवों के आश्रय हैं उन भगवान् राम को मैं भजता हूँ। जो देवमण्डल के

दुःखसमूह का नाश करने के एक मात्र कारण हैं तथा जो मनुष्यरूपधारी, आकारहीन और स्तुति किये जाने योग्य हैं, पृथिवी का भार उतारनेवाले उन परमेश्वर परानन्दरूप पूजनीय भगवान् राम को मैं भजता हूँ ॥ २४-२५ ॥

प्रपन्नाखिलानन्ददोहं प्रपन्नं प्रपन्नार्तिनिःशेषनाशाभिधानम् ।
तपोयोगयोगीशभावाभिभाव्यं कपीशादिमित्रं भजे राममित्रम् ॥२६॥
सदा भोगभाजां सुदूरे विभान्तं सदा योगभाजामदूरे विभान्तम् ।
चिदानन्दकन्दं सदा राघवेशं विदेहात्मजानन्दरूपं प्रपद्ये ॥२७॥

जो शरणागतों को सब प्रकार का आनन्द देनेवाले और उन के आश्रय हैं, जिन का नाम शरणागत भक्तों के सम्पूर्ण दुःखों को दूर करनेवाला है, तप और योग एवं बड़े बड़े योगीश्वरों की भावनाओं द्वारा जिन का चिन्तन किया जाता है तथा जो सुग्रीवादि के मित्र हैं, उन मित्ररूप भगवान् राम को मैं भजता हूँ। जो भोगपरायण लोगों से सदा दूर रहते हैं और योगनिष्ठ पुरुषों के सदा समीप ही विराजते हैं, श्री जानकीजी के लिए आनन्दस्वरूप उन चिदानन्दघन श्री रघुनाथजी को मैं सर्वदा भजता हूँ ॥ २६-२७ ॥

महायोगमायाविशेषानुयुक्तो विभासीश लीलानराकारवृत्तिः ।
त्वदानन्दलीलाकथापूर्णकर्णाः सदानन्दरूपा भवन्तीह लोके ॥२८॥
अहं मानपानाभिमत्तप्रमत्तो न वेदाखिलेशाभिमानाभिमानः ।
इदानीं भवत्पादपद्मप्रसादात् त्रिलोकाधिपत्याभिमानो विनष्टः ॥२९॥

हे भगवन्, आप अपनी महान् योगमाया के गुणों से युक्त होकर लीला से ही मनुष्यरूप प्रतीत हो रहे हैं। जिन के कर्ण आप की इन आनन्दमयी लीलाओं के कथामृत से पूर्ण होते हैं वे संसार में नित्यानन्दरूप हो जाते हैं। प्रभो, मैं तो सम्मान और सोमपान के उन्माद से मतवाला हो रहा था, सर्वेश्वरता के अभिमानवश मैं अपने आगे किसी को कुछ भी नहीं समझता था। अब आप के चरणकमलों की कृपा से मेरा त्रिलोकाधिपतित्व का अभिमान चूर हो गया है ॥ २८-२९ ॥

स्फुरद्रत्नकेयूरहाराभिरामं धराभारभूतासुरानीकदावम् ।
शरच्चन्द्रवक्त्रं लसत्पद्मनेत्रं दुरावारपारं भजे राघवेशम् ॥३०॥

सुराधीशनीलाभ्रनीलाङ्गकान्तिं विराधादिरक्षोवधाल्लोकशान्तिम् ।
किरीटादिशोभं पुरारातिलाभं भजे रामचन्द्रं रघूणामधीशम् ॥३१॥

जो चमचमाते हुए रत्नजटित भुजबन्ध और हारों से सुशोभित हैं, पृथिवी के भाररूप राक्षसों के लिए दावानल के समान हैं, जिन का शरच्चन्द्र के समान मुख और अति मनोहर नेत्रकमल हैं तथा जिन का आदि अन्त जानना अत्यन्त कठिन है उन रघुनाथजी को मैं भजता हूँ। जिन के शरीर की कान्ति इन्द्रनील मणि और मेघ के समान श्याम है, जिन्होंने विराध आदि राक्षसों को मारकर सम्पूर्ण लोकों में शान्ति स्थापित की है, उन किरीटादि से सुशोभित और श्री महादेवजी के परमधन रघुकुलेश्वर रामचन्द्रजी को मैं भजता हूँ॥ ३०-३१ ॥

लसच्चन्द्रकोटिप्रकाशादिपीठे समासीनमङ्के समाधाय सीताम् ।
स्फुरद्धेमवर्णां तडित्पुञ्जभासां भजे रामचन्द्रं निवृत्तार्तितन्द्रम् ॥३२॥

जो श्री राम तेजोमय सुवर्ण के से वर्णवाली और बिजली के समान कान्तिमयी जानकीजी को गोद में लिये करोड़ों चन्द्रमाओं के समान देदीप्यमान सिंहासन पर विराजमान हैं, उन निर्दुःख और आलस्यहीन भगवान् राम को मैं भजता हूँ॥ ३२ ॥

ततः प्रोवाच भगवान्भवान्या सहितो भवः ।
रामं कमलपत्राक्षं विमानस्थो नभःस्थले ॥ ३३ ॥
आगमिष्याम्ययोध्यायां द्रष्टुं त्वां राज्यसत्कृतम् ।
इदानीं पश्य पितरमस्य देहस्य राघव ॥ ३४ ॥

तदनन्तर आकाश में विमान पर बैठे हुए भवानीसहित भगवान् शंकर ने कमलदललोचन श्री रामचन्द्रजी से कहा—हे रघुनन्दन, मैं आप को राज्याभिषिक्त होते हुए देखने के लिए अयोध्यापुरी में आऊँगा ; इस समय आप अपने इस शरीर के पिता दशरथ का दर्शन कीजिये ॥ ३३-३४ ॥

ततोऽपश्यद्विमानस्थं रामो दशरथं पुरः ।
ननाम शिरसा पादौ मुदा भक्त्या सहानुजः ॥३५॥
आलिङ्ग्य मूर्ध्न्यवघ्राय रामं दशरथोऽब्रवीत् ।
तारितोऽस्मि त्वया वत्स संसाराद्दुःखसागरात् ॥३६॥
इत्युक्त्वा पुनरालिङ्ग्य ययौ रामेण पूजितः ।

तब श्री रामचन्द्रजी ने अपने सामने विमान पर बैठे हुए महाराज दशरथ को देखा, पिता को देखते ही उन्होंने प्रसन्न होकर भाई लक्ष्मण के सहित भक्तिपूर्वक चरणों में शिर नवाकर प्रणाम किया। दशरथजी ने श्री रामचन्द्रजी को हृदय से लगा लिया और उन का शिर सूँघकर कहा—बेटा, तुम ने मुझे संसाररूप दुःखसमुद्र से पार कर दिया। ऐसा कहकर श्री राम को फिर हृदय से लगा और उन से पूजित हो दशरथजी चले गये ॥ ३५-३६ ॥

रामोऽपि देवराजं तं दृष्ट्वा प्राह कृताञ्जलिम् ॥३७॥
मत्कृते निहतान्सङ्ख्ये वानरान्पतितान् भुवि ।
जीवयाशु सुधावृष्ट्या सहस्राक्ष ममाज्ञया ॥३८॥
तथेत्यमृतवृष्ट्या तान् जीवयामास वानरान् ।

तब श्री रामचन्द्रजी ने देवराज इन्द्र को हाथ जोड़े खड़ा देखकर कहा—हे सहस्राक्ष, मेरी आज्ञा से तुम अमृत बरसाकर मेरे लिए युद्ध में मरकर पृथिवी पर गिरे हुए वानरों को तुरन्त जीवित कर दो। ऐसा सुन देवराज ने 'बहुत अच्छा' कह अमृत बरसाकर उन सब वानरों को जीवित कर दिया ॥ ३७-३८ ॥

ये ये मृता मृधे पूर्वं ते ते सुप्तोत्थिता इव ।
पूर्ववद्बलिनो हृष्टा रामपार्श्वमुपाययुः ॥ ३९ ॥
नोत्थिता राक्षसास्तत्र पीयूषस्पर्शनादपि ।

जो जो वानर पहले युद्ध में मारे गये थे वे सभी सोकर उठे हुए के समान पहले की भाँति ही बलवान् और प्रसन्न होकर भगवान् राम के पास चले आये। किन्तु वहाँ युद्ध में मरकर गिरे हुए राक्षसगण अमृत का स्पर्श होने पर भी नहीं उठे ॥३९॥

विभीषणस्तु साष्टाङ्गं प्रणिपत्याब्रवीद्वचः ॥ ४० ॥
देव मामनुगृह्णीष्व मयि भक्तिर्यदा तव ।
मङ्गलस्नानमद्य त्वं कुरु सीतासमन्वितः ॥ ४१ ॥

अलङ्कृत्य सह भ्रात्रा श्वो गमिष्यामहे वयम् ।

इसी समय विभीषण ने साष्टाङ्ग प्रणाम करके कहा—भगवन्, आप की मुझ पर अत्यन्त प्रीति है, अतः इतनी कृपा कीजिये कि आज श्री सीताजी के सहित मंगल-स्नान कीजिये, फिर कल भाई लक्ष्मण के सहित वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो हम सब चलेंगे ॥ ४०-४१ ॥

विभीषणवचः श्रुत्वा प्रत्युवाच रघूत्तमः ॥ ४२ ॥
सुकुमारोऽतिभक्तो मे भरतो मामवेक्षते । जटावल्कलधारी स शब्दब्रह्मसमाहितः ॥
कथं तेन विना स्नानमलङ्कारादिकं मम ।

विभीषण के ये वचन सुनकर श्री रघुनाथजी बोले—मेरा भाई भरत अति सुकुमार और मेरा भक्त है, वह जटावल्कल धारण किये भगवन्नाम में तत्पर हुआ मेरी बाट देखता होगा। उस से मिले बिना मैं कैसे स्नान अथवा वस्त्राभूषण धारण कर सकता हूँ ॥ ४२-४३ ॥

अतः सुग्रीवमुख्यांस्त्वं पूजयाशु विशेषतः ॥ ४४ ॥
पूजितेषु कपीन्द्रेषु पूजितोऽहं न संशयः । इत्युक्तो राघवेणाशु स्वर्णरत्नाम्बराणि च ॥
ववर्ष राक्षसश्रेष्ठो यथाकामं यथारुचि । ततस्तान्पूजितान्दृष्ट्वा रामो रत्नैश्च यूथपान् ॥
अभिनन्द्य यथान्यायं विससर्ज हरीश्वरान् ।

अतः अब तुम शीघ्र ही सुग्रीवादि वानरों का ही विशेष सत्कार कर दो। इन वानर वीरों का सत्कार होने से मेरा ही सत्कार होगा; इस में सन्देह नहीं। श्री रघुनाथजी के ऐसा कहने पर राक्षसश्रेष्ठ विभीषण ने वानरों को उन की इच्छा और रुचि के अनुसार बहुत से रत्न और वस्त्रादि मुक्तहस्त से दिये। इस प्रकार उन सब वानरयूथ-पतियों को रत्नादि से सत्कृत देख श्री रामचन्द्रजी ने सब की यथा योग्य बड़ाई की और उन्हें विदा किया ॥४४-४६॥

विभीषणसमानीतं पुष्पकं सूर्यवर्चसम् ॥ ४७ ॥
आरुरोह ततो रामस्तद्विमानमनुत्तमम् ।
अङ्के निधाय वैदेहीं लज्जमानां यशस्विनीम् ॥४८॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विक्रान्तेन धनुष्मता ।

फिर वे सकुचाती हुई यशस्विनी जानकीजी को गोद में ले महापराक्रमी धनुर्धर भाई लक्ष्मण के सहित, विभीषण के लाये हुए सूर्य के समान तेजस्वी अति उत्तम पुष्पक विमान पर आरूढ हुए ॥ ४७-४८ ॥

अब्रवीच्च विमानस्थः श्रीरामः सर्ववानरान् ॥४९॥
सुग्रीवं हरिराजं च अङ्गदं च विभीषणम् ।
मित्रकार्यं कृतं सर्वं भवद्भिः सह वानरैः ॥ ५० ॥
अनुज्ञाता मया सर्वे यथेष्टं गन्तुमर्हथ ।
सुग्रीव प्रतियाह्याशु किष्किन्धां सर्वसैनिकैः ॥५१॥

विमान पर बैठकर भगवान् राम ने वानरराज सुग्रीव, अंगद, विभीषण और समस्त वानरों से कहा—आप लोगों ने अन्य समस्त वानर वीरों के सहित, मित्र का जो कुछ कार्य होता है वह खूब निभाया है। अब मेरी आज्ञानुसार आप अपने अपने इच्छित स्थानों को जाइये। सुग्रीव, तुम अपने समस्त सैनिकों के सहित शीघ्र ही किष्किन्धा को जाओ ॥ ४९-५१ ॥

स्वराज्ये वस लङ्कायां मम भक्तो विभीषण ।
न त्वां धर्षयितुं शक्ताः सेन्द्रा अपि दिवौकसः ॥५२॥
अयोध्यां गन्तुमिच्छामि राजधानीं पितुर्मम ।

विभीषण, तुम मेरी भक्ति में तत्पर रहकर अपने राज्य पर लंका में रहो। अब इन्द्र के सहित देवगण भी तुम्हारा बाल बाँका नहीं कर सकते। अब मैं अपने पिताजी की राजधानी अयोध्यापुरी को जाना चाहता हूँ ॥ ५२ ॥

एवमुक्तास्तु रामेण वानरास्ते महाबलाः ॥ ५३ ॥
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे राक्षसश्च विभीषणः ।
अयोध्यां गन्तुमिच्छामस्त्वया सह रघूत्तम ॥५४॥

दृष्ट्वा त्वामभिषिक्तं तु कौसल्यामभिवाद्य च ।
पश्चाद्वृणीमहे राज्यमनुज्ञां देहि नः प्रभो ॥५५॥

श्री रामचन्द्रजी के इस प्रकार कहने पर वे समस्त महाबली वानरगण तथा राक्षसराज विभीषण हाथ जोड़कर बोले—हे रघुश्रेष्ठ, हम सब आप के साथ अयोध्या चलना चाहते हैं। हे प्रभो, हम आप को राज्याभिषिक्त हुआ देखकर और माता कौसल्या की वन्दना कर फिर अपना राज्य ग्रहण करेंगे; आप हमें अपने साथ चलने की आज्ञा दीजिये ॥ ५३-५५ ॥

रामस्तथेति सुग्रीव वानरैः सविभीषणः ।
पुष्पकं सहनूमांश्च शीघ्रमारोह साम्प्रतम् ॥५६॥
ततस्तु पुष्पकं दिव्यं सुग्रीवः सह सेनया ।
विभीषणश्च सामात्यः सर्वे चारुरुहुर्द्रुतम् ॥५७॥

तब रामचन्द्रजी ने कहा कि बहुत अच्छा; सुग्रीव, अब वानरों के सहित तुम शीघ्र ही विभीषण और हनुमान् को साथ लेकर इस विमान पर चढ़ो। तब सेना के सहित सुग्रीव और मन्त्रियों के सहित विभीषण; ये सभी बड़ी शीघ्रता से दिव्य विमान पुष्पक पर चढ़ गये ॥ ५६-५७ ॥

तेष्वारूढेषु सर्वेषु कौवेरं परमासनम् ।
राघवेणाभ्यनुज्ञातमुत्पपात विहायसा ॥५८॥
बभौ तेन विमानेन हंसयुक्तेन भास्वता ।
प्रहृष्टश्च तदा रामश्चतुर्मुख इवापरः ॥५९॥

उन सब के आरूढ हो जाने पर वह कुबेर का परम यान भगवान् राम की आज्ञा पाकर आकाशमार्ग से उड़ चला। उस तेजस्वी विमान पर जाते हुए भगवान्

राम बड़े प्रसन्न हुए और ऐसे सुशोभित हुए मानो दूसरे ब्रह्माजी हंस पर चढ़े जा रहे हों ॥ ५८-५९ ॥

ततो बभौ भास्करबिम्बतुल्यं कुबेरयानं तपसानुलब्धम् ।
रामेण शोभां नितरां प्रपेदे सीतासमेतेन सहानुजेन ॥६०॥

उस समय वह तपस्या से प्राप्त हुआ कुबेर का यान सूर्यबिम्ब के समान सुशोभित होने लगा तथा श्री सीताजी और भाई लक्ष्मण के सहित भगवान् राम के कारण तो उस की शोभा और भी अधिक बढ़ गयी ॥ ६० ॥

रा० च०—प्रिय सज्जनो, रावणसंहार हो चुकने पर विभीषण को लंका की राजगद्दी मिली एवं आद्याशक्ति श्री सीतादेवी अग्नि से प्रकट होकर भगवान् राम के साथ आसीन हुई तथा संग्राम में मरे हुए वानर भालुओं को इन्द्र ने अमृत की वर्षा कर पुनर्जीवित कर दिया, तब राजा विभीषण ने लंकाराज्य के खजाने के रत्न अलंकार उन में लुटा दिये। इन सब को साथ ले पुष्पकविमान में बैठकर भगवान् अब अयोध्या जाने को उद्यत हुए हैं। तेरहवें अध्याय के इन प्रसंगों में एक बात पर विचार करना चाहिए, वह यह कि इन्द्र की अमृतवर्षा संपूर्ण युद्धक्षेत्र पर हुई थी तो उस का प्रभाव एक पक्ष रामसेना पर ही क्यों हुआ ? अमृत का स्वभाव जीवनदान करना है, उस में ऐसा रसभेद नहीं हो सकता। क्यों कि जब क्षीरसागर से अमृत मथकर भगवान् ने देवताओं को पिलाया तो उसे चालाकी से पीकर राहु दैत्य भगवान् के चक्र मारने पर भी जीवित रह गया था। अमृत का प्रभाव इतना उग्र हुआ कि भगवान् के न चाहने पर भी राहु एक से दो हो गया। इसलिए राक्षसों के लिए यह कहा जाय कि वे रामबाण से मरकर मुक्त हो गये थे या रामजी की इच्छा उन्हें जिलाने की न थी; तो अमृत की अव्यर्थशक्ति के सामने यह कहाँ तक संगत है ?

इस पर कहा जाता है कि लंका राक्षसों का निजी देश था, इस लिए रावण का संस्कार होते समय बचे हुए राक्षसों ने मृत राक्षसों का भी दाहसंस्कार कर समुद्र में बहा दिया था। वानर विदेशी थे, सो पुनर्जीवित होने की संभावना पर हनुमानजी की आज्ञा से वे रणभूमि में अब तक यों ही पड़े रहे। साथ ही रावण की पहले से ही यह चाल थी कि युद्ध में मृत राक्षस उसी रात को समुद्र में फेंक दिये जायँ और वानरों को यों ही पड़ा रहने दिया जाय, जिस से जीवित राक्षस और बंदर समझें कि राक्षस कम और वानर अधिक मरे। अधिकांश रामबाणों से मृत राक्षसों की तो मुक्ति हो ही गई थी, अतः वे श्री राम-स्वरूप में तन्मय होकर उस में नित्य सजीव हो चुके थे। राहु के शरीर में अमृत का संबन्ध चक्र लगने से पहले हो चुका था अतः वहाँ अमृत कृतकार्य रहा, यहाँ मुक्त हुए राक्षसों के

ध्वंसावशेष पर अमृत पीछे से बरसकर राक्षसों का कुछ न कर सका। वानरों के हाथों भी जो राक्षस मारे गये, उन में मारने की करामात या शक्ति राम की ही काम कर रही थी, वे सब तो इस प्रकार निमित्तमात्र थे जैसा कि गीता में भगवान् ने विराट रूप से कौरवों को चबाते हुए अर्जुन से कहा था—

'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।'

इस लिए संग्राम में वीरता से सन्मुख मरे हुए राक्षस अमृत बरसने से पहले ही सब के सब मुक्त हो चुके थे।

और सब से ऊपर बढी चढी तो भगवदिच्छा है, अमृत में संजीवनरस घोलनेवाले और हालाहल को भी कुण्ठित करनेवाले भगवान् जैसी इच्छा करें वही होगा। अभी अभी सीताजी के लिए अग्नि की दाहक शक्ति उन के प्रताप से शान्त होती देखी गई थी। कहते हैं कि राणा ने मीराबाई के लिए पिटारी में काला साँप बंदकर तथा शालग्राम कहकर भेजा था, आखिर मीरा के लिए पिटारी में से नागदेव शालग्राम होकर ही निकले। उस के लिए जहर का प्याला भी चरणामृतपूर्ण पञ्चपात्र हो गया था। यह सब भगवान् की लीला है, उसी के बल से मरे वानर उठ बैठे और राक्षस मिट्टी में ही मिल गये, अस्तु।

मुक्ति और भक्ति देकर जिस प्रकार भगवान् ने राक्षसों का भला किया उसी प्रकार भक्त राक्षसियों पर सीताजी ने अमृत बरसाया था। अशोकवन से चलते समय हनुमानजी ने पूछा कि माताजी, आप को गर्ज तर्जकर जिन दुष्टा राक्षसियों ने डराया धमकाया है, उन को आप आज्ञा दें तो अभी ठीक कर दूँ। तब सीताजी ने कहा कि वत्स, ये बेचारी तो दयापात्र हैं, इन्होंने वह सब रावण की आज्ञा से किया था इस लिए सब क्षमा की पात्र हैं। उन सबों में रामभक्त हनुमान् की तरह एक सीताभक्त त्रिजटा थी। अतः उस पर सीताजी की विशेष कृपा हुई। हनुमानजी को अजर, अमर, गुणनिधान आदि होने का वर सीताजी दे चुकी थीं इस लिए अपनी भक्त त्रिजटा को भगवान् से बडा ही अद्भुत वर उन्होंने दिलाया है। उस वर के लिए सभी को सतर्क रहना चाहिए। जैसे आजकल बुढापे में सरकारी नौकरों को पेंशन या जागीर मिलती है, वैसे ही बूढी त्रिजटा को धर्म के खजाने में से यह अनोखी पेंशन देकर रामजी ने निहाल कर दिया है, यथा—

त्रिजटे वचनं मेऽद्य शृणु मङ्गलदायकम्।
कार्तिके माधवे माघे चैत्रे मासचतुष्टये॥
स्नात्वाऽग्रे त्रिदिनं स्नानं त्वत्प्रीत्यर्थं नरोत्तमाः।
करिष्यन्ति हि तेनैव कृतकृत्या भविष्यसि॥
ये नरैस्त्रिदिनं स्नानं न कृतं पौर्णिमोर्ध्वतः।

तेषां मासकृतं पुण्यं हर त्वं वचनान्मम ॥
अशुचीनि गृहाण्येव तथा श्राद्धहवींषि च ।
क्रोधाविष्टेन दत्तानि तिलहीनं च तर्पणम् ॥
सर्वं तत् त्रिजटे तुभ्यं तथा श्राद्धमदक्षिणम् ॥
—(आ॰ रामायण)

'हे त्रिजटे, मेरा मंगलदायक वचन सुनो, कार्तिक, माघ, चैत्र, वैशाख महीनों में पूर्णिमा तक स्नान कर चुकने पर तीन दिन और भी तुम्हारे निमित्त मनुष्य स्नान करेंगे। यदि जो कोई मनुष्य ऐसा न करें तो हे त्रिजटे, तुम मेरी आज्ञा से उन का पूरे महीने भर का पुण्य हर लोगी। और भी, जो घर अपवित्र रहें, तथा ऐसे घरों में क्रोध के साथ किये गये श्राद्ध हवन आदि, तिलों के बिना किया गया तर्पण तथा दक्षिणाहीन श्राद्ध, ये सब तुम को प्राप्त होंगे।'

मित्रो, भगवान् ने ऐसा वर देकर जो त्रिजटा को कृतकृत्य किया, इस में बड़ा गूढ़ लोकशिक्षण भरा हुआ है। इन्होंने देखा कि अब राक्षसों का डर मिट जाने से मनुष्य स्वच्छन्द होकर लापरवाही से मनमाने तौर पर कर्म करेंगे। राक्षसविघ्न की शंका अब तक कर्म करने में सतर्कता रखती थी, क्योंकि राक्षस प्रायः किसी कर्मवैगुण्य (विधि की त्रुटि) के छिद्र को पाकर ही यज्ञादि का विघात करते थे। उन को शंका न रहने से मनुष्य कर्मविधि को उपेक्षापूर्वक न करने लगें, इस के लिए दीर्घदर्शी भगवान् ने सब के ऊपर त्रिजटा का पहरा बैठा दिया है। इसलिए संध्यावन्दनादि करके शरीर को पवित्र न रखोगे, पञ्चमहायज्ञों (१—धार्मिक पाठ ब्रह्मयज्ञ, २—होम देवयज्ञ, ३—तर्पणश्राद्ध पितृयज्ञ, ४—अग्नि गौ दीनजन कुत्ता कौआ चीटीं आदि के लिए बलिवैश्वदेवरूप भूतयज्ञ, ५—अतिथिसत्कार मनुष्ययज्ञ) को करते हुए घर, धन संपत्ति को पवित्र न रखोगे तथा क्रोध लोभ आदि के साथ इन कर्मों को ज्यों त्यों समाप्त कर पण्डितजी, गुरुजी को योग्य दक्षिणा न दोगे, तो बस त्रिजटा तुम्हारे अधूरे कर्मफल को स्वयं भोगने के लिए लंका के राक्षसभूतों के साथ तुम्हारे यहाँ अड्डा जमा लेगी। क्योंकि ऐसी ही रामजी की आज्ञा है, इसलिए फिर इस त्रिजटा के परिवार को मंतर जंतर ओझा तो क्या, हनुमानजी भी नहीं भगा सकते। इसलिए हम ने जो रीति कही, वैसे ही कर्म करो, राम का नाम हृदय से जपो, तभी त्रिजटा के आक्रमण से सुरक्षित होकर घरों में सुख चैन से रह सकोगे।

इस प्रकार भगवान् राम ने राक्षससंहारकर्म की सांगतापूर्तिरूप भूयसी दक्षिणा त्रिजटा को वरदान देकर चुका दी, तभी वे संसार के कर्मचक्र को अक्षुण्ण (सुरक्षित) रखने की व्यवस्था करने में समर्थ हुए। अनन्तर, आनन्द के साथ सब राक्षस वानरादि को संतुष्ट कर पुष्पक विमान में बैठाया और अयोध्या के लिए चल पड़े।

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के त्रयोदश सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

ॐ चतुर्दश सर्ग

विमान से अयोध्यायात्रा, भरद्वाज मुनि की भेंट तथा भरतमिलाप ।

श्री महादेव उवाच—

पातयित्वा ततश्चक्षुः सर्वतो रघुनन्दनः ।
अब्रवीन्मैथिलीं सीतां रामः शशिनिभाननाम् ॥ १ ॥
त्रिकूटशिखराग्रस्थां पश्य लङ्कां महाप्रभाम् ।
एतां रणभुवं पश्य मांसकर्दमपङ्किलाम् ॥ २ ॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, तदनन्तर सब ओर दृष्टि डालकर रघुनाथजी ने मिथिलेशकुमारी चन्द्रमुखी सीताजी से कहा—प्रिये, त्रिकूट पर्वत चोटी पर बसी हुई यह परम प्रकाशमयी लंकापुरी देखो और यह मांसमय कीच से भरी हुई रणभूमि देखो ॥ १-२ ॥

असुराणां प्लवङ्गानामत्र वैशसनं महत् ।
अत्र मे निहतः शेते रावणो राक्षसेश्वरः ॥ ३ ॥
कुम्भकर्णेन्द्रजिन्मुख्याः सर्वे चात्र निपातिताः ।

यहाँ राक्षसों और वानरों का बड़ा भारी संहार हुआ है । यहीं मेरे हाथ मरकर राक्षसराज रावण गिरा था और यहीं कुम्भकर्ण, इन्द्रजित् आदि सब राक्षसवीर मारे गये हैं ॥ ३ ॥

एष सेतुर्मया बद्धः सागरे सलिलाशये ॥ ४ ॥
एतच्च दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ।
सेतुबन्धमिति ख्यातं त्रैलोक्येन च पूजितम् ॥ ५ ॥
एतत्पवित्रं परमं दर्शनात्पातकापहम् ।
अत्र रामेश्वरो देवो मया शम्भुः प्रतिष्ठितः ॥ ६ ॥

अत्र मां शरणं प्राप्तो मन्त्रिभिश्च विभीषणः ।

यह मैंने जलपूर्ण समुद्र पर पुल बाँधा था, इस विशाल समुद्र पर यह सेतुबन्ध नाम से विख्यात तीर्थ दिखायी देता है, जो तीनों लोकों से पूजनीय है। यह अत्यन्त पवित्र है और दर्शन मात्र से ही सम्पूर्ण पापों को नष्ट करनेवाला है। यहाँ मैंने श्री रामेश्वर महादेव की स्थापना की है। यहीं मन्त्रियों के सहित विभीषण मेरी शरण में आया था ॥ ४-६ ॥

एषा सुग्रीवनगरी किष्किन्धा चित्रकानना ॥ ७ ॥
तत्र रामाज्ञया ताराप्रमुखा हरियोषितः ।
आनयामास सुग्रीवः सीतायाः प्रियकाम्यया ॥ ८ ॥
ताभिः सहोत्थितं शीघ्रं विमानं प्रेक्ष्य राघवः ।
प्राह चाद्रिमृष्यमूकं पश्य वाल्यत्र मे हतः ॥ ९ ॥

और देखो, यह विचित्र उपवनोंवाली सुग्रीव की राजधानी किष्किन्धापुरी है। किष्किन्धा में पहुँचने पर भगवान् राम की आज्ञा से सीताजी को प्रसन्न करने के लिए सुग्रीव अपनी तारा आदि स्त्रियों को ले आये। जब रघुनाथजी ने विमान को तुरन्त ही उन सब को लेकर भी चलते देखा, तो वे फिर सीताजी से कहने लगे कि यह ऋष्यमूक पर्वत देखो, यहाँ मैंने बाली को मारा था ॥ ७-९ ॥

एषा पञ्चवटी नाम राक्षसा यत्र मे हताः ।
अगस्त्यस्य सुतीक्ष्णस्य पश्याश्रमपदे शुभे ॥१०॥
एते ते तापसाः सर्वे दृश्यन्ते वरवर्णिनि ।
असौ शैलवरो देवि चित्रकूटः प्रकाशते ॥११॥

इधर पञ्चवटी है, जहाँ मैंने खर दूखणादि राक्षसों का संहार किया था। देखो, ये मुनिवर अगस्त्य और सुतीक्ष्ण के अति पवित्र आश्रम हैं। हे सुन्दर वर्णवाली, देखो ये वे सब तपस्वीगण दिखाई दे रहे हैं और हे देवि, यह पर्वतश्रेष्ठ चित्रकूट दीख रहा है ॥ १०-११ ॥

अत्र मां कैकयीपुत्रः प्रसादयितुमागतः ।
भरद्वाजाश्रमं पश्य दृश्यते यमुनातटे ॥ १२ ॥
एषा भागीरथी गङ्गा दृश्यते लोकपावनी ।
एषा सा दृश्यते सीते सरयूर्यूपमालिनी ॥ १३ ॥

एषा सा दृश्यतेऽयोध्या प्रणामं कुरु भामिनि ।
एवं क्रमेण सम्प्राप्तो भरद्वाजाश्रमं हरिः ॥ १४ ॥

यहीं मुझे मनाने के लिए कैकेयी के पुत्र भरत आये थे। और देखो, वह यमुनाजी के तट पर भरद्वाज मुनि का आश्रम दिखलायी दे रहा है, ये त्रिलोकपावनी भागीरथी गंगाजी दीख रही हैं। हे सीते, उधर सूर्यवंशी राजाओं के किये हुए यज्ञों के यूपों (यज्ञस्तम्भों) से युक्त यह सरयू नदी दिखायी दे रही है। हे सुन्दरि, देखो, वह अयोध्यापुरी दीख रही है, उसे प्रणाम करो। इस प्रकार भगवान् राम क्रम से भरद्वाज मुनि के आश्रम पर पहुँचे ॥ १२-१४ ॥

पूर्णे चतुर्दशे वर्षे पञ्चम्यां रघुनन्दनः ।
भरद्वाजं मुनिं दृष्ट्वा ववन्दे सानुजः प्रभुः ॥१५॥
पप्रच्छ मुनिमासीनं विनयेन रघूत्तमः ।
शृणोषि कच्चिद्भरतः कुशल्यास्ते सहानुजः ॥१६॥
सुभिक्षा वर्ततेऽयोध्या जीवन्ति च हि मातरः ।

श्री रघुनाथजी चौदहवें वर्ष के समाप्त होने पर पञ्चमी तिथि को मुनिवर भरद्वाज के यहाँ पहुँचे और दर्शन कर उन्हें भाई लक्ष्मण सहित प्रणाम किया। फिर आश्रम में विराजमान मुनिवर से रघुश्रेष्ठ श्री रामचन्द्रजी ने अति नम्रतापूर्वक पूछा—आप ने कुछ सुना है, भाई शत्रुघ्न सहित भरत कुशल से हैं न ? अयोध्या में सुकाल तो है ? और हमारी माताएँ अभी जीवित हैं न ? ॥ १५-१६ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं भरद्वाजः प्रहृष्टधीः ॥१७॥
प्राह सर्वे कुशलिनो भरतस्तु महामनाः ।
फलमूलकृताहारो जटावल्कलधारकः ॥१८॥

पादुके सकलं न्यस्य राज्यं त्वां सुप्रतीक्षते ।
यद्यत्कृतं त्वया कर्म दण्डके रघुनन्दन ॥१९॥
राक्षसानां विनाशं च सीताहरणपूर्वकम् ।
सर्वं ज्ञातं मया राम तपसा ते प्रसादतः ॥२०॥

भगवान् राम के ये वचन सुनकर भरद्वाज मुनि ने प्रसन्न होकर कहा—आप के यहाँ सब कुशल हैं । महामना भरतजी तो जटा वल्कल धारण किये फलमूलादि से निर्वाह करते हुए राज्य का सारा भार आप की पादुकाओं को सौंपकर आप ही की प्रतीक्षा कर रहे हैं । हे रघुनन्दन, आप ने दण्डकारण्य में जो जो कार्य किये हैं तथा सीता हरण होने पर जैसे जैसे राक्षसों का वध किया है, वह सब आप की कृपा से मैंने तपोबल से जान लिया है ॥ १७-२० ॥

त्वं ब्रह्म परमं साक्षादादिमध्यान्तवर्जितः ।
त्वमग्रे सलिलं सृष्ट्वा तत्र सुप्तोऽसि भूतकृत् ॥२१॥
नारायणोऽसि विश्वात्मन्नराणामन्तरात्मकः ।
त्वन्नाभिकमलोत्पन्नो ब्रह्मा लोकपितामहः ॥२२॥
अतस्त्वं जगतामीशः सर्वलोकनमस्कृतः ।
त्वं विष्णुर्जानकी लक्ष्मीः शेषोऽयं लक्ष्मणाभिधः ॥२३॥

आप आदि, अन्त और मध्य से रहित साक्षात् परब्रह्म हैं । आप समस्त भूतों को रचनेवाले हैं । आप ने सब से पहले जल रचकर उस पर शयन किया था । हे विश्वात्मन्, आप समस्त मनुष्यों के अन्तरात्मा हैं, अतः आप नारायण हैं । आप के नाभिकमल से उत्पन्न हुए ब्रह्माजी सम्पूर्ण लोकों के पितामह हैं अतः आप समस्त लोकों से वन्दित और सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं । आप साक्षात् विष्णुभगवान् हैं, जानकीजी लक्ष्मी हैं और ये लक्ष्मणजी शेषनाग हैं ॥ २१-२३ ॥

आत्मना सृजसीदं त्वमात्मन्येवात्ममायया ।
न सज्जसे नभोवत्त्वं चिच्छक्त्या सर्वसाक्षिकः ॥२४॥
बहिरन्तश्च भूतानां त्वमेव रघुनन्दन ।
पूर्णोऽपि मूढदृष्टीनां विच्छिन्न इव लक्ष्यसे ॥२५॥

आप अधिष्ठानरूप से अपने भीतर ही अपनी माया के द्वारा स्वयं अपने आप

से इस सम्पूर्ण जगत् को रचते हैं, किन्तु आकाश के समान किसी से भी लिप्त नहीं होते। आप अपनी चित् शक्ति से सब के साक्षी हैं। हे रघुनन्दन, समस्त प्राणियों के भीतर और बाहर आप ही व्याप्त हैं। इस प्रकार पूर्ण होने पर भी आप मूढ बुद्धियों को परिच्छिन्न, एकदेशी से दिखायी देते हैं ॥ २४-२५ ॥

जगत्त्वं जगदाधारस्त्वमेव परिपालकः ।
त्वमेव सर्वभूतानां भोक्ता भोज्यं जगत्पते ॥२६॥
दृश्यते श्रूयते यद्यत्स्मर्यते वा रघूत्तम ।
त्वमेव सर्वमखिलं त्वद्विनान्यन्न किञ्चन ॥२७॥

हे जगत्पते, आप ही जगत्, जगत् के आधार और उस का पालन करनेवाले हैं; तथा आप ही समस्त प्राणियों के कालरूप से भोक्ता और अन्नरूप से भोज्य हैं। हे रघुश्रेष्ठ, जो कुछ भी दिखायी देता है तथा जो कुछ सुना और स्मरण किया जाता है वह सब आप ही हैं; आप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ॥ २६-२७ ॥

माया सृजति लोकांश्च स्वगुणैरहमादिभिः ।
त्वच्छक्तिप्रेरिता राम तस्मात्त्वय्युपचर्यते ॥२८॥
यथा चुम्बकसान्निध्याच्चलन्त्येवायआदयः ।
जडास्तथा त्वया दृष्टा माया सृजति वै जगत् ॥२९॥

हे राम, आप की शक्ति से प्रेरित होकर ही माया अपने अहङ्कारादि गुणों से सम्पूर्ण लोकों को रचती है, इसीलिए इन सब की रचना का आप ही में आरोप किया जाता है। जिस प्रकार चुम्बक की सन्निधि से लोह आदि जड पदार्थ भी चलायमान हो जाते हैं उसी प्रकार आपकी दृष्टि पड़ने से ही माया सम्पूर्ण जगत् की रचना करती है ॥ २८-२९ ॥

देहद्वयमदेहस्य तव विश्वं सिरक्षिषोः ।
विराट् स्थूलं शरीरं ते सूत्रं सूक्ष्ममुदाहृतम् ॥३०॥
विराजः सम्भवन्त्येते अवताराः सहस्रशः ।
कार्यान्ते प्रविशन्त्येव विराजं रघुनन्दन ॥३१॥
अवतारकथां लोके ये गायन्ति गृणन्ति च ।
अनन्यमनसो मुक्तिस्तेषामेव रघूत्तम ॥३२॥

विश्वकी रक्षा करने के इच्छुक आप देहहीन होकर भी दो देहवाले हैं। आप का स्थूल शरीर 'विराट्' और सूक्ष्म शरीर 'सूत्र' कहलाता है। हे रघुनन्दन, आप के 'विराट' और सूक्ष्म शरीर 'सूत्र' कहलाता है। हे रघुनन्दन, आप के विराट् शरीर से ही ये सहस्रों अवतार उत्पन्न होते हैं और अपना कार्य समाप्त कर फिर उसी में लीन हो जाते हैं। हे रघुश्रेष्ठ, संसार में जो लोग अनन्य चित्त से आप के इन अवतारों की कथा गाते और सुनते हैं उन की तो मुक्ति अवश्य ही हो जाती है ॥ ३०-३२ ॥

त्वं ब्रह्मणा पुरा भूमेर्भारहाराय राघव।
प्रार्थितस्तपसा तुष्टस्त्वं जातोऽसि रघोः कुले॥३३॥
देवकार्यमशेषेण कृतं ते राम दुष्करम्।
बहुवर्षसहस्राणि मानुषं देहमाश्रितः ॥३४॥
कुर्वन्दुष्करकर्माणि लोकद्वयहिताय च।
पापहारीणि भुवनं यशसा पूरयिष्यसि ॥३५॥

हे राघव, पूर्वकाल में ब्रह्माजी ने आप से पृथिवी का भार उतारने के लिए प्रार्थना की थी। उन की तपस्या से सन्तुष्ट होकर ही आप ने रघुकुल में अवतार लिया है। हे राम, जो अत्यन्त दुष्कर था, देवताओं का वह सब काम आप ने कर दिया। अब कई सहस्र वर्ष तक मनुष्य देह में स्थित रहकर दोनों लोकों के कल्याण के लिए बहुत से कठिन और पापनाशक कार्य करते हुए आप सम्पूर्ण लोकों को अपने सुयश से परिपूर्ण करेंगे ॥ ३३-३५ ॥

प्रार्थयामि जगन्नाथ पवित्रं कुरु मे गृहम्।
स्थित्वाद्य भुक्त्वा सबलः श्वो गमिष्यसि पत्तनम् ॥३६॥
तथेति राघवोऽतिष्ठत्तस्मिन्नाश्रम उत्तमे।
ससैन्यः पूजितस्तेन सीतया लक्ष्मणेन च ॥३७॥

हे जगन्नाथ, मेरी यह प्रार्थना है कि आज आप सेनासहित यहाँ ठहरकर और भोजन कर मेरा घर पवित्र कीजिये। फिर कल अपनी राजधानी में पधारें। तब रघुनाथजी 'बहुत अच्छा' कह मुनिवर भरद्वाज से सत्कृत हो सेना, सीताजी और लक्ष्मणजी के सहित उस अत्युत्तम आश्रम में ठहर गये ॥ ३६-३७ ॥

ततो रामश्चिन्तयित्वा मुहूर्तं प्राह मारुतिम्।
इतो गच्छ हनूमंस्त्वमयोध्यां प्रति सत्वरः ॥३८॥

जानीहि कुशली कश्चिज्जनो नृपतिमन्दिरे ।
शृङ्गवेरपुरं गत्वा ब्रूहि मित्रं गुहं मम ॥३९॥
जानकीलक्ष्मणोपेतमागतं मां निवेदय ।

इस समय एक मुहूर्त विचार कर भगवान् राम ने श्री मारुति से कहा—हनुमन् , तुम शीघ्र ही यहाँ से अयोध्या को जाओ और यह मालूम करो कि राजमन्दिर में सब कुशल से तो हैं । शृंगवेरपुर में जाकर मेरे मित्र गुह से बातचीत करना और उसे जानकी तथा लक्ष्मण के सहित मेरे आने की सूचना देना ॥ ३८-३९ ॥

नन्दिग्रामं ततो गत्वा भ्रातरं भरतं मम ॥४० ।
दृष्ट्वा ब्रूहि सभार्यस्य सभ्रातुः कुशलं मम ।
सीतापहरणादीनि रावणस्य वधादिकम् ॥४१॥
ब्रूहि क्रमेण मे भ्रातुः सर्वं तत्र विचेष्टितम् ।

तत्पश्चात् नन्दिग्राम में जाकर मेरे भाई भरत से मिलकर उसे पत्नी और भाई के सहित मेरी कुशल सुनाना । वहाँ भैया भरत को सीताहरण से लेकर रावण के वध आदि पर्यन्त मेरी समस्त लीलाएँ क्रम से सुनाना ॥ ४०-४१ ॥

हत्वा शत्रुगणान्सर्वान्सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥४२॥
उपयाति समृद्धार्थः सह ऋक्षहरीश्वरैः ।
इत्युक्त्वा तत्र वृत्तान्तं भरतस्य विचेष्टितम् ॥४३॥
सर्वं ज्ञात्वा पुनः शीघ्रमागच्छ मम सन्निधिम् ।

भरत से कहना कि रामचन्द्रजी समस्त शत्रुओं को मारकर सफल मनोरथ हो सीता और लक्ष्मण के सहित रीछ वानरों के साथ आ रहे हैं । यह सब वृत्तान्त उसे सुनाकर और भरत की सभी चेष्टाओं का पता लगाकर शीघ्र ही मेरे पास लौट आना ॥ ४२-४३ ॥

तथेति हनुमांस्तत्र मानुषं वपुरास्थितः ॥४४॥
नन्दिग्रामं ययौ तूर्णं वायुवेगेन मारुतिः ।
गरुत्मानिव वेगेन जिघृक्षन् भुजगोत्तमम् ॥४५॥
शृङ्गवेरपुरं प्राप्य गुहमासाद्य मारुतिः ।
उवाच मधुरं वाक्यं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥४६॥

रामो दाशरथिः श्रीमान्सखा ते सह सीतया ।
सलक्ष्मणस्त्वां धर्मात्मा क्षेमी कुशलमब्रवीत् ॥४७॥

तब हनुमान्‌जी 'बहुत अच्छा' कह मनुष्य शरीर धारण कर तुरन्त ही वायु-वेग से नन्दिग्राम को चले। उस समय वे ऐसे लगते थे मानो किसी श्रेष्ठ सर्प को पकड़ने के लिए गरुडजी जाते हों। शृंगवेरपुर में पहुँचने पर श्री मारुति ने गुह के पास जाकर अति प्रसन्न चित्त से मीठी बोली में कहा—तुम्हारे मित्र परम धार्मिक एवं क्षेमयुक्त दशरथ-कुमार श्रीमान् रामचन्द्रजी ने सीता और लक्ष्मण के सहित अपनी कुशल कही है॥ ४४-४७॥

अनुज्ञातोऽद्य मुनिना भरद्वाजेन राघवः ।
आगमिष्यति तं देवं द्रक्ष्यसि त्वं रघूत्तमम् ॥४८॥

एवमुक्त्वा महातेजाः सम्प्रहृष्टतनूरुहम् ।
उत्पपात महावेगो वायुवेगेन मारुतिः ॥४९॥

आज मुनिवर भरद्वाज की आज्ञा लेकर श्री रघुनाथजी आयेंगे तब तुम्हें भी उन रघुश्रेष्ठ भगवान् राम का दर्शन होगा। इस शुभ समाचार को सुनकर निषाद-राज को रोमांच हो गया, उस से प्रेमालाप कर महातेजस्वी और अत्यन्त वेगशाली हनुमान्‌जी फिर वायुवेग से उड़े॥ ४८-४९॥

सोऽपश्यद्रामतीर्थं च सरयूं च महानदीम् ।
तामतिक्रम्य हनुमान्नन्दिग्रामं ययौ मुदा ॥५०॥

क्रोशमात्रे त्वयोध्यायाश्चीरकृष्णाजिनाम्बरम् ।
ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम् ॥५१॥

मलपङ्कविदिग्धाङ्गं जटिलं वल्कलाम्बरम् ।
फलमूलकृताहारं रामचिन्तापरायणम् ॥५२॥

कुछ दूर जाने पर उन्होंने रामतीर्थ और महानदी सरयू के दर्शन किये। उससे भी आगे जाकर हनुमान्‌जी अति प्रसन्न चित्त से नन्दिग्राम को चले। अयोध्या से एक कोस की दूरी पर नन्दिग्राम में भरतजी को अति दीन और दुर्बल अवस्था में चीरवस्त्र और कृष्ण मृगचर्म धारण किये, आश्रम में निवास करते, शरीर में भस्म रमाये, जटाजूट और वल्कलवस्त्र धारण किये, फल मूलादि भोजन कर भगवान् राम के ध्यान में तत्पर देखा ॥ ५०-५२ ॥

पादुके ते पुरस्कृत्य शासयन्तं वसुन्धराम्।
मन्त्रिभिः पौरमुख्यैश्च काषायाम्बरधारिभिः ॥५३॥

व्रतदेहं मूर्तिमन्तं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम्।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं हनूमान्मारुतात्मजः ॥५४॥

यं त्वं चिन्तयसे रामं तापसं दण्डके स्थितम्।
अनुशोचसि काकुत्स्थः स त्वां कुशलमब्रवीत् ॥५५॥

रामचन्द्रजी की उन दोनों पादुकाओं को आगे रखकर भरतजी पृथिवी का
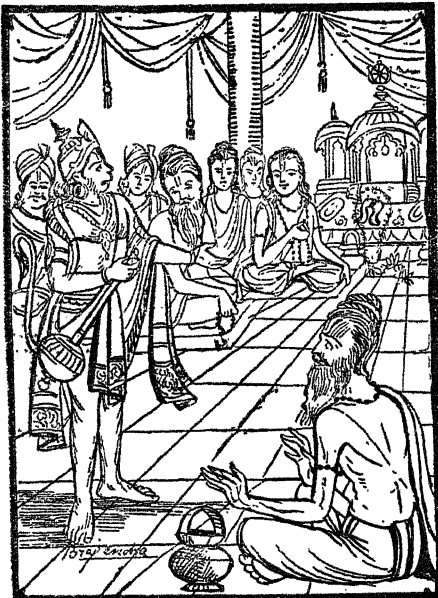
शासन कर रहे थे तथा काषायवस्त्र-धारी मन्त्रियों और मुख्य मुख्य पुरवासियों से घिरे हुए साक्षात् मूर्तिमान धर्म के समान दीखते थे। उन से पवनकुमार हनुमान्‌जी हाथ जोड़कर बोले—हे भरतजी, जिन दण्डकारण्य-वासी तपोनिष्ठ भगवान् राम का आप चिन्तन करते हैं तथा जिन के लिए आप इतना अनुताप करते हैं, उन ककुत्स्थनन्दन राम ने तुम्हें अपनी कुशल कहला भेजी है ॥ ५३-५५ ॥

प्रियमाख्यामि ते देव शोकं त्यज सुदारुणम्।
अस्मिन्मुहूर्ते भ्रात्रा त्वं रामेण सह सङ्गतः ॥५६॥

समरे रावणं हत्वा रामः सीतामवाप्य च ।
उपयाति समृद्धार्थः ससीतः सहलक्ष्मणः ॥५७॥

हे देव, आप यह दारुण शोक त्यागिये । मैं आप को अति प्रिय समाचार सुनाता हूँ । आप इसी मूहूर्त में अपने भाई राम से मिलेंगे । भगवान् राम युद्ध में रावण को मारकर और सीताजी को प्राप्त कर सफल मनोरथ हो सीता और लक्ष्मणजी के सहित आ रहे हैं ॥ ५६-५७ ॥

एवमुक्तो महातेजा भरतो हर्षमूर्च्छितः ।
पपात भुवि चास्वस्थः कैकयीप्रियनन्दनः ॥५८॥
आलिङ्ग्य भरतः शीघ्रं मारुतिं प्रियवादिनम् ।
आनन्दजैरश्रुजलैः सिषेच भरतः कपिम् ॥५९॥

श्री हनुमान्जी के इस प्रकार कहने पर कैकेयी के प्रिय पुत्र महातेजस्वी भरतजी हर्ष से मूर्छित हो अपनी सुध बुध भुला पृथिवी पर गिर पड़े । फिर सँभल-कर भरतजी ने तुरन्त ही प्रियवादी हनुमान्जी को हृदय से लगा लिया और आनन्द के कारण उमड़े हुए अश्रुजल से उन वानरश्रेष्ठ को सींचने लगे ॥ ५८,५९ ॥

देवो वा मानुषो वा त्वमनुक्रोशादिहागतः ।
प्रियाख्यानस्य ते सौम्य ददामि ब्रुवतः प्रियम् ॥६०॥
गवां शतसहस्रं च ग्रामाणां च शतं वरम् ।
सर्वाभरणसम्पन्ना मुग्धाः कन्यास्तु षोडश ॥६१॥

भरतजी बोले—भैया, तुम कोई देवता हो या मनुष्य हो, जो दया करके यहाँ आये हो ? हे सौम्य, इस प्रिय समाचार के सुनाने के बदले में तुम्हें एक लक्ष गौ, अच्छे अच्छे सौ गाँव और समस्त आभूषणों से युक्त परमसुन्दरी सोलह कन्याएँ देता हूँ ॥ ६०-६१ ॥

एवमुक्त्वा पुनः प्राह भरतो मारुतात्मजम् ।
बहूनीमानि वर्षाणि गतस्य सुमहद्वनम् ॥६२॥
शृणोम्यहं प्रीतिकरं मम नाथस्य कीर्तनम् ।
कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे ॥६३॥
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ।
राघवस्य हरीणां च कथमासीत्समागमः ॥६४॥

तत्त्वमाख्याहि भद्रं ते विश्वसेयं वचस्तव ।

ऐसा कह श्री भरतजी ने हनुमान्‌जी से फिर कहा—आज भयंकर वन में जाने के कितने ही वर्ष बीतने पर मैं अपने प्रभु का यह प्रिय समाचार सुन रहा हूँ। आज मुझे यह कल्याणमयी लौकिक कहावत बहुत ठीक मालूम होती है कि 'जीवित रहने पर सौ वर्ष में भी मनुष्य को आनन्द मिल सकता है।' तुम्हारा शुभ हो, तुम यह सच सच बताओ कि श्री रघुनाथजी के साथ वानरों का समागम कैसे हुआ? जिस से मैं तुम्हारे वचन का पूर्ण विश्वास करूँ ॥ ६२-६४ ॥

एवमुक्तोऽथ हनुमान् भरतेन महात्मना ॥६५॥
आचचक्षेऽथ रामस्य चरितं कृत्स्नशः क्रमात् ।
श्रुत्वा तु परमानन्दं भरतो मारुतात्मजात् ॥६६॥
आज्ञापयच्छत्रुहणं मुदा युक्तं मुदान्वितः ।
दैवतानि च यावन्ति नगरे रघुनन्दन ॥६७॥
नानोपहारबलिभिः पूजयन्तु महाधियः ।

महात्मा भरतजी के इस प्रकार कहने पर हनुमान्‌जी ने श्री रामचन्द्रजी का क्रमशः सम्पूर्ण चरित्र सुना दिया। मारुति से वह चरित्र सुनकर श्री भरतजी को अत्यन्त आनन्द हुआ और उन्होंने अति प्रसन्न होकर आनन्दमग्न शत्रुघ्नजी को आज्ञा दी कि हे रघुनन्दन, नगर में जितने देवता हैं, महाबुद्धि पण्डितजन उन सब का नाना प्रकार की भेट और बलि आदि देकर पूजन करें ॥ ६५-६७ ॥

सूता वैतालिकाश्चैव वन्दिनः स्तुतिपाठकाः ॥६८॥
वारमुख्याश्च शतशो निर्यान्त्वद्यैव संघशः ।
राजदारास्तथामात्याः सेना हस्त्यश्वपत्तयः ॥६९॥
ब्राह्मणाश्च तथा पौरा राजानो ये समागताः ।
निर्यान्तु राघवस्याद्य द्रष्टुं शशिनिभाननम् ॥७०॥

सूत, वैतालिक, स्तुति गान करनेवाले बन्दीजन और मुख्य मुख्य वाराङ्गनाएँ आज ही सैकड़ों की संख्या में टोली बनाकर नगर के बाहर निकलें। इन के अतिरिक्त राजमहिलाएँ, मन्त्रिगण, हाथी घोड़े और पदाति आदि सेना, ब्राह्मणलोग, पुरवासी और यहाँ आये हुए समस्त राजालोग भी श्री रघुनाथजी का मुखचन्द्र निहारने के लिए नगर के बाहर चलें ॥ ६८-७० ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नपरिचोदिताः ।
अलञ्चक्रुश्च नगरीं मुक्तारत्नमयोज्ज्वलैः ॥७१॥
तोरणैश्च पताकाभिर्विचित्राभिरनेकधा ।
अलङ्कुर्वन्ति वेश्मानि नानाबलिविचक्षणाः ॥७२॥
निर्यान्ति वृन्दशः सर्वे रामदर्शनलालसाः ।
हयानां शतसाहस्रं गजानामयुतं तथा ॥७३॥
रथानां दशसाहस्रं स्वर्णसूत्रविभूषितम् ।
पारमेष्ठ्यान्युपादाय द्रव्याण्युच्चावचानि च ॥७४॥

भरतजी के वचन सुनकर शत्रुघ्नजी की प्रेरणा से नाना प्रकार की रचनाओं में कुशल पुरवासियों ने अपने घरों को सजाना आरम्भ किया तथा अनेक प्रकार के उज्ज्वल मोतियों और रत्नों की वन्दनवारों से एवं चित्र विचित्र पताकाओं से अयोध्यापुरी को सजा दिया । तब भगवान् राम के दर्शनों की लालसा से सब लोग अनेकों टोलियाँ बनाकर उन की भेंट के लिए एक लाख घोड़े, दस सहस्र हाथी और सुनहरी बागडोरों से विभूषित दस सहस्र रथ आदि बहुत सी ऐश्वर्यसूचक छोटी बड़ी वस्तुएँ लेकर नगर के बाहर निकलने लगे ॥ ७३-७४ ॥

ततस्तु शिविकारूढा निर्ययू राजयोषितः ।
भरतः पादुके न्यस्य शिरस्येव कृताञ्जलिः ॥७५॥
शत्रुघ्नसहितो रामं पादचारेण निर्ययौ ।
तदैव दृश्यते दूराद्विमानं चन्द्रसन्निभम् ॥७६॥
पुष्पकं सूर्यसङ्काशं मनसा ब्रह्मनिर्मितम् ।

उन के पीछे पालकी में चढ़कर राजमहिलाएँ चलीं और फिर श्री रघुनाथजी से मिलने के लिए भाई शत्रुघ्न के सहित भरतजी शिर पर भगवान् की पादुकाएँ रखकर हाथ जोड़े हुए पैदल ही चले । इसी समय दूर ही से ब्रह्माजी का मनोनिर्मित, चन्द्रमा के समान कान्तिमान् और सूर्य के समान तेजस्वी पुष्पक विमान दिखायी दिया ॥ ७५-७६ ॥

एतस्मिन् भ्रातरौ वीरौ वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ॥७७॥

सुग्रीवश्च कपिश्रेष्ठो मन्त्रिभिश्च विभीषणः ।
दृश्यते पश्यत जना इत्याह पवनात्मजः ॥७८॥
ततो हर्षसमुद्भूतो निःस्वनो दिवमस्पृशत् ।
स्त्रीबालयुववृद्धानां रामोऽयमिति कीर्तनात् ॥७९॥
रथकुञ्जरवाजिस्था अवतीर्य महीं गताः ।
ददृशुस्ते विमानस्थं जनाः सोममिवाम्बरे ॥८०॥
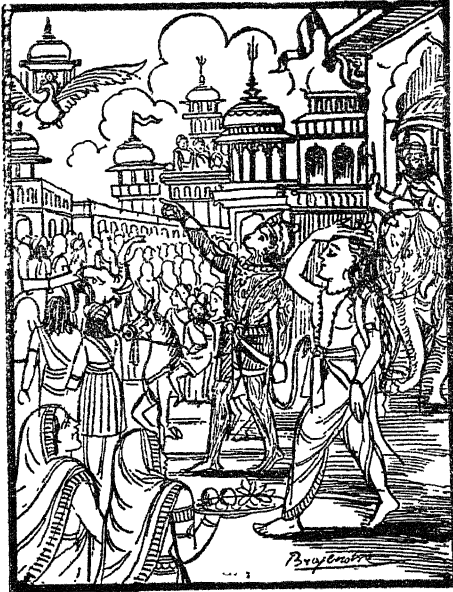
उसे देखकर श्री हनुमान्‌जी ने कहा—अरे लोगो, देखो इसी विमान में श्री जानकीजी के सहित दोनों वीर भ्राता राम लक्ष्मण तथा कपिश्रेष्ठ सुग्रीव और मन्त्रियों के सहित विभीषण दिखायी दे रहे हैं। तब तो 'राम ये हैं, राम ये हैं' ऐसा कहने से स्त्री, बालक, युवा और वृद्धों का हर्ष के कारण ऐसा शब्द हुआ कि जिस से आकाश गूँज उठा। जो लोग रथ, हाथी और घोड़ों पर चढ़े हुए थे वे उतरकर पृथिवी पर खड़े हो गये। उस समय वे सभी लोग विमानपर चढ़े हुए भगवान् राम को आकाश में चन्द्रमा के समान देखने लगे ॥ ७७-८० ॥

प्राञ्जलिर्भरतो भूत्वा प्रहृष्टो राघवोन्मुखः ।
ततो विमानाग्रगतं भरतो राघवं मुदा ॥८१॥
ववन्दे प्रणतो रामं मेरुस्थमिव भास्करम् ।
ततो रामाभ्यनुज्ञातं विमानमपतद्भुवि ॥८२॥
आरोपितो विमानं तद्भरतः सानुजस्तदा ।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत् ॥ ८३ ॥

फिर प्रसन्नचित्त भरतजी ने विमान पर बैठे हुए श्री रघुनाथजी के सम्मुख हो उन्हें सुमेरु पर्वत पर प्रकट हुए सूर्य के समान अति विनीतभाव से हर्षपूर्वक प्रणाम

किया। तब श्री रामचन्द्रजी की आज्ञा से विमान पृथिवी पर उतरा, तदनन्तर भगवान् राम ने भाई शत्रुघ्न के सहित भरतजी को भी विमान पर चढ़ा लिया। रामचन्द्रजी के निकट पहुँचने पर भरतजी ने अति आनन्दित हो उन्हें फिर प्रणाम किया॥ ८१-८३॥

समुत्थाप्य चिराद्दृष्टं भरतं रघुनन्दनः।
भ्रातरं स्वाङ्कमारोप्य मुदा तं परिषस्वजे॥८४॥
ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं नाम कीर्तयन्।
अभ्यवादयत प्रीतो भरतः प्रेमविह्वलः॥८५॥
सुग्रीवं जाम्बवन्तं च युवराजं तथाङ्गदम्।
मैन्दद्विविदनीलांश्च ऋषभं चैव सस्वजे॥८६॥
सुषेणं च नलं चैव गवाक्षं गन्धमादनम्।
शरभं पनसं चैव भरतः परिषस्वजे॥८७॥

बहुत वर्षों बाद देखे हुए भाई भरत को रघुनाथजी ने तुरन्त ही उठाकर प्रसन्नता से गोद में लेकर आलिंगन किया, फिर प्रेम से विह्वल हुए भरतजी ने लक्ष्मणजी से मिलकर श्री सीताजी को अपना नाम उच्चारण करते हुए प्रीतिपूर्वक प्रणाम किया। तत्पश्चात् भरतजी ने सुग्रीव, जाम्बवान्, युवराज अंगद, मैन्द, द्विविद, नील और ऋषभ को तथा सुषेण, नल, गवाक्ष, गन्धमादन, शरभ और पनस को भी हृदय से लगाया॥ ८४-८७॥

सर्वे ते मानुषं रूपं कृत्वा भरतमादृताः।
पप्रच्छुः कुशलं सौम्याः प्रहृष्टाश्च प्लवङ्गमाः॥८८॥
ततः सुग्रीवमालिङ्ग्य भरतः प्राह भक्तितः।
त्वत्सहायेन रामस्य जयोऽभूद्रावणो हतः॥८९॥
त्वमस्माकं चतुर्णां तु भ्राता सुग्रीव पञ्चमः।

इस प्रकार भरतजी से सत्कार पाकर प्रसन्न हुए उन सौम्य वानरों ने मनुष्यरूप धारणकर उन की कुशल पूछी। तब भरतजी ने सुग्रीव को हृदय से लगाकर अति प्रेमपूर्वक कहा—सुग्रीव, तुम्हारी सहायता से ही श्री रामचन्द्रजी की विजय हुई और रावण मारा गया। अतः हम चारों के तुम पाँचवें भाई हो॥ ८८-८९॥

शत्रुघ्नश्च तदा राममभिवाद्य सलक्ष्मणम् ॥९०॥
सीतायाश्चरणौ पश्चाद्ववन्दे विनयान्वितः ।
रामो मातरमासाद्य विवर्णां शोकविह्वलाम् ॥९१॥
जग्राह प्रणतः पादौ मनो मातुः प्रसादयन् ।
कैकेयीं च सुमित्रां च ननामेतरमातरौ ॥९२॥

तदनन्तर शत्रुघ्नजी ने लक्ष्मणजी के सहित श्री रामचन्द्रजी को प्रणाम कर अति विनीत भाव से सीताजी के चरणों की वन्दना की। फिर श्री रामचन्द्रजी ने शोक के कारण अति व्याकुल और कृश हुई माता कौसल्या के पास जाकर अति विनीत भाव से उन के चरण छुए और उन के चित्त को प्रसन्न किया तथा अपनी विमाता कैकेयी और सुमित्रा को भी नमस्कार किया ॥ ९०-९२ ॥

भरतः पादुके ते तु राघवस्य सुपूजिते ।
योजयामास रामस्य पादयोर्भक्तिसंयुतः ॥ ९३ ॥
राज्यमेतन्न्यासभूतं मया निर्यातितं तव ।
अद्य मे सफलं जन्म फलितो मे मनोरथः ॥ ९४ ॥
यत्पश्यामि समायातमयोध्यां त्वामहं प्रभो ।

तदुपरान्त भरतजी ने भली प्रकार पूजा की हुई श्री रामचन्द्रजी की खडाऊँओं को भक्तिपूर्वक उन के चरणों में पहना दिया और कहा—प्रभो, मुझे धरोहररूप से सौंपे हुए आप के इस राज्य को मैं फिर आप ही को सौंपता हूँ। आज मैं आप को अयोध्या में आया हुआ देखता हूँ; इस से मेरा जन्म सफल हो गया और मेरी सारी कामनाएँ पूरी हो गयीं ॥ ९३-९४ ॥

कोष्ठागारं बलं कोशं कृतं दशगुणं मया ॥ ९५ ॥
त्वत्तेजसा जगन्नाथ पालयस्व पुरं स्वकम् ।
इति ब्रुवाणं भरतं दृष्ट्वा सर्वे कपीश्वराः ॥ ९६ ॥
मुमुचुर्नेत्रजं तोयं प्रशशंसुर्मुदान्विताः ।
ततो रामः प्रहृष्टात्मा भरतं स्वाङ्गमं मुदा ॥ ९७ ॥

हे जगन्नाथ, आप के प्रताप से मैंने पदार्थभण्डार, सेना और कोशादि पहले से दसगुने कर दिये हैं। अब आप अपने नगर का स्वयं पालन कीजिये। भरतजी को इस प्रकार कहते देख सभी मुख्य मुख्य वानर हर्ष से आँसू गिराते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे। तब श्री भरतजी को रामचन्द्रजी ने अति हर्षपूर्वक गोद में उठा लिया ॥ ९५-९६ ॥

ययौ तेन विमानेन भरतस्याश्रमं तदा ।
अवरुह्य तदा रामो विमानाग्र्यान्महीतलम् ॥९८।
अब्रवीत्पुष्पकं देवो गच्छ वैश्रवणं वह ।
अनुगच्छानुजानामि कुबेरं धनपालकम् ॥ ९९ ॥

फिर सब लोग उसी विमान पर चढ़े हुए भरतजी के आश्रम को गये। वहाँ विमानश्रेष्ठ पुष्पक से नीचे पृथिवी पर उतरकर भगवान् राम ने विमानराज से कहा—पुष्पक, जाओ, मैं आज्ञा देता हूँ कि अब तुम धनपति कुबेर का अनुसरण करते हुए उन्हीं को वहन करो ॥ ९८-९९ ॥

रामो वसिष्ठस्य गुरोः पदाम्बुजं नत्वा यथा देवगुरोः शतक्रतुः ।
दत्त्वा महार्हासनमुत्तमं गुरोरुपाविवेशाथ गुरोः समीपतः ॥१००॥

फिर इन्द्र जैसे बृहस्पतिजी की वन्दना करते हैं, वैसे ही श्री रामचन्द्रजी गुरु वसिष्ठजी के चरणकमलों में प्रणाम कर और उन्हें एक अति सुन्दर बहुमूल्य आसन देकर स्वयं भी उन्हीं के पास बैठ गये ॥ १०० ॥

रा० च०—प्यारे भक्तो, भगवान् श्री रामचन्द्रजी ने राजधानी नन्दिग्राम में जाकर गुरु वसिष्ठजी के चरणकमलों में दण्डवत् प्रणाम किया। अब गुरुजी का भी अस्थायी आश्रम यहीं बन गया था। भरतजी ने अयोध्या को त्यागकर राजधानी नन्दिग्राम में बनाई

थी, क्योंकि भरतजी के मन से अयोध्या नगरी में राज्यसंचालन के अधिकारी ज्येष्ठ भ्राता श्री राम ही थे। मजबूरन चौदह वर्ष तक राज्यकार्य भरतजी को संभालने के लिए कहा गया, तब बड़े भाई के उचित स्थान पर स्वयं न बैठने की अपनी टेक निबाहने के लिए भरतजी ने अस्थायी राजधानी नन्दिग्राम में बनाई। भरतजी की आदर्श भ्रातृभक्ति, हृदय की प्रेमातुर कोमलता, साधुवृत्ति, त्याग तपस्या सब अद्भुत लोकोत्तर हैं। असल में इन महानुभाव के विमल चरित्रवर्णनार्थ शब्दों में कुछ कहना बहुत हलका जँचता है। जिन्होंने रामवियोग में कठिन मुनिव्रत का पालन करते हुए चौदह वर्ष जौ के सत्तू को गोमूत्र के साथ पीते हुए बिता दिये, उन भरत की तपस्या अलौकिक ही थी। फिर भी उन का यह सब आचरण हम मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए भी था ही। रामचरित्र के अङ्गभूत सभी व्यक्तियों का आचरण लोकशिक्षण के लिए ही था। हाँ, तो जिस प्रकार भरतजी ने राम-भक्ति में अपनी दृढनिष्ठा प्रमाणित की, उसी प्रकार गुरुभक्ति में भी।

प्यारे पूज्य पिता स्वर्गवासी हो गये थे, माता ने अपनी जिद से उन के नाम पर भारी अनर्थ खड़ा कर दिया था, राज्य के देवता रामसीता वनों की ठोकर खा रहे थे, प्रजा भरत के नाम को कलंकित करती हुई आक्रोश की उँगली उठा रही थी; इन दुर्दशाओं में धर्मशील, साधुहृदय भरत मिथ्या कलंकों के मारे दम घुटने का सा अनुभव कर जीवन धारण करने में असमर्थ थे। उन्हें एक अवलम्ब मिला गुरु वसिष्ठ का, रामवियोग में क्षतक्षीण भरत की संजीवनौषधि कुलगुरु वसिष्ठ ही हुए। इस समय अयोध्या का राज्य 'गुरुतन्त्र' हो गया था। शासनभार गुरु वसिष्ठ की सुविचारित नीति के पर्यवेक्षण में, उन के आज्ञापालक भरतजी केवल निमित्तमात्र होकर, रघुवंशी क्षत्रियों के प्रतीक मूर्तिस्वरूप से, श्री प्रभु राम की पादुकाओं को गुरुआज्ञा निवेदन कर अनासक्त भाव से चलाते थे। असल में गुरु वसिष्ठ का अनुभाव या ब्रह्मतेज अपने यजमान सभी रघुवंशी राजाओं के शासन को सहायता कर प्रतापशाली बनाता था। इसी से श्री राम ने वन से लौटने पर गुरुजी की वन्दना करते हुए विभीषण सुग्रीवादि को उन का परिचय इस प्रकार दिया था—

धाइ धरे गुरुचरण सरोरुह ❀ अनुजसहित अति पुलक तनोरुह ॥
पुनि रघुपति सब सखा बुलाये ❀ मुनिपद लागहु सकल सिखाये ॥
गुरु वसिष्ठ कुलपूज्य हमारे ❀ इन की कृपा दनुज रन मारे ॥

लोकदृष्टि से श्री राम ने यह उचित ही कहा कि इन गुरुदेव की कृपा से ही हम ने असुरों पर विजय पाई है। ये गुरुजन सामान्य स्थिति में तपोबल द्वारा शक्तिवर्धन करते हुए परोक्ष-रूप से राज्यशक्ति के सहायक होते थे पर विशेष परिस्थिति में राज्यशासन में साक्षात्

सहयोग भी करना पड़ता था। जैसा कि भरतजी की नाजुक परिस्थिति में वसिष्ठजी उन के संरक्षक हो गये थे।

इसी से वसिष्ठजी को रघुकुल के पुरोहित भी कहा गया है। इस शब्द का अर्थ यही है कि हर एक कार्यावसर पर जो "पुरः-अग्रे, हित-स्थापित" अर्थात् अग्रणी, नेता बनाये जायँ, वे पुरोहित हैं। भरत की विपत्ति में वसिष्ठजी अयोध्याराज्य के ऐसे ही कर्णधार हुए थे। इसीलिए राज्यनियामक, कुलगुरु या रघुवंशियों के जीवित देवता वसिष्ठजी को रामजी की अगवानी के लिए नहीं जाने दिया गया और मर्यादा-पुरुषोत्तम राम स्वयं उन का वन्दन और दर्शन करने उन के स्थान पर पधारे थे।

गुरु बननेवालों को वसिष्ठजी के स्वरूप का चिन्तन कर देखना चाहिए कि वे कितने श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि, तत्त्वज्ञानी, वेदप्रवक्ता, लोकसंग्रही और व्यवहारकुशल थे। विश्वामित्र ने उन के क्षमाशील ब्रह्मतेज से ही हार मानकर शारीरिक बलप्रयोग को तुच्छ गिना था। ब्रह्मज्ञान के विषय में 'योगवासिष्ठ' उन के गुरु नाम को सार्थक कर रहा है। अथर्ववेद के शान्तिक, पौष्टिक आदि कर्मों द्वारा रघुकुल के राजाओं की आधि व्याधियों का दमन करते हुए उन को वसिष्ठजी ने आदर्श नरपति बना दिया था। पतिव्रताओं की रानी अरुन्धती देवी के साथ गृहस्थधर्मों का पालन करते हुए उन ज्ञानी ब्रह्मर्षि ने जनक आदि के सामने आदर्श लोक-संग्रह की स्थापना की थी। निर्जन देश के आश्रमों में गुरुकुल बनाकर वे सहस्रों बालकों को नीति, सदाचार आदि के पालनपूर्वक वेदशास्त्रों की शिक्षा देते थे। समाज के नेता और गुरु में ये सब विशेषता रहनी चाहिएँ तभी वह पद प्रतिष्ठित रह सकता है। अब तो नये जमाने की हवा 'गुरुडम' का बहिष्कार कर रही है, इस के सामने अधकचरे गुरु नहीं ठहर सकते, वसिष्ठजी की तरह सच्चे, समर्थ, सदाचारी गुरु ही पूज्य होंगे।

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के चतुर्दश सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

श्री रामचन्द्रजी का राज्याभिषेक ।

श्री महादेव उवाच—

ततस्तु कैकेयीपुत्रो भरतो भक्तिसंयुतः ।
शिरस्यञ्जलिमाधाय ज्येष्ठं भ्रातरमब्रवीत् ॥ १ ॥
माता मे सत्कृता राम दत्तं राज्यं त्वया मम ।
ददामि तत्ते च पुनर्यथा त्वमददा मम ॥ २ ॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, फिर कैकेयीपुत्र भरतजी ने सिर झुकाय अञ्जलि बाँधकर अति भक्तिपूर्वक ज्येष्ठ भ्राता रामजी से कहा—हे राम, आप ने मुझे राज्य दिया था, इस से मेरी माता का सत्कार तो हो चुका। अब जैसे आप ने मुझे दिया था वैसे ही, मैं फिर आप ही को उसे सौंपता हूँ ॥ १-२ ॥

इत्युक्त्वा पादयोर्भक्त्या साष्टाङ्गं प्रणिपत्य च ।
बहुधा प्रार्थयामास कैकेय्या गुरुणा सह ॥ ३ ॥
तथेति प्रतिजग्राह भरताद्राज्यमीश्वरः ।
मायामाश्रित्य सकलां नरचेष्टामुपागतः ॥ ४ ॥

ऐसा कह उन्होंने चरणों में भक्तिपूर्वक साष्टाङ्ग प्रणाम कर राज्य स्वीकार करने के लिए कैकेयी और गुरुजी के सहित बहुत कुछ प्रार्थना की। तब अपनी माया को आश्रय कर सब प्रकार की मनुष्यलीलाएँ करने में प्रवृत्त हुए भगवान् राम ने 'बहुत अच्छा' कहकर भरतजी से राज्य ले लिया ॥ ३-४ ॥

स्वाराज्यानुभवो यस्य सुखज्ञानैकरूपिणः ।
निरस्तातिशयानन्दरूपिणः परमात्मनः ॥ ५ ॥
मानुषेण तु राज्येन किं तस्य जगदीशितुः ।
यस्य भ्रूभङ्गमात्रेण त्रिलोकी नश्यति क्षणात् ॥ ६ ॥
यस्यानुग्रहमात्रेण भवन्त्याखण्डलश्रियः ।
लीलासृष्टमहासृष्टेः किं यदेतद्रमापतेः ॥ ७ ॥

तथापि भजतां नित्यं कामपूरविधित्सया ।
लीलामानुषदेहेन सर्वमप्यनुवर्तते ॥ ८ ॥

जिन्हें हर समय स्वर्गीय राज्य का अनुभव होता है, उन एकमात्र सुख और ज्ञानस्वरूप, समस्त विषयानन्दों से रहित परमानन्दमूर्ति परमात्मा जगदीश्वर को तुच्छ मानवी राज्य से क्या काम है ? जिन के भृकुटि विलासमात्र से तीनों लोक एक क्षण में नष्ट हो जाते हैं, जिन की कृपा से इन्द्र को राज्यलक्ष्मी प्राप्त होती है तथा जिन्होंने लीला से ही यह महान् सृष्टि रची है, उन लक्ष्मीपति के लिए यह अयोध्या का राज्य कितना है ? तथापि अपने भक्तों की कामनाओं को सदैव पूर्ण करने के लिए वे मायामानवदेह से सर्वदा सभी कुछ अभिनय करते हैं ॥ ५-८ ॥

ततः शत्रुघ्नवचनान्निपुणः श्मश्रुकृन्तकः ।
सम्भाराश्चाभिषेकार्थमानीता राघवस्य हि ॥ ९ ॥
पूर्वं तु भरते स्नाते लक्ष्मणे च महात्मनि ।
सुग्रीवे वानरेन्द्रे च राक्षसेन्द्रे विभीषणे ॥ १० ॥
विशोधितजटः स्नातश्चित्रमाल्यानुलेपनः ।
महार्हवसनोपेतस्तस्थौ तत्र श्रिया ज्वलन् ॥ ११ ॥

तब शत्रुघ्नजी की आज्ञा से कुशल क्षौरकार (नाई) बुलाया गया और रघुनाथजी के अभिषेक के लिए सामग्री इकट्ठी की गयी। बाल बनाकर पहले भरतजी ने और फिर महात्मा लक्ष्मण-जी ने स्नान किया, तदुपरान्त वानर-राज सुग्रीव और राक्षसराज विभीषण नहाये। फिर जटाजूट के कट जाने पर श्री रघुनाथजी ने स्नान किया और रङ्ग विरङ्गी मालाओं, अङ्गरागों तथा बहुमूल्य वस्त्रों से सुसज्जित हो वे अपनी कान्ति से देदीप्यमान होकर विराजमान हुए ॥ ९-११ ॥
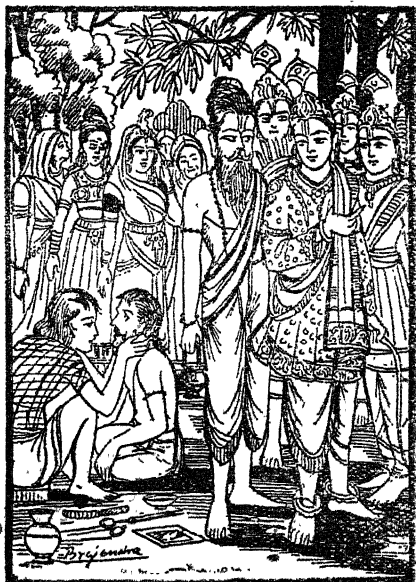
प्रतिकर्म च रामस्य लक्ष्मणश्च महामतिः ।

कारयामास भरतः सीतायां राजयोषितः ॥ १२ ॥

महार्हवस्त्राभरणैरलञ्चक्रुः सुमध्यमाम् ।

ततो वानरपत्नीनां सर्वासामेव शोभना ॥ १३ ॥

अकारयत कौसल्या प्रहृष्टा पुत्रवत्सला ।

महामति लक्ष्मण और भरत ने श्री रामचन्द्रजी को विभूषित कराया और राजमहिलाओं ने सीताजी का शृङ्गार किया। उन्होंने उन सुन्दरी को नाना प्रकार के बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित किया। तदनन्तर पुत्रवत्सला शोभामयी कौसल्याजी ने अति प्रसन्न होकर समस्त वानरपत्नियों का भी शृङ्गार कराया ॥ १२-१३ ॥

ततः स्यन्दनमादाय शत्रुघ्नवचनात्सुधीः ॥ १४ ॥

सुमन्त्रः सूर्यसङ्काशं योजयित्वाग्रतः स्थितः ।

आरुरोह रथं रामः सत्यधर्मपरायणः ॥ १५ ॥

सुग्रीवो युवराजश्च हनुमांश्च विभीषणः ।

स्नात्वा दिव्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिताः ॥ १६ ॥

राममन्वीयुरग्रे च रथाश्वगजवाहनाः ।

सुग्रीवपत्न्यः सीता च ययुर्यानैः पुरं महत् ॥ १७ ॥

इसी समय शत्रुघ्नजी की आज्ञा से बुद्धिमान् सुमन्त्र ने सूर्य के समान तेजस्वी रथ जोड़कर सामने ला खड़ा किया। तब सत्यधर्मपरायण भगवान् राम उस रथ पर चढ़े। उस समय सुग्रीव, अङ्गद, हनुमान् और विभीषण स्नानादि कर दिव्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो रथ, घोड़े और हाथी आदि वाहनों पर चढ़कर श्री रामचन्द्रजी के आगे पीछे चले तथा सुग्रीव की पत्नियाँ और सीताजी सुन्दर पालकियों पर बैठकर अति विशाल अयोध्यापुरी को चलीं ॥ १४-१७ ॥

वज्रपाणिर्यथा देवैर्हरिताश्वरथे स्थितः ।

प्रययौ रथमास्थाय तथा रामो महत्पुरम् ॥ १८ ॥

सारथ्यं भरतश्चक्रे रत्नदण्डं महाद्युतिः ।

श्वेतातपत्रं शत्रुघ्नो लक्ष्मणो व्यजनं दधे ॥ १९ ॥

चामरं च समीपस्थो न्यवीजयदरिन्दमः ।
शशिप्रकाशं त्वपरं जग्राहासुरनायकः ॥ २० ॥

जिस प्रकार हरितवर्ण घोड़ों के रथ में बैठकर वज्रपाणि इन्द्र देवताओं के साथ चलते हैं उसी प्रकार भगवान् राम रथ पर चढ़कर महापुरी अयोध्या को चले। तब महातेजस्वी भरतजी ने सारथी होकर रथ चलाया, शत्रुघ्नजी ने रत्नजटित दण्डयुक्त श्वेत छत्र लिया और लक्ष्मणजी ने व्यजन (पङ्खा) धारण किया। एक ओर पास ही स्थित शत्रुदमन सुग्रीव ने और दूसरी ओर राक्षसराज विभीषण ने चन्द्रमा के समान कान्तियुक्त चँवर डुलाये ॥ १८-२० ॥

दिविजैः सिद्धसङ्घैश्च ऋषिभिर्दिव्यदर्शनैः ।
स्तूयमानस्य रामस्य शुश्रुवे मधुरध्वनिः ॥ २१ ॥
मानुषं रूपमास्थाय वानरा गजवाहनाः ।
भेरीशङ्खनिनादैश्च मृदङ्गपणवानकैः ॥ २२ ॥
प्रययौ राघवश्रेष्ठस्तां पुरीं समलङ्कृताम् ।
ददृशुस्ते समायान्तं राघवं पुरवासिनः ॥ २३ ॥

उस समय भगवान् राम की स्तुति करते हुए दिव्यदर्शन देवताओं, सिद्धसमूहों और ऋषियों की सुमधुर ध्वनि सुनायी देने लगी। वानरगण मनुष्यरूप धारण कर हाथियों पर सवार हुए। इस प्रकार रघुश्रेष्ठ भगवान् राम सहनाई, शङ्ख, मृदङ्ग, तासे और नगाड़े आदि बाजों के घोष के साथ भली प्रकार सजायी हुई अयोध्यापुरी में गये। उस समय पुरवासी लोग श्री रघुनाथजी को आते हुए देखने लगे ॥ २१-२३ ॥

दूर्वादलश्यामतनुं महार्हकिरीटरत्नाभरणाञ्चिताङ्गम् ।
आरक्तकञ्जायतलोचनान्तं दृष्ट्वा ययुर्मोदमतीव पुण्याः ॥२४॥
विचित्ररत्नाञ्चितसूत्रनद्धपीताम्बरं पीनभुजान्तरालम् ।
अनर्घ्यमुक्ताफलदिव्यहारैर्विरोचमानं रघुनन्दनं प्रजाः ॥२५॥

महाभाग पुरवासी दूर्वादल के समान श्याम शरीरवाले, महामूल्य मुकुट और रत्नजटित आभूषणों से विभूषित, कमल के समान कुछ अरुणवर्ण विशाल नयनोंवाले, रङ्गबिरङ्गे रत्नों से युक्त सुनहरी काम का पीताम्बर धारण किये, विशाल वक्षःस्थलवाले, बहुमूल्य मोतियों के दिव्य हारों से सुशोभित परम मनोज्ञ श्री रामचन्द्रजी का दर्शन करने लगे ॥ २४-२५ ॥

सुग्रीवमुख्यैर्हरिभिः प्रशान्तैर्निषेव्यमाणं रवितुल्यभासम् ।
कस्तूरिकाचन्दनलिप्तगात्रं निवीतकल्पद्रुमपुष्पमालम् ॥२६॥

उस समय अयोध्यावासी लोग सुग्रीवादि शान्तस्वभाव वानरों से सेवित, सूर्य के समान तेजस्वी, समस्त शरीर में कस्तूरी और चन्दन का लेप किये तथा कल्पवृक्ष के पुष्पों की माला धारण किये श्री रघुनाथजी को देखकर परम आनन्द को प्राप्त हुए ॥ २६ ॥

श्रुत्वा स्त्रियो राममुपागतं मुदा प्रहर्षवेगोत्कलिताननश्रियः ।
अपास्य सर्वं गृहकार्यमाहितं हर्म्याणि चैवारुरुहुः स्वलङ्कृताः ॥२७॥

दृष्ट्वा हरिं सर्वदृगुत्सवाकृतिं पुष्पैः किरन्त्यः स्मितशोभिताननाः ।
दृग्भिः पुनर्नेत्रमनोरसायनं स्वानन्दमूर्तिं मनसाभिरेभिरे ॥२८॥
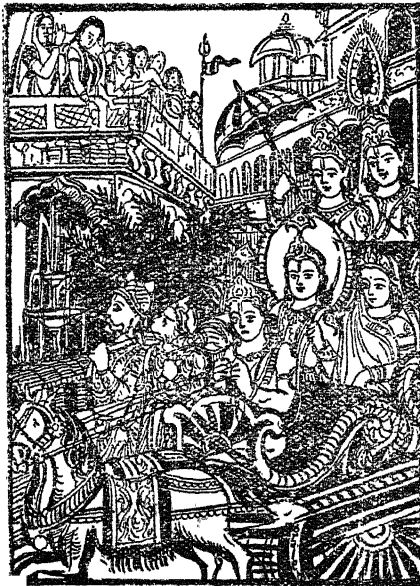
जब नगर की स्त्रियों ने भगवान् राम को आते सुना तो प्रसन्नता से महान् हर्ष के कारण उन के मुख की कान्ति उज्ज्वल हो गयी, और वे जिस गृहकार्य में लगी हुई थीं उसे छोड़ भली प्रकार सज धजकर अपने अपने घरों के ऊपर चढ़ गयीं। सुमधुर मुसकान से जिन का मुख मनोहर हो रहा है, वे पुरनारियाँ सब के नयनानन्द-स्वरूप भगवान् राम को देखकर, फूलों की वर्षा करने लगीं और फिर उन्होंने नेत्र और मन को प्रिय लगनेवाली उस आनन्दमयी मूर्ति को नेत्रों द्वारा हृदय में ले जाकर मन से अभिनन्दन किया ॥२७-२८॥

रामः स्मितस्निग्धदृशा प्रजास्तथा पश्यन्प्रजानाथ इवापरः प्रभुः ।
शनैर्जगामाथ पितुः स्वलङ्कृतं गृहं महेन्द्रालयसन्निभं हरिः ॥२९॥

प्रविश्य वेश्मान्तरसंस्थितो मुदा रामो ववन्दे चरणौ स्वमातुः ।
क्रमेण सर्वाः पितृयोषितः प्रभुर्ननाम भक्त्या रघुवंशकेतुः ॥३०॥

इस प्रकार विष्णुस्वरूप भगवान् राम दूसरे प्रजापति के समान मुसकानयुक्त

मनोहर दृष्टि से अपनी प्रजा को देखते हुए धीरे धीरे भली प्रकार सजाये हुए अपने पिता के इन्द्रभवन के समान महल में गये। राजमहल के भीतर जाकर श्री रामचन्द्रजी ने अति प्रसन्नचित्त से अपनी माता कौसल्या के चरणों की वन्दना की और फिर उन रघुवंशशिरोमणि प्रभु ने क्रमशः सभी विमाताओं को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया ॥२९-३०॥

ततो भरतमाहेदं रामः सत्यपराक्रमः ।
सर्वसम्पत्समायुक्तं मम मन्दिरमुत्तमम् ॥ ३१ ॥
मित्राय वानरेन्द्राय सुग्रीवाय प्रदीयताम् ।
सर्वेभ्यः सुखवासार्थं मन्दिराणि प्रकल्पय ॥३२॥
रामेणैवं समादिष्टो भरतश्च तथाकरोत् ।

तब सत्यपराक्रमी भगवान् राम ने भरतजी से कहा—मेरा सर्वसम्पत्तियुक्त श्रेष्ठ महल मेरे मित्र वानरराज सुग्रीव को दो तथा और सब के लिए भी सुखपूर्वक रहने योग्य महल बताओ। श्री रघुनाथजी की आज्ञा पाकर भरतजी ने वैसा ही किया ॥ ३१-३२ ॥

उवाच च महातेजाः सुग्रीवं राघवानुजः ॥ ३३ ॥
राघवस्याभिषेकार्थं चतुःसिन्धुजलं शुभम् ।
आनेतुं प्रेषयस्वाशु दूतांस्त्वरितविक्रमान् ॥ ३४ ॥
प्रेषयामास सुग्रीवो जाम्बवन्तं मरुत्सुतम् ।
अङ्गदं च सुषेणं च ते गत्वा वायुवेगतः ॥ ३५ ॥
जलपूर्णान् शातकुम्भकलशांश्च समानयन् ।

फिर महातेजस्वी भरतजी ने सुग्रीव से कहा—श्री रामचन्द्रजी के अभिषेक के लिए चारों समुद्रों का मंगलमय जल लाने के लिए तुरन्त ही शीघ्रगामी दूत भेजिये। तब सुग्रीव ने जाम्बवान्, हनुमान्, अङ्गद और सुषेण को भेजा। वे तुरन्त ही वायुवेग से जाकर सुवर्णकलशों में जल भरकर ले आये ॥ ३३-३५ ॥

आनीतं तीर्थसलिलं शत्रुघ्नो मन्त्रिभिः सह ॥३६॥
राघवस्याभिषेकार्थं वसिष्ठाय न्यवेदयत् ।
ततस्तु प्रयतो वृद्धो वसिष्ठो ब्राह्मणैः सह ॥३७॥

रामं रत्नमये पीठे ससीतं संन्यवेशयत् ।
वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिर्गौतमस्तथा ॥३८॥
वाल्मीकिश्च तथा चक्रुः सर्वे रामाभिषेचनम् ।
कुशाग्रतुलसीयुक्तपुण्यगन्धजलैर्मुदा ॥३९॥

उन के लाये हुए तीर्थजल को मन्त्रियों के सहित शत्रुघ्नजी ने भगवान् राम के अभिषेक के लिए वसिष्ठजी को निवेदन कर दिया। तब ब्राह्मणों के सहित वयोवृद्ध जितेन्द्रिय वसिष्ठजी ने सीताजी के सहित श्री रामचन्द्रजी को रत्नसिंहासन पर बैठाया और फिर वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, गौतम तथा वाल्मीकि आदि समस्त महर्षियों ने आति प्रसन्न होकर कुश और तुलसी के सहित पवित्र गन्धयुक्त जल से श्री रामचन्द्रजी का अभिषेक किया।३५-३९।

अभ्यषिञ्चन् रघुश्रेष्ठं वासवं वसवो यथा ।
ऋत्विग्भिर्ब्राह्मणैः श्रेष्ठैः कन्याभिः सह मन्त्रिभिः ।
सर्वौषधिरसैश्चैव दैवतैर्नभसि स्थितैः ।
चतुर्भिर्लोकपालैश्च स्तुवद्भिः सगणैस्तथा ॥ ४१ ॥

फिर ऋत्विजों, श्रेष्ठ ब्राह्मणों, कन्याओं और मन्त्रियों के सहित उन महर्षियों ने आकाशस्थित देवताओं तथा अपने अपने गणों के सहित चारों लोकपालों के स्तुति करते हुए सर्वौषधि के रसों से भी श्री रघुनाथजी का इस प्रकार अभिषेक किया जैसे वसुओं ने इन्द्र का किया था ॥ ४०-४१ ॥

छत्रं च तस्य जग्राह शत्रुघ्नः पाण्डुरं शुभम् ।
सुग्रीवराक्षसेन्द्रौ तौ दधतुः श्वेतचामरे ॥ ४२ ॥
मालां च काञ्चनीं वायुर्ददौ वासवचोदितः ।
सर्वरत्नसमायुक्तं मणिकाञ्चनभूषितम् ॥ ४३ ॥

ददौ हारं नरेन्द्राय स्वयं शक्रस्तु भक्तितः ।
प्रजगुर्देवगन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ ४४ ॥

उस समय सत्रुघ्नजी ने भगवान् राम के ऊपर अति सुन्दर श्वेत छत्र लगाया और सुग्रीव तथा विभीषण ने श्वेत चमर धारण किये। इन्द्र की प्रेरणा से वायु ने सुवर्णमयी माला दी और फिर स्वयं इन्द्र ने भी अति भक्तिपूर्वक महाराज राम को एक सम्पूर्ण रत्नों से युक्त और मणि तथा सुवर्ण से विभूषित हार दिया। तदनन्तर देवता और गन्धर्वों ने गान आरम्भ किया, और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं ॥ ४२-४४ ॥

देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिः पपात खात् ।
नवदूर्वादलश्यामं पद्मपत्रायतेक्षणम् ॥ ४५ ॥
रविकोटिप्रभायुक्तकिरीटेन विराजितम् ।
कोटिकन्दर्पलावण्यं पीताम्बरसमावृतम् ॥ ४६ ॥
दिव्याभरणसम्पन्नं दिव्यचन्दनलेपनम् ।
अयुतादित्यसङ्काशं द्विभुजं रघुनन्दनम् ॥ ४७ ॥
वामभागे समासीनां सीतां काञ्चनसन्निभाम् ।
सर्वाभरणसम्पन्नां वामाङ्के समुपस्थिताम् ॥ ४८ ॥
रक्तोत्पलकराम्भोजां वामेनालिङ्ग्य संस्थितम् ।
सर्वातिशयशोभाढ्यं दृष्ट्वा भक्तिसमन्वितः ॥ ४९ ॥
उमया सहितो देवः शङ्करो रघुनन्दनम् ।
सर्वदेवगणैर्युक्तः स्तोतुं समुपचक्रमे ॥ ५० ॥

उस समय आकाश से देवदुन्दुभियों के घोष के साथ पुष्पों की वर्षा होने लगी। फिर नवीन दूर्वादल के सामान श्यामवर्ण, कमलदल के समान विशाल-नयन, करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशयुक्त मुकुट से सुशोभित, करोड़ों कामदेवों के समान कमनीय, पीताम्बर परिवेष्टित, दिव्याभरण-विभूषित, दिव्यचन्दन चर्चित, हजारों सूर्यों के समान तेजस्वी, सब से अधिक शोभायमान द्विभुज रघुनाथजी को, अपनी बायीं ओर करकमल में रक्तकमल धारण किये बैठी हुई सर्वाभूषणविभूषिता सुवर्णवर्णा सीताजी को अपनी बायीं भुजा से आलिंगन किये देख पार्वतीजी सहित भगवान् शंकर भक्तिभाव से भरकर समस्त देवताओं के सहित स्तुति करने लगे ॥ ४५-५० ॥

श्रीमहादेव उवाच—

नमोऽस्तु रामाय सशक्तिकाय नीलोत्पलश्यामलकोमलाय ।
किरीटहाराङ्गदभूषणाय सिंहासनस्थाय महाप्रभाय ॥ ५१ ॥
त्वमादिमध्यान्तविहीन एकः सृजस्यवस्यत्सि च लोकजातम् ।
स्वमायया तेन न लिप्यसे त्वं यत्स्वे सुखेऽजस्ररतोऽनवद्यः॥ ५२ ॥

श्री महादेवजी बोले—नीलकमल के समान सुकोमल श्यामशरीरवाले, किरीट, हार और भुजबन्ध आदि से विभूषित तथा अपनी शक्ति श्री सीताजी के सहित सिंहासन पर विराजमान महातेजस्वी श्री रामचन्द्रजी को नमस्कार है। हे राम, आप आदि, अन्त और मध्य से रहित अद्वितीय हैं, अपनी माया से आप ही सम्पूर्ण लोकों की रचना, पालन और संहार करते हैं, तो भी उस से लिप्त नहीं होते, क्योंकि आप निरन्तर स्वानन्दमग्न और अनिन्द्य हैं ॥ ५१-५२ ॥

लीलां विधत्से गुणसंवृतस्त्वं प्रपन्नभक्तानुविधानहेतोः ।
नानावतारैः सुरमानुषाद्यैः प्रतीयसे ज्ञानिभिरेव नित्यम् ॥ ५३ ॥
स्वांशेन लोकं सकलं विधाय तं बिभर्षि च त्वं तदधः फणीश्वरः ।
उपर्यधो भान्वनिलोडुपौषधिप्रवर्षरूपोऽवसि नैकधा जगत् ॥ ५४ ॥

अपनी माया के गुणों से आवृत होकर आप अपने शरणागत भक्तों को मार्ग दिखाने के लिए देव मनुष्यादि नाना प्रकार के अवतार लेकर विचित्र लीलाएँ करते हैं। उस समय सदा ज्ञानीजन ही आप को जान पाते हैं। आप अपने अंश से सम्पूर्ण लोकों की रचना करके उन्हें शेषरूप होकर नीचे से धारण करते हैं तथा सूर्य, वायु, चन्द्र, ओषधि और वृष्टिरूप होकर उन का नाना प्रकार से ऊपर से पालन करते हैं ॥ ५३-५४ ॥

त्वमिह देहभृतां शिखिरूपः पचसि भुक्तमशेषमजस्रम् ।
पवनपञ्चकरूपसहायो जगदखण्डमनेन बिभर्षि ॥ ५५ ॥
चन्द्रसूर्यशिखिमध्यगतं यत् तेज ईश चिदशेषतनूनाम् ।
प्राभवत्तनुभृतामिव धैर्यं शौर्यमायुरखिलं तव सत्त्वम् ॥ ५६ ॥

आप ही जठराग्निरूप होकर प्राण, अपान आदि पाँच प्राणों की सहायता से प्राणियों के खाये हुए अन्न को पचाकर उस के द्वारा सर्वदा सम्पूर्ण जगत् का पालन

करते हैं। हे ईश, चन्द्र, सूर्य और अग्नि में जो तेज है, समस्त प्राणियों में जो चेतनांश है तथा देहधारियों में जो धैर्य, शौर्य और आयुर्बल दिखायी देता है वह आप ही की सत्ता है ॥ ५५-५६ ॥

त्वं विरिञ्चिशिवविष्णुविभेदात् कालकर्मशशिसूर्यविभागात् ।
वादिनां पृथगिवेश विभासि ब्रह्म निश्चितमनन्यदिहैकम् ॥ ५७॥
मत्स्यादिरूपेण यथा त्वमेकः श्रुतौ पुराणेषु च लोकसिद्धः ।
तथैव सर्वं सदसद्विभागस्त्वमेव नान्यद्भवतो विभाति ॥ ५८॥

हे राम, भिन्न भिन्न ईश्वरवादियों को एक आप ही ब्रह्मा, महादेव और विष्णु तथा काल, कर्म, चन्द्रमा और सूर्य के भेद से पृथक् पृथक् से भासते हैं। किंतु इस में सन्देह नहीं, वास्तव में आप हैं एक अद्वितीय ब्रह्म ही। जिस प्रकार वेद, पुराण और लोक में आप एक ही मत्स्यादि अनेक अवतारों से प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार संसार में जो कुछ सत् असत्‌रूप विभाग है, वह आप ही हैं; आप से भिन्न और कुछ नहीं है ।५७-५८।

यद्यत्समुत्पन्नमनन्तसृष्टावुत्पत्स्यते यच्च भवच्च यच्च ।
न दृश्यते स्थावरजङ्गमादौ त्वया विनातः परतः परस्त्वम् ॥ ५९ ॥
तत्त्वं न जानन्ति परात्मनस्ते जनाः समस्तास्तव माययातः ।
त्वद्भक्तसेवामलमानसानां विभाति तत्त्वं परमेकमैशम् ॥ ६० ॥

इस अनन्त सृष्टि में जो कुछ उत्पन्न हुआ है, जो उत्पन्न होगा और जो हो रहा है, उस स्थावर जंगमादिरूप सम्पूर्ण प्रपञ्च में आप के बिना और कोई दिखायी नहीं देता। अतः आप प्रकृति आदि पर से भी पर हैं। हे राम, आप की माया से मोहित होने के कारण सब लोग आप के परमात्मस्वरूप का तत्त्व नहीं जानते। अतः जिन का अन्तःकरण आप के भक्तों की सेवा के प्रभाव से निर्मल हो गया है उन्हीं को आप का अद्वितीय ईश्वररूप भासता है ॥ ५९-६० ॥

ब्रह्मादयस्ते न विदुः स्वरूपं चिदात्मतत्त्वं बहिरर्थभावाः ।
ततो बुधस्त्वामिदमेव रूपं भक्त्या भजन्मुक्तिमुपैत्यदुःखः ॥ ६१ ॥
अहं भवन्नाम गृणन्कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या ।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव रामनाम ॥ ६२ ॥

जिन की बाह्य पदार्थों में सत्य-बुद्धि है, वे ब्रह्मादि भी आप के चित्स्वरूप को नहीं जानते, फिर औरों का तो कहना ही क्या है ? अतः बुद्धिमान् पुरुष इस श्यामसुन्दरस्वरूप से ही आप का भक्तिपूर्वक भजन करके दुःखों से पार होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं हे प्रभो आप के नामोच्चारण से कृतार्थ होकर मैं अहर्निश पार्वतीजी के सहित काशी में रहता हूँ और वहाँ मरणासन्न पुरुषों को उन के मोक्ष के लिए आप के तारक मन्त्र 'राम' नाम का उपदेश करता हूँ ॥ ६१-६२ ॥

इमं स्तवं नित्यमनन्यभक्त्या शृण्वन्ति गायन्ति लिखन्ति ये वै ।
ते सर्वसौख्यं परमं च लब्ध्वा भवत्पदं यान्तु भवत्प्रसादात् ॥६३॥

अब आप से यही प्रार्थना है कि जो लोग मेरे कहे हुए इस स्तोत्र को अनन्य भक्ति से नित्यप्रति सुनें, कहें अथवा लिखें वे आप की कृपा से सम्पूर्ण परमानन्द लाभ करके आप के निज पद को प्राप्त हों ॥ ६३ ॥

इन्द्र उवाच—

रक्षोधिपेनाखिलदेव सौख्यं हृतं च मे ब्रह्मवरेण देव ।
पुनश्च सर्वं भवतः प्रसादात् प्राप्तं हतो राक्षसदुष्टशत्रुः ॥ ६४ ।

इन्द्र बोले—हे देव, ब्रह्माजी के वर के प्रभाव से राक्षसराज रावण ने मेरे समस्त देवोचित सुख को हर लिया था। अब उस दुष्ट शत्रु राक्षसराज के मारे जाने पर आप की कृपा से मुझे वह सब सुख फिर प्राप्त हो गया ॥ ६४ ॥

देवा ऊचुः—

हृता यज्ञभागा धरादेवदत्ता
मुरारे खलेनादिदैत्येन विष्णो ।
हतोऽद्य त्वया नो वितानेषु भागाः
पुरावद्भविष्यन्ति युष्मत्प्रसादात् ॥ ६५ ॥

देवगण बोले—हे मुरारे, हे विष्णो, इस दुष्ट आदिदैत्य ने ब्राह्मणों द्वारा दिये हुए हमारे समस्त यज्ञभागों को हर लिया था। अब आप ने उसे मार डाला, अतः आप की कृपा से अब हमें फिर पहले के समान ही यज्ञों में भाग मिलने लगेंगे ॥६५॥

पितर ऊचुः—

हतोऽद्य त्वया दुष्टदैत्यो महात्मन्
गयादौ नरैर्दत्तपिण्डादिकान्नः ।
बलादत्ति हत्वा गृहीत्वा समस्ता-
निदानीं पुनर्लब्धसत्त्वा भवामः ॥ ६६ ॥

पितृगण बोले—हे महात्मन्, यह दुष्ट दैत्य गया आदि पुण्यक्षेत्रों में मनुष्यों के दिये हुए हमारे पिण्डोदकादि को बलात्कार से छीनकर खा लेता था। आज आप ने इसे मार डाला, अतः अब अपना भाग प्राप्त करके हम फिर शक्ति प्राप्त कर लेंगे ॥६६॥

यक्षा ऊचुः—

सदा विष्टिकर्मण्यनेनाभियुक्ता
वहामो दशास्यं बलाद्दुःखयुक्ताः ।
दुरात्मा हतो रावणो राघवेश
त्वया ते वयं दुःखजाताद्विमुक्ताः ॥६७॥

यक्ष बोले—हे रघुनाथजी, यह रावण हमें बलात्कार से बेगार में लगा देता था और हम इस की पालकी आदि में जुतकर बड़ा कष्ट मानकर इसे ले चलते थे। अतः आज इस दुरात्मा को मारकर आप ने हमें अनेकों दुःखों से छुड़ा दिया ॥६७॥

गन्धर्वा ऊचुः

वयं सङ्गीतनिपुणा गायन्तस्ते कथामृतम् ।
आनन्दामृतसन्दोहयुक्ताः पूर्णाः स्थिताः पुरा ॥६८॥
पश्चाद्दुरात्मना राम रावणेनाभिविद्रुताः ।
तमेव गायमानाश्च तदाराधनतत्पराः ॥ ६९ ॥
स्थितास्त्वया परित्राता हतोऽयं दुष्टराक्षसः ।

गन्धर्व बोले—प्रभो, हम संगीतकुशल लोग आप की अमृततुल्य कथाओं का गान करते हुए पहले आनन्दामृतसमूह से युक्त होकर मग्न रहते थे। किन्तु फिर दुरात्मा

रावण द्वारा आक्रान्त होकर हम उसी के गुणगान और उसी की सेवा में तत्पर हो गये। इस दुष्ट राक्षस को मारकर अब आप ने हमें भी बचा लिया है ॥ ६८-६९ ॥

एवं महोरगाः सिद्धाः किन्नरा मरुतस्तथा ॥७०॥
वसवो मुनयो गावो गुह्यकाश्च पतत्रिणः ।
सप्रजापतयश्चैते तथा चाप्सरसां गणाः ॥ ७१ ॥
सर्वे रामं समासाद्य दृष्ट्वा नेत्रमहोत्सवम् ।
स्तुत्वा पृथक् पृथक् सर्वे राघवेणाभिवन्दिताः ॥७२॥
ययुः स्वं स्वं पदं सर्वे ब्रह्मरुद्रादयस्तथा ।
प्रशंसन्तो मुदा रामं गायन्तस्तस्य चेष्टितम् ॥७३॥
ध्यायन्तस्त्वभिषेकार्द्रं सीतालक्ष्मणसंयुतम् ।
सिंहासनस्थं राजेन्द्रं ययुः सर्वे हृदि स्थितम् ॥७४॥

इसी प्रकार महानाग, सिद्ध, किन्नर, मरुत्, वसु, मुनि, गौ, गुह्यक, पक्षी, प्रजापति और अप्सराओं के समूह सभी भगवान् राम के पास पृथिवीलोक में आये और उन नयनानन्दवर्धन प्रभु के दर्शन कर उन की पृथक् पृथक् स्तुति की तथा उन से प्रशंसित हो अपने अपने लोकों को चले गये। तदनन्तर ब्रह्मा और महादेव आदि भी आनन्दपूर्वक भगवान् राम की प्रशंसा करते, उन की लीलाओं का गान करते और सिंहासन पर विराजमान, अभिषेक से आर्द्र राजराजेश्वर श्री रामचन्द्रजी का सीताजी और लक्ष्मण के सहित हृदय में ध्यान करते हुए वहाँ से विदा हुए ॥ ७०-७४ ॥

खे वाद्येषु ध्वनत्सु प्रमुदितहृदयैर्देववृन्दैः स्तुवद्भि-
र्वर्षद्भिः पुष्पवृष्टिं दिवि मुनिनिकरैरीड्यमानः समन्तात् ।
रामः श्यामः प्रसन्नस्मितरुचिरमुखः सूर्यकोटिप्रकाशः
सीतासौमित्रिवातात्मजमुनिहरिभिः सेव्यमानो विभाति ॥७५॥

उस समय आकाश में बाजे बज रहे थे, देवताओं का वृन्द स्वर्ग में प्रसन्न हृदय से स्तुति करता हुआ पुष्प बरसा रहा था तथा महर्षिमण्डल चारों ओर स्थित होकर स्तुति कर रहा था। करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान, प्रसन्नतायुक्त मुसकान से मनोहर मुखवाले श्यामसुन्दर भगवान् राम सीता, लक्ष्मण, हनुमान्, मुनिजन तथा वानरगणों से सेवित होकर अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥ ७४-७५ ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के पंचदश सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

प्रजापालक राजा राम પ્રજાપાલક રાજા રામ

षोडश सर्ग
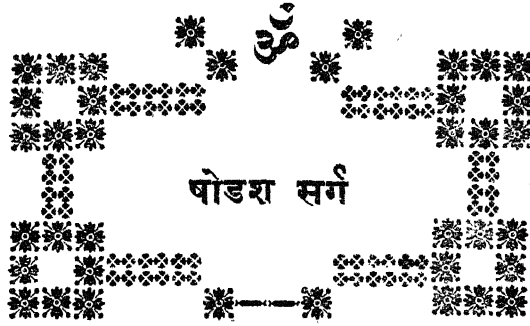
संमानपूर्वक वानरों की विदा तथा ग्रन्थ का माहात्म्य ।

श्री महादेव उवाच—

रामेऽभिषिक्ते राजेन्द्रे सर्वलोकसुखावहे ।
वसुधा सस्यसम्पन्ना फलवन्तो महीरुहाः ॥ १ ॥
गन्धहीनानि पुष्पाणि गन्धवन्ति चकाशिरे ।

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, समस्त लोकों को सुख देनेवाले राजराजेश्वर भगवान् राम के राज्याभिषिक्त होने पर पृथिवी धन धान्य से पूर्ण हो गयी और वृक्ष फलयुक्त हो गये, जो पुष्प गन्धहीन थे वे भी सुगन्ध युक्त होकर शोभा पाने लगे ॥१॥

सहस्रशतमश्वानां धेनूनां च गवां तथा ॥ २ ॥
ददौ शतवृषान्पूर्वं द्विजेभ्यो रघुनन्दनः ।
त्रिंशत्कोटिं सुवर्णस्य ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुनः ॥ ३ ॥
वस्त्राभरणरत्नानि ब्राह्मणेभ्यो मुदा तथा ।

श्री रघुनाथजी ने राज्याभिषिक्त होकर पहले एक लाख घोड़े, एक लाख दूध देनेवाली गौएँ और सैकड़ों बैल ब्राह्मणों को दिये और फिर उन्हें तीस करोड़ सुवर्ण-मुद्राएँ दीं। तत्पश्चात् उन्होंने प्रसन्न होकर नाना प्रकार के वस्त्र, आभूषण और रत्नादि भी ब्राह्मणों को दिये ॥ २-३ ॥

सूर्यकान्तिसमप्रख्यां सर्वरत्नमयीं स्रजम् ॥ ४ ॥
सुग्रीवाय ददौ प्रीत्या राघवो भक्तवत्सलः ।
अङ्गदाय ददौ दिव्ये ह्यङ्गदे रघुनन्दनः ॥ ५ ॥
चन्द्रकोटिप्रतीकाशं मणिरत्नविभूषितम् ।
सीतायै प्रददौ हारं प्रीत्या रघुकुलोत्तमः ॥ ६ ॥

फिर भक्तवत्सल रघुनाथजी ने सब प्रकार के रत्नों से युक्त, एक सूर्य की कान्ति के समान चमकती हुई माला अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सुग्रीव को दी और अंगद को दो दिव्य भुजबन्ध दिये। तदनन्तर रघुकुलतिलक श्री रामचन्द्रजी ने अति प्रेमभाव से करोड़ों चन्द्रमाओं के समान प्रकाशमान अमूल्य मणि और रत्नों से विभूषित एक हार श्री जानकीजी को दिया ॥ ४-६ ॥

अवमुच्यात्मनः कण्ठाद्धारं जनकनन्दिनी।
अवैक्षत हरीन्सर्वान् भर्तारं च मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥
रामस्तामाह वैदेहीमिङ्गितज्ञो विलोकयन्।
वैदेहि यस्य तुष्टासि देहि तस्मै वरानने ॥ ८ ॥
हनूमते ददौ हारं पश्यतो राघवस्य च।
तेन हारेण शुशुभे मारुतिर्गौरवेण च ॥ ९ ॥

श्री जनकनन्दिनी उस हार को अपने गले से उतारकर बारम्बार अपने पतिदेव और वानरों की ओर देखने लगीं। श्री रामचन्द्रजी ने सीताजी का संकेत समझकर उन की ओर देखते हुए कहा—हे सुमुखि जनकनन्दिनि, तुम जिस पर प्रसन्न हो उसे यह हार दे दो। तब सीताजी ने श्री रामचन्द्रजी के सामने ही वह हार हनुमान्जी को दे दिया। उस हार को पहन और गौरवान्वित होकर श्री हनुमान्जी अत्यन्त शोभा को प्राप्त हुए ॥ ७-९ ॥

रामोऽपि मारुतिं दृष्ट्वा कृताञ्जलिमुपस्थितम्।
भक्त्या परमया तुष्ट इदं वचनमब्रवीत् ॥१०॥
हनुमंस्ते प्रसन्नोऽस्मि वरं वरय काङ्क्षितम्।
दास्यामि देवैरपि यद्दुर्लभं भुवनत्रये ॥११॥

भगवान् राम ने भी सामने हाथ जोड़े खड़े हुए हनुमान्जी से उन की भक्ति के

कारण अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा—हनुमान्, मैं तुम से बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हें जिस वर की इच्छा हो माँग लो। जो वर त्रिलोकी में देवताओं को भी मिलना कठिन है वह भी मैं तुम्हें अवश्य दूँगा ॥ १०-११ ॥

हनूमानपि तं प्राह नत्वा रामं प्रहृष्टधीः।
त्वन्नाम स्मरतो राम न तृप्यति मनो मम ॥१२॥
अतस्त्वन्नाम सततं स्मरन् स्थास्यामि भूतले।
यावत्स्थास्यति ते नाम लोके तावत्कलेवरम् ॥१३॥
मम तिष्ठतु राजेन्द्र वरोऽयं मेऽभिकाङ्क्षितः।

तब हनुमान्जी ने अत्यन्त हर्षित होकर उन से कहा—हे रामजी, आप का नाम स्मरण करते हुए मेरा चित्त तृप्त नहीं होता, अतः मैं निरन्तर आप का नाम स्मरण करता हुआ पृथिवी पर रहूँ। हे राजेन्द्र, मेरा मनोवाञ्छित वर यही है कि जब तक संसार में आप का नाम रहे तब तक मेरा शरीर भी रहे ॥ १२-१३ ॥

रामस्तथेति तं प्राह मुक्तस्तिष्ठ यथासुखम् ॥१४॥
कल्पान्ते मम सायुज्यं प्राप्स्यसे नात्र संशयः।
तमाह जानकी प्रीता यत्र कुत्रापि मारुते ॥१५॥
स्थितं त्वामनुयास्यन्ति भोगाः सर्वे ममाज्ञया।

श्री रामचन्द्रजी ने कहा—ऐसा ही हो, तुम जीवन्मुक्त होकर संसार में सुखपूर्वक रहो। कल्प का अन्त होने पर तुम मेरा सायुज्य प्राप्त करोगे, इस में सन्देह नहीं। फिर जानकीजी ने उन से कहा—हे मारुते, तुम जहाँ कहीं भी रहोगे वहीं मेरी आज्ञा से तुम्हारे पास सम्पूर्ण भोग उपस्थित हो जायँगे ॥ १४-१५ ॥

इत्युक्तो मारुतिस्ताभ्यामीश्वराभ्यां प्रहृष्टधीः ॥१६॥
आनन्दाश्रुपरीताक्षो भूयो भूयः प्रणम्य तौ।
कृच्छ्राद्ययौ तपस्तप्तुं हिमवन्तं महामतिः ॥१७॥

अपने प्रभु भगवान् राम और सीताजी के इस प्रकार कहने पर महामति हनुमान्जी अत्यन्त प्रसन्न हुए और फिर नेत्रों में आनन्दाश्रु भर उन्हें बारम्बार प्रणाम कर बड़ी कठिनता से, तपस्या करने के लिए हिमालय पर चले गये ॥ १७ ॥

ततो गुहं समासाद्य रामः प्राञ्जलिमब्रवीत् ।
सखे गच्छ पुरं रम्यं शृङ्गवेरमनुत्तमम् ॥१८॥
मामेव चिन्तयन्नित्यं भुङ्क्ष्व भोगान्निजार्जितान् ।
अन्ते ममैव सारूप्यं प्राप्स्यसे त्वं न संशयः ॥१९॥
इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै दिव्यान्याभरणानि च ।
राज्यं च विपुलं दत्त्वा विज्ञानं च ददौ विभुः ॥२०॥
रामेणालिङ्गितो हृष्टो ययौ स्वभवनं गुहः ।

तदनन्तर श्री रामचन्द्रजी ने हाथ जोड़े खड़े हुए गुह के पास जाकर कहा—मित्र, अब तुम अपने परम रमणीय ग्राम शृंगवेरपुर को जाओ। वहाँ मेरा ही चिन्तन करते हुए अपने शुभ कर्मों से प्राप्त हुए भोगों को भोगो। इस में सन्देह नहीं, अन्त में तुम मेरा ही सारूप्य प्राप्त करोगे। ऐसा कह भगवान् राम ने उसे दिव्य आभूषण, बहुतसा राज्य और तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। फिर श्री रघुनाथजी से आलिंगित होकर गुह अपने घर को गया ॥ १८-२० ॥

ये चान्ये वानराः श्रेष्ठा अयोध्यां समुपागताः ॥२१॥
अमूल्याभरणैर्वस्त्रैः पूजयामास राघवः ।
सुग्रीवप्रमुखाः सर्वे वानराः सविभीषणाः ॥२२॥
यथार्हं पूजितास्तेन रामेण परमात्मना ।
प्रहृष्टमनसः सर्वे जग्मुरेव यथागतम् ॥२३॥

जो जो अनेकों वानर श्रेष्ठ अयोध्या में आये थे, श्री रामचन्द्रजी ने उन सब का भी अमूल्य वस्त्र और आभूषणों से सत्कार किया। इस प्रकार विभीषण के सहित सुग्रीव आदि समस्त वानरगण परमात्मा राम से यथोचित सत्कार पाकर अपने अपने स्थानों को चले गये ॥ २१-२३ ॥

सुग्रीवप्रमुखाः सर्वे किष्किन्धां प्रययुर्मुदा ।
विभीषणस्तु सम्प्राप्य राज्यं निहतकण्टकम् ॥२४॥
रामेण पूजितः प्रीतया ययौ लङ्कामनिन्दितः ।
राघवो राज्यमखिलं शशासाखिलवत्सलः ॥२५॥

सुग्रीवादि समस्त वानरगण प्रसन्न चित्त से किष्किन्धा को गये और भगवान् राम से सत्कृत हो आनन्दित विभीषण भी अपना निष्कण्टक राज्य पाकर प्रीतिपूर्वक लंका को चले गये, तथा सब के ऊपर दया करनेवाले श्री रामचन्द्रजी अपने सम्पूर्ण राज्य का शासन करने लगे ॥ २४-२५ ॥

अनिच्छन्नपि रामेण यौवराज्येऽभिषेचितः ।
लक्ष्मणः परया भक्त्या रामसेवापरोऽभवत् ॥२६॥
रामस्तु परमात्मापि कर्माध्यक्षोऽपि निर्मलः ।
कर्तृत्वादिविहीनोऽपि निर्विकारोऽपि सर्वदा ॥२७॥
स्वानन्देनापि तुष्टः सन् लोकानामुपदेशकृत् ।
अश्वमेधादियज्ञैश्च सर्वैर्विपुलदक्षिणैः ॥२८॥
अयजत्परमानन्दो मानुषं वपुराश्रितः ।

भगवान् राम ने श्री लक्ष्मणजी को उन की इच्छा न होने पर भी युवराजपद पर अभिषिक्त किया और वे भी अत्यन्त भक्तिपूर्वक रामजी की सेवा में रहने लगे। परमात्मा राम ने समस्त कर्मों के साक्षी, नित्य निर्मलस्वरूप, कर्तृत्वादि से रहित, सर्वदा निर्विकार और स्वानन्दतृप्त होकर भी समस्त लोकों को उपदेश करने के लिए मनुष्यरूप धारण कर बड़ी बड़ी दक्षिणाओंवाले अश्वमेधादि समस्त यज्ञों का अनुष्ठान किया ॥ २६-२८ ॥

न पर्यदेवन्विधवा न च व्यालकृतं भयम् ॥२९॥
न व्याधिजं भयं चासीद्रामे राज्यं प्रशासति ।
लोके दस्युभयं नासीदनर्थो नास्ति कश्चन ॥३०॥
वृद्धेषु सत्सु बालानां नासीन्मृत्युभयं तथा ।
रामपूजापराः सर्वे सर्वे राघवचिन्तकाः ॥३१॥

महाराज राम के राज्य शासन करते समय कभी विधवाओं का क्रन्दन नहीं हुआ, सर्पों, व्याधियों और लुटेरों का भय नहीं था और न कोई अनर्थ ही होता था। वृद्धों के रहते हुए बालकों की मृत्यु का भय नहीं था, सब लोग भगवान् राम की पूजा और उन का स्मरण करते थे ॥ २९-३१ ॥

ववर्षुर्जलदास्तोयं यथाकालं यथारुचि ।
प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः ॥३२॥
औरसानिव रामोऽपि जुगोप पितृवत्प्रजाः ।
सर्वलक्षणसंयुक्तः सर्वधर्मपरायणः ॥३३॥
दशवर्षसहस्राणि रामो राज्यमुपास्त सः ॥३४॥

मेघ सर्वदा ठीक समय पर यथेष्ट जल बरसाते थे, प्रजा अपना अपना धर्म पालन करनेवाली और वर्णाश्रम के गुणों से युक्त थी। तथा श्री रामचन्द्रजी भी अपनी प्रजा का सगे पुत्रों के समान पितृवत् पालन करते थे। इस प्रकार सर्वलक्षणसम्पन्न, सर्वधर्मपरायण भगवान् राम ने दस सहस्र वर्ष राज्य शासन किया ॥ ३३-३४ ॥

इदं रहस्यं धनधान्यऋद्धिमद्दीर्घायुरारोग्यकरं सुपुण्यदम् ।
पवित्रमाध्यात्मिकसंज्ञितं पुरा रामायणं भाषितमादिशम्भुना ॥३५॥
शृणोति भक्त्या मनुजः समाहितो भक्त्या पठेद्वा परितुष्टमानसः ।
सर्वाः समाप्नोति मनोगताशिषो विमुच्यते पातककोटिभिः क्षणात् ॥३६॥

धन धान्यादि समस्त वैभव देनेवाले तथा दीर्घायु, आरोग्य और पुण्य की वृद्धि करनेवाले इस 'आध्यात्मिक रामायण' नामक परम पवित्र और गोपनीय रहस्य को पूर्वकाल में श्री आदिमहादेव ने पार्वतीजी को सुनाया था। जो मनुष्य इसे भक्तिपूर्वक समाहित चित्त से सुनता अथवा प्रसन्न चित्त से भक्तिपूर्वक पढ़ता है, वह अपने मन की समस्त कामनाओं को प्राप्त करता है और एक क्षण में ही करोड़ों पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ३५-३६ ॥

रामाभिषेकं प्रयतः शृणोति यो धनाभिलाषी लभते महद्धनम् ।
पुत्राभिलाषी सुतमार्यसम्मतं प्राप्नोति रामायणमादितः पठन् ॥३७॥

जो धन की इच्छा रखनेवाला पुरुष इस रामाभिषेक का एकाग्र चित्त से श्रवण करता है वह महान् सम्पत्ति प्राप्त करता है और जो पुत्राभिलाषी इस ग्रन्थ का आरम्भ से ही पाठ करता है वह सत्पुरुषों द्वारा सम्मान पाने योग्य पुत्र पाता है ॥ ३७ ॥

शृणोति योऽध्यात्मिकरामसंहितां प्राप्नोति राजा भुवमृद्धसम्पदम् ।
शत्रून्विजित्यारिभिरप्रधर्षितो व्यपेतदुःखो विजयी भवेन्नृपः ॥३८॥
स्त्रियोऽपि शृण्वन्त्यधिरामसंहितां भवन्ति ता जीविसुताश्च पूजिताः ।
वन्ध्यापि पुत्रं लभते सुरूपिणं कथामिमां भक्तियुता शृणोति या ॥३९॥

जो राजा इस अध्यात्मरामायण का श्रवण करता है वह धन धान्य से सम्पन्न पृथिवी प्राप्त करता है और शत्रुओं से अपमानित न होकर सब प्रकार के दुःख से छूटकर विजय लाभ करता है। स्त्रियों में भी जो कोई इस 'आध्यात्मिक रामसंहिता' को सुनती हैं उन की सन्तान चिरजीवी होती हैं और वे स्वयं उन से सम्मानित होती हैं तथा जो वन्ध्या भी इस कथा का भक्तिपूर्वक श्रवण करती है वह सुन्दर रूपवान् पुत्र प्राप्त करती है ॥ ३८-३९ ॥

श्रद्धान्वितो यः शृणुयात्पठेन्नरो विजित्य कोपं च तथा विमत्सरः ।
दुर्गाणि सर्वाणि विजित्य निर्भयो भवेत्सुखी राघवभक्तिसंयुतः ॥४०॥
सुराः समस्ता अपि यान्ति तुष्टतां विघ्नाः समस्ता अपयान्ति शृण्वताम् ।
अध्यात्मरामायणमादितो नृणां भवन्ति सर्वा अपि सम्पदः पराः ॥४१॥

जो मनुष्य क्रोध को जीतकर ईर्ष्यारहित हो इसे श्रद्धापूर्वक सुनता या पढ़ता है वह समस्त अवगुणों को जीतकर निर्भय, सुखी और रामभक्ति से सम्पन्न हो जाता है। इस अध्यात्मरामायण का आरम्भ से ही श्रवण करनेवाले पुरुषों पर समस्त देवगण प्रसन्न हो जाते हैं, उन के सम्पूर्ण विघ्न दूर हो जाते हैं और उन्हें सब प्रकार की उत्तम सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥ ४०-४१ ॥

रजस्वला वा यदि रामतत्परा शृणोति रामायणमेतदादितः ।
पुत्रं प्रसूते ऋषभं चिरायुषं पतिव्रता लोकसुपूजिता भवेत् ॥४२॥
पूजयित्वा तु ये भक्त्या नमस्कुर्वन्ति नित्यशः ।
सर्वैः पापैर्विनिर्मुक्ता विष्णोर्यान्ति परं पदम् ॥४३॥

यदि रजस्वला स्त्री भगवान् राम का स्मरण करती हुई आदि से ही इस रामायण का श्रवण करे तो अति उत्तम और दीर्घायु पुत्र उत्पन्न करती है और वह स्वयं संसार से सम्मानित पतिव्रता होती है। जो लोग इस का भक्तिपूर्वक पूजन कर इसे नित्य प्रति नमस्कार करते हैं वे समस्त पापों से मुक्त होकर भगवान् विष्णु के परम धाम को प्राप्त होते हैं ॥ ४२-४३ ॥

अध्यात्मरामचरितं कृत्स्नं शृण्वन्ति भक्तितः ।
पठन्ति वा स्वयं वक्त्रात्तेषां रामः प्रसीदति ॥४४॥
राम एव परं ब्रह्म तस्मिंस्तुष्टेऽखिलात्मनि ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यद्यदिच्छति तद्भवेत् ॥४५॥
श्रोतव्यं नियमेनैतद्रामायणमखण्डितम् ।
आयुष्यमारोग्यकरं कल्पकोट्यघनाशनम् ॥४६॥

जो पुरुष इस सम्पूर्ण अध्यात्मरामायण को भक्तिपूर्वक सुनते अथवा स्वयं अपने मुख से ही पढ़ते हैं उन से भगवान् राम प्रसन्न होते हैं। भगवान् राम ही परब्रह्म हैं, अतः उन सर्वात्मा राम के प्रसन्न होने पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से जिस की इच्छा हो वही मिल सकता है। इस लिए आयु और आरोग्य की देनेवाली तथा करोड़ों कल्पों के पापसमूह का नाश करनेवाली इस रामायण का निरन्तर नित्य प्रति नियमपूर्वक श्रवण करना चाहिये ॥ ४४-४६ ॥

देवाश्च सर्वे तुष्यन्ति ग्रहाः सर्वे महर्षयः ।
रामायणस्य श्रवणे तृप्यन्ति पितरस्तथा ॥४७॥
अध्यात्मरामायणमेतदद्भुतं वैराग्यविज्ञानयुतं पुरातनम् ।
पठन्ति शृण्वन्ति लिखन्ति ये नरास्तेषां भवेऽस्मिन्न पुनर्भवो भवेत् ॥४८॥

इस का श्रवण करने से समस्त देवगण, सम्पूर्ण ग्रह एवं महर्षिगण प्रसन्न हो जाते हैं तथा पितृगण भी तृप्ति लाभ करते हैं। जो पुरुष ज्ञान वैराग्य से युक्त इस

अति अद्भुत प्राचीन अध्यात्मरामायण को पढ़ते, लिखते अथवा सुनते हैं उन का इस संसार में फिर जन्म नहीं होता ॥ ४७-४८ ॥

आलोड्याखिलवेदराशिमसकृद्यत्तारकं ब्रह्म तद्-
रामो विष्णुरहस्यमूर्तिरिति यो विज्ञाय भूतेश्वरः ।
उद्धृत्याखिलसारसङ्ग्रहमिदं सङ्क्षेपतः प्रस्फुटं
श्रीरामस्य निगूढतत्त्वमखिलं प्राह प्रियायै भवः ॥ ४९ ॥

भूतनाथ भगवान् शंकर ने बारम्बार समस्त वेदराशि का मन्थन करके यह निश्चय किया कि तारक मन्त्र 'राम' विष्णु भगवान् की गुप्त मूर्ति है । अतः उन्होंने समस्त वेदों के सार (उपनिषदों) का संग्रहरूप यह भगवान् राम का सम्पूर्ण गुप्त तत्त्व अपनी प्रिया श्री पार्वतीजी को संक्षेप से सुनाया ॥ ४९ ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, युद्धकाण्ड के षोडशः सर्गः पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

ॐ

अध्यात्मरामायण

उत्तरकाण्ड

—❀:❀:❀—

प्रथम सर्ग

श्री रामचन्द्रजी का महर्षि अगस्त्य द्वारा राक्षसों का जन्मवृत्तान्त सुनना।

जयति रघुवंशतिलकः कौसल्याहृदयनन्दनो रामः।
दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः॥ १॥

श्री कौसल्याजी के हृदय को आनन्दित करनेवाले, दशवदन रावण को मारनेवाले, रघुवंशतिलक दशरथकुमार कमलनयन भगवान् राम की जय हो॥ १॥

पार्वत्युवाच—

अथ रामः किमकरोत्कौसल्यानन्दवर्धनः।
हत्वा मृधे रावणादीन् राक्षसान्भीमविक्रमः॥ २॥
अभिषिक्तस्त्वयोध्यायां सीतया सह राघवः।
मायामानुषतां प्राप्य कति वर्षाणि भूतले॥ ३॥
स्थितवान् लीलया देवः परमात्मा सनातनः।
अत्यजन्मानुषं लोकं कथमन्ते रघूद्वहः॥ ४॥

श्री पार्वतीजी बोलीं—हे ईश, कौसल्या के आनन्द को बढ़ानेवाले महापराक्रमी श्री रामचन्द्रजी ने युद्ध में रावणादि राक्षसों को मारकर अयोध्यापुरी में सीताजी के सहित राज्याभिषिक्त होने के अनन्तर कौनसा कार्य किया? लीला ही से मायामानव भाव को प्राप्त हुए वे सनातन परमात्मा पृथ्वीतल पर कितने वर्ष रहे? तथा अन्त में उन रघुनन्दन ने इस मर्त्यलोक का किस प्रकार त्याग किया?॥ २-४॥

एतदाख्याहि भगवन् श्रद्दधत्या मम प्रभो ।
कथापीयूषमास्वाद्य तृष्णा मेऽतीव वर्धते ।
रामचन्द्रस्य भगवन् ब्रूहि विस्तरशः कथाम् ॥ ५ ॥

हे प्रभो, मुझ श्रद्धावती को आप यह सब वृत्तान्त सुनाइये। हे भगवन्, श्री रामकथामृत का आस्वादन करने से मेरी तृष्णा बहुत ही बढ़ती जाती है, इसलिए आप श्री रामचन्द्रजी की कथा विस्तारपूर्वक कहिये ॥ ५ ॥

श्री महादेव उवाच—

राक्षसानां वधं कृत्वा राज्ये राम उपस्थिते ।
आययुर्मुनयः सर्वे श्रीराममभिवन्दितुम् ॥ ६ ॥
विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिराः ।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिस्तथा सप्तर्षयोऽमलाः ॥ ७ ॥
अगस्त्यः सह शिष्यैश्च मुनिभिः सहितोऽभ्यगात् ।

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, राक्षसों का वध करने के अनन्तर भगवान् राम के राजपद पर विराजमान होने पर समस्त मुनिजन उन का अभिवादन करने के लिए आये। उस समय विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अंगिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि तथा निर्मल स्वभाव सप्तर्षिगण और अपने शिष्यों तथा अन्यान्य मुनिजनों के सहित अगस्त्यजी आये ॥ ६-७ ॥

द्वारमासाद्य रामस्य द्वारपालमथाब्रवीत् ॥ ८ ॥
ब्रूहि रामाय मुनयः समागत्य बहिः स्थिताः ।
अगस्त्यप्रमुखाः सर्वे आशीर्भिरभिनन्दितुम् ॥ ९ ॥

महर्षि अगस्त्य ने भगवान् राम के द्वार पर पहुँचकर द्वारपाल से कहा—तुम महाराज राम से जाकर कहो कि आप का आशीर्वादों से अभिनन्दन करने के लिए अगस्त्य आदि समस्त मुनिगण आये हैं और बाहर खड़े हुए हैं ॥ ८-९ ॥

प्रतीहारस्ततो राममगस्त्यवचनाद्द्रुतम् ।
नमस्कृत्याब्रवीद्वाक्यं विनयावनतः प्रभुम् ॥१०॥
कृताञ्जलिरुवाचेदमगस्त्यो मुनिभिः सह ।
देव त्वद्दर्शनार्थाय प्राप्तो बहिरुपस्थितः ॥११॥

तमुवाच द्वारपालं प्रवेशय यथासुखम् ।

तब द्वारपाल अगस्त्यजी के कहने से तुरन्त ही भगवान् राम को नमस्कार कर उन से अति विनयपूर्वक हाथ जोड़कर बोला—देव, आप के दर्शनों के लिए मुनियों के सहित श्री अगस्त्यजी आये हैं और बाहर खड़े हुए हैं। भगवान् राम ने द्वारपाल से कहा—उन्हें आनन्दपूर्वक भीतर ले आओ ॥१०-११॥

पूजिता विविशुर्वेश्म नानारत्नविभूषितम् ॥१२॥
दृष्ट्वा रामो मुनीन् शीघ्रं प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः ।
पाद्यार्घ्यादिभिरापूज्य गां निवेद्य यथाविधि ॥१३॥
नत्वा तेभ्यो ददौ दिव्यान्यासनानि यथार्हतः ।
उपविष्टाः प्रहृष्टाश्च मुनयो रामपूजिताः ॥१४॥

तब मुनियों ने विधिवत् पूजित होकर नाना प्रकार के रत्नों से विभूषित महल में प्रवेश किया। भगवान् राम मुनियों को देखते ही तुरन्त हाथ जोड़कर खड़े हो गये और अर्घ्य पाद्यादि से उन का पूजन कर उन्हें विधिपूर्वक एक एक गौ भेंट की। फिर उन सब को नमस्कार कर यथायोग्य दिव्य आसन दिये। उन पर वे मुनिगण भगवान् राम से पूजित होकर अति हर्षपूर्वक विराजमान हुए ॥ १२-१४ ॥

सम्पृष्टकुशलाः सर्वे रामं कुशलमब्रुवन् ।
कुशलं ते महाबाहो सर्वत्र रघुनन्दन ॥ १५ ॥
दिष्ट्येदानीं प्रपश्यामो हतशत्रुमरिन्दम ।
न हि भारः स ते राम रावणो राक्षसेश्वरः ॥१६॥
सधनुस्त्वं हि लोकांस्त्रीन् विजेतुं शक्त एव हि ।

श्री रामचन्द्रजी द्वारा कुशल पूछे जाने पर सब ने अपनी कुशल कही और उन से बोले—हे रघुनन्दन, हे महाबाहो, तुम्हारे राज्य में तो सर्वत्र कुशल है न? हे शत्रुदमन, आज हम बड़े भाग्य से आप को शत्रुहीन देख रहे हैं। हे राम, आप के लिए राक्षसराज रावण का मारना कुछ भारी नहीं था, क्यों कि आप धनुष धारण करने पर तीनों लोकों को जीतने में भी समर्थ हैं॥ १५-१६॥

दिष्ट्या त्वया हताः सर्वे राक्षसा रावणादयः ॥१७॥

सह्यमेतन्महाबाहो रावणस्य निबर्हणम्।
असह्यमेतत्सम्प्राप्तं रावणेर्निषूदनम् ॥१८॥

अन्तकप्रतिमाः सर्वे कुम्भकर्णादयो मृधे।
अन्तकप्रतिमैर्बाणैर्हतास्ते रघुसत्तम ॥१९॥

दत्ता चेयं त्वयास्माकं पुरा ह्यभयदक्षिणा।
हत्वा रक्षोगणान्सङ्ख्ये कृतकृत्योऽद्य जीवसि ॥२०॥

हमारे सौभाग्य से आप ने रावण आदि सभी राक्षसों को मार डाला और हे महाबाहो, रावण का मारना तो फिर भी सुगम था परन्तु रावण के पुत्र मेघनाद का वध करना तो बड़ा ही दुष्कर कार्य था। ये कुम्भकर्णादि सभी राक्षस युद्ध में काल के समान थे। हे रघुश्रेष्ठ, वे सब आप के काल के समान कराल बाणों से मारे गये। आप ने हमें तो पहले ही अभयदान दे दिया था। अब आप स्वयं भी इन राक्षसों को युद्ध में मारकर अपने जीवन को कृतकृत्य कर रहे हैं॥ १७-२०॥

श्रुत्वा तु भाषितं तेषां मुनीनां भावितात्मनाम्।
विस्मयं परमं गत्वा रामः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥२१॥

रावणादीनतिक्रम्य कुम्भकर्णादिराक्षसान्।
त्रिलोकजयिनो हित्वा किं प्रशंसथ रावणिम् ॥२२॥

उन आत्मनिष्ठ मुनीश्वरों का भाषण सुनकर श्री रामचन्द्रजी ने अत्यन्त विस्मित हो उन से हाथ जोड़कर पूछा—हे मुनिगण, आप लोग त्रिलोकविजयी रावण और कुम्भकर्णादि राक्षसों को छोड़कर रावण के पुत्र मेघनाद की ही प्रशंसा क्यों करते हैं?॥ २१-२२॥

ततस्तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः।
कुम्भयोनिर्महातेजा रामं प्रीत्या वचोऽब्रवीत् ॥२३॥

शृणु राम यथा वृत्तं रावणे रावणस्य च ।
जन्म कर्म वरादानं सङ्क्षेपाद्वदतो मम ॥ २४ ॥
पुरा कृतयुगे राम पुलस्त्यो ब्रह्मणः सुतः ।
तपस्तप्तुं गतो विद्वान्मेरोः पार्श्वं महामतिः ॥२५॥

महात्मा रघुनाथजी के ये वचन सुनकर परम तेजस्वी मुनिवर अगस्त्यजी ने उन से अति प्रीतिपूर्वक कहा—हे राम, तुम रावण और उस के पुत्र के जन्म, कर्म और वरप्राप्ति आदि का वृत्तान्त सुनो, मैं उन का संक्षेप से वर्णन करता हूँ। हे राम, पूर्वकाल में सतयुग में ब्रह्मा के पुत्र, महामति विद्वान् पुलस्त्यजी तप करने के लिए सुमेरु पर्वत पर गये ॥ २३-२५ ॥

तृणबिन्दोराश्रमेऽसौ न्यवसन्मुनिपुङ्गवः ।
तपस्तेपे महातेजाः स्वाध्यायनिरतः सदा ॥२६॥
तत्राश्रमे महारम्ये देवगन्धर्वकन्यकाः ।
गायन्त्यो ननृतुस्तत्र हसन्त्यो वादयन्ति च ॥२७॥
पुलस्त्यस्य तपोविघ्नं चक्रुः सर्वा अनिन्दिताः ।

वे महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ तृणबिन्दु के आश्रम में रहने लगे और वहाँ निरन्तर स्वाध्याय, प्रणवजप में तत्पर रह तप करने लगे। उस महारमणीय आश्रम में देवता और गन्धर्वों की सुन्दरी कन्याएँ गाती, बजाती और हँसती हुई नाचने तथा पुलस्त्यजी के तप में विघ्न डालने लगीं ॥ २६-२७ ॥

ततः क्रुद्धो महातेजा व्याजहार वचो महत् ॥२८॥
या मे दृष्टिपथं गच्छेत्सा गर्भं धारयिष्यति ।
ताः सर्वाः शापसंविग्ना न तं देशं प्रचक्रमुः ॥२९॥
तृणबिन्दोस्तु राजर्षेः कन्या तन्नाशृणोद्वचः ।
विचचार मुनेरग्रे निर्भया तं प्रपश्यती ॥३०॥

तब महातेजस्वी पुलस्त्यजी अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोले—जिस देव या गन्धर्व की कन्या पर मेरी दृष्टि पड़ जायगी वही गर्भवती हो जायगी। तब उस शाप से भयभीत होकर उन में से कोई भी उस स्थान पर न आयी। किन्तु राजर्षि तृणबिन्दु की कन्या ने ये वाक्य नहीं सुने थे, इसलिए वह मुनीश्वर के सामने निर्भयतापूर्वक उन्हें देखती हुई घूमती रही ॥ २८-३० ॥

बभूव पाण्डुरतनुर्व्यञ्जितान्तः शरीरजा ।
दृष्ट्वा सा देहवैवर्ण्यं भीता पितरमन्वगात् ॥३१॥
तृणबिन्दुश्च तां दृष्ट्वा राजर्षिरमितद्युतिः ।
ध्यात्वा मुनिकृतं सर्वमवैद्विज्ञानचक्षुषा ॥३२॥
तां कन्यां मुनिवर्याय पुलस्त्याय ददौ पिता ।
तां प्रगृह्याब्रवीत्कन्यां बाढमित्येव स द्विजः ॥३३॥

इस से वह गर्भावस्था को प्राप्त होकर पीली पड़ गयी तथा उस के स्तन प्रकट होने लगे। अपने शरीर को विवर्ण हुआ देख वह डरती हुई अपने पिता के पास आयी। जब उसे महातेजस्वी राजर्षि तृणबिन्दु ने देखा तो उन्होंने ध्यान द्वारा अपनी ज्ञानदृष्टि से मुनिवर पुलस्त्य का सब कृत्य जान लिया। तब पिता तृणबिन्दु ने वह कन्या मुनिश्रेष्ठ पुलस्त्य को दे दी और उन्होंने 'बहुत अच्छा' कह उसे स्वीकार कर लिया ॥ ३१-३३ ॥

शुश्रूषणपरां दृष्ट्वा मुनिः प्रीतोऽब्रवीद्वचः ।
दास्यामि पुत्रमेकं ते उभयोर्वंशवर्धनम् ॥ ३४ ॥
ततः प्रासूत सा पुत्रं पुलस्त्याल्लोकविश्रुतम् ।
विश्रवा इति विख्यातः पौलस्त्यो ब्रह्मविन्मुनिः ३५
तस्य शीलादिकं दृष्ट्वा भरद्वाजो महामुनिः ।
भार्यार्थं स्वां दुहितरं ददौ विश्रवसे मुदा ॥३६॥

उसे अत्यन्त शुश्रूषापरायण देख मुनिवर पुलस्त्य ने उस से प्रसन्न होकर कहा—मैं तुझे मातृपक्ष पितृपक्ष दोनों वंशों को बढ़ानेवाला एक पुत्र दूँगा। तब उस कन्या ने पुलस्त्यजी द्वारा एक त्रिलोकविख्यात पुत्र को जन्म दिया, जो पुलस्त्यपुत्र ब्रह्मज्ञ मुनिवर विश्रवा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विश्रवा का शील स्वभावादि देखकर महामुनि भरद्वाज ने प्रसन्न होकर उन्हें अपनी पुत्री विवाह दी ॥ ३४-३६ ॥

तस्यां तु पुत्रः सञ्जज्ञे पौलस्त्याल्लोकसम्मतः ।
पितृतुल्यो वैश्रवणो ब्रह्मणा चानुमोदितः ॥३७॥
ददौ तत्तपसा तुष्टो ब्रह्मा तस्मै वरं शुभम् ।
मनोऽभिलषितं तस्य धनेशत्वमखण्डितम् ॥३८॥

भरद्वाजपुत्री से पुलस्त्यनन्दन विश्रवा ने त्रिलोकी में प्रतिष्ठित एक पुत्र उत्पन्न किया। वह विश्रवा का पुत्र कुबेर अपने पिता ही के समान था तथा ब्रह्माजी ने भी उस की प्रशंसा की थी। उस के तप से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने उसे मनोवाञ्छित श्रेष्ठ वर देकर अखण्डित धनेश्वरता दी ॥ ३७-३८ ॥

ततो लब्धवरः सोऽपि पितरं द्रष्टुमागतः ।
पुष्पकेण धनाध्यक्षो ब्रह्मदत्तेन भास्वता ॥३९॥
नमस्कृत्याथ पितरं निवेद्य तपसः फलम् ।
प्राह मे भगवान् ब्रह्मा दत्त्वा वरमनिन्दितम् ॥४०॥
निवासाय न मे स्थानं दत्तवान्परमेश्वरः ।
ब्रूहि मे नियतं स्थानं हिंसा यत्र न कस्यचित् ॥४१॥

ब्रह्माजी के वरदान से धनाध्यक्ष होकर वह उन्हीं के दिये हुए महातेजस्वी पुष्पक विमान पर चढ़कर अपने पिता से मिलने के लिए आया और उन्हें अपने तप का फल निवेदन कर प्रणाम करके बोला—भगवान् ब्रह्माजी ने मुझे यह अत्युत्तम वर दिया है किन्तु उन परमेश्वर ने मुझे रहने के लिए कोई स्थान नहीं दिया। अतः आप मुझे कोई ऐसा निश्चित स्थान बताइये जहाँ रहने से किसी की हिंसा न हो ॥३९-४१॥

विश्रवा अपि तं प्राह लङ्कानाम पुरी शुभा ।
राक्षसानां निवासाय निर्मिता विश्वकर्मणा ॥४२॥
त्यक्त्वा विष्णुभयाद्दैत्या विविशुस्ते रसातलम् ।
सा पुरी दुष्प्रधर्षान्यैर्मध्येसागरमास्थिता ॥४३॥

तब विश्राव ने उस से कहा—विश्वकर्मा (मय दानव) ने लंका नाम की एक सुन्दर पुरी राक्षसों के रहने के लिए बनायी है किन्तु वे लोग विष्णुभगवान् के भय से उसे छोड़कर रसातल को चले गये हैं। उस पुरी का किसी शत्रु से आक्रान्त होना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वह समुद्र के बीच में बसी हुई है ॥ ४२-४३ ॥

तत्र वासाय गच्छ त्वं नान्यैः साधिष्ठिता पुरा ।
पित्रादिष्टस्त्वसौ गत्वा तां पुरीं धनदोऽविशत् ।४४।
स तत्र सुचिरं कालमुवास पितृसम्मतः ।

तुम वहीं रहने के लिए जाओ। उस पुरी पर इस से पहले और किसी का अधिकार नहीं हुआ। तब धनपति कुबेर ने पिता की आज्ञा से जाकर उस पुरी में

प्रवेश किया। उस लंकापुरी में अपने पिता की सम्मति से उन्होंने बहुत समय तक निवास किया॥ ४४॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य सुमाली नाम राक्षसः॥४५॥
रसातलान्मर्त्यलोकं चचार पिशिताशनः।
गृहीत्वा तनयां कन्यां साक्षाद्देवीमिव श्रियम्॥४६॥
अपश्यद्धनदं देवं चरन्तं पुष्पकेण सः।
हिताय चिन्तयामास राक्षसानां महामनाः॥४७॥

किसी समय सुमाली नामक एक मांसभोजी राक्षस साक्षात् लक्ष्मी देवी के समान रूपवती अपनी कारी पुत्री को साथ लिये रसातल से आकर मर्त्यलोक में घूम रहा था। उस ने देवश्रेष्ठ कुबेर को पुष्पक विमान पर चढ़कर विचरते देखा। तब महामति सुमाली राक्षसों के हित का उपाय सोचने लगा॥ ४५-४७॥

उवाच तनयां तत्र कैकसीं नाम नामतः।
वत्से विवाहकालस्ते यौवनं चातिवर्तते॥४८॥
प्रत्याख्यानाच्च भीतैस्त्वं न वरैर्गृह्यसे शुभे।
सा त्वं वरय भद्रं ते मुनिं ब्रह्मकुलोद्भवम्॥४९॥
स्वयमेव ततः पुत्रा भविष्यन्ति महाबलाः।
ईदृशाः सर्वशोभाढ्या धनदेन समाः शुभे॥५०॥

वह कैकसी नामवाली अपनी कन्या से बोला—बेटी, तेरे विवाह का समय और यौवनकाल बीता जा रहा है। किन्तु हे सुन्दरि, कहीं तू अस्वीकार न कर दे, इस भय से कोई वर वरण नहीं करता। अतः तेरा कल्याण हो, तू स्वयं ही जाकर ब्रह्माजी के वंश में उत्पन्न हुए मुनिवर विश्रवा को वरण कर ले। हे शुभे, उन से इस कुबेर के समान सर्वशोभासम्पन्न महाबलवान् पुत्र तुझे उत्पन्न होंगे॥ ४८-५०॥

तथेति साश्रमं गत्वा मुनेरग्रे व्यवस्थिता ।
लिखन्ती भुवमग्रेण पादेनाधोमुखी स्थिता ॥५१॥
तामपृच्छन्मुनिः का त्वं कन्यासि वरवर्णिनि ।
साब्रवीत्प्राञ्जलिर्ब्रह्मन् ध्यानेन ज्ञातुमर्हसि ॥५२॥

तब इस बात को स्वीकार कर कैकसी विश्रवा मुनीश्वर के आश्रम पर जाकर खड़ी हो गयी और नीचे को मुख किये चरणनख से पृथिवी को कुरेदने लगी। मुनीश्वर ने उस से पूछा—हे सुन्दरवर्णवाली, तू कौन है और किस लिए यहाँ आयी है ? कैकसी ने हाथ जोड़कर कहा—ब्रह्मन्, आप ध्यान द्वारा सभी कुछ जान सकते हैं ॥ ५१-५२ ॥

ततो ध्यात्वा मुनिः सर्वं ज्ञात्वा तां प्रत्यभाषत ।
ज्ञातं तवाभिलषितं मत्तः पुत्रानभीप्ससि ॥५३॥
दारुणायां तु वेलायामागतासि सुमध्यमे ।
अतस्ते दारुणौ पुत्रौ राक्षसौ सम्भविष्यतः ॥५४॥
साब्रवीन्मुनिशार्दूल त्वत्तोऽप्येवंविधौ सुतौ ।
तामाह पश्चिमो यस्ते भविष्यति महामतिः ॥५५॥
महाभागवतः श्रीमान् रामभक्त्येकतत्परः ।

तब मुनिवर ने ध्यान द्वारा सब बात जानकर उस से कहा—मैं तेरी अभिलाषा जान गया, तू मुझ से पुत्रों की इच्छा करती है। किन्तु हे सुन्दरि, तू इस दारुण समय में आयी है इस लिए तेरे पुत्र भी महाभयंकर दो राक्षस होंगे। कैकसी ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, क्या आप के द्वारा भी ऐसे पुत्र होने चाहियें ? तब मुनीश्वर ने उस से कहा कि उन के पश्चात् तेरा जो पुत्र होगा वह महाबुद्धिमान्, परम भगवद्भक्त, श्रीसम्पन्न और एकमात्र रामभक्ति में ही तत्पर होगा ॥ ५३-५५ ॥

इत्युक्ता सा तथा काले सुषुवे दशकन्धरम् ॥५६॥
रावणं विंशतिभुजं दशशीर्षं सुदारुणम् ।
तद्रक्षोजातमात्रेण चचाल च वसुन्धरा ॥५७॥
बभूवुर्नाशहेतूनि निमित्तान्यखिलान्यपि ।
कुम्भकर्णस्ततो जातो महापर्वतसन्निभः ॥५८॥

मुनीश्वर के ऐसा कहने पर उस ने यथासमय दस शिर और बीस भुजाओं-वाले अति भयंकर रावण को जन्म दिया। उस राक्षस के जन्म लेते ही पृथिवी काँपने लगी और संसार के नाश के समस्त कारण उपस्थित हो गये। उस के पश्चात् महापर्वत के समान बड़े डील डौलवाला कुम्भकर्ण उत्पन्न हुआ ॥ ५६-५८ ॥

ततः शूर्पणखा नाम जाता रावणसोदरी।
ततो विभीषणो जातः शान्तात्मा सौम्यदर्शनः ॥ ५९॥
स्वाध्यायी नियताहारो नित्यकर्मपरायणः।
कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा द्विजान् सन्तुष्टचेतसः ॥६०॥
भक्षयन्नृषिसङ्घांश्च विचचारातिदारुणः।
रावणोऽपि महासत्त्वो लोकानां भयदायकः।
ववृधे लोकनाशाय ह्यामयो देहिनामिव ॥६१॥

फिर रावण की बहिन शूर्पणखा का जन्म हुआ और उस के पीछे अति शान्तचित्त, सौम्यमूर्ति विभीषण उत्पन्न हुआ, जो अत्यन्त स्वाध्यायशील, मिताहारी और नित्यकर्मपरायण था। अत्यन्त दारुण दुष्टात्मा कुम्भकर्ण सन्तुष्टचित्त ब्राह्मण और ऋषियों के समूहों को भक्षण करता हुआ पृथिवी पर घूमने लगा। तथा सम्पूर्ण लोकों को भयभीत करनेवाला महाबली रावण भी प्राणियों का नाश करने-वाले रोग के समान त्रिलोकी को नष्ट करने के लिए बढ़ने लगा ॥ ५९-६१ ॥

राम त्वं सकलान्तरस्थमभितो जानासि विज्ञानदृक्
साक्षी सर्वहृदि स्थितो हि परमो नित्योदितो निर्मलः।
त्वं लीलामनुजाकृतिः स्वमहिमन् मायागुणैर्नाज्यसे
लीलार्थं प्रतिचोदितोऽद्य भवता वक्ष्यामि रक्षोद्भवम् ॥६२॥

हे राम, आप सब के अन्तःकरणों में विराजमान हैं और साक्षीरूप से अपनी ज्ञानदृष्टि द्वारा सब के हृदयस्थित विचारों को भली भाँति जानते हैं। आप परम श्रेष्ठ, नित्यप्रबुद्ध और निर्मल हैं। हे अपनी महिमा में स्थित रहनेवाले परमेश्वर, आप ने लीला से ही यह मनुष्यरूप धारण किया है, किन्तु आप माया के गुणों से लिप्त नहीं होते। आप ने लीलावश मुझ से पूछा है, इसी लिए मैं यह राक्षसों का जन्मवृत्तान्त सुना रहा हूँ ॥ ६२ ॥

जानामि केवलमनन्तमचिन्त्यशक्तिं चिन्मात्रमक्षरमजं विदितात्मतत्त्वम् ।
त्वां राम गूढनिजरूपमनुप्रवृत्तो मूढोऽप्यहं भवदनुग्रहतश्चरामि ॥६३॥
एवं वदन्तमिनवंशपवित्रकीर्तिः कुम्भोद्भवं रघुपतिः प्रहसन्बभाषे ।
मायाश्रितं सकलमेतदनन्यकत्वान्मत्कीर्तनं जगति पापहरं निबोध ॥६४॥

हे राम, मैं आप को एकमात्र, अनन्त, अचिन्त्यशक्ति, चिन्मात्र, अक्षर, और आत्मबोधस्वरूप जानता हूँ तथा माया के द्वारा अपने स्वरूप को गुप्त रखनेवाले आप में भजन द्वारा परायण हो मैं मूढ भी आप की कृपा से स्वच्छन्द विचरता रहता हूँ। अगस्त्यजी के इस प्रकार कहने पर सूर्यवंश के सुयशस्वरूप श्री रघुनाथ-जी ने अगस्त्यजी से हँसकर कहा—यह सम्पूर्ण संसार मायामय है, क्योंकि वास्तव में यह मुझ से पृथक् नहीं है। हे मुने, तुम मेरे गुणकीर्तन को ही इस संसार में सम्पूर्ण पापों का नाश करनेवाला जानो ॥ ६३-६४ ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड
के प्रथम सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का
प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ १ ॥

द्वितीय सर्ग

रावण आदि का घोर तप और राज्यस्थापन ।

श्री महादेव उवाच—

श्रीरामवचनं श्रुत्वा परमानन्दनिर्भरः ।
मुनिः प्रोवाच सदसि सर्वेषां तत्र शृण्वताम् ॥ १ ॥
अथ वित्तेश्वरो देवस्तत्र कालेन केनचित् ।
आययौ पुष्पकारूढः पितरं द्रष्टुमञ्जसा ॥ २ ॥
दृष्ट्वा तं कैकसी तत्र भ्राजमानं महौजसम् ।

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, रघुनाथजी के ये वचन सुनकर अगस्त्य मुनि अत्यन्त आनन्द से भर गये और उस सभा में सब के सुनते हुए फिर कहने लगे—हे राम, किसी समय धनपति कुबेरजी अकस्मात् अपने पिता से मिलने के लिए पुष्पक विमान पर चढ़कर आये। वहाँ कैकसी ने महातेजस्वी कुबेर को पिता के पास बड़े ठाट के साथ विराजमान देखा ॥ १-२ ॥

राक्षसी पुत्रसामीप्यं गत्वा रावणमब्रवीत् ॥ ३ ॥
पुत्र पश्य धनाध्यक्षं ज्वलन्तं स्वेन तेजसा ।
त्वमप्येवं यथा भूयास्तथा यत्नं कुरु प्रभो ॥ ४ ॥
तच्छ्रुत्वा रावणो रोषात् प्रतिज्ञामकरोद्द्रुतम् ।
धनदेन समो वापि ह्यधिको वाचिरेण तु ॥ ५ ॥
भविष्याम्यम्ब मां पश्य सन्तापं त्यज सुव्रते ।

कुबेर को देखकर कैकसी अपने पुत्र रावण के पास जाकर बोली—बेटा, अपने तेज से प्रकाशमान इस धनपति को देखो और हे समर्थ, तुम भी वही प्रयत्न करो जिस से ऐसे हो जाओ। यह सुनकर रावण ने तुरन्त ही बड़े रोष से प्रतिज्ञा की कि हे शुभव्रतवाली, तुम खेद न करो, देखो मातः, मैं शीघ्र ही कुबेर के समान अथवा इस से भी अधिक ऐश्वर्यशाली हो जाऊँगा ॥ ३-५ ॥

इत्युक्त्वा दुष्करं कर्तुं तपः स दशकन्धरः ॥ ६ ॥
अगमत्फलसिद्ध्यर्थं गोकर्णं तु सहानुजः।
स्वं स्वं नियममास्थाय भ्रातरस्ते तपो महत् ॥ ७ ॥
आस्थिता दुष्करं घोरं सर्वलोकैकतापनम्।
दशवर्षसहस्राणि कुम्भकर्णोऽकरोत्तपः ॥ ८ ॥
विभीषणोऽपि धर्मात्मा सत्यधर्मपरायणः।
पञ्चवर्षसहस्राणि पादेनैकेन तस्थिवान् ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर भाइयों के सहित रावण इच्छित फलप्राप्ति के लिए गोकर्ण क्षेत्र में दुष्कर तपस्या करने चला गया। वहाँ वे तीनों भाई अपने अपने व्रत में दृढ रहकर समस्त लोकों को तपानेवाला अति महान् तप करने लगे। उन में से कुम्भकर्ण ने दस हजार वर्ष तप किया। सत्यधर्मपरायण धर्मात्मा विभीषण भी पाँच हजार वर्ष तक तप करते हुए एक ही पाँव से खड़े रहे ॥ ६-९ ॥

दिव्यवर्षसहस्रं तु निराहारो दशाननः।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु शीर्षमग्नौ जुहाव सः।
एवं वर्षसहस्राणि नव तस्यातिचक्रमुः ॥१०॥
अथ वर्षसहस्रे तु दशमे दशमं शिरः।
छेत्तुकामस्य धर्मात्मा प्राप्तश्चाथ प्रजापतिः।
वत्स वत्स दशग्रीव प्रीतोऽस्मीत्यभ्यभाषत ॥११॥
वरं वरय दास्यामि यत्ते मनसि काङ्क्षितम्।

रावण एक हजार दिव्य वर्ष तक निराहार रहा, फिर सहस्र वर्ष पूर्ण होने पर उस ने अपना एक मस्तक अग्नि में हवन कर दिया। इसी प्रकार तप करते उसे नौ हजार दिव्य वर्ष बीत गये। जब दस हजार वर्ष बीतने को हुए और जिस समय रावण अपना दसवाँ शिर भी काटने को उद्यत हुआ तो धर्मात्मा ब्रह्माजी प्रकट हुए और बोले—बेटा रावण, मैं प्रसन्न हूँ। तू वर माँग, मैं तेरी जो इच्छा होगी वही पूर्ण करूँगा ॥ १०-११ ॥

दशग्रीवोऽपि तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥१२॥
अमरत्वं वृणोमीश वरदो यदि मे भवान् ।
सुपर्णनागयक्षाणां देवतानां तथासुरैः ।
अवध्यत्वं तु मे देहि तृणभूता हि मानुषाः ॥१३॥
तथास्त्विति प्रजाध्यक्षः पुनराह दशाननम् ।
अग्नौ हुतानि शीर्षाणि यानि तेऽसुरपुङ्गव ॥१४॥
भविष्यन्ति यथापूर्वमक्षयाणि च सत्तम ॥१५॥

यह सुन रावण ने अति प्रसन्न होकर कहा—हे ईश्वर, यदि आप मुझे वर ही देना चाहते हैं तो मैं अमरता माँगता हूँ। मैं गरुड, सर्प, यक्ष, देव और दानव आदि किसी से भी न मारा जा सकूँ। बस, मैं यही वर माँगता हूँ, तिनकों के समान बेचारे मनुष्यों से मुझे भय नहीं है। तब ब्रह्माजी ने 'ऐसा ही हो' यह कहकर रावण से फिर कहा कि हे असुरश्रेष्ठ, तुम ने अपने जो शिर अग्नि में होम दिये हैं वे पहले के समान फिर हो जायँगे तथा हे साधुश्रेष्ठ, उन का कभी नाश न होगा ॥ १२-१५ ॥

एवमुक्त्वा ततो राम दशग्रीवं प्रजापतिः ।
विभीषणमुवाचेदं प्रणतं भक्तवत्सलः ॥ १६ ॥

विभीषण त्वया वत्स कृतं धर्मार्थमुत्तमम् ।
तपस्ततो वरं वत्स वृणीष्वाभिमतं हितम् ॥१७॥
विभीषणोऽपि तं नत्वा प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
देव मे सर्वदा बुद्धिर्धर्मे तिष्ठतु शाश्वती ।
मा रोचयत्वधर्मं मे बुद्धिः सर्वत्र सर्वदा ॥१८॥

हे राम, रावण से इस प्रकार कह फिर भक्तवत्सल ब्रह्माजी ने अति विनीत विभीषण से कहा—वत्स विभीषण, तुम ने यह श्रेष्ठ तप धर्मसम्पादन के लिए किया है, इस लिए बेटा, तुम्हें जो हितकर वर अभीष्ट हो सो माँगो। तब विभीषण ने उन्हें नमस्कार कर उन से हाथ जोड़कर कहा—भगवन्, मेरी बुद्धि सर्वदा निश्चलरूप से धर्म में ही रहे, कभी किसी अवस्था में भी अधर्म में मेरी रुचि न हो ॥ १६-१८ ॥

ततः प्रजापतिः प्रीतो विभीषणमथाब्रवीत् ।
वत्स त्वं धर्मशीलोऽसि तथैव च भविष्यसि ॥१९॥
अयाचितोऽपि ते दास्ये ह्यमरत्वं विभीषण ।
कुम्भकर्णमथोवाच वरं वरय सुव्रत ॥ २० ॥

इस पर ब्रह्माजी ने अति प्रसन्न होकर विभीषण से कहा—बेटा, तुम बड़े धर्मनिष्ठ हो, तुम जैसा चाहते हो वैसा ही होगा। हे विभीषण, यद्यपि तुम ने माँगा नहीं है, फिर भी मैं तुम्हें अमर होने का वर और देता हूँ। तदनन्तर वे कुम्भकर्ण से बोले—हे सुव्रत, तुम वर माँगो ॥ १९-२० ॥

वाण्या व्याप्तोऽथ तं प्राह कुम्भकर्णः पितामहम् ।
स्वप्स्यामि देव षण्मासान्दिनमेकं तु भोजनम् ॥२१॥
एवमस्त्विति तं प्राह ब्रह्मा दृष्ट्वा दिवौकसः ।
सरस्वती च तद्वक्त्रान्निर्गता प्रययौ दिवम् ॥२२॥
कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा चिन्तयामास दुःखितः ।
अनभिप्रेतमेवास्यात् किं निर्गतमहो विधिः ॥२३॥

तब कुम्भकर्ण ने देवताओं की प्रेरणा से फैलाई हुई सरस्वती देवी की माया से मोहित होकर ब्रह्माजी से कहा—हे देव, मैं छः महीने सोऊँ और एक दिन भोजन करूँ। ब्रह्माजी ने उस से देवताओं की ओर देखते हुए कहा—ऐसा ही हो। ब्रह्माजी

के ऐसा कहते ही सरस्वती तुरन्त ही उस के मुख से निकलकर स्वर्गलोक को चली गयीं। तब दुष्टचित्त कुम्भकर्ण ने मन ही मन दुःखित होकर सोचा कि अहो, भाग्य का चक्र तो देखो, जिस की मुझे इच्छा ही नहीं है ऐसी बात मेरे मुख से क्यों निकल गयी ? ॥ २१-२३ ॥

सुमाली वरलब्धांस्तान् ज्ञात्वा पौत्रान् निशाचरान् ।
पातालान्निर्भयः प्रायात् प्रहस्तादिभिरन्वितः ॥२४॥
दशग्रीवं परिष्वज्य वचनं चेदमब्रवीत् ।
दिष्ट्या ते पुत्र संवृत्तो वाञ्छितो मे मनोरथः ॥२५॥
यद्भयाच्च वयं लङ्कां त्यक्त्वा याता रसातलम् ।
तद्गतं नो महाबाहो महद्विष्णुकृतं भयम् ॥२६॥

अपने नाती तीनों राक्षसों को वर मिलने का समाचार सुनकर सुमाली प्रहस्तादि राक्षसों को साथ लिए निर्भयतापूर्वक पाताल से आया और रावण को हृदय से लगाकर बोला—बेटा, बड़े आनन्द की बात है कि आज मेरा चाहा हुआ तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया। जिस के भय से हम लंकापुरी को छोड़कर पाताललोक को चले गये थे, हे महाबाहो, आज हमारा उस विष्णु से भय जाता रहा ॥ २४-२६ ॥

अस्माभिः पूर्वमुषिता लङ्केयं धनदेन ते ।
भ्रात्राक्रान्तामिदानीं त्वं प्रत्यानेतुमिहार्हसि ॥२७॥
साम्ना वाथ बलेनापि राज्ञां बन्धुः कुतः सुहृत् ।

इस लंकापुरी में, जो अब तुम्हारे भाई कुबेर के अधिकार में है, पहले हम रहा करते थे। अब तुम्हें इसे सामनीति से अथवा बलपूर्वक फिर लौटा लेना चाहिये। वन्धुत्व का विचार करना ठीक नहीं, क्यों कि राजाओं के बन्धु उन के कब हितकारी हुए हैं ? ॥ २७ ॥

इत्युक्तो रावणः प्राह नार्हस्येवं प्रभाषितुम् ॥२८॥
वित्तेशो गुरुरस्माकमेवं श्रुत्वा तमब्रवीत् ।
प्रहस्तः प्रश्रितं वाक्यं रावणं दशकन्धरम् ॥२९॥
शृणु रावण यत्नेन नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ।
नाधीता राजधर्मास्ते नीतिशास्त्रं तथैव च ॥३०॥

सुमाली के ऐसा भडकाने पर रावण ने कहा—आप को ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, धनपति कुबेर हमारे बड़े हैं। यह सुनकर प्रहस्त ने रावण से अति नम्रता-पूर्वक कहा—हे रावण, मैं जो कुछ कहता हूँ सावधान होकर सुनो। तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। अभी तुम ने राजधर्म और नीतिशास्त्र का अध्ययन नहीं किया है॥ २८-३०॥

शूराणां न हि सौभ्रात्रं शृणु मे वदतः प्रभो।
कश्यपस्य सुता देवा राक्षसाश्च महाबलाः ॥३१॥
परस्परमयुध्यन्त त्यक्त्वा सौहृदमायुधैः।
नैवेदानीन्तनं राजन् वैरं देवैरनुष्ठितम् ॥ ३२ ॥

शूरवीरों में भ्रातृत्व नहीं हुआ करता। हे समर्थ, इस विषय में जो कुछ निवेदन करता हूँ सुनिये। महर्षि कश्यपजी की सन्तान देवता और राक्षस बड़े शूर-वीर थे इसलिए वे बन्धुत्व को तिलाञ्जलि देकर परस्पर अस्त्र शस्त्रों से लड़ने लगे। हे राजन्, देवताओं के साथ हमारा वैर कुछ हाल ही का नहीं, यह तो आरम्भ से ही चला आता है॥ ३१-३२॥

प्रहस्तस्य वचः श्रुत्वा दशग्रीवो दुरात्मनः।
तथेति क्रोधताम्राक्षस्त्रिकूटाचलमन्वगात् ॥ ३३ ॥
दूतं प्रहस्तं सम्प्रेष्य निष्कास्य धनदेश्वरम्।
लङ्कामाक्रम्य सचिवै राक्षसैः सुखमास्थितः ॥३४॥

दुरात्मा प्रहस्त के ये वचन सुनकर रावण ने कहा कि तब तो ठीक है। उस समय उस के नेत्र क्रोध से लाल हो गये और वह तुरन्त ही त्रिकूट पर्वत पर पहुँचा। उस ने प्रहस्त को अपना दूत बनाकर भेजा और कुबेर को लंकापुरी से निकाल कर उस पर अपना अधिकार किया तथा अपने राक्षसमन्त्रियों के सहित वहाँ सुखपूर्वक रहने लगा॥ ३३-३४॥

धनदः पितृवाक्येन त्यक्त्वा लङ्कां महायशाः।
गत्वा कैलासशिखरं तपसातोषयच्छिवम् ॥३५॥
तेन सख्यमनुप्राप्य तेनैव परिपालितः।
अलकां नगरीं तत्र निर्ममे विश्वकर्मणा ॥३६॥

दिक्पालत्वं चकारात्र शिवेन परिपालितः ।

महायशस्वी कुबेर ने लंकापुरी को छोड़कर पिता के कहने से कैलास पर्वत पर जाकर तपस्या द्वारा श्री महादेवजी को प्रसन्न किया तथा उन से मित्रता स्थापित कर उन्हीं से सुरक्षित हो वहाँ विश्वकर्मा से अलका नाम की नगरी बनवायी। वहाँ वे भगवान् शंकर की रक्षा में रहकर दिक्पालत्व का अधिकार भोगने लगे ॥ ३५-३६ ॥

रावणो राक्षसैः सार्धमभिषिक्तः सहानुजैः ॥३७॥
राज्यं चकारासुराणां त्रिलोकीं बाधयन्खलः ।
भगिनीं कालखञ्जाय ददौ विकटरूपिणीम् ॥३८॥
विद्युज्जिह्वाय नाम्नासौ महामायी निशाचरः ।
ततो मयो विश्वकर्मा राक्षसानां दितेः सुतः ॥३९॥
सुतां मन्दोदरीं नाम्ना ददौ लोकैकसुन्दरीम् ।
रावणाय पुनः शक्तिममोघां प्रीतमानसः ॥४०॥

इधर, महादुष्ट रावण राक्षसों से अभिषिक्त हो अपने भाइयों के सहित तीनों लोकों को कष्ट देता हुआ राक्षसों का राज्य बढाने लगा। उस महामायावी राक्षस ने अपनी विकरालवदना बहिन कालखञ्ज के वंश में उत्पन्न हुए विद्युज्जिह्व नामक राक्षस को विवाह दी। इसी समय, राक्षसों के विश्वकर्मा दितिपुत्र मय ने अपनी त्रिलोक-सुन्दरी कन्या मन्दोदरी रावण को दी, और फिर उसे प्रसन्न चित्त से एक अमोघ शक्ति भी दी ॥ ३७-४० ॥

वैरोचनस्य दौहित्रीं वृत्रज्वालेति विश्रुताम् ।
स्वयन्दत्तामुदवहत्कुम्भकर्णाय रावणः ॥ ४१ ॥
गन्धर्वराजस्य सुतां शैलूषस्य महात्मनः ।
विभीषणस्य भार्यार्थे धर्मज्ञां समुदावहत् ॥ ४२ ॥
सरमां नाम सुभगां सर्वलक्षणसंयुताम् ।

तदनन्तर रावण ने स्वयं लाकर दी हुई वैरोचन की धेवती वृत्रज्वाला के साथ कुम्भकर्ण का विवाह किया तथा गन्धर्वराज महात्मा शैलूष की पुत्री सरमा को, जो अति सुन्दरी, सर्वसुलक्षणसम्पन्ना और समस्त धर्मों को जाननेवाली थी, उस ने पत्नी-रूप से विभीषण को विवाह दिया ॥ ४१-४२ ॥

ततो मन्दोदरी पुत्रं मेघनादमजीजनत् ॥ ४३ ॥

जातमात्रस्तु यो नादं मेघवत्प्रमुमोच ह ।
ततः सर्वेऽब्रुवन्मेघनादोऽयमिति चासकृत् ॥४४॥
कुम्भकर्णस्ततः प्राह निद्रा मां बाधते प्रभो ।
ततश्च कारयामास गुहां दीर्घां सुविस्तराम् ॥४५॥
तत्र सुष्वाप मूढात्मा कुम्भकर्णो विघूर्णितः ।

तत्पश्चात् मन्दोदरी को मेघनाद नामक पुत्र उत्पन्न किया, उस ने उत्पन्न होते ही मेघ के समान शब्द किया था, इसलिए सब ने बारम्बार यही कहा कि यह मेघनाद है। तदनन्तर कुम्भकर्ण बोला कि प्रभो, मुझे निद्रा सता रही है। फिर उस ने एक बड़ी लम्बी चौड़ी गुहा बनवायी, वहाँ मन्दमति कुम्भकर्ण खर्राटे लेता हुआ सो गया॥ ४३-४५॥

निद्रिते कुम्भकर्णे तु रावणो लोकरावणः ॥४६॥
ब्राह्मणान् ऋषिमुख्यांश्च देवदानवकिन्नरान् ।
देवश्रियो मनुष्यांश्च निजघ्ने समहोरगान् ॥४७॥
धनदोऽपि ततः श्रुत्वा रावणस्याक्रमं प्रभुः ।
अधर्मं मा कुरुष्वेति दूतवाक्यैर्न्यवारयत् ॥४८॥
ततः क्रुद्धो दशग्रीवो जगाम धनदालयम् ।
विनिर्जित्य धनाध्यक्षं जहारोत्तमपुष्पकम् ॥४९॥

कुम्भकर्ण के सो जाने पर समस्त लोकों को रुलानेवाले रावण ने ब्राह्मण, मुख्य मुख्य ऋषि, देवता, दानव, किन्नर, सर्प और मनुष्य सभी को मारा तथा देवताओं की सम्पत्ति नष्ट कर दी, भगवान् कुबेर ने जब रावण की उच्छृङ्खलता का समाचार सुना तो उन्होंने दूत के मुख से यह सन्देश भेजकर कि 'अधर्म मत करो' उसे रोका। इस पर रावण क्रोधित होकर कुबेर की पुरी पर चढ़ आया और उन्हें परास्त कर उन का अति उत्तम पुष्पक विमान छीन लाया॥ ४६-४९॥

ततो यमं च वरुणं निर्जित्य समरेऽसुरः ।
स्वर्गलोकमगात्तूर्णं देवराजजिघांसया ॥५०॥
ततोऽभवन्महद्युद्धमिन्द्रेण सह दैवतैः ।
ततो रावणमभ्येत्य बबन्ध त्रिदशेश्वरः ॥५१॥

तदनन्तर वह राक्षस युद्ध में यम और वरुण को भी जीतकर इन्द्र का वध करने की इच्छा से तुरन्त ही स्वर्गलोक पर चढ़ आया। वहाँ इन्द्र और अन्य देवताओं के साथ उस का बड़ा घमासान युद्ध हुआ। इस समय देवराज इन्द्र ने आगे बढ़कर रावण को बाँध लिया ॥ ५०-५१ ॥

तच्छ्रुत्वा सहसागत्य मेघनादः प्रतापवान् ।
कृत्वा घोरं महद्युद्धं जित्वा त्रिदशपुङ्गवान् ॥५२॥
इन्द्रं गृहीत्वा बध्वासौ मेघनादो महाबलः ।
मोचयित्वा तु पितरं गृहीत्वेन्द्रं ययौ पुरम् ॥५३॥
ब्रह्मा तु मोचयामास देवेन्द्रं मेघनादतः ।
दत्त्वा वरान्बहूंस्तस्मै ब्रह्मा स्वभवनं ययौ ॥५४॥

जब यह समाचार महाप्रतापी मेघनाद ने सुना तो उस ने अकस्मात् आकर देवताओं से घोर युद्ध किया और उन्हें जीतकर इन्द्र को पकड़कर बाँध लिया। फिर महाबली मेघनाद ने अपने पिता को छुड़ाया और इन्द्र को अपने साथ लेकर लंकापुरी में लौट आया। फिर ब्रह्माजी ने जाकर इन्द्र को मेघनाद से छुड़ाया और उसे बहुत से वर देकर वे अपने लोक को चले गये ॥ ५२-५४ ॥

रावणो विजयी लोकान्सर्वान् जित्वा क्रमेण तु ।
कैलासं तोलयामास बाहुभिः परिघोपमैः ॥५५॥
तत्र नन्दीश्वरेणैवं शप्तोऽयं राक्षसेश्वरः ।
वानरैर्मानुषैश्चैव नाशं गच्छेति कोपिना ॥५६॥

विजयी रावण ने क्रम से सब लोकों को जीतकर अपनी परिघ के समान बड़ी बड़ी भुजाओं से कैलास पर्वत को उठा लिया। वहाँ नन्दीश्वर ने क्रोधित होकर राक्षसराज रावण को शाप दिया कि तू मनुष्य और वानरों के हाथ से मारा जायगा ॥ ५५-५६ ॥

शप्तोऽप्यगणयन् वाक्यं ययौ हैहयपत्तनम् ।
तेन बद्धो दशग्रीवः पुलस्त्येन विमोचितः ॥५७॥
ततोऽतिबलमासाद्य जिघांसुर्हरिपुङ्गवम् ।
धृतस्तेनैव कक्षेण वालिना दशकन्धरः ॥५८॥
भ्रामयित्वा तु चतुरः समुद्रान् रावणं हरिः ।
विसर्जयामास ततस्तेन सख्यं चकार सः ॥५९॥
रावणः परमप्रीत एवं लोकान्महाबलः ।
चकार स्ववशे राम बुभुजे स्वयमेव तान् ॥६०॥

किन्तु रावण ने इस शाप को कुछ भी न गिना और वह तुरन्त ही हैहयराज सहस्रार्जुन की राजधानी को चल दिया। वहाँ सहस्रार्जुन ने रावण को बाँध लिया। तब उसे पुलस्त्यजी ने छुड़ाया। फिर वह अत्यन्त बली वानरराज वाली को मारने के लिए उद्यत हुआ, किन्तु उलटे उन्हीं ने रावण को अपनी काँख में दबा लिया और फिर चारों समुद्रों पर घुमाकर उसे छोड दिया। तब रावण ने उन से मित्रता कर ली। हे राम, इस प्रकार महाबली रावण सम्पूर्ण लोकों को अपने अधीन कर उन्हें प्रसन्नतापूर्वक स्वयं ही भोगने लगा॥ ५७-६०॥

एवम्प्रभावो राजेन्द्र दशग्रीवः सहेन्द्रजित् ।
त्वया विनिहतः सङ्ख्ये रावणो लोकरावणः ॥६१॥
मेघनादश्च निहतो लक्ष्मणेन महात्मना ।
कुम्भकर्णश्च निहतस्त्वया पर्वतसन्निभः ॥६२॥
भवान्नारायणः साक्षाज्जगतामादिकृद्विभुः ।
त्वत्स्वरूपमिदं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥६३॥

हे राजेन्द्र, ये दशानन और इन्द्रजित् ऐसे प्रभावशाली थे। उन में से लोकों को रुलानेवाले रावण को आपने मारा और मेघनाद का वध महात्मा लक्ष्मणजी ने किया तथा पर्वत के समान दीर्घकाय कुम्भकर्ण का भी आप ही ने संहार किया। आप सब लोकों के रचनेवाले साक्षात् सर्वव्यापक नारायणदेव हैं। यह सारा चराचर जगत् आप ही का स्वरूप है॥ ६१-६३॥

त्वन्नाभिकमलोत्पन्नो ब्रह्मा लोकपितामहः ।
अग्निस्ते मुखतो जातो वाचा सह रघूत्तम ॥६४॥

बाहुभ्यां लोकपालौघाश्चक्षुर्भ्यां चन्द्रभास्करौ ।
दिशश्च विदिशश्चैव कर्णाभ्यां ते समुत्थिताः ॥६५॥
घ्राणात्प्राणः समुत्पन्नश्चाश्विनौ देवसत्तमौ ।
जङ्घाजानूरुजघनाद्भुवर्लोकादयोऽभवन् ॥६६॥

लोकपितामह ब्रह्माजी आप की नाभि से प्रकट हुए कमल से उत्पन्न हुए हैं तथा हे रघुश्रेष्ठ, वाणी के सहित अग्निदेव ने आप के मुख से जन्म लिया है। आप की भुजाओं से लोकपालों के समूह, नेत्रों से चन्द्रमा और सूर्य तथा कानों से दिशा-विदिशाएँ उत्पन्न हुई हैं। इसी प्रकार आप की घ्राणेन्द्रिय से प्राण और देवताओं में श्रेष्ठ अश्विनीकुमार प्रकट हुए हैं तथा जङ्घा, जानु, ऊरु और जघनादि अङ्गों से भुवर्लोक आदि हुए हैं॥ ६४-६६ ॥

कुक्षिदेशात्समुत्पन्नाश्चत्वारः सागरा हरे ।
स्तनाभ्यामिन्द्रवरुणौ वालखिल्याश्च रेतसः ॥६७॥
मेढ्राद्यमो गुदान्मृत्युर्मन्यो रुद्रस्त्रिलोचनः ।
अस्थिभ्यः पर्वता जाताः केशेभ्यो मेघसंहतिः ॥६८॥
ओषध्यस्तव रोमभ्यो नखेभ्यश्च खरादयः ।
त्वं विश्वरूपः पुरुषो मायाशक्तिसमन्वितः ॥६९॥

हे हरे, आप की कुक्षि से चार समुद्र, स्तनों से इन्द्र और वरुण तथा वीर्य से बालखिल्यादि मुनीश्वर हुए हैं। आप की उपस्थेन्द्रिय से यम, गुदा से मृत्यु, क्रोध से त्रिनयन महादेवजी, अस्थियों से पर्वतसमूह, केशों से मेघ, रोमों से ओषधियाँ तथा नखों से गधे आदि उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार अपनी मायाशक्ति से युक्त आप ही विश्वरूप परम पुरुष हैं॥ ६७-६९ ॥

नानारूप इवाभासि गुणव्यतिकरे सति ।
त्वामाश्रित्यैव विबुधाः पिबन्त्यमृतमध्वरे ॥७०॥
त्वया सृष्टमिदं सर्वं विश्वं स्थावरजङ्गमम् ।
त्वामाश्रित्यैव जीवन्ति सर्वे स्थावरजङ्गमाः ॥७१॥
त्वद्व्यक्तमखिलं वस्तु व्यवहारेऽपि राघव ।
क्षीरमध्यगतं सर्पिर्यथा व्याप्याखिलं पयः ॥७२॥

प्रकृति के गुणों से युक्त होने पर आप ही नानारूपों में दिखायी देने लगते हैं। आप ही के आश्रय से देवगण यज्ञों में अमृतपान करते हैं। यह सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम

जगत् आप ही ने रचा है और समस्त चराचर प्राणी आप ही के आश्रय से जीवित रहते हैं। हे रामजी, जिस प्रकार दूध में मिला हुआ घी उस में सर्वत्र व्याप्त रहता है उसी प्रकार व्यवहारकाल में भी सम्पूर्ण वस्तुएँ आप ही से व्याप्त रहती हैं।।७०-७२।।

त्वद्भासा भासतेऽर्कादि न त्वं तेनावभाससे।
सर्वगं नित्यमेकं त्वां ज्ञानचक्षुर्विलोकयेत् ।।७३।।
नाज्ञानचक्षुस्त्वां पश्येदन्धदृग् भास्करं यथा।
योगिनस्त्वां विचिन्वन्ति स्वदेहे परमेश्वरम् ।।७४।।
अतन्निरसनमुखैर्वेदशीर्षैरहर्निशम् ।

सूर्य चन्द्रादि भी सब आप ही के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं किन्तु आप उन से प्रकाशित नहीं होते। आप सर्वगत, नित्य और एक हैं, जिस पुरुष को ज्ञानदृष्टि प्राप्त हो जाती है वही आप को देख सकता है। जिस प्रकार अन्धे को सूर्य नहीं दिखायी दे सकता उसी प्रकार जो ज्ञाननेत्र से रहित है वह आप का दर्शन नहीं कर सकता। योगिजन अनात्म पदार्थों का निषेध करनेवाले उपनिषद्वाक्यों द्वारा अहर्निश आप परमात्मा को अपने शरीर में ही खोजते हैं।। ७३-७४ ।।

त्वत्पादभक्तिलेशेन गृहीता यदि योगिनः ।।७५।।
विचिन्वन्तो हि पश्यन्ति चिन्मात्रं त्वां न चान्यथा।
मया प्रलपितं किञ्चित्सर्वज्ञस्य तवाग्रतः।
क्षन्तुमर्हसि देवेश तवानुग्रहभागहम् ।।७६।।

यदि उन योगियों पर आप के चरणों की भक्ति का लेशमात्र भी प्रभाव होता है, तभी वे खोजते खोजते अन्त में चिन्मात्रस्वरूप आप को देख पाते हैं, और किसी प्रकार से नहीं। मैंने आप सर्वज्ञ के सामने कुछ प्रलाप किया है, सो आप क्षमा करें। क्यों कि हे देवेश्वर, मैं आप की कृपा का पात्र हूँ।। ७५-७६ ।।

दिग्देशकालपरिहीनमनन्यमेकं चिन्मात्रमक्षरमजं चलनादिहीनम्।
सर्वज्ञमीश्वरमनन्तगुणं व्युदस्तमायं भजे रघुपतिं भजतामभिन्नम् ।।७७।।

जो दिशा, देश और काल से रहित तथा अनन्य, एक, चिन्मात्र, अविनाशी, अजन्मा और चलनादि क्रिया से रहित हैं, उन सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, अनन्तगुणसम्पन्न, मायाहीन और अपने भक्तजनों से सदा अभिन्न रहनेवाले रघुनाथजी को मैं भजता हूँ।। ७७ ।।

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड के द्वितीय सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ २

ॐ

तृतीय सर्ग

वानरचरित्र तथा सनत्कुमार के साथ रावण का सत्संग ।

श्रीराम उवाच

वालिसुग्रीवयोर्जन्म श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
रवीन्द्रौ वानराकारौ जज्ञात इति नः श्रुतम् ॥१॥

श्री रामचन्द्रजी बोले— हे मुने, में वाली और सुग्रीव के जन्म का यथावत् वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ । मैंने सुना है कि ये इन्द्र और सूर्य ही वानररूप से उत्पन्न हुए थे ॥ १ ॥

अगस्त्य उवाच

मेरोः स्वर्णमयस्याद्रेर्मध्यशृङ्गे मणिप्रभे ।
तस्मिन्सभास्ते विस्तीर्णा ब्रह्मणः शतयोजना ॥२॥
तस्यां चतुर्मुखः साक्षात्कदाचिद्योगमास्थितः ।
नेत्राभ्यां पतितं दिव्यमानन्दसलिलं बहु ॥३॥

अगस्त्यजी बोले—हे राम, मणियों से प्रकाशमान सुवर्णमय मेरुपर्वत के मध्य-शिखर पर ब्रह्माजी की सौ योजन विस्तारवाली सभा है । उस में चतुर्मुख ब्रह्माजी किसी समय ध्यानस्थ हुए बैठे थे, उस समय उन के नेत्रों से बहुत से दिव्य आनन्दाश्रु गिरे ॥ २-३ ॥

तद्गृहीत्वा करे ब्रह्मा ध्यात्वा किञ्चित्तदत्यजत् ।
भूमौ पतितमात्रेण तस्माज्जातो महाकपिः ॥ ४ ॥
तमाह द्रुहिणो वत्स किञ्चित्कालं वसात्र मे ।
समीपे सर्वशोभाढ्ये ततः श्रेयो भविष्यति ॥ ५ ॥

उन्हें अपने हाथ में लेकर ब्रह्माजी ने कुछ चिन्तन कर पृथिवी पर डाल दिया। पृथिवी पर गिरते ही उन से एक बहुत बड़ा वानर उत्पन्न हुआ। उस से ब्रह्माजी ने कहा—वत्स, तू कुछ समय यहाँ मेरे पास इस सर्वशोभासम्पन्न स्थान में रह, इस से तेरा कल्याण होगा ॥ ४-५ ॥

इत्युक्तो न्यवसत्तत्र ब्रह्मणा वानरोत्तमः।
एवं बहुतिथे काले गते ऋक्षाधिपः सुधीः ॥ ६ ॥
कदाचित्पर्यटन्नद्रौ फलमूलार्थमुद्यतः।
अपश्यद्दिव्यसलिलां वापीं मणिशिलान्विताम् ॥७॥
पानीयं पातुमागच्छत्तत्र छायामयं कपिम्।
दृष्ट्वा प्रतिकपिं मत्वा निपपात जलान्तरे ॥ ८ ॥

ब्रह्माजी के इस प्रकार कहने पर वह वानरश्रेष्ठ वहीं रहने लगा। इस प्रकार बहुत समय बीत जाने पर एक दिन उस परमबुद्धिमान् ऋक्षराज नामक वानर ने फल मूलादि के लिए घूमते घूमते एक दिव्य जलपूर्ण और रत्नजटित शिलाओं से सुशोभित बावड़ी देखी। जब वह वहाँ पानी पीने के लिए गया तो उस ने जल में एक छायामय वानर देखा। उसे अपना प्रतिद्वन्द्वी वानर समझकर वह जल में कूद पड़ा ॥ ६-८ ॥

तत्रादृष्ट्वा हरिं शीघ्रं पुनरुत्प्लुत्य वानरः।
अपश्यत्सुन्दरीं रामामात्मानं विस्मयं गतः ॥ ९ ॥
ततः सुरेशो देवेशं पूजयित्वा चतुर्मुखम्।
गच्छन्मध्याह्नसमये दृष्ट्वा नारीं मनोरमाम् ॥१०॥
कन्दर्पशरविद्धाङ्गस्त्यक्तवान्वीर्यमुत्तमम्।
तामप्राप्यैव तद्बीजं वालदेशेऽपतद्भुवि ॥ ११ ॥

किन्तु वहाँ कोई भी वानर न मिलने पर वह तुरन्त ही उछलकर बाहर निकल आया और अपने को एक अति सुन्दरी रमणी के रूप में देखकर बड़ा ही चकित हुआ। उस समय देवराज इन्द्र मध्याह्न काल में ब्रह्माजी की पूजा करके जा रहे थे। उस परमसुन्दरी स्त्री को देखकर वे कामदेव के बाणों से बिंध गये और उन का उत्तम वीर्य स्खलित हो गया। वह वीर्य उस स्त्री को प्राप्त न होकर उस के बालों को छूता हुआ पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ९-११ ॥

वाली समभवत्तत्र शक्रतुल्यपराक्रमः ।
तस्य दत्त्वा सुरेशानः स्वर्णमालां दिवं गतः ॥१२॥
भानुरप्यागतस्तत्र तदानीमेव भामिनीम् ।
दृष्ट्वा कामवशो भूत्वा ग्रीवादेशेऽसृजन्महत् ॥१३॥
बीजं तस्यास्ततः सद्यो महाकायोऽभवद्धरिः ।
तस्य दत्त्वा हनूमन्तं सहायार्थं गतो रविः ॥१४॥

उस से इन्द्र के समान पराक्रमी वाली का जन्म हुआ। देवराज इन्द्र उसे एक सुवर्णमयी माला देकर स्वर्गलोक को चले गये। उसी समय वहाँ सूर्यदेव भी आये। उस सुन्दरी को देखकर वे कामवश हो गये तथा उस की ग्रीवा पर अपना उग्र वीर्य छोड़ा। उस से उसी समय एक बहुत बड़े शरीरवाला वानर उत्पन्न हुआ। सूर्यदेव उस की सहायता के लिए उसे हनुमान्जी को देकर चले गये ॥१२-१४॥

पुत्रद्वयं समादाय गत्वा सा निद्रिता क्वचित् ।
प्रभातेऽपश्यदात्मानं पूर्ववद्वानराकृतिम् ॥ १५ ॥
फलमूलादिभिः सार्धं पुत्राभ्यां सहितः कपिः ।
नत्वा चतुर्मुखस्याग्रे ऋक्षराजः स्थितः सुधीः ॥१६॥

उन दोनों पुत्रों को लेकर वह स्त्री कहीं जाकर सो गयी। दूसरे दिन सवेरे उठने पर उस ने पहले के समान अपने को फिर वानर रूप में ही देखा। फिर वह परम बुद्धिमान् ऋक्षराज फल मूलादि लेकर अपने पुत्रों के सहित ब्रह्माजी की सभा में आया और उन्हें नमस्कार कर उन के आगे खड़ा हो गया ॥ १५-१६ ॥

ततोऽब्रवीत्समाश्वास्य बहुशः कपिकुञ्जरम् ।
तत्रैकं देवतादूतमाहूयामरसन्निभम् ॥ १७ ॥
गच्छ दूत मयादिष्टो गृहीत्वा वानरोत्तमम् ।
किष्किन्धां दिव्यनगरीं निर्मितां विश्वकर्मणा ॥१८॥
सर्वसौभाग्यवलितां देवैरपि दुरासदाम् ।
तस्यां सिंहासने वीरं राजानमभिषेचय ॥१९॥

तब ब्रह्माजी ने उस वानर वीर को बहुत कुछ समझाया और एक देवतुल्य देवदूत को बुलाकर उस से कहा—हे दूत, तू मेरी आज्ञा से इस वानरश्रेष्ठ को

लेकर विश्वकर्मा की बनायी हुई किष्किन्धा नाम की दिव्यपुरी को जा। वह सम्पूर्ण ऐश्वर्य से सम्पन्न है और देवताओं के लिए भी दुर्जय है। उस के सिंहासन पर इस वीर का राज्याभिषेक कर दे॥ १७-१९॥

सप्तद्वीपगता ये ये वानराः सन्ति दुर्जयाः।
सर्वे ते ऋक्षराजस्य भविष्यन्ति वशेऽनुगाः॥२०॥
यदा नारायणः साक्षाद्रामो भूत्वा सनातनः।
भूभारासुरनाशाय सम्भविष्यति भूतले॥ २१॥
तदा सर्वे सहायार्थे तस्य गच्छन्तु वानराः।
इत्युक्तो ब्रह्मणा दूतो देवानां स महामतिः॥ २२॥
यथाज्ञप्तस्तथा चक्रे ब्रह्मणा तं हरीश्वरम्।

सातों द्वीपों में जो जो बड़े दुर्जय वानर वीर हैं वे सब ऋक्षराज के अधीन रहेंगे। जिस समय साक्षात् सनातन पुरुष नारायण देव पृथिवी का भार उतारने के लिए भूलोक में राम-रूप से अवतीर्ण हों, उस समय समस्त वानरगण उन की सहायता के लिए जायँ। ब्रह्माजी के इस प्रकार कहने पर उस महाबुद्धिमान् देवदूत ने जिस प्रकार उन की आज्ञा हुई थी उसी प्रकार उस वानरराज की सब व्यवस्था कर दी॥ २०-२२॥

देवदूतस्ततो गत्वा ब्रह्मणे तन्न्यवेदयत्॥ २३॥
तदादि वानराणां सा किष्किन्धाभून्नृपाश्रयः॥२४॥

फिर दूत ने ब्रह्माजी के पास जाकर उन्हें सब समाचार सुना दिया। तब से वह किष्किन्धापुरी वानरों की स्थिर राजधानी हो गयी है॥ २३-२४॥

सर्वेश्वरस्त्वमेवासीरिदानीं ब्रह्मणार्थितः।
भूमेर्भारो हृतः कृत्स्नस्त्वया लीलानृदेहिना।

सर्वभूतान्तरस्थस्य नित्यमुक्तचिदात्मनः ॥२५॥
अखण्डानन्तरूपस्य कियानेष पराक्रमः ।
तथापि वर्ण्यते सद्भिर्लीलामानुषरूपिणः ॥२६॥
यशस्ते सर्वलोकानां पापहत्यै सुखाय च ।
य इदं कीर्तयेन्मर्त्यो वालिसुग्रीवयोर्महत् ॥२७॥
जन्म त्वदाश्रयत्वात्स मुच्यते सर्वपातकैः ॥२८॥

हे राम, आप सब के स्वामी हैं। ब्रह्माजी की प्रार्थना से अब मायामानव रूप धारण कर आप ने पृथिवी का सब भार उतार दिया। जो सब भूतों के भीतर विराजमान नित्यमुक्त और चेतनस्वरूप हैं, उन अखण्ड और अनन्तरूप आप के लिए यह ऐसा कौन बड़ा पराक्रम है ? तथापि सम्पूर्ण लोकों के पापों का नाश करने के लिए और उन्हें सुख देने के लिए साधुजन मायामानुषरूप आप भगवान् का सुयश वर्णन करते ही हैं। जो मनुष्य वाली और सुग्रीव के इस महान् चरित्र का कीर्तन करेगा वह आप के आश्रित होने के कारण सब पापों से छूट जायगा ॥२५-२८॥

अथान्यां सम्प्रवक्ष्यामि कथां राम त्वदाश्रयाम् ।
सीता हृता यदर्थं सा रावणेन दुरात्मना ॥२९॥
पुरा कृतयुगे राम प्रजापतिसुतं विभुम् ।
सनत्कुमारमेकान्ते समासीनं दशाननः ।
विनयावनतो भूत्वा
ह्यभिवाद्येदमब्रवीत् ॥३०॥

हे राम, अब आप से सम्बन्ध रखनेवाली एक वह कथा और सुनाता हूँ, जिस कारण कि दुरात्मा रावण ने सीताजी को हरा था। पहले एक बार रावण ने एकान्त में बैठे हुए ब्रह्माजी के मानसपुत्र, महामुनि श्री सनत्-कुमारजी से अति नम्रतापूर्वक प्रणाम करके यह पूछा ॥२९-३०॥

को न्वस्मिन्प्रवरो लोके देवानां बलवत्तरः ।
देवाश्च यं समाश्रित्य युद्धे शत्रुं जयन्ति हि ॥३१॥
कं यजन्ति द्विजा नित्यं कं ध्यायन्ति च योगिनः ।
एतन्मे शंस भगवन् प्रश्नं प्रश्नविदांवर ॥३२॥

हे मुने, जिस का आश्रय पाकर देवगण संग्राम में शत्रु को जीतते हैं, इस संसार में सब देवताओं में श्रेष्ठ और अधिक बलवान् वह कौन देव है ? ब्राह्मणगण किस का पूजन करते हैं और योगीगण किस का ध्यान धरते हैं ? भगवन्, आप सब प्रकार के प्रश्नों का उत्तर जाननेवालों में श्रेष्ठ हैं, अतः मेरे इस प्रश्न का उत्तर दीजिये ॥३१-३२॥

ज्ञात्वा तस्य हृदिस्थं यत्तदशेषेण योगदृक् ।
दशाननमुवाचेदं शृणु वक्ष्यामि पुत्रक ॥३३॥
भर्ता यो जगतां नित्यं यस्य जन्मादिकं न हि ।
सुरासुरैर्नुतो नित्यं हरिर्नारायणोऽव्ययः ॥३४॥
यन्नाभिपङ्कजाज्जातो ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ।
सृष्टं येनैव सकलं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥३५॥
तं समाश्रित्य विबुधा जयन्ति समरे रिपून् ।
योगिनो ध्यानयोगेन तमेवानुजपन्ति हि ॥३६॥

भगवान् सनत्कुमार ने योगदृष्टि से रावण के अन्तःकरण की सब बात जानकर उस से कहा—वत्स, मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देता हूँ, सुनो, जो सर्वदा सम्पूर्ण संसार का पोषण करनेवाले हैं, जिन के जन्म मृत्यु आदि नहीं होते, जो देवता और दैत्यों से सदा वन्दित, अविनाशी नारायण श्रीहरि कहलाते हैं, सृष्टिकर्त्ताओं के स्वामी श्री ब्रह्माजी भी जिन के नाभिकमल से उत्पन्न हुए हैं, तथा जिन्होंने यह स्थावर जङ्गमरूप सारा संसार भी रचा है; उन्हीं के आश्रय से देवगण संग्राम में शत्रुओं को जीतते हैं तथा योगिजन भी ध्यानयोग के द्वारा उन्हीं का जप करते हैं ॥ ३३-३६ ॥

महर्षेर्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच दशाननः ।
दैत्यदानवरक्षांसि विष्णुना निहतानि च ॥३७॥

कां वा गतिं प्रपद्यन्ते प्रेत्य ते मुनिपुङ्गव।
तमुवाच मुनिश्रेष्ठो रावणं राक्षसाधिपम् ॥३८॥
दैवतैर्निहता नित्यं गत्वा स्वर्गमनुत्तमम्।
भोगक्षये पुनस्तस्माद्भ्रष्टा भूमौ भवन्ति ते ॥३९॥

महर्षि सनत्कुमार के ये वचन सुनकर रावण ने फिर पूछा—हे मुनिश्रेष्ठ, उन विष्णुभगवान् द्वारा मारे हुए दैत्य, दानव और राक्षसगण मरकर किस गति को प्राप्त होते हैं ? तब मुनिवर सनत्कुमार ने राक्षसराज रावण से कहा—अन्य साधारण देवताओं के हाथ से मरकर तो वे अति उत्तम स्वर्गलोक को ही जाते हैं और अपना भोग क्षीण होने पर वहाँ से गिरकर फिर भूलोक में उत्पन्न होते हैं ॥३७-३९॥

पूर्वार्जितैः पुण्यपापैर्म्रियन्ते चोद्भवन्ति च।
विष्णुना ये हतास्ते तु प्राप्नुवन्ति हरेर्गतिम् ॥४०॥
श्रुत्वा मुनिमुखात्सर्वं रावणो हृष्टमानसः।
योत्स्येऽहं हरिणा सार्धमिति चिन्तापरोऽभवत् ॥४१॥

फिर पूर्व जन्मों में किये हुए अपने पाप पुण्यों के अनुसार जन्मते मरते रहते हैं। किन्तु जो भगवान् विष्णु के हाथ से मारे जाते हैं वे तो अविनाशी आनन्दमय विष्णुपद ही प्राप्त कर लेते हैं। श्री सनत्कुमारजी के मुख से ये सब बातें सुनकर रावण मन ही मन अति प्रसन्न हुआ और वह सोचने लगा कि मैं श्री हरि के साथ अवश्य युद्ध करूँगा ॥ ४०-४१ ॥

मनःस्थितं परिज्ञाय रावणस्य महामुनिः।
उवाच वत्स तेऽभीष्टं भविष्यति न संशयः ॥४२॥
कञ्चित्कालं प्रतीक्षस्व सुखी भव दशानन।

मुनिवर ने रावण के चित्त की बात जाकर कहा—वत्स, इस में सन्देह नहीं, तेरी इच्छा अवश्य सफल होगी। हे दशानन, अभी चैन से रह, कुछ काल और प्रतीक्षा कर ॥ ४२ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहो मुनिः पुनरुवाच तम् ॥४३॥
तस्य स्वरूपं वक्ष्यामि ह्यरूपस्यापि मायिनः।
स्थावरेषु च सर्वेषु नदेषु च नदीषु च ॥४४॥
ओङ्कारश्चैव सत्यं च सावित्री पृथिवी च सः।
समस्तजगदाधारः शेषरूपधरो हि सः ॥४५॥

हे महाबाहो रघुनाथजी, रावण से ऐसा कह मुनि उस से फिर बोले—रावण, वे रूपरहित हैं, तथापि मैं तुझे उन के माया से धारण किये हुए रूप बतलाता हूँ। वे नद और नदी आदि समस्त स्थावरों में व्याप्त हैं। ओंकार, सत्य, सावित्री, पृथिवी तथा सम्पूर्ण जगत् के आधार शेषनाग भी वे ही हैं ॥ ४३-४५ ॥

सर्वे देवाः समुद्राश्च कालः सूर्यश्च चन्द्रमाः ।
सूर्योदयो दिवारात्री यमश्चैव तथानिलः ॥४६॥
अग्निरिन्द्रस्तथा मृत्युः पर्जन्यो वसवस्तथा ।
ब्रह्मा रुद्रादयश्चैव ये चान्ये देवदानवाः ॥४७॥
विद्योतते ज्वलत्येष पाति चात्तीति विश्वकृत ।
क्रीडां करोत्यव्ययात्मा सोऽयं विष्णुः सनातनः ॥४८॥

सम्पूर्ण देवगण, समुद्र, काल, सूर्य, चन्द्रमा, सूर्योदय, दिन, रात्रि, यम, वायु, अग्नि, इन्द्र, मृत्यु, मेघ, वसुगण, ब्रह्मा और रुद्र आदि तथा और भी जितने देव या दानव हैं वे सब भी उन्हीं के रूप हैं। सम्पूर्ण विश्व को रचनेवाले वे सनातन विष्णु भगवान् निर्विकार होकर भी माया के आश्रय से नाना प्रकार की लीलाएँ करते हैं। वे ही विद्युत् में चमकते हैं, अग्निरूप से प्रज्वलित होते हैं, विष्णुरूप से रक्षा करते हैं और रुद्ररूप से सब को भक्षण कर जाते हैं ॥ ४६-४८ ॥

तेन सर्वमिदं व्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
नीलोत्पलदलश्यामो विद्युद्वर्णाम्बरावृतः ॥४९॥
शुद्धजाम्बूनदप्रख्यां श्रियं वामाङ्कसंस्थिताम् ।
सदानपायिनीं देवीं पश्यन्नालिङ्ग्य तिष्ठति ॥५०॥
द्रष्टुं न शक्यते कैश्चिद्देवदानवपन्नगैः ।
यस्य प्रसादं कुरुते स चैनं द्रष्टुमर्हति ॥ ५१ ॥

यह स्थावर जंगम सम्पूर्ण त्रिलोकी एकमात्र उन्हीं से व्याप्त है। वे नील-कमलदल के समान श्यामवर्ण और बिजली की सी आभावाला पीताम्बर धारण किये हुए हैं तथा अपने वाम भाग में बैठी हुई, शुद्ध सुवर्ण की सी कान्तिवाली, कभी नष्ट न होनेवाली भगवती लक्ष्मीजी की ओर निहारते हुए उन्हें आलिङ्गन किये विराजमान हैं। वे किसी भी देव, दानव या नाग से देखे नहीं जा सकते, जिस पर उन की प्रसन्नता होती है वही उन का दर्शन कर सकता है ॥ ४९-५१ ॥

न च यज्ञतपोभिर्वा न दानाध्ययनादिभिः ।
शक्यते भगवान्द्रष्टुमुपायैरितरैरपि ॥ ५२ ॥
तद्भक्तैस्तद्गतप्राणैस्तच्चित्तैर्धूतकल्मषैः ।
शक्यते भगवान्विष्णुर्वेदान्तामलदृष्टिभिः ॥ ५३ ॥
अथवा द्रष्टुमिच्छा ते शृणु त्वं परमेश्वरम् ।

यज्ञ, तप, दान, अध्ययन अथवा और किसी भी उपाय से भगवान् नहीं देखे जा सकते। जो उन के भक्त हैं, जिन के प्राण और मन उन्हीं में लगे रहते हैं तथा वेदान्तविचार से जिन की दृष्टि मलहीन हो गयी है, उन निष्पाप महात्माओं को ही भगवान् विष्णु के दर्शन हो सकते हैं। अब यदि तुझे भी अनायास ही उन परमेश्वर के दर्शनों की इच्छा है तो सुन ॥ ५२-५३ ॥

त्रेतायुगे स देवेशो भविता नृपविग्रहः ॥ ५४ ॥
हितार्थं देवमर्त्यानामिक्ष्वाकूणां कुले हरिः ।
रामो दशरथिर्भूत्वा महासत्त्वपराक्रमः ॥ ५५ ॥
पितुर्नियोगात्स भ्रात्रा भार्यया दण्डके वने ।
विचरिष्यति धर्मात्मा जगन्मात्रा स्वमायया ॥५६॥
एवं ते सर्वमाख्यातं मया रावण विस्तरात् ।
भजस्व भक्तिभावेन सदा रामं श्रिया युतम् ॥५७॥

वे देवाधिदेव श्री हरि, त्रेतायुग में देव और मनुष्यों के कल्याण के लिए, राजवेष से इक्ष्वाकु के वंश में दशरथजी के पुत्र महावीर और पराक्रमी भगवान् राम होकर अवतीर्ण होंगे, वे परम धार्मिक रघुनाथजी पिता की आज्ञा से अपने भाई लक्ष्मण और अपनी स्त्री जगज्जननी माया के सहित दण्डक वन में विचरेंगे। हे रावण, इस प्रकार यह सारा तत्त्व मैं ने तुझे विस्तार से सुना दिया। अब तू लक्ष्मीजी सहित भगवान् राम का सदा भक्तिपूर्वक भजन कर ॥ ५४-५७ ॥

अगस्त्य उवाच—

एवं श्रुत्वासुराध्यक्षो ध्यात्वा किञ्चिद्विचार्य च ।
त्वया सह विरोधेप्सुर्मुमुदे रावणो महान् ॥५८॥
युद्धार्थी सर्वतो लोकान् पर्यटन् समवस्थितः ।
एतदर्थं महाराज रावणोऽतीव बुद्धिमान् ।
हृतवान् जानकीं देवीं त्वयात्मवधकाङ्क्षया ॥५९॥

अगस्त्यजी बोले—हे राम, यह सुनकर राक्षसराज रावण ने कुछ सोच विचार करने के अनन्तर आप के साथ विरोध करना निश्चित किया और ऐसा निश्चय कर वह मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ। वह युद्ध की इच्छा से सम्पूर्ण लोकों में घूमने लगा। हे महाराज, आप के हाथ से मारे जाने की इच्छा से ही महाबुद्धिमान् रावण ने देवी जानकीजी को चुरा लिया था ॥ ५८-५९ ॥

इमां कथां यः शृणुयात्पठेद्वा संश्रावयेद्वा श्रवणार्थिनां सदा ।
आयुष्यमारोग्यमनन्तसौख्यं प्राप्नोति लाभं धनमक्षयं च ॥६०॥

जो पुरुष इस कथा को सुने या पढ़ेगा, अथवा सुनने की इच्छावालों को सदा सुनावेगा, वह दीर्घ आयु, आरोग्य, अनन्त सुख, इच्छित लाभ और अक्षय धन प्राप्त करेगा ॥ ६० ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड के तृतीय सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थ सर्ग
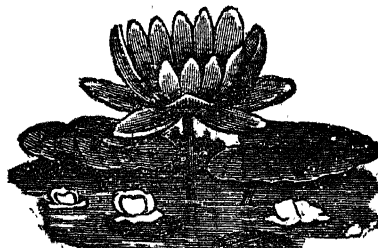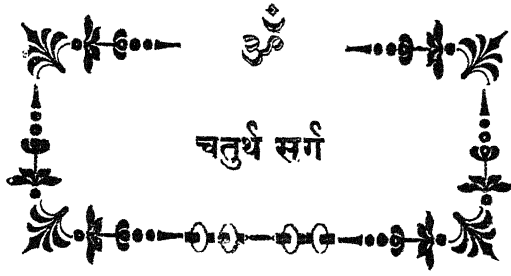
अगस्त्यजी की विदा, श्री राम का प्रजापालन तथा सीतापरित्याग ।

श्रीमहादेव उवाच—

एकदा ब्रह्मणो लोकादायान्तं नारदं मुनिम् ।
पर्यटन् रावणो लोकान्दृष्ट्वा नत्वाब्रवीद्वचः ॥१॥
भगवन्ब्रूहि मे योद्धुं कुत्र सन्ति महाबलाः ।
योद्धुमिच्छामि बलिभिस्त्वं ज्ञातासि जगत्त्रयम् २

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, लोकान्तरों में घूमते हुए रावण ने एक दिन श्री नारदजी को ब्रह्मलोक से आते हुए देखकर उन से नमस्कार करके पूछा-भगवन्, मैं बलवानों के साथ युद्ध करना चाहता हूँ। आप तीनों लोकों से परिचित हैं, कृपया बतलाइए मुझ से लड़नेयोग्य महाबली पुरुष कहाँ हैं ॥ १२ ॥

मुनिर्ध्यात्वाह सुचिरं श्वेतद्वीपनिवासिनः ।
महाबला महाकायास्तत्र याहि महामते ॥ ३ ॥
विष्णुपूजारता ये वै विष्णुना निहताश्च ये ।
त एव तत्र सञ्जाता
अजेयाश्च सुरासुरैः ॥ ४ ॥

तब मुनीश्वर ने बहुत देर तक सोचकर कहा—हेमहामते, श्वेतद्वीप के रहनेवाले महानुभाव बड़े बलवान् और विशाल शरीरवाले होते हैं। तुम वहीं जाओ, जो लोग भगवान् विष्णु की पूजा में तत्पर रहते हैं अथवा जो स्वयं विष्णु भगवान् के ही हाथ से मारे गये हैं, वे ही वहाँ उत्पन्न हुए हैं। वे देवता या दानव आदि किसी से भी नहीं जीते जा सकते ॥ ३-४ ॥

श्रुत्वा तद्रावणो वेगान्मन्त्रिभिः पुष्पकेण तान् ।
योद्धुकामः समागत्य श्वेतद्वीपसमीपतः ॥ ५ ॥
तत्प्रभाहततेजस्कं पुष्पकं नाचलत्ततः ।
त्यक्त्वा विमानं प्रययौ मन्त्रिणश्च दशाननः ॥६॥
प्रविशन्नेव तद्द्वीपं धृतो हस्तेन योषिता ।
पृष्टश्च त्वं कुतः कोऽसि प्रेषितः केन वा वद ॥७॥

यह सुनकर रावण तुरन्त ही अपने मन्त्रियों के सहित पुष्पक विमान पर चढ़कर श्वेतद्वीप के निकट आया, उस द्वीप की प्रभा से तेजोहीन हो जाने के कारण पुष्पक और आगे नहीं बढ़ सका, अतः विमान और मन्त्रियों को छोड़कर रावण स्वयं ही चला, उस द्वीप में घुसते ही एक स्त्री ने उस का हाथ पकड़कर पूछा—बता तू कौन है ? कहाँ से आया है ? और यहाँ तुझे किस ने भेजा है ॥ ५-७ ॥

इत्युक्तो लीलया स्त्रीभिर्हसन्तीभिः पुनः पुनः ।
कृच्छ्राद्धस्ताद्विनिर्मुक्तस्तासां स्त्रीणां दशाननः ॥८॥
आश्चर्यमतुलं लब्ध्वा चिन्तयामास दुर्मतिः ।
विष्णुना निहतो यामि वैकुण्ठमिति निश्चितः ॥९॥
मयि विष्णुर्यथा कुप्येत्तथा कार्यं करोम्यहम् ।

इसी प्रकार वहाँ बहुत सी स्त्रियों ने लीलापूर्वक हँसते हँसते उस से वही बात कही और रावण को उन स्त्रियों के हाथ से बड़ी कठिनता से छुटकारा मिला। यह देखकर उसे असीम आश्चर्य हुआ और वह दुर्बुद्धि सोचने लगा कि मैं विष्णुभगवान् के हाथ से मरकर निःसन्देह वैकुण्ठ को जाऊँगा; अतः मुझे ऐसा कार्य करना चाहिये जिस से भगवान् विष्णु मुझ पर कुपित हों ॥८-९॥

इति निश्चित्य वैदेहीं जहार विपिनेऽसुरः ॥१०॥
जानन्नेव परात्मानं स जहारावनीसुताम् ।
मातृवत्पालयामास त्वत्तः काङ्क्षन्वधं स्वकम् ॥११॥

ऐसा सोचकर ही उस असुर ने वन में श्री जानकीजी को हर लिया था, हे राम, आप के हाथ से अपना वध कराने की इच्छा से ही रावण ने आप को परमात्मा जानते हुए भी श्री सीताजी को चुरा लिया और उन का माता के समान पालन किया था ॥ १०-११ ॥

राम त्वं परमेश्वरोऽसि सकलं जानासि विज्ञानदृग्
भूतं भव्यमिदं त्रिकालकलना साक्षी विकल्पोज्झितः।
भक्तानामनुवर्तनाय सकलां कुर्वन् क्रियासंहतिं
त्वं शृण्वन्मनुजाकृतिर्मुनिवचो भासीश लोकार्चितः ॥ १२ ॥

हे राम, आप परमेश्वर हैं, आप त्रिकालदर्शी एवं विकल्प से रहित होकर अपनी ज्ञानदृष्टि से भूत, भविष्य और वर्तमान ये सब कुछ जानते हैं। हे स्वामिन्, आप अपने भक्तों को मार्ग दिखाने के लिए ही सारी लीलाएँ रचते हैं तथा आप सम्पूर्ण लोकों से पूजित होकर भी मनुष्यरूप से हम जैसे मुनियों के वचन सुनते हुए दिखलायी दे रहे हैं ॥ १२ ॥

स्तुत्वैवं राघवं तेन पूजितः कुम्भसम्भवः।
स्वाश्रमं मुनिभिः सार्धं प्रययौ हृष्टमानसः ॥ १३ ॥
रामस्तु सीतया सार्धं भ्रातृभिः सह मन्त्रिभिः।
संसारीव रमानाथो रममाणोऽवसद्गृहे ॥ १४ ॥
अनासक्तोऽपि विषयान्बुभुजे प्रियया सह।
हनुमत्प्रमुखैः सद्भिर्वानरैः परिवेष्टितः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्री रघुनाथजी की स्तुति कर और उन से सत्कार पाकर श्री अगस्त्यजी अन्य मुनीश्वरों के साथ प्रसन्नचित्त से अपने आश्रम को चले गये। इधर लक्ष्मीपति भगवान् श्री राम ने सीताजी, भाइयों तथा मन्त्रियों के सहित संसारी पुरुषों के समान आचरण करते हुए भी अपनी प्रिया के साथ नाना प्रकार के भोगों को भोगा। वे सदा ही हनुमान् आदि श्रेष्ठ वानरों से घिरे रहते थे ॥ १३-१५ ॥

पुष्पकं चागमद्राममेकदा पूर्ववत्प्रभुम्।
प्राह देव कुबेरेण प्रेषितं त्वामहं ततः ॥ १६ ॥
जितं त्वं रावणेनादौ पश्चाद्रामेण निर्जितम्।
अतस्त्वं राघवं नित्यं वह यावद्वसेद्भुवि ॥ १७ ॥
यदा गच्छेद्रघुश्रेष्ठो वैकुण्ठं याहि मां तदा।

एक बार पहले ही के समान भगवान् राम के पास पुष्पक विमान आया और बोला—भगवन्, मुझे कुबेरजी ने अपने यहाँ से फिर आप ही की सेवा में

भेजा है। वे कहते हैं कि पहले तुझे रावण ने जीता था और फिर उस से श्री रामचन्द्रजी ने जीता है। अतः जब तक वे पृथिवीतल पर रहें तब तक तू उन्हीं को धारण कर। जिस समय रघुनाथजी वैकुण्ठ को चले जायँ उस समय तू मेरे पास आ जाना ॥ १६-१७ ॥

तच्छ्रुत्वा राघवः प्राह पुष्पकं सूर्यसन्निभम् ॥ १८ ॥
यदा स्मरामि भद्रं ते तदागच्छ ममान्तिकम् ।
तिष्ठान्तर्धाय सर्वत्र गच्छेदानीं ममाज्ञया ॥ १९ ॥
इत्युक्त्वा रामचन्द्रोऽपि पौरकार्याणि सर्वशः ।
भ्रातृभिर्मन्त्रिभिः सार्धं यथान्यायं चकार सः ॥ २० ॥

यह सुनकर श्री रघुनाथजी ने सूर्य के समान देदीप्यमान पुष्पक से कहा— तेरा कल्याण हो, जिस समय मैं तेरा स्मरण करूँ उसी समय तू मेरे पास आ जाना, अब तू जा और मेरी आज्ञा से गुप्त रूप से सर्वत्र रह ; पुष्पक को इस प्रकार आज्ञा देकर श्री रामचन्द्रजी अपने भाइयों और मन्त्रियों के साथ मिलकर पुरवासियों के सम्पूर्ण कार्य यथायोग्य रीति से करने लगे ॥ १८-२० ॥

राघवे शासति भुवं लोकनाथे रमापतौ ।
वसुधा सस्यसम्पन्ना फलवन्तश्च भूरुहाः ॥ २१ ॥
जना धर्मपराः सर्वे पतिभक्तिपराः स्त्रियः ।
नापश्यत्पुत्रमरणं कश्चिद्राजनि राघवे ॥ २२ ॥
समारुह्य विमानाग्र्यं राघवः सीतया सह ।
वानरैर्भ्रातृभिः सार्धं सञ्चचारावनिं प्रभुः ॥ २३ ॥

त्रिलोकीनाथ लक्ष्मीपति भगवान् राम के शासनकाल में पृथिवी धनधान्य से पूर्ण और वृक्ष फलादि से सम्पन्न थी। श्री रघुनाथजी के राज्य में समस्त पुरुष धर्मपरायण थे, स्त्रियाँ पतिसेवा में तत्पर रहती थीं और किसी को भी अपने पुत्र का मरण नहीं देखना पड़ता था। भगवान् राम सीताजी, भाइयों और वानरों के साथ विमान पर चढ़कर पृथिवी पर घूमा करते थे ॥ २१-२३ ॥

अमानुषाणि कार्याणि चकार बहुशो भुवि ।
ब्राह्मणस्य सुतं दृष्ट्वा बालं मृतमकालतः ॥ २४ ॥

शोचन्तं ब्राह्मणं चापि ज्ञात्वा रामो महामतिः ।
तपस्यन्तं वने शूद्रं हत्वा ब्राह्मणबालकम् ॥ २५ ॥
जीवयामास शूद्रस्य ददौ स्वर्गमनुत्तमम् ।

उन्होंने संसार में बहुत सी अमानवीय लीलाएँ कीं। एक बार एक ब्राह्मण-पुत्र को बाल्यावस्था में ही असमय मरा देख और उस ब्राह्मण को बहुत शोक करते जानकर रघुश्रेष्ठ परमात्मा महामति राम ने इस अन्याय की खोज की तथा वन में तपस्या करते हुए एक शूद्र को इस का कारण मानकर मारा और उस बालक को जीवित किया तथा शूद्र को अत्युत्तम स्वर्गलोक दिया ॥ २४-२५ ॥

लोकानामुपदेशार्थं परमात्मा रघूत्तमः ॥ २६ ॥
कोटिशः स्थापयामास शिवलिङ्गानि सर्वशः ।
सीतां च रमयामास सर्वभोगैरमानुषैः ॥ २७ ॥
शशास रामो धर्मेण राज्यं परमधर्मवित् ।
कथां संस्थापयामास सर्वलोकमलापहाम् ॥ २८ ॥
दशवर्षसहस्राणि मायामानुषविग्रहः ।
चकार राज्यं विधिवल्लोकवन्द्यपदाम्बुजः ॥ २९ ॥

उन्होंने लोगों को उपदेश देने के लिए जगह जगह करोड़ों शिवलिंग स्थापित किये और सीताजी का सब प्रकार के अलौकिक भोगों से अनुरञ्जन किया। इस प्रकार परमधार्मिक भगवान् राम धर्मपूर्वक राज्यशासन करते रहे और उन्होंने सम्पूर्ण लोकों के पाप दूर करनेवाली अपनी पवित्र कीर्तिकथा संसार में स्थापित की। तीनों लोक जिन के चरणकमलों की वन्दना करते हैं उन मायामानवशरीर-धारी श्री रामचन्द्रजी ने विधिपूर्वक दस हजार वर्ष राज्य किया ॥ २६-२९ ॥

एकपत्नीव्रतो रामो राजर्षिः सर्वदा शुचिः ।
गृहमेधीयमखिलमाचरन् शिक्षयन् जनान् ॥ ३० ॥
सीता प्रेम्णानुवृत्त्या च प्रश्रयेण दमेन च ।
भर्तुर्मनोहरा साध्वी भावज्ञा सा ह्रिया भिया ॥ ३१ ॥

राजर्षि भगवान् राम एकपत्नीव्रत का पालन करनेवाले थे। वे पवित्रचरित्र रामजी लोगों को शिक्षा देते हुए गृहस्थाश्रम के समस्त धर्मों का पालन करते रहे।

साध्वी सीताजी भी उन के हृदय का रुख परखनेवाली थीं। उन्होंने अपने प्रेम, आज्ञापालन, नम्रता, इन्द्रियसंयम, लज्जा और भीरुता आदि गुणों से पति का मन हर लिया था ॥ ३०-३१ ॥

एकदाक्रीडाविपिने सर्वभोगसमन्विते ।
एकान्ते दिव्यभवने सुखासीनं रघूत्तमम् ॥३२॥
नीलमाणिक्यसंकाशं दिव्याभरणभूषितम् ।
प्रसन्नवदनं शान्तं विद्युत्पुञ्जनिभाम्बरम् ॥३३॥
सीता कमलपत्राक्षी सर्वाभरणभूषिता ।
राममाह कराभ्यां सा लालयन्ती पदाम्बुजे ॥३४॥

एक दिन श्री रघुनाथजी अपने क्रीडावन के सम्पूर्ण भोगों से सम्पन्न भवन में एकान्त में सूखपूर्वक बैठे थे। उन के शरीर की आभा नीलमणि के समान थी, वे दिव्य भूषणों से भूषित थे, उन का मुख प्रसन्न और भाव गम्भीर था तथा वे विद्युत्पुञ्ज के समान देदीप्यमान पीताम्बर धारण किये थे। उस समय सर्वालङ्कारसुसज्जिता कमलदललोचना श्री सीताजी ने अपने करकमलों से रघुनाथजी की चरणसेवा करते हुए उन से कहा ॥ ३२-३४ ॥

देवदेव जगन्नाथ परमात्मन्सनातन ।
चिदानन्दादिमध्यान्तरहिताशेषकारण ॥३५॥
देव देवाः समासाद्य मामेकान्तेऽब्रुवन्वचः ।
बहुशोऽर्थयमानास्ते वैकुण्ठागमनं प्रति ॥३६॥

हे देवाधिदेव, हे जगन्नाथ, हे सनातन परमात्मन्, हे चिदानन्दस्वरूप, हे आदि मध्य अन्त से रहित सब के कारण, हे देव, देवताओं ने आकर मुझ से एकान्त में बहुत कुछ प्रार्थना करते हुए आप के वैकुण्ठ पधारने के विषय में कहा है ॥ ३५-३६ ॥

त्वया समेतश्चिच्छक्त्या रामस्तिष्ठति भूतले ।
विसृज्यास्मान्स्वकं धाम वैकुण्ठं च सनातनम् ॥३७॥
आस्ते त्वया जगद्धात्रि रामः कमललोचनः ।
अग्रतो याहि वैकुण्ठं त्वं तथा चेद्रघूत्तमः ॥३८॥

आगमिष्यति वैकुण्ठं सनाथान्नः करिष्यति ।
इति विज्ञापिताहं तैर्मया विज्ञापितो भवान् ॥३९॥
यद्युक्तं तत्कुरुष्वाद्य नाहमाज्ञापये प्रभो ।

वे कहते हैं कि आप चिच्छक्ति से युक्त होकर ही राम हम सब को और अपने सनातन स्थान वैकुण्ठ को छोड़कर पृथिवीतल में ठहरे हुए हैं। हे जगद्धात्रि, कमलनयन राम सदा आप के साथ ही रहते हैं। यदि आप पहले वैकुण्ठ को चली जायँ तो श्री रघुनाथजी भी वहाँ आकर हमें सनाथ कर देंगे। मुझ से उन्होंने इस प्रकार कहा है सो मैं ने आपको सुना दिया। हे प्रभो, मेरा कोई आदेश तो है नहीं, अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें ॥ ३७-३९ ॥

सीतायास्तद्वचः श्रुत्वा रामो ध्यात्वाब्रवीत्क्षणम् ॥४०॥
देवि जानामि सकलं तत्रोपायं वदामि ते ।
कल्पयित्वा मिषं देवि लोकवादं त्वदाश्रयम् ॥४१॥
त्यजामि त्वां वने लोकवादाद्भीत इवापरः ।
भविष्यतः कुमारौ द्वौ वाल्मीकेराश्रमान्तिके ॥४२॥

सीताजी के ये वचन सुनकर रघुनाथजी ने कुछ देर सोचकर कहा—देवि, मैं यह सब जानता हूँ। उस के लिए मैं तुम्हें उपाय बतलाता हूँ। मैं तुम से सम्बन्ध रखनेवाले लोकापवाद के मिष से तुम्हें लोकनिन्दा से डरनेवाले अन्य पुरुषों के समान वन में त्याग दूँगा। वहाँ श्री वाल्मीकिजी के आश्रम के पास तुम्हारे दो बालक होंगे।४०-४२।

इदानीं दृश्यते गर्भः पुनरागत्य मेऽन्तिकम् ।
लोकानां प्रत्ययार्थं त्वं कृत्वा शपथमादरात् ॥४३॥
भूमेर्विवरमात्रेण वैकुण्ठं यास्यसि द्रुतम् ।
पश्चादहं गमिष्यामि एष एव सुनिश्चयः ॥४४॥

इस समय तुम्हारे शरीर में गर्भावस्था के चिह्न दिखायी दे रहे हैं। बालकों के उत्पन्न होने पर तुम मेरे पास फिर आओगी और लोकों की प्रतीति के लिए आदरपूर्वक शपथ करके तुरन्त ही पृथिवी के भीतर समाकर वैकुण्ठ को चली जाओगी। पीछे मैं भी वहाँ आ जाऊँगा। बस, अब यही निश्चय रहा ॥ ४३-४४ ॥

इत्युक्त्वा तां विसृज्याथ रामो ज्ञानैकलक्षणः ।

मन्त्रिभिर्मन्त्रतत्त्वज्ञैर्बलमुख्यैश्च संवृतः ॥ ४५ ॥

तत्रोपविष्टं श्रीरामं सुहृदः पर्युपासत ।

हास्यप्रौढकथाभिज्ञा हासयन्तः स्थिता हरिम् ॥४६॥

एकमात्र ज्ञानस्वरूप भगवान् राम ने सीताजी से ऐसा कह उन्हें अन्तःपुर को भेज दिया और स्वयं नीतिशास्त्र के जाननेवाले मन्त्रियों तथा मुख्य मुख्य सेनापतियों से घिरकर वहाँ विराजमान हुए। सुहृद्गण वहाँ बैठे हुए राम की परिचर्या में लगे हुए थे और हास्योक्ति में कुशल विदूषकगण उन्हें हँसा रहे थे ॥ ४५-४६ ॥

कथाप्रसङ्गादपृच्छ रामो विजयनामकम् ।

पौरा जानपदा मे किं वदन्तीह शुभाशुभम् ॥४७॥

सीतां वा मातरं वा मे भ्रातृन्वा कैकयीमथ ।

न भेतव्यं त्वया ब्रूहि शापितोऽसि ममोपरि ॥४८॥

तब भगवान् राम ने प्रसंगवश विजय नामक एक दूत से पूछा—मेरे, सीता के, मेरी माता और भाइयों के अथवा कैकेयी के विषय में पुरवासी लोग क्या कहते हैं ? मैं तुम्हें अपनी शपथ कराता हूँ, तुम भय न करके सच सच कहना ॥४७-४८॥

इत्युक्तः प्राह विजयो देव सर्वे वदन्ति ते ।

कृतं सुदुष्करं सर्वं रामेण विदितात्मना ॥ ४९ ॥

किन्तु हत्वा दशग्रीवं सीतामाहृत्य राघवः ।

अमर्षं पृष्ठतः कृत्वा स्वं वेश्म प्रत्यपादयत् ॥ ५० ॥

कीदृशं हृदये तस्य सीतासम्भोगजं सुखम् ।

या हृता विजनेऽरण्ये रावणेन दुरात्मना ॥ ५१ ॥

भगवान् के इस प्रकार पूछने पर विजय ने कहा—देव, सभी लोग कहते हैं कि आत्मज्ञानी महाराज राम ने जो कार्य किये हैं वे सभी बड़े दुष्कर हैं। किन्तु उन्होंने रावण को मारकर सीता को बिना किसी प्रकार का सन्देह किये ही अपने साथ लाकर घर रख लिया यही ठीक नहीं किया। भला, जिस सीता को दुरात्मा रावण ने निर्जन वन में हर लिया था, न जाने उस को साथ रखते हुए उन्हें क्या सुख मिलता है ॥ ४९-५१ ॥

अस्माकमपि दुष्कर्म योषितां मर्षणं भवेत् ।
यादृग् भवति वै राजा तादृश्यो नियतं प्रजाः ॥५२॥
श्रुत्वा तद्वचनं रामः स्वजनान्पर्यपृच्छत ।
तेऽपि नत्वाब्रुवन् राममेवमेतन्न संशयः ॥ ५३ ॥

अब हमें भी अपनी स्त्रियों के दुश्चरित्र को सहन करना पड़ेगा, क्योंकि जैसा राजा होता है प्रजा भी निःसन्देह वैसी ही होती है। दूत के ये वचन सुनकर श्री रामचन्द्रजी ने अपने आत्मीयों से पूछा। उन्होंने भी रघुनाथजी को प्रणाम करके यही कहा कि निःसन्देह ऐसी ही बात है ॥ ५२-५३ ॥

ततो विसृज्य सचिवान्विजयं सुहृदस्तथा ।
आहूय लक्ष्मणं रामो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ५४ ॥
लोकापवादस्तु महान्सीतामाश्रित्य मेऽभवत् ।
सीतां प्रातः समानीय वाल्मीकेराश्रमान्तिके ॥५५॥
त्यक्त्वा शीघ्रं रथेन त्वं पुनरायाहि लक्ष्मण ।
वक्ष्यसे यदि वा किञ्चित्तदा मां हतवानसि ॥५६॥

तब श्री रामचन्द्रजी ने मन्त्रीगण, विजय और अपने सुहृदों को विदा कर श्री लक्ष्मणजी को बुलाया और उन से इस प्रकार कहने लगे—भैया लक्ष्मण, सीता के कारण मेरी बड़ी लोकनिन्दा हो रही है। अतः तुम कल सबेरे ही सीता को रथ पर चढ़ाकर वाल्मीकि मुनि के आश्रम के समीप छोड़ आओ। इस विषय में यदि तुम कुछ कहोगे तो मानो मेरी हत्या ही करोगे ॥ ५४–५६ ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणो भीत्या प्रातरुत्थाय जानकीम् ।
सुमन्त्रेण रथे कृत्वा जगाम सहसा वनम् ॥५७॥
वाल्मीकेराश्रमस्यान्ते त्यक्त्वा सीतामुवाच सः ।
लोकापवादभीत्या त्वां त्यक्तवान् राघवो वने ॥५८॥
दोषो न कश्चिन्मे मातर्गच्छाश्रमपदं मुनेः ।
इत्युक्त्वा लक्ष्मणः शीघ्रं गतवान् रामसन्निधिम् ॥५९॥

भगवान् की ऐसी आज्ञा पाकर लक्ष्मणजी डर गये। तो भी उन्होंने सबेरे उठते ही सुमन्त्र से रथ जुड़वाया और उस में जानकीजी को चढ़ाकर तुरन्त वन को चल दिये।

वाल्मीकि मुनि के आश्रम पर पहुँचते ही उन्होंने सीता को उतार दिया और उन से कहा—रघुनाथजी ने लोकापवाद से डरकर तुम्हें त्याग दिया है। हे मातः, इस में मेरा कोई दोष नहीं है, अब तुम मुनीश्वर के आश्रम पर चली जाओ। सीताजी से इस प्रकार कहकर लक्ष्मणजी तुरन्त श्री रामचन्द्रजी के पास चले आये ॥ ५७–५९ ॥

सीतापि दुःखसन्तप्ता विललापातिमुग्धवत् ।
शिष्यैः श्रुत्वा च वाल्मीकिः सीतां ज्ञात्वा स दिव्यदृक् ॥६०॥

उस समय सीताजी अत्यन्त दुःखातुर होकर मूर्ख स्त्रियों के समान विलाप करने लगीं। महर्षि वाल्मीकि ने जब शिष्यों के मुख से यह बात सुनी कि एक स्त्री रो रही है, तो उन्होंने दिव्यदृष्टि से जान लिया कि वह सीताजी ही हैं ॥ ६० ॥

अर्घ्यादिभिः पूजयित्वा समाश्वास्य च जानकीम् ।
ज्ञात्वा भविष्यं सकलमार्पयन्मुनियोषिताम् ॥ ६१ ॥
तास्तां सम्पूजयन्ति स्म सीतां भक्त्या दिने दिने ।
ज्ञात्वा परात्मनो लक्ष्मीं मुनिवाक्येन योषितः ।
सेवां चक्रुः सदा तस्या विनयादिभिरादरात् ॥ ६२ ॥

मुनि भविष्य में होनेवाली सब बातें जानते थे। अतः उन्होंने अर्घ्यादि से सीताजी का पूजन किया और उन्हें समझा बुझाकर मुनिपत्नियों को सौंप दिया। वे मुनिपत्नियाँ मुनीश्वर के कहने से उन्हें साक्षात् परमात्मा की भार्या लक्ष्मीजी जानकर नित्यप्रति भक्तिभाव से उन की पूजा करतीं और सदा ही अत्यन्त आदर से नम्रतापूर्वक उन की सेवा करती थीं ॥ ६१–६२ ॥

रामोऽपि सीतारहितः परात्मा विज्ञानदृक्केवल आदिदेवः ।
सन्त्यज्य भोगानखिलान्विरक्तो मुनिव्रतोऽभून्मुनिसेविताङ्घ्रिः ॥६३॥

इधर सीताजी को त्याग देने पर जिन के चरणकमलों का मुनिजन सेवन करते हैं वे विज्ञानचक्षु, अद्वितीय, आदिदेव परमात्मा राम भी समस्त भोगों को छोड़कर वैराग्यपूर्वक मुनियों के समान रहने लगे ॥ ६३ ॥

रा० च०—प्रिय सज्जनो, मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के विमल चरित्र के विषय में इस सर्ग के बीच कई बातें विचार करने योग्य हैं। अकसर लोग इन पर आक्षेप कर प्रभु की मर्यादा घटाने की कोशिश करते रहते हैं। इन में पहली बात है अयोध्या में [illegible] शम्बूक का वध और दूसरी बात

गीताधर्म

સીતાજીને છોડતાં લક્ષ્મણજીનો વિલાપ.
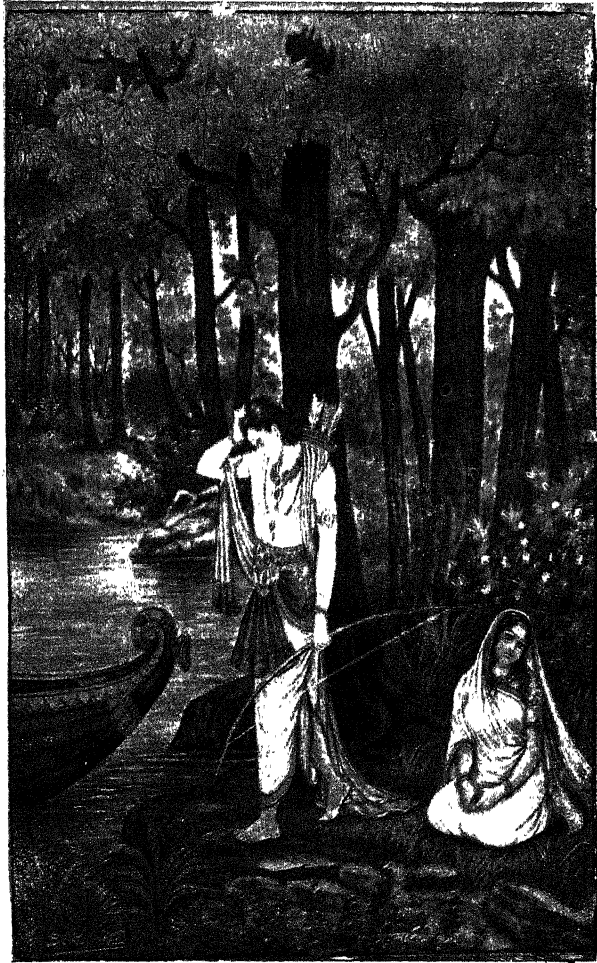
सीताजी को छोड़कर लक्ष्मणजी का विलाप।

सीतापरित्याग की है जो उन्होंने लोकापवाद से डरकर किया था। हमारे विचार में तो श्री राम का कोई भी ऐसा चरित्र नहीं, जो उन्होंने आदर्श स्थापन और लोकशिक्षा के इरादे से न किया हो। क्योंकि वे गीता की—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

इस नीति के पालक क्या, प्रवर्तक थे। आजकल जो महाविनाश, महासंहार, महाविध्वंस करते हुए एक दूसरे का गला काटा जा रहा है और देश के देश उजाड़े जा रहे हैं, उन का कारण भगवान् राम के इस चरित्र के रहस्य को न समझकर इस की नीति को व्यवहार में न लाना ही है। असल में भगवान् ने इस एक व्यक्ति के द्वारा समस्त समाज को कर्तव्य-विश्रृङ्खल या कर्मसंकर होने से बचाया था।

प्राचीन शासनविधान उर्फ धर्मशास्त्रों में यह बात सिद्ध की गई है कि धर्म दृष्ट और अदृष्ट भेद से दो प्रकार का है। एक धर्माज्ञा से प्रत्यक्ष प्रयोजन पूरा होता है और दूसरी धर्माज्ञा से परोक्ष प्रयोजन पूरा होता है। दोनों का ही मुख्य उद्देश्य व्यक्ति और जाति, व्यष्टि और समष्टि की उन्नति है। इन दोनों के पालन का भार राजा के ऊपर है। जो भाग अदृष्टार्थसाधक है, उस में प्रधानता दिव्यदृष्टिसंपन्न, व्यापक और उदार विचार रखने-वाले ब्रह्मर्षि, राजर्षि आदि परमोच्च आत्माओं की है। उस समय ऐसे दीर्घदर्शी शासकों के रहने से कभी समाज में गड़बड़ी न आने पाती थी, अस्तु। यद्यपि इक्के दुक्के व्यक्ति के स्वधर्म को छोड़कर परधर्म ग्रहण करने पर भगवान् इतने रुष्ट न होते,पर शंबूक जैसा उग्र तप कर रहा था, उस का असर समाज के बहुत बड़े अंश पर पड़ता। शबरी को, निषाद को भगवान् ने स्वयं भक्ति (जिस में भजन, पूजन, जप आदि भी आते हैं) करने का उपदेश दिया था। पर शंबूक उल्टा टँगकर धूम पान करता हुआ जो उग्र तप कर रहा था, वह गीता के इन शब्दों में,

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

—अ० १७—४, ५,

सात्विक तप तो नहीं, किंतु आसुरी निश्चय का तप था। इसलिए इस तरह के तप से उस की कामना तो पूरी होती ही नहीं, बल्कि इस उल्टे तप के नाटक से शूद्रजाति में उच्छृङ्खलता फैल जाती, अनेकों शूद्र खेती बारी, शिल्प, उद्योग आदि स्वाभाविक कर्मों को छोड़कर ऐसा ही मूढग्राही तप करने चल पड़ते। उधर ऐसे तपस्वी शूद्रों की जमात भीख माँगने

निकल पड़ती, क्योंकि एक शंबूक की सी तितिक्षा सब में नहीं आ सकती थी। इधर खलिहान, गोशाला और उद्योग धन्धों के उजड़ जाने से जीवनयापन की चीजों का चोर-बाजार आजकल का सा चलने लगता। फिर वैश्य लोग यदि इन कामों के लिए ब्राह्मण क्षत्रियों की भर्ती करते तो उन से वह कर्मकौशल कदापि न आता, तथा जड़भरत की तरह रही सही खेती को भी ये लोग उजड़ा देते। फिर इन नये तपस्वियों की जमात और पुराने तपोधन ब्राह्मणों में खूब ही चिमटों, तूमड़ों, डण्डों और लक्कड़ पत्थरों के प्रयोग की नौबत आ जाती। फिर यह कहावत चरितार्थ होती कि—

'आये थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास।'

यदि शंबूक सात्विक तप करता तो भगवान् उस का कभी विरोध न करते, क्योंकि गीता के शब्दों में उस को ऐसे तप के लिए देव, द्विज, गुरु, प्राज्ञों की पूजा करनी पड़ती, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, स्वाध्यायाभ्यास आदि करने पड़ते, अनुद्वेगजनक, सत्य प्रिय हितवचन बोलने पड़ते। इस के लिए शंबूक सब से पहले द्विज, गुरु, प्राज्ञों के पास जाता तो वे कहते कि भगत, अभी तू रामनाम का जप कर। तेरे अंदर अभी वानप्रस्थ आश्रम के कठोर नियम पालन की शक्ति इस जन्म में आना कठिन है, तुझे रामनाम जप से ही शबरी की तरह सर्वोत्तम फल मिल जायगा। क्योंकि चाण्डाल शंबूक में, जिस की उम्र ढल चुकी थी, वेदमन्त्रोच्चारण, हवन, जप की सामर्थ्य आना असम्भव था। हाँ, इस के विपरीत उस को "इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" जैसे विकृत मन्त्रजापकों की तरह अनिष्ट की ही आशंका रहती। गुरु की सलाह से वह भक्ति करता तो उस का अनायास बेड़ा पार हो जाता, पर उस ने जो समाज से विद्रोह कर यह उग्र तप ठाना, इस से उस के और उस के आदर्श पर चलनेवाली उस की जातिभर के इहलोक परलोक दोनों बिगड़ जाते।

वह तो रामराज्यकाल का युग था, इसलिए भगवान् ने सद्गति और प्राणदण्ड देकर शंबूक की और शास्त्रों की, सब की बात रख दी। किंतु अन्य समय में जब ऐसा ही कर्मसांकर्य होने लगता, तब समाज का त्राता कौन होता?

ऐसे अदृष्टार्थक परोक्ष धर्म की व्यवस्था भगवान् ने शंबूकवध के द्वारा बाँधी थी। इस अदृष्टार्थक धर्म की व्यवस्था से ऐसे विषयों का संबन्ध है जिन का परिणाम प्रत्यक्ष में कुछ नहीं दीखता। व्यापक दृष्टि रखनेवाले रामचन्द्रजी ने इसी भाग के साधनार्थ प्रकृति-नियमानुसार वर्ण और आश्रमों की व्यवस्था की थी। आज वे सब व्यवस्थाएँ भङ्ग हो गईं, योग्यायोग्य का हर एक काम में कुछ विवेक नहीं रहा। सब समाज धर्मभ्रष्ट, कर्मभ्रष्ट हो हो रहा है। रामजी की व्यवस्था के आन्तरिक रहस्य को न समझकर आजकल के लोग सुखशान्ति की नई नई योजना बनाते हैं पर सुखशान्ति और भी दूर होती जाती है। सब

क्षेत्रों में सब का समानाधिकार मान लेना ठीक हो तो पहले योग्यता, सामर्थ्य भी तो देख लेनी चाहिए। अब तो इन सब के सोचे विचारे बिना सभी वर्गों के लिए प्रतिशत नियमित स्थान सुरक्षित रहने ही चाहिएँ। फलतः अशान्ति और उपद्रव बढ़ ही रहे हैं। आजकल के, या किसी भी शासनतन्त्र में यदि कोई कनिष्ठ अधिकारी उच्च अधिकारी का आसन झपट-कर उस पर आरूढ हो जाय तो कार्यसंचालन में कैसी गड़बड़ी मच जायेगी? बस, इसी तरह यदि कनिष्ठ अधिकारी ऊँचे अधिकार का कर्म करने लगे तो अदृष्टार्थसाधक धर्मविभाग में भी पूर्ण हलचल मचकर उस के परिणामस्वरूप उत्पात और विघ्न आ उपस्थित होते हैं। इसी कारण आजकल अतिवृष्टि, अनावृष्टि, हिम, आतप, शलभ, महामारी आदि उपद्रवों का वेग अधिकता से बढ़ रहा है।

इसी तरह अनधिकार से शंबूक के तप करने पर कोई न कोई उत्पात होना ही था, सो वह उस ब्राह्मणबालक की मृत्यु के रूप में परिणत हुआ। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि तप करनेवाला कहाँ और बालक कहाँ? और अस्त्रादि से तो मृत्यु होती देखी गई है, बालक की मृत्यु का हेतु तप क्यों कर समझा जा सकता है? किंतु तप करना और उस का इष्टानिष्ट परिणाम होना, इन सब का अदृष्टार्थक धर्मविभाग से संबन्ध है। यह लोकोत्तर सूक्ष्मजगत् का व्यवहार है जो अवयवरहित अरूप या अदृष्ट है। यह जो विस्तार या विशालता देखने में आ रही है सो तो केवल स्थूल जगत् का दृश्य है। इस के सूक्ष्मरूप का दृष्टान्त बड़ के बीज से समझना चाहिए, वह इतना विस्तृत वृक्ष एक राई के दाने जैसे बीज में समाया रहता है। अतः सूक्ष्म जगत् में वैसा अन्तर नहीं रहता जैसा स्थूल में दीखता है, इसी तरह किसी के मरने में भी जैसे अस्त्रादि का प्रहार स्थूल जगत् में होता है वैसे वहाँ नहीं होता। वहाँ इस प्रकार की घटनाएँ अवयवरहित गुणों के व्यतिक्रम से होती हैं जो चर्मचक्षुओं का विषय नहीं। आजकल के भौतिक जगत् के चमत्कारों को देखते हुए भी अध्यात्मजगत् के चमत्कारों पर संदेह न करना चाहिए। फिर भी तर्क हो सकता है कि उस बालक की मृत्यु ही क्यों हुई, अन्य उपद्रव क्यों न हुए? किंतु यह बात प्रसिद्ध है कि अनेक रोगों के कीटाणु सदैव आकाशमण्डल में फिरा करते हैं। पर न तो सब रोगों की उत्पत्ति या प्रकोप एक साथ होता है, न सब मनुष्य ही किसी रोग में एक साथ ग्रस्त होते हैं। विशेष देश, काल, पात्र ही उन के शिकार होते हैं। यही दशा सूक्ष्म जगत् की है। ऐसी ही विशेषताओं से वह बालक ही उस समय अनिष्ट का पात्र हुआ। अब उग्र-दण्ड पर भी विचार करना चाहिए। सो यह तो प्रत्यक्ष ही है और आजकल की न्याय-पद्धति में भी देखा जाता है कि किसी का वध करने पर अपराधी को वध का ही दण्ड दिया जाता है। और रामचन्द्रजी की कुशाग्र बुद्धि ने यह देख लिया था कि शिशुमरण का

अपराधी शंबूक ही है । जिस राजा के समस्त राज्य में परमशान्ति का डंका बज रहा हो, सब प्रजा पूर्ण सुख और आनन्द का भोग कर रही हो, उस राज्य में यदि किसी का बाधक होना सिद्ध हो जाय, तो न्याय का रास्ता यही है कि अपराधी को ऐसा उदाहरणीय दण्ड दिया जाय। जिस से फिर किसी को ऐसा अपराध करने का साहस ही न हो और उस शान्ति के साम्राज्य में अन्तर न पड़े। आज भी लोकतन्त्र के हिमायती समाजवादी और वर्गवादी रूस आदि देशों में शासन व्यवस्था के विरोधी या षडयन्त्रकारियों का बेधड़क वध किया जा रहा है। यही बात शंबूक के विषय में है अतः अपनी शासनविधि के मर्यादा रक्षणार्थ ही भगवान् का यह कृत्य हुआ था।

अब अन्य आक्षेप के विषय सीतापरित्याग पर भी विचार करना चाहिए। लोकमत का क्या मूल्य है और राजा को उस की कितनी आवश्यकता है, इस प्रमुख विषय पर यह दृढहृदयशीला लीला प्रकाश डालती है। इसी चरित्र से पातिव्रत धर्म और एकपत्नीव्रत का आदर्श सिद्ध होता है। उस रामराज्य में लोकमत के आदर की सीमा इतनी ऊँची थी कि वह आजकल के लोकतन्त्र का ढोल पीटनेवाले संकीर्ण विचारकों की कल्पना में भी नहीं आ सकती। उस समय प्रजा के हित के लिए कैसा भी कठिन साधन बचाकर नहीं रखा जाता था। इसी लिए रामजी के मनोगत भावों की सूचक यह सूक्ति प्रचलित हो गई है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

'लोकमत का आराधन (पूजन, संमान) करने के लिए स्नेह, दया, सुख भोग या सीताजी तक के त्याग करने में मुझे कुछ पीडा नहीं हो सकती।' ऐसा राजतन्त्र तो किसी भी लोकतन्त्र से लाखगुना उत्तम है। इस में मुख्य विचारणीय बात यह है कि यहाँ कोरे, शिथिल लोकमत का ही आदर नहीं किया गया है, इस में परम लोकहित भी अभिमत है। क्यों कि संसार की दृष्टि अन्तर्वर्ती तल के हेतुओं तक न पहुँचकर केवल परिणाम पर ही रहती है। अतः जैसा श्री जानकीजी का शुद्ध चरित्र था, उस की सर्वथा उपेक्षा करके स्थूल दृष्टि के द्वारा यही प्रसिद्ध हो गया कि जब राजा ने राक्षसों के वश में प्राप्त हुई पत्नी को ग्रहण कर लिया, तो प्रजा भी राजा का ही अनुकरण करेगी। यहाँ देखना चाहिए कि यदि श्री रामचन्द्रजी अपने हृदय को पाषाण बनाकर जानकीजी का त्यागरूप उग्र कर्म न करते तो सदाचार को कितना भयानक धक्का लगता? सभी स्त्रियाँ जानकीजी के समान ऐसे कठिन पातिव्रत धर्म को प्राणपणपूर्वक निभाने में दृढ नहीं रह सकतीं। श्री भगवान् के इस दूरदर्शितापूर्ण चरित्र से पातिव्रतधर्म और एकपत्नीव्रत की पूरी पराकाष्ठा प्रमाणित हुई है।

इस से यह आशंका अवश्य होती है कि उन्होंने दयनीय और निरपराध महिला-समाज के लिए कठोर आदर्श रखा, जब कि रावण के यहाँ सीताजी के जाने में स्वयं पुरुषवर्ग की असावधानी कारण मानी जानी चाहिए। किंतु रामजी ने अपने को भी अपराधी माना, तभी तो दूसरी पत्नी स्वीकार न कर ब्रह्मचर्यव्रत एवं कठिन मुनिव्रत का पालन किया! जो मनोदशा सीताजी की हुई होगी, ऐसी हालत में तुल्यन्याय से रामजी की भी वही हुई होगी। लोकशिक्षा के लिए सीताजी के त्यागने पर भी उन की हिफाजत का ध्यान उन्होंने इतना रखा कि अपने पिता के सखा वाल्मीकि के तपोवन में छोडा, जहाँ उन का योगक्षेम अवश्यंभावी था। आगे चलकर सीताजी की प्रतिमा को यज्ञ में साथ रखकर उन्होंने व्यक्तिगत भाव से यह भी दर्शाया कि अनिच्छया, बलात्कार से, यदि स्त्री परसंसर्ग में रहकर उस से छुटकारा पाले और इस के लिए वह प्रायश्चित्त कर ले तो उस स्त्री का त्याग योग्य नहीं। इसी लिए आगे चलकर भगवान् ने लव कुश पुत्रों को ग्रहण कर लिया। यदि परसंसर्गदूषित स्त्री के हर हालत में त्यागने की मर्यादा भगवान् को रखनी होती, तो त्याज्य स्त्री की संतान को भी वे नहीं ग्रहण करते। लव कुश के ग्रहण से स्पष्ट है कि विवशतया परसंसर्ग में गई स्त्री पश्चात्तापपूर्वक फिर अपनी पतिपरायणता सच्चे भाव से प्रकट करने पर ग्राह्य होती है। यह त्याग का आदर्श तो इस आशय से भी उन्हें रखना पडा कि धोबी चमार आदि निम्न वर्गों की स्त्रियाँ परगृह में स्वेच्छा से बैठती रहती हैं, अब रामजी के आदर्श को देख ऐसी स्त्री का पहला पति, एवं किरात, निषाद, वानर, राक्षस आदि भी स्वेच्छया परगत निज स्त्री पर अपना हक साबित कर दंगा फसाद करें तो सीतास्वीकार भारी कलह का कारण आगे के लिए हो जाय। इस लिए स्वतन्त्र स्त्रियों की स्वतन्त्रता को भगवान् ने मान्य भी किया है और विवशतया आपद्गत स्त्री के उद्धार की, ग्रहण की व्यवस्था भी दी है। और कामिनी शूर्पणखा के नाक कान काटकर यह भी बता दिया कि "मीयां बीबी राजी तो क्या करेंगे काजी" का कायदा दोनों ओर से स्वीकृति होने पर ही मान्य है। इस प्रकार भगवान् राम की मर्यादा में कोई कलंक नहीं है।

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड के चतुर्थ सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ४ ॥
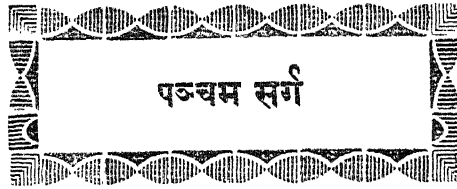
लक्ष्मणजी को रामगीता का उपदेश।

श्रीमहादेव उवाच—

ततो जगन्मङ्गलमङ्गलात्मना विधाय रामायणकीर्तिमुत्तमाम् ।
चचार पूर्वाचरितं रघूत्तमो राजर्षिवर्यैरभिसेवितं यथा ॥ १ ॥
सौमित्रिणा पृष्ट उदारबुद्धिना रामः कथाः प्राह पुरातनीः शुभाः ।
राज्ञः प्रमत्तस्य नृगस्य शापतो द्विजस्य तिर्यक्त्वमथाह राघवः ॥२॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, तदनन्तर रघुश्रेष्ठ भगवान् राम, संसार के मङ्गल के लिए धारण किये हुए अपने दिव्य मङ्गलदेह से रामायणरूप अति उत्तम कीर्ति की स्थापना कर, पूर्वकाल में जैसा आचरण राजर्षिश्रेष्ठों ने किया है वैसा ही स्वयं भी करने लगे। उदारबुद्धि लक्ष्मणजी के पूछने पर वे प्राचीन उत्तम कथाएँ सुनाया करते थे। इसी प्रसङ्ग में श्री रघुनाथजी ने राजा नृग को प्रमादवश ब्राह्मण के शाप से तिर्यग्योनि प्राप्त होने का वृत्तान्त भी सुनाया ॥ १-२ ॥

रा० च०—प्यारे मित्रो, भगवान् राम ने लक्ष्मण आदि व्यक्तियों को उपदेश देते हुए भावी प्रजा की खातिर अनेकानेक आदर्श और किस स्थिति में क्या करना, इस के उपाय बतला दिये हैं। परवृत्ति, दूसरे को दी हुई संपत्ति को कभी भूल से भी न लेना चाहिए। इस के लिए अभी गत अध्याय में शंबूक के प्रकरण से रामजी ने यही सूचित किया था कि पराई वृत्ति, जीविका, संपत्ति आदि का कोई हरण न करे। सब अपने अपने नियत कर्मों में लगे रहें तो समाज में सदा सुख, शान्ति, कल्याण बने रह सकते हैं। ब्राह्मण बनियाँ यदि पैसे के लिए हाय हाय करते हुए जूते, पालिस आदि की एजेंसी न लें, तेल चीनी आदि की मिलें तेली, चमारों और कपडे की मिलें कोली जुलाहों के ही जिमे रहने दें, रेलवे विभाग में बनजारे ही भर्ती किये जायँ तो कम से कम वर्गवाद के उपद्रव वर्णाश्रमी भारत में तो कभी न उठें। असली अछूतोद्धार का धार्मिक हल तो यही है।

इसी प्रकार ब्राह्मण लोग 'पानीपाँडेपन' को कहारों के ही लिए सुरक्षित कर पढ़ने पढ़ाने और भजन पाठ में लग जायँ, एवं अपने संतोषी त्यागी स्वभाव के अनुसार परिमित वेतन लेते हुए स्कूल पाठशालाओं में 'पालागन' और कुछ सीधे लेकर अध्यापन की गुरुवृत्ति को अपना लें, तो समाज में से अनैतिकता, बेईमानी, चालाकी, क्षुद्र स्वार्थपरता कतई घट जाय। तब न तो स्कूलों में छात्राध्यापकों के द्वन्द्व, हड़ताल, पिकेटिंग आदि की नौबत आवे, और न सरकार को शिक्षा की शान पर बेशुमार खर्च ढूँढ़ने के लिए शराब गाँजा आदि के जरिये आबकारी के महकमे से धन उगाहने का लालच करना पड़े। आजकल समाज में जो उच्छृंखलता है, उस की जड़ स्कूल कालेजों के वासनामय वातावरण और दम्भी अध्यापन कर्म में ही प्रायः कोमलमति बालकों के हृदय में घर कर लेती है। जब तक त्यागवृत्ति-वाले गुरु और उन का उचित संमान करनेवाले इतर जन शिक्षासंस्थाओं में न होंगे, तब तक सामाजिक भ्रष्टता से उद्धार पाना कठिन है। क्या ही अच्छी प्राचीन समाजव्यवस्था थी, जिस में सर्वत्र सुव्यवस्थित आनन्द था। एक दूसरे के अधिकार हरण कर लेने से आजकल उस व्यवस्था में भी बहुत विकार आ रहा है।

दूरदर्शी भगवान् राम ने हर एक के स्वत्वों के संरक्षण की गारंटी देने के लिए ही लक्ष्मणजी को यहाँ यह प्रसंग सुनाया था। परस्वत्व का अपहरण, चाहे वह किसी किस्म का हो और कितनी भी कम मात्रा में हुआ हो, बहुत उग्र अपराध ठहराया गया है, किस लिए? लोकहित की कामना से ही। इस विषय में भगवान् ने लक्ष्मणजी को जो राजा नृग का इतिहास सुनाया था, वह संक्षेप में इस प्रकार है—

एक समय का अवसर है कि कल्पभेद के अनुसार रामावतार से पहले के द्वापर युग में द्वारकापुरी के बीच भगवान् श्री कृष्ण से संरक्षित यादव लोग आनन्द की बंशी बजा रहे थे। भगवान् कृष्ण के भी असंख्य नाती पोते द्वारकापुरी के वन, उपवन, समुद्री करारों में किलोलें करते घूमते रहते थे। किसी दिन साम्ब, प्रद्युम्न, चारुभानु, गद आदि यदुवंशी राजकुमार खेलने के लिए उपवन में पहुँचे, वहाँ बहुत देर तक खेलते खेलते उन्हें प्यास लगी, अब वे इधर उधर जल की खोज करने लगे। अन्त में उन्हें एक ऐसा कूआ दिखाई पड़ा जिस में जल तो नाम मात्र को भी नहीं, किंतु एक विचित्र आकार का जीव पड़ा था। वह जीव पर्वताकार का एक कृकलास (गिरगिट) था। उसे देखकर बच्चों के आश्चर्य की सीमा न रही, उन को बड़ी दया आयी और वे उसे बाहर निकालने के कौतुकभरे बालचापल में अपनी प्यास भी भूल गये। वे सब कृष्णकुमार थे ही, उन की आज्ञा से मजबूत रस्से लाये गये और उन में फसाकर उस जन्तु को निकालने की अथक चेष्टा उन्होंने की, पर वह जन्तु उन से हिला भी नहीं। उन लोगों ने कुतूहलवश दौड़कर, यह समाचार श्री कृष्ण से निवेदन

किया। बच्चों के निमित्त से भगवान् को तो अपने भक्त का भला करना था, इस लिए जगत् के जीवनदाता कमलनयन श्री कृष्ण उस कूए पर पहुँचे। उन्होंने रस्सियों में फँसे उस जन्तु को देखकर बाँये हाथ से अनायास अकेले ही खींचकर बाहर निकाल लिया।

भगवान् श्री कृष्ण के करकमलों का स्पर्श होते ही उस जन्तु का कृकलासकलेवर अलग हो गया और उस में से एक अत्यन्त दिव्यमूर्ति राजर्षि निकल आया। अब उस व्यक्ति का शरीर सोने के समान चमक रहा था, आभूषण, वस्त्र और पारिजातपुष्पों के हार जगमगा रहे थे। यद्यपि भगवान् कृष्ण जानते थे कि इस दिव्य पुरुष को यह मलिन तिर्यक्योनि क्यों मिली, फिर भी वह कारण सब लोगों को मालूम हो जाय और लोग ऐसा प्रमाद करने से सचेत रहें, इस के लिए उन्होंने उस राजर्षि से पूछा—महाभाग, तुम्हारा रूप बड़ा सुन्दर है, तुम कौन हो? मेरी समझ से तो तुम कोई श्रेष्ठ देवता हो। किस कर्म के बल से तुम कल्याणमूर्ति को इस तामसयोनि में आना पड़ा? तुम तो इस के योग्य मालूम नहीं पड़ते, इस लिए मैं तुम्हारा वृत्तान्त जानना चाहता हूँ।

जब अनन्तमूर्ति भगवान् श्री कृष्ण ने उस राजर्षि से इस प्रकार प्रश्न किया तब उस ने सूर्य के समान अपना मुकुट झुकाकर भगवान् को प्रणाम किया और इस प्रकार अपना परिचय दिया—प्रभो, मैं महाराज इक्ष्वाकु का पुत्र राजा नृग हूँ। जब कभी किसी ने आप के सामने दानियों की गिनती की होगी तब उन में मेरा नाम भी अवश्य आप के कानों में पड़ा होगा। आप तो समस्त प्राणियों की एक एक वृत्ति के साक्षी हैं, भूत भविष्य का व्यवधान भी आप के ज्ञान में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाल सकता, इस लिए आप से छिपा ही क्या है? फिर भी आप की आज्ञापालनार्थ मैं निवेदन करता हूँ। भगवन्, पृथ्वी में जितने धूलिकण है, आकाश में जितने तारे हैं और वर्षा में जितनी जलधाराएँ गिरती हैं; मैं ने उतनी ही गौएँ दान की थीं। वे सभी गौएँ दूधवाली तरुण, सीधी, सुन्दर, सुलक्षणा और कपिला थीं। उन्हें मैं ने न्याय से अर्जित धन से खरीदा था, सब के साथ बछवे थे। उन के सींगों में सोना और खुरों में चाँदी मढी गई थी, उन्हें रत्नहार मेखला आदि गहनों से सजाया गया था।

प्रभो, मैं श्रेष्ठ ब्राह्मणकुमारों को, जो शीलसंपन्न, दम्भरहित, तपस्वी, वेदपाठी तथा धर्नकृच्छ्र होते थे, वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर उन गौओं का दान करता था। इस प्रकार बहुत सी गौएँ, भूमि, सुवर्ण, चाँदी, तिल, शय्या, वस्त्र रत्न, कन्या, दास दासी, हाथी घोड़े रथ आदि अगणित सामग्री मैं ने दान की थी। अनेक यज्ञ करके बहुत से बापी, कूप, आराम भी बनवाये थे। एक दिन किसी अप्रतिग्रही (दान न लेनेवाले) ब्राह्मण की गौ बिछुड़कर मेरी गौओं में आ मिली और मैं ने अनजान में किसी दूसरे ब्राह्मण को उसे दान

कर दिया। प्रतिग्राही ब्राह्मण उसे लेकर जब रास्ते में गया तो उस के असली स्वामी ने कहा कि यह गौ मेरी है। दूसरे ने कहा कि राजा नृग ने इसे मुझे दान में दिया अतः यह मेरी है। वे दोनों आपस में झगडते हुए मेरे पास आये और एक ने कहा कि यह गौ आप ने अभी मुझे दी है तथा दूसरे ने कहा कि तब आप ने मेरी गौ की चोरी की है। उन दोनों ब्राह्मणों की बात सुनकर बड़ा खेद हुआ, मैं ने धर्मसंकट में पडकर उन से बड़ी अनुनय विनय की और कहा कि मैं इस के बदले एक लाख उत्तम गौ देता हूँ, यह गौ मुझे दे दीजिये। मैं आप का सेवक हूँ, मुझ से अनजान में यह अपराध बन गया है, मुझे घोर नरक में गिरने से बचाइये।

गाय के स्वामी ने कहा—राजन्, इस के बदले मैं कुछ नहीं लूँगा। इतना कहकर वह चला गया। दूसरे ब्राह्मण ने भी कहा कि तुम इस के बदले अनन्त गौएँ दो तो भी मैं लेने का नहीं। यह कहकर वह भी चला गया। प्रभो, इस झगड़े का निपटारा भी न हो पाया था कि कालवश यमराज के दूत मेरे पास आये और मुझे यमपुरी में ले गये। वहाँ यमराज ने पूछा कि आप पहले पाप का फल भोगना चाहते हैं या पुण्य का? आप के दान और धर्म के फल से आप को ऐसा तेजस्वी लोक प्राप्त होगा जिस की कोई सीमा नहीं। तब मैं ने निवेदन किया कि देव, मैं पहले पाप का फल भोगना चाहता हूँ। बस, इतना कहते ही यमराज ने कहा 'तुम गिर जाओ।' बस तुरत ही मैं वहाँ से गिरा और इस अन्धकूप में गिरते हुए मैं ने देखा कि मैं गिरगिट हो गया हूँ। इस प्रकार मुझे यहाँ हजारों वर्ष बीत गये, किंतु प्रभो, मैं ब्राह्मणों का सेवक, दानी और आप का भक्त था। इस लिए मुझे पूर्व जन्म की स्मृति और यह उत्कट अभिलाषा बनी रही कि किसी प्रकार आप के दर्शन हो जायँ।

इन्द्रियातीत परमात्मन्, मेरा अत्यन्त सौभाग्य है कि योगिजनों को भी दुर्लभ आप का दर्शन मुझे आज अचानक हो गया। मैं तो अनेक प्रकार के दुःखद कर्मों में फसकर अंधा हो रहा था, तो भी अन्तर्यामी आप नारायण ने मुझे पवित्र किया। अब देवताओं के लोक को जाने की मुझे आज्ञा दीजिये और ऐसी कृपा कीजिये कि मैं चाहे जहाँ रहूँ, मेरा चित्त सदा आप के चरणकमलों में ही लगा रहे। हे सच्चिदानन्द वासुदेव, आप को बारंबार नमस्कार है।

इस प्रकार राजा नृग ने अपना वृत्तान्त सुनाकर परिकरों समेत भगवान् की परिक्रमा की और अपने चमकीले मुकुट से उन के चरणों को छूकर उन की आज्ञा से विमान में बैठा हुआ दिव्य धाम को चला गया। राजा नृग के चले जाने पर ब्राह्मणों के परम प्रेमी, धर्म के आधार भगवान् ने संसार को शिक्षा देने के लिए वहाँ उपस्थित उन बालकों को समझाया कि पराई संपत्ति या दूसरे की जीविका का हरण महान् अपराध है। ब्राह्मणों की संपत्ति

तो हलाहल विष के समान है, भूल से भी उस का हरण महान् घातक होता है। जो मनुष्य अपने से या दूसरों से दी हुई वृत्ति या जीविका के साधनों को छीन लेते हैं वे हजारों वर्ष तक मलिन कीट बनते हैं। जो ऐसा करते हैं वे शत्रुओं से पराजित, अल्पायु और स्थानभ्रष्ट होकर मृत्यु के बाद इस नृग से भी हीन तामस योनि भोगते हैं।

मित्रो, भूल चूक में अनजाने भी परधन को काम में लाने पर कैसी दुर्गति होती है, इस का इतिहास यह है, जो भगवान् राम ने लक्ष्मणजी को सुनाया। नृगराजा रामजी के पूर्वज थे अतः उन का इतिहास तो वे जानते थे, पर उन के उद्धार की कथा भी उन्होंने विज्ञानदृष्टि से देखकर सुना दी। पतितपावन प्रभु राम ने अनेक जीवों का उद्धार किया पर अपने ही पूर्वपुरुष नृग के उद्धारार्थ उन्होंने सोचा तक नहीं, क्यों कि वे उन के कर्मफल का भोग करा देना उचित समझते थे। इस अनहोने से अपराध को मर्यादापालक ने जब इतना उग्र ठहराया, तब आज कल जो सोच समझकर दूसरों की जीविका हरण कर लेते हैं वे कितना घोर अपराध करते हैं? आज कल अनेक अनर्थ ऐसे ही पापों से घटित हो रहे हैं। कुछ ही दिन रहने के लिए संसार में लोगों की आसक्ति बड़ी गहरी होती जाती है।

संभवतः यही समझकर सुमित्रानन्दन लखनलालजी संसार के मोह, ममता, आसक्ति और अज्ञान, अहंकार के बन्धन को काटने के उपाय भगवान् राम से पूछने के लिए इस प्रकार प्रवृत्त हो रहे हैं—

कदाचिदेकान्त उपस्थितं प्रभुं
रामं रमालालितपादपङ्कजम् ।
सौमित्रिरासादितशुद्धभावनः
प्रणम्य भक्त्या विनयान्वितोऽब्रवीत् ॥ ३ ॥

किसी दिन भगवान् राम, जिन के चरणकमलों की सेवा साक्षात् श्री लक्ष्मीजी करती हैं, एकान्त में बैठे हुए थे। उस समय शुद्ध विचारवाले लक्ष्मणजी ने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम कर अति विनीत भाव से कहा— ॥ ३ ॥

त्वं शुद्धबोधोऽसि हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशोऽसि निराकृतिः स्वयम् ।
प्रतीयसे ज्ञानदृशां महामते पादाब्जभृङ्गाहितसङ्गसङ्गिनाम् ॥४॥
अहं प्रपन्नोऽस्मि पदाम्बुजं प्रभो भवापवर्गं तव योगिभावितम् ।
यथाञ्जसाज्ञानमपारवारिधिं सुखं तरिष्यामि तथानुशाधि माम् ॥५॥

हे महामते, आप शुद्ध ज्ञानस्वरूप, समस्त देहधारियों के आत्मा, सब के स्वामी और स्वरूप से निराकार हैं। जो आप के चरणकमलों के लिए भ्रमररूप हैं उन परमभागवतों के सहवास के रसिकों को ही आप ज्ञानदृष्टि से दिखलायी देते हैं। हे प्रभो, योगिजन जिन का निरन्तर चिन्तन करते हैं, संसार से छुड़ानेवाले उन आप के चरणकमलों की मैं शरण हूँ। आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये जिस से मैं सुगमता से ही अज्ञानरूपी अपार समुद्र के पार हो जाऊँ ॥ ४-५ ॥

श्रुत्वाथ सौमित्रिवचोऽखिलं तदा प्राह प्रपन्नार्तिहरः प्रसन्नधीः ।
विज्ञानमज्ञानतमःप्रशान्तये श्रुतिप्रपन्नं क्षितिपालभूषणः ॥६॥

श्री लक्ष्मणजी के सब वचन सुनकर शरणागतवत्सल भूपालशिरोमणि भगवान् राम, सुनने के लिए उत्सुक हुए लक्ष्मण को उन के अज्ञानान्धकार का नाश करने के लिए प्रसन्नचित्त से ज्ञानोपदेश करने लगे ॥ ६ ॥

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः कृत्वा समासादितशुद्धमानसः ।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः समाश्रयेत्सद्गुरुमात्मलब्धये ॥७॥

श्री राम बोले—सब से पहले अपने अपने वर्ण और आश्रम के लिए शास्त्रों में बतलायी हुई क्रियाओं का यथावत् पालन कर, चित्त शुद्ध हो जाने पर उन कर्मों को छोड़ दे और शमदमादि साधनों से सम्पन्न हो आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए सद्गुरु की शरण में जाय ॥ ७ ॥

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः ।
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः ॥८॥

कर्म देहान्तर की प्राप्ति के लिए ही स्वीकार किये गये हैं, क्यों कि उन में प्रेम रखनेवाले पुरुषों से इष्ट अनिष्ट दोनों ही प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। उन से धर्म और अधर्म दोनों ही की प्राप्ति होती है, और उन के कारण फिर शरीर प्राप्त होता है

जिस से फिर कर्म होते हैं,। इसी प्रकार यह संसार चक्र के समान चलता रहता है ॥ ८ ॥

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते ।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम् ॥९॥
नाज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत् ।
ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता तस्माद्बुधो ज्ञानविचारवान्भवेत् ॥१०॥

संसार का मूलकारण अज्ञान ही है और इन शास्त्रीय विधिवाक्यों में उस अज्ञान का नाश ही संसार से मुक्त होने का उपाय बतलाया गया है। अज्ञान का नाश करने में ज्ञान ही समर्थ है, कर्म नहीं। क्यों कि उस अज्ञान से उत्पन्न होनेवाला कर्म उस का विरोधी नहीं हो सकता। सकाम कर्म द्वारा अज्ञान का नाश अथवा राग का क्षय नहीं हो सकता, बल्कि उस से दूसरे सदोष कर्म की उत्पत्ति होती है। उस से पुनः संसार की प्राप्ति होना अनिवार्य है। इस लिए बुद्धिमान् को ज्ञानविचार में ही तत्पर होना चाहिये ॥ ९-१० ॥

ननु क्रिया वेदमुखेन चोदिता तथैव विद्या पुरुषार्थसाधनम् ।
कर्तव्यता प्राणभृतः प्रचोदिता विद्यासहायत्वमुपैति सा पुनः ॥११॥
कर्माकृतौ दोषमपि श्रुतिर्जगौ तस्मात्सदा कार्यमिदं मुमुक्षुणा ।
ननु स्वतन्त्रा ध्रुवकार्यकारिणी विद्या न किञ्चिन्मनसाप्यपेक्षते ॥१२॥
न सत्यकार्योऽपि हि यद्वदध्वरः प्रकाङ्क्षतेऽन्यानपि कारकादिकान् ।
तथैव विद्या विधितः प्रकाशितैर्विशिष्यते कर्मभिरेव मुक्तये ॥१३॥

कुछ वितर्कवादी ऐसा कहते हैं कि जिस प्रकार वेद के कथनानुसार ज्ञान पुरुषार्थ का साधक है, वैसे ही कर्म वेदविहित हैं, और प्राणियों के लिए कर्मों की अवश्य कर्त्तव्यता का विधान भी है, इसलिए वे कर्म ज्ञान के सहकारी हो जाते हैं। साथ ही श्रुति ने कर्म न करने में दोष भी बतलाया है; इसलिए मुमुक्षु को उन्हें सर्वदा करते रहना चाहिये। और यदि कोई कहे कि ज्ञान स्वतन्त्र है एवं निश्चय ही अपना फल देनेवाला है, उसे मन से भी किसी और की सहायता की आवश्यकता नहीं है; तो उस का यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार वेदोक्त यज्ञ सत्यकर्म होने पर भी अन्य कारकादि की अपेक्षा करता ही है, उसी प्रकार विधि से प्रकाशित कर्मों के द्वारा ही ज्ञानमुक्ति का साधक हो सकता है, अतः कर्मों का त्याग उचित नहीं है ११-१३

केचिद्वदन्तीति वितर्कवादिनस्तदप्यसद्दृष्टविरोधकारणात् ।
देहाभिमानादभिवर्धते क्रिया विद्या गताहङ्कृतितः प्रसिद्ध्यति ॥१४॥
विशुद्धविज्ञानविरोचनाञ्चिता विद्यात्मवृत्तिश्चरमेति भण्यते ।
उदेति कर्माखिलकारकादिभिर्निहन्ति विद्याखिलकारकादिकम् ॥१५॥

ऐसा जो कोई कुतर्की कहते हैं, उन के कथन में प्रत्यक्ष विरोध होने के कारण वह ठीक नहीं है । क्यों कि कर्म देहाभिमान से होता है और ज्ञान अहंकार के नाश होने पर सिद्ध होता है । वेदान्तवाक्यों का विचार करते करते विशुद्ध विज्ञान के प्रकाश से उद्भासित जो चरम आत्मवृत्ति होती है, उसी को विद्या या आत्मज्ञान कहते हैं । इस के अतिरिक्त कर्म सम्पूर्ण कारकादि की सहायता से होता है, किन्तु विद्या समस्त कारकादि को अनित्यत्व की भावना द्वारा नष्ट कर देती है ॥ १४-१५ ॥

तस्मात्त्यजेत्कार्यमशेषतः सुधीर्विद्याविरोधान्न समुच्चयो भवेत् ।
आत्मानुसन्धानपरायणः सदा निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिगोचरः ॥१६॥
यावच्छरीरादिषु माययात्मधीस्तावद्विधेयो विधिवादकर्मणाम् ।
नेतीति वाक्यैरखिलं निषिध्य तज्ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत्क्रियाः ।१७।

इस लिए समस्त इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त होकर निरन्तर आत्मानुसन्धान में लगा हुआ बुद्धिमान् पुरुष सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा त्याग कर दे। क्यों कि विद्या का विरोधी होने के कारण कर्म का उस के साथ समुच्चय नहीं हो सकता। जब तक माया से मोहित रहने के कारण मनुष्य का शरीरादि में आत्मभाव है, तभी तक उसे वैदिक कर्मानुष्ठान कर्त्तव्य है । 'नेति नेति' आदि वाक्यों से सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओं का निषेध करके अपने परमात्मस्वरूप को जान लेने पर फिर उसे समस्त कर्मों को छोड़ देना चाहिये ॥ १६-१७ ॥

यदा परात्मात्मविभेदभेदकं विज्ञानमात्मन्यवभाति भास्वरम् ।
तदैव माया प्रविलीयतेऽञ्जसा सकारका कारणमात्मसंसृतेः ॥१८॥
श्रुतिप्रमाणाभिविनाशिता च सा कथं भविष्यत्यपि कार्यकारिणी ।
विज्ञानमात्रादमलाद्द्वितीयतस्तस्मादविद्या न पुनर्भविष्यति ॥१९॥

जिस समय परमात्मा और जीवात्मा के भेद को दूर करनेवाला प्रकाशमय विज्ञान अन्तःकरण में स्पष्टतया भासित होने लगता है, उसी समय आत्मा के लिए

संसारप्राप्ति की कारण माया अनायास ही कारकादि के सहित लीन हो जाती है। श्रुतिप्रमाण से उस के नष्ट कर दिये जाने पर फिर वह अपना कार्य करने में समर्थ भी किस प्रकार हो सकेगी ? क्यों कि परमार्थतत्त्व एकमात्र ज्ञानस्वरूप निर्मल और अद्वितीय है। अतः बोध हो जाने पर फिर अविद्या उत्पन्न नहीं होगी ॥ १८–१९ ॥

यदि स्म नष्टा न पुनः प्रसूयते कर्ताहमस्येति मतिः कथं भवेत्।
तस्मात्स्वतन्त्रा न किमप्यपेक्षते विद्या विमोक्षाय विभाति केवला ।२०।

जब एक बार नष्ट हो जाने पर अविद्या का फिर जन्म ही नहीं होता, तो बोधवान् को 'मैं इस कर्म का कर्ता हूँ' ऐसी बुद्धि कैसे हो सकती है ? इसलिए ज्ञान स्वतन्त्र है, उसे जीव के मोक्ष के लिए किसी कर्मादि की अपेक्षा नहीं है, वह स्वयं अकेला ही उस के लिए समर्थ है ॥ २० ॥

सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणां स्फुटम् ।
एतावदित्याह च वाजिनां श्रुतिर्ज्ञानं विमोक्षाय न कर्म साधनम् ॥२१॥

इस के सिवा तैत्तिरीय शाखा की प्रसिद्ध श्रुति भी आग्रहपूर्वक स्पष्ट कहती है कि समस्त कर्मों का त्याग करना ही अच्छा है। तथा 'एतावत्' इत्यादि वाजसनेयी शाखा की श्रुति भी कहती है कि मोक्ष का साधन ज्ञान ही है, कर्म नहीं ॥२१॥

विद्यासमत्वेन तु दर्शितस्त्वया क्रतुर्न दृष्टान्त उदाहृतः समः ।
फलैः पृथक्त्वाद्बहुकारकैः क्रतुः संसाध्यते ज्ञानमतो विपर्ययम् ॥२२॥
सप्रत्यवायो ह्यहमित्यनात्मधीरज्ञप्रसिद्धा न तु तत्त्वदर्शिनः ।
तस्माद्बुधैस्त्याज्यमविक्रियात्मभिर्विधानतः कर्म विधिप्रकाशितम् ।२३।

और पूर्वपक्षी ने जो ज्ञान की समानता में यज्ञादि का दृष्टान्त दिया सो ठीक नहीं है। क्यों कि उन दोनों के फल अलग अलग हैं। इस के अतिरिक्त यज्ञ तो होता, ऋत्विक्, यजमान आदि बहुत से कारकों से सिद्ध होता है, और ज्ञान इस से विपरीत कारकादि से साध्य नहीं है। कर्म के त्याग करने से 'मैं अवश्य प्रायश्चित का भागी होऊँगा' ऐसी अनात्मबुद्धि अज्ञानियों को हुआ करती है, तत्वज्ञानी को नहीं। इसलिए विकाररहित चित्तवाले बोधवान् पुरुष को विहित कर्मों का विधिपूर्वक त्याग कर देना चाहिये ॥ २२–२३ ॥

श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीति वाक्यतो गुरोः प्रसादादपि शुद्धमानसः ।
विज्ञाय चैकात्म्यमथात्मजीवयोः सुखी भवेन्मेरुरिवाप्रकम्पनः ॥२४॥

आदौ पदार्थावगतिर्हि कारणं वाक्यार्थविज्ञानविधौ विधानतः ।
तत्त्वम्पदार्थौ परमात्मजीवकावसीति चैकात्म्यमथानयोर्भवेत् ॥२५॥

फिर चित्त शुद्ध हो जाने पर श्रद्धापूर्वक गुरु की कृपा से 'तत्वमसि' इस महावाक्य के द्वारा परमात्मा और जीवात्मा की एकता जानकर साधक सुमेरु के समान निश्चल एवं सुखी हो जाय। यह नियम ही है कि प्रत्येक वाक्य का अर्थ जानने में पहले उस के पदों के अर्थ का ज्ञान ही कारण है। इस 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पद क्रम से परमात्मा और जीवात्मा के वाचक हैं और 'असि' उन दोनों की एकता करता है ॥ २४-२५ ॥

रा० च०—प्रभुप्रेमी सज्जनो, यह श्री रामगीता भगवान् रामचन्द्रजी ने जिन सिद्धान्तों के प्रतिपादन करने का साधन बनाई है, वे सब बातें भगवान् कृष्ण ने भी अपनी गीता में कही हैं। क्यों कि भगवत्प्रोक्त गीता की एक ही धारा विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजर्षियों में बहती हुई परंपरा से रामचन्द्रजी को प्राप्त हुई और इस परंपरा के अनुसार आती हुई उसी गीता का आगे चलकर श्री कृष्णचन्द्र ने भी अर्जुन को प्रकाश किया। किंतु रामगीता की अपेक्षा महाभारतीय गीता में लोक परलोकोपयोगी बहुत से सिद्धान्त देखे जाते हैं, और रामगीता केवल शुद्ध पारमार्थिक विषयों की ही चर्चा करती है। इस का कारण है वक्ता श्रोता की अवस्था का भेद। असल में चिदानन्दस्वरूपिणी, अर्धमात्राक्षरा ब्रह्मसमा भगवती गीता का स्वरूप बड़ा ही अद्भुत, अत्यन्त सुकुमार, बहुत ही सूक्ष्म है। क्यों कि वास्तव में ब्रह्मविद्या या ब्रह्मवल्लरी ज्ञानाकारा गीता और आनन्दकन्द सच्चिदानन्दस्वरूप परात्पर ब्रह्म में कोई अन्तर ही नहीं है। ऐसी अद्भुत गीतामाता का प्रकाश भगवान् कृष्ण ने अपनी विशाल गीतावाणी में बड़े कौशल के साथ परिमित मात्रा में किया है। उस से भी अत्यन्त संक्षिप्त रामगीता में भी गीतादेवी का प्रकाश यत्र तत्र ही हुआ है। उपनिषद्रूपी गौओं के (राम-कृष्णीय दोनों) गीतारूपी दूध में उस का सारस्वरूप दिव्य ज्ञानमय नवनीत गूढ रूप से विद्यमान रहता हुआ सामान्यतः दृष्टि से ओझल, तन्मात्र, स्वल्प ही है। इस लिए रामगीता छोटी या भगवद्गीता बड़ी यह तो विचार ही न उठना चाहिए।

रामगीता में मुख्य परमतत्त्व की बातों का ही विवेचन है, महाभारतीय गीता की अपेक्षा इस की स्वल्प रचना का कारण ऊपर वक्ता श्रोता का भेद बतलाया गया है। जैसे कि यहाँ उत्तरकाण्ड रामायण में रामचन्द्रजी लोकसंग्रह के सभी व्यवहारों को पूर्ण कर निवृत्त हो चुके हैं। उन्होंने संसार के धर्म, अर्थ, काम पूर्ण कर लिये, अब चतुर्थ पदार्थ निःश्रेयस की लीला ही उन्हें और रचनी है। एवं इसी दशा में लक्ष्मणजी भी आ

चुके हैं। इसी लिए भगवान् राम को महाभारतीय गीता की तरह का कर्मयोग यहाँ इष्ट नहीं है। इतने लंबे जीवन में वे सब को अपने चरित्र से कर्मयोग का ही पाठ पढाते आये हैं। अत एव अब वे यहाँ विशुद्ध ज्ञानयोग का ही निरूपण कर रहे हैं।

उधर भगवान् कृष्ण का नया चेला अर्जुन स्वार्थ परमार्थ, इहलोक परलोक के सभी धर्मों में विमूढ, किंकर्तव्यशून्य था। इस लिए उस के प्रति भगवान् को कर्म, उपासना, ज्ञान, भक्ति सभी का उपदेश देना पडा। परमतत्त्वमयी गीता का स्वरूप अत्यन्त विलक्षण सूक्ष्म और गहन है; इसी लिए 'उत्तरगीता' की रचना श्री कृष्ण ने पहली गीतावाणी की अपेक्षा लघु आकार में बडे सोच विचार के बाद सावधान होकर की थी। अस्तु,

वस्तुत: जिस सिद्धान्त का व्याख्यान श्री रामजी यहाँ कर रहे हैं, महाभारतीय गीता का भी परमहृदयस्वरूप वह है। उस में कर्मयोग का प्रतिपादन अर्जुन और संसार की नाजुक दशा को लक्ष्य कर ज्ञानियों को भी लोकसंग्रहार्थ कर्तव्यत्वेन हुआ है। जिस सिद्धान्त का अवलम्बन यहाँ रामजी कर रहे हैं, वह उपसंहाररूप से अष्टादश अध्याय के उत्तर भाग में (तथा यत्र तत्र मध्य में भी) श्री कृष्ण ने 'ज्ञान की पराकाष्ठा' के नाम से समासरूप में यह कहा है—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

—५०-५३

यहाँ संसार के सब व्यवहारों से कृतकृत्य, निष्काम कर्मयोग के द्वारा परमा नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त प्राणी जिस प्रकार उदासीन, असंग ब्रह्मभाव को प्राप्त करता हुआ बतलाया गया है, वह इस रामगीता का ही यथार्थ निष्कर्ष है। रामचन्द्रजी यहाँ पर बडे जोर शोर के साथ ब्रह्मप्राप्ति में कर्मकाण्ड की निरर्थकता बतला रहे हैं। उन का मत है कि कर्म चित्तशुद्धि मात्र के कारण हैं। कर्मों के बाद निश्चिन्त, सिद्धिप्राप्त प्राणी को ब्रह्मप्राप्ति के लिए श्री कृष्ण ने भी उपरोक्त श्लोकों में यही मत दर्शाया है और पहले भी वे स्पष्ट शब्दों में यही कह चुके हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमिष्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमिष्यते ॥

—६, ३

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

—२,४५

इन वचनों से रामचन्द्रजी के कर्मवादखण्डन की एकवाक्यता कृष्णगीता के साथ हो जाती है। रामजी ने ब्रह्मप्राप्ति में कर्मों की विफलता बतलाई पर उन के लक्ष्य सकाम कर्म ही समझने चाहिएँ। प्रवाहपतित प्रारब्ध कर्म तो अत्यन्त तटस्थ ज्ञानी को भी करने ही पडते हैं, कृष्णगीता ने कर्मकौशल के साथ इस विधि में कुछ संशोधन रख दिया है। बस दोनों गीताओं का यही अन्तर है। जिस प्रकार रामचन्द्रजी ब्रह्म प्राप्ति के लिए कर्मकाण्ड का निवारण कर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों को साक्षात् कारण बतला रहे हैं, वही बातें स्वामी शंकराचार्यजी आदि भाष्यकारों ने—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। —१,१,१

इस ब्रह्ममीमांसासूत्र के प्रसंग में कही हैं। वहाँ इस सूत्र के 'अथ' 'अतः' इन दो शब्दों के अर्थनिर्धारण में बड़े ही वागाडम्बर के साथ यही मत प्रकट किया है जो रामगीता के इस चौबीसवें श्लोक तक आ चुका। और वहीं क्या, शास्त्रों में सर्वत्र ही यह सिद्धान्त मान्य हुआ है कि—

चित्तस्य शुद्धये कर्म नतु वस्तूपलब्धये।

वैदिक कर्म चित्तशुद्धि के लिए ही किये जाते हैं, परमात्मवस्तु के ज्ञानार्थ नहीं। ईश्वरार्पितफल की बुद्धि से निष्काम कर्मों द्वारा 'आगामी कर्मफल' कुछ भी जमा न होकर चित्तशुद्धि होती है. फिर गुरु की शरणागति और सत्संग से '१–नित्यानित्य वस्तुविवेक, २–इहामुत्र फलभोगविराग, ३–शमदमादि षट्संपत्ति और ४–मुमुक्षुता' (परमात्मप्राप्ति के लिए संसार से छूटने की इच्छा) इन साधनचतुष्टयों की प्राप्ति होती है। मूल श्लोक में जो 'गुरोः प्रसादादपि शुद्धमानसः' कहा गया है, उस का इतना आशय है। इस के अनन्तर गुरु के द्वारा महावाक्यों का भली प्रकार उपदेश होने पर उन के मुहुर्मुहुः श्रवण, मनन, निदिध्यासन से अपरोक्षज्ञान (साक्षात् परमात्मभाव) की ओर साधक अग्रसर होता है।

इस प्रकार श्री रामचन्द्रजी का आदेश है कि "तत् त्वम् असि" "अहम् ब्रह्म अस्मि" इत्यादि महावाक्यों का चिन्तन करने से ब्रह्मप्राप्ति होती है। किंतु ऐसे चिन्तन के लिए इन के प्रत्येक पद का पूरा भाव समझ में आना चाहिए, तब इन का समन्वय (संगति) लग सकता है। इसी बात को बताने के लिए रामचन्द्रजी आगे कहते हैं—

प्रत्यक्परोक्षादिविरोधमात्मनोर्विहाय सङ्गृह्य तयोश्चिदात्मताम् ।
संशोधितां लक्षणया च लक्षितां ज्ञात्वा स्वमात्मानमथाद्वयो भवेत् ॥२६॥
एकात्मकत्वाज्जहती न सम्भवेत्तथाजहल्लक्षणता विरोधतः ।
सोऽयम्पदार्थाविव भागलक्षणा युज्येत तत्त्वम्पदयोरदोषतः ॥२७॥

जीवात्मा और परमात्मा में जीवात्मा अन्तःकरण का साक्षी है और परमात्मा इन्द्रियातीत है; दोनों के इस वाच्यार्थरूप विरोध को छोड़कर, लक्षणावृत्ति से लक्षित उन की शुद्ध चेतनता को ग्रहण कर उसे ही अपना आत्मा जानो और इस प्रकार एकीभाव से स्थित रहो। इन 'तत्' और 'त्वम्' पदों में एकरूप होने के कारण जहतीलक्षणा नहीं हो सकती, और परस्पर विरुद्ध होने के कारण अजहतीलक्षणा भी नहीं हो सकती। इस लिए 'सोऽयम्' (यह वही है) इन दोनों पदों के अर्थ की भाँति इन तत् और त्वम् पदों में भी भागत्यागलक्षणा ही निर्दोषता से हो सकती है ॥ २६-२७ ॥

रा० च०—मित्रो, पूर्वोक्त महावाक्यों का अर्थ किस प्रकार करना चाहिये, अब इस का तरीका रामजी बतला रहे हैं। तत्त्वमस्यादि वाक्यों के अर्थविचार से हृदय में ब्रह्म इस प्रकार भासने लगता है जिस प्रकार घर में रुई तेल सलाई आदि का एकत्र सुयोग करने से प्रकाश फैल जाता है। इस लिए इन महावाक्यों का बहुत महत्त्व है। अस्तु, किसी भी वाक्य का अर्थ निर्धारण तब होता है जब पहले उस के अन्तर्गत प्रत्येक शब्द का अर्थ जान लिया जाय और फिर वाक्यवर्ती शब्दों के इकट्ठे अर्थ का प्रयोग भी सिद्ध हो जाय। एक एक शब्द का अर्थ जानना तो सरल है पर शब्दसमूह के अर्थ की संगति लगाना ही बड़ा जटिल विषय है। अतः लोकव्यवहार में वाक्यार्थ निश्चय के लिए शब्द की चार प्रकार की वृत्तियाँ (बर्ताव) देखी जाती हैं—शक्ति, लक्षणा, व्यञ्जना, तात्पर्याख्या। इन सब में मुख्य शक्ति वृत्ति है। जैसे कोई कहे कि 'पुस्तक पढ़ो' तो इन दो शब्दों में 'पुस्तक' की शक्तिवृत्ति (अर्थ) है छपी हुई पत्रावली, एवं 'पढ़ो' की शक्तिवृत्ति है समझते हुए क्रमशः बाँचना।

अब कोई कहे कि 'वह पुस्तक को घोटकर पी गया' तो इस वाक्य का शक्तिवृत्ति से अर्थ होगा पुस्तक को भाँग की तरह सिल पर पीस छानकर गटागट गले के नीचे उतार जाना। पर इस वाक्य की शक्तिवृत्ति का यह अर्थ व्यवहार में कहीं नहीं चलता, और उक्त वाक्य खूब प्रचलित, शुद्ध है, पर असंभव होने से यह अर्थ बाधित (अघटित) कहा जाता है। अब इस का अर्थ निश्चय करने के लिए लक्षणावृत्ति आगे आती है, जिस की परिभाषा यों है—

मुख्य अर्थ कौ बाध पै, जग में वचन प्रसिद्ध ।
वृत्ति लक्षणा कहत हैं, ताकों सुमति समृद्ध ॥

लक्षणा से कुछ अर्थ घटाया बढ़ाया जाता है, बस इसी घटावढ़ी के कारण इस के तीन भेद हैं । जहाँ कुछ अर्थ घटाया जाय, वह 'जहल्लक्षणा' है, जहाँ अर्थ न घटाकर बढ़ाया जाय वह 'अजहल्लक्षणा' मानी गई है और जहाँ कुछ अर्थ घटाया जाय; कुछ अर्थ बढ़ाया भी जाय वह 'उभयलक्षणा' या 'भागत्यागलक्षणा वृत्ति' कही गई है । 'पुस्तक घोटकर पीना' इस वाक्य में घोटने और पीने के अर्थ की जगह 'एक एक अक्षर का भाव समझकर हृदय में धारण करना' ऐसा अर्थ मुख्यार्थ को त्यागकर (घटाकर) लगाना पड़ता है, इस लिए यहाँ 'जहल्लक्षणा' से अर्थ निकाला गया ।

एवं कोई कहे कि 'कौओं को दही मत खाने दो' तो इस वाक्य के अनुसार कौओं को ही दही खाने से रोका जा सकता है, कुत्ता बिल्ली को नहीं । पर आज्ञा देनेवाला सभी से दही की रक्षा चाहता था, इस लिए यहाँ कौए का अर्थ घटाया तो नहीं जा सकता, पर कौआ, कुत्ता, बिल्ली, बंदर; इस प्रकार बढ़ाकर 'दहीविनाशक कौआ आदि' यह अर्थ 'अजहल्लक्षणा' से होता है ।

अब कोई कहे कि 'यह वह देवदत्त है ।' इस वाक्य में पहले के गयावासी देवदत्त को अब काशी में देखकर एक ही बताया गया है, परंतु जब तक गयावासी और काशीवासी उपाधि लगी हुई हैं तब तक दोनों एक नहीं हो सकते । अतः इस वाक्य में गयावासित्व काशी-वासित्व को त्यागकर खाली शरीरी व्यक्ति की एकता का अर्थ लिया जाता है । यहाँ विशे-षणों का त्याग और विशेष्य का अत्याग होने से 'जहदजहल्लक्षणा' या 'भागत्यागलक्षणा' कही जाती है । 'तत्त्वमसि' वाक्य में इसी लक्षणा से अर्थ किया जाता है । इस वाक्य का अर्थ है कि 'तू (अल्पज्ञ, असमर्थ, अपूर्ण आत्मा) वह (सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी आत्मा) है ।' इस में उपाधियों (भेदकों) का त्याग होकर दोनों ओर के चैतन्यांश आत्मा को एक ही बतलाया गया । यही भागत्यागलक्षणा हुई । पहली दो लक्षणाएँ यहाँ पर संगत नहीं होतीं और शक्तिवृत्ति से दो का एक होना बनता नहीं, इसलिए तीसरी लक्षणा ही मानी जा सकती है ।

जिस प्रकार धान को ओखली में कूटकर उस के छिलके को त्याग देते हैं और साररूप चावल को ग्रहण करते हैं, उस के खाने से क्षुधा की निवृत्ति होती है । यदि ऐसा न करें और छिलका चावल दोनों को (जहल्लक्षणा की तरह) त्याग दें तो भूखों मरना होगा । एवमेव छिलका चावल दोनों को (अजहल्लक्षणा के समान) खाने लगें, तब भी वह खाया न जाने से भूखे ही रहे । इस लिए जिस प्रकार चावल और छिलका को अलग अलग कर

छिलका का त्याग और चावल का ग्रहण होता है तभी तृप्ति होती है, उसी प्रकार उक्त महा-वाक्य के जो 'तत्' 'त्वम्' पद 'जीव ईश्वर' के वाचक हैं, उन के जीवांश ईश्वरांशरूप वाच्यार्थ को भागत्यागलक्षणा से त्यागकर निरुपाधिक एक चैतन्य परमात्मा का ग्रहण करके मोक्षरूपी आत्मानन्द का उपभोग किया जाता है। अस्तु, श्री कृष्ण ने भी अपनी गीता में जीवेश्वर की एकता बतलाई है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। —१३, २।

'हे भारत, सब क्षेत्रों (शरीरों) में क्षेत्रज्ञ (शरीरवासी) मुझ को ही जान।' अस्तु, इस प्रकार जो जीव ईश्वर की एकरूपता वेदवचनों से श्री रामचन्द्रजी ने सिद्ध की है, उस की प्राप्ति के लिए पहले प्रसंग में श्री कृष्णगीता के अठारहवें अध्याय के उद्धरण में जो "बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः" इत्यादि लक्षण कहे गये हैं, वे उपाय अत्यन्त उपयोगी हैं और वे नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त को सुगम भी हैं। अब अगले प्रकरण में भगवान् राम बन्धनजालरूप शरीर के स्थूल, सूक्ष्म, पञ्चकोश तथा अविद्यारूपी कारण शरीर का विवेचन कर उस को त्याज्य बतलाते हुए ब्रह्मभाव में ही मिल जाने की प्रेरणा कर रहे हैं—

रसादिपञ्चीकृतभूतसम्भवं भोगालयं दुःखसुखादिकर्मणाम्।
शरीरमाद्यन्तवदादिकर्मजं मायामयं स्थूलमुपाधिमात्मनः॥ २८॥
सूक्ष्मं मनोबुद्धिदशेन्द्रियैर्युतं प्राणैरपञ्चीकृतभूतसम्भवम्।
भोक्तुः सुखादेरनुसाधनं भवेच्छरीरमन्यद्विदुरात्मनो बुधाः॥२९॥
अनाद्यनिर्वाच्यमपीह कारणं मायाप्रधानं तु परं शरीरकम्।
उपाधिभेदात्तु यतः पृथक् स्थितं स्वात्मानमात्मन्यवधारयेत्क्रमात्॥३०॥

पृथिवी आदि पञ्चीकृत भूतों से उत्पन्न हुए, सुख दुःखादि कर्मभोगों के आश्रय और पूर्वोपार्जित कर्मफल से प्राप्त होनेवाले, इस मायामय, आदि अन्तवान् शरीर को विज्ञजन आत्मा की स्थूल उपाधि मानते हैं। और मन, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण, इन सत्रह अङ्गों से युक्त और अपञ्चीकृत भूतों से उत्पन्न हुए सूक्ष्म शरीर को, जो भोक्ता के सुख दुःखादि अनुभव का साधन है, आत्मा का दूसरा देह मानते हैं। इन के अतिरिक्त, अनादि और अनिर्वाच्य मायामय कारण-शरीर ही जीव का तीसरा देह है। इस प्रकार उपाधिभेद से सर्वथा पृथक् स्थित अपने आत्मस्वरूप को क्रमशः उपाधियों का बाध करते हुए अपने हृदय में निश्चय करो॥ २८-३०॥

कोशेष्वयं तेषु तु तत्तदाकृतिर्विभाति सङ्गात्स्फटिकोपलो यथा ।
असङ्गरूपोऽयमजो यतोऽद्वयो विज्ञायतेऽस्मिन्परितो विचारिते ॥३१॥

स्फटिकमणि के समान यह आत्मा भी अन्नमयादि भिन्न भिन्न कोशों में उन के सङ्ग से उन्हीं के आकार का भासने लगता है। किन्तु इस का भली प्रकार विचार करने से यह अद्वितीय होने के कारण असङ्गरूप और अजन्मा निश्चित होता है ॥ ३१ ॥

बुद्धेस्त्रिधा वृत्तिरपीह दृश्यते स्वप्नादिभेदेन गुणत्रयात्मनः ।
अन्योन्यतोऽस्मिन्व्यभिचारतो मृषा नित्ये परे ब्रह्मणि केवले शिवे ॥३२॥
देहेन्द्रियप्राणमनश्चिदात्मनां सङ्घादजस्रं परिवर्तते धियः ।
वृत्तिस्तमोमूलतयाज्ञलक्षणा यावद्भवेत्तावदसौ भवोद्भवः ॥ ३३ ॥

त्रिगुणात्मिका बुद्धि की ही स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति भेद से तीन प्रकार की वृत्तियाँ दिखायी देती हैं। किन्तु इन तीनों वृत्तियों में से प्रत्येक का एक दूसरी में व्यभिचार होने के कारण, तीनों ही एकमात्र कल्याणस्वरूप नित्य परब्रह्म में मिथ्या हैं, अर्थात् उस में इन वृत्तियों का सर्वथा अभाव है। बुद्धि की वृत्ति ही देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और चेतन आत्मा के संघातरूप से निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। यह वृत्ति तमोगुण से उत्पन्न होनेवाली होने के कारण अज्ञानरूपा है और जब तक यह रहती है तब तक ही संसार में जन्म होता रहता है ॥ ३२-३३ ॥

नेतिप्रमाणेन निराकृताखिलो हृदा समास्वादितचिद्घनामृतः ।
त्यजेदशेषं जगदात्तसद्रसं पीत्वा यथाम्भः प्रजहाति तत्फलम् ॥३४॥
कदाचिदात्मा न मृतो न जायते न क्षीयते नापि विवर्धतेऽनवः ।
निरस्तसर्वातिशयः सुखात्मकः स्वयम्प्रभः सर्वगतोऽयमद्वयः ॥३५॥

'नेति नेति' आदि श्रुतिप्रमाण से निखिल संसार का बाध करके और हृदय में चिद्घनामृत का आस्वादन करके सम्पूर्ण जगत् से उस के साररूप सत् को ग्रहण कर उसे त्याग दे; जैसे नारियल के जल को पीकर मनुष्य उसे फेंक देते हैं। आत्मा न कभी मरता है न जन्मता है, वह न कभी क्षीण होता है और न बढ़ता ही है। वह पुरातन, सम्पूर्ण विशेषणों से रहित, सुखस्वरूप, स्वयंप्रकाश, सर्वगत और अद्वितीय है ॥ ३४-३५ ॥

एवंविधे ज्ञानमये सुखात्मके कथं भवो दुःखमयः प्रतीयते ।
अज्ञानतोऽध्यासवशात्प्रकाशते ज्ञाने विलीयेत विरोधतः क्षणात् ॥३६॥
यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमादध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः ।
असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत् ॥३७॥

जो इस प्रकार ज्ञानमय और सुखस्वरूप है, उस आत्मा में इस दुःखमय संसार की प्रतीति कैसे हो सकती है ? यह तो अध्यास के कारण अज्ञान से ही दिखायी दे रहा है। ज्ञान से तो यह एक क्षण में ही विलीन हो जाता है क्यों कि ज्ञान और अज्ञान का परस्पर विरोध है। भ्रम से जो अन्य में अन्य की प्रतीति होती है उसी को विद्वानों ने अध्यास कहा है। जिस प्रकार असर्परूप रज्जु आदि में सर्प की प्रतीति होती है, उसी प्रकार ईश्वर में संसार की प्रतीति हो रही है ॥ ३६-३७ ॥

विकल्पमायारहिते चिदात्मकेऽहङ्कार एष प्रथमः प्रकल्पितः ।
अध्यास एवात्मनि सर्वकारणे निरामये ब्रह्मणि केवले परे ॥३८॥
इच्छादिरागादिसुखादिधर्मिकाः सदा धियः संसृतिहेतवः परे ।
यस्मात्प्रसुप्तौ तदभावतः परः सुखस्वरूपेण विभाव्यते हि नः ॥३९॥

जो विकल्प और माया से रहित, सब का कारण है, उस निरामय, अद्वितीय और चित्स्वरूप परमात्मा ब्रह्म में पहले इस 'अहंकार' रूप अध्यास की ही कल्पना होती है। सब के साक्षी आत्मा में इच्छा, अनिच्छा, राग द्वेष और सुख दुःखादि-रूप बुद्धि की वृत्तियाँ ही जन्म मरणरूप संसार की कारण हैं। क्यों कि सुषुप्ति में इन का अभाव हो जाने पर हमैं आत्मा के सुखरूप का भान होता है ॥ ३८-३९ ॥

अनाद्यविद्योद्भवबुद्धिविम्बितो जीवः प्रकाशोऽयमितीर्यते चितः ।
आत्मा धियः साक्षितया पृथक् स्थितो बुद्ध्यापरिच्छिन्नपरः स एव हि ॥४०॥
चिद्बिम्बसाक्ष्यात्मधियां प्रसङ्गतस्त्वेकत्र वासादनलाक्तलोहवत् ।
अन्योन्यमध्यासवशात्प्रतीयते जडाजडत्वं च चिदात्मचेतसोः ॥४१॥

अनादि अविद्या से उत्पन्न हुई बुद्धि में प्रतिबिम्बित यह चेतन का प्रकाश ही 'जीव' कहलाता है। बुद्धि के साक्षीरूप से आत्मा उस से पृथक् है, बुद्धि से अपरिच्छिन्न हुआ जीव परमात्मा ही हो जाता है। अग्नि से तपे हुए लोहे के समान चिदाभास, साक्षी आत्मा तथा बुद्धि के एकत्र रहने से परस्पर अन्योन्याध्यास होने के

कारण क्रमशः उन की चेतनता और जडता प्रतीत होती है ॥ ४०-४१ ॥

गुरोः सकाशादपि वेदवाक्यतः सञ्जातविद्यानुभवो निरीक्ष्य तम् ।
स्वात्मानमात्मस्थमुपाधिवर्जितं त्यजेदशेषं जडमात्मगोचरम् ॥४२॥

गुरु के समीप रहने से और वेदवाक्यों से आत्मज्ञान का अनुभव होने पर अपने हृदयस्थ उपाधिरहित आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए, फिर आत्मारूप से प्रतीत होनेवाले देहादि सम्पूर्ण जडपदार्थों का त्याग कर देना चाहिये ॥ ४२ ॥

प्रकाशरूपोऽहमजोऽहमद्वयोऽसकृद्विभातोऽहमतीव निर्मलः ।
विशुद्धविज्ञानघनो निरामयः सम्पूर्ण आनन्दमयोऽहमक्रियः ॥४३॥
सदैव मुक्तोऽहमचिन्त्यशक्तिमानतीन्द्रियज्ञानमविक्रियात्मकः ।
अनन्तपारोऽहमहर्निशं बुधैर्विभावितोऽहं हृदि वेदवादिभिः ॥४४॥
एवं सदात्मानमखण्डितात्मना विचारमाणस्य विशुद्धभावना ।
हन्यादविद्यामचिरेण कारकै रसायनं यद्वदुपासितं रुजः ॥४५॥

मैं प्रकाशस्वरूप, अजन्मा, अद्वितीय, निरन्तर भासमान, अत्यन्त निर्मल, विशुद्ध विज्ञानघन, निरामय, क्रियारहित और एकमात्र आनन्दस्वरूप हूँ। मैं सदा ही मुक्त, अचिन्त्यशक्ति, अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप, अविकृतरूप और अनन्तपार हूँ। वेदवादी पण्डितजन अहर्निश हृदय में मेरा चिन्तन करते हैं। इस प्रकार सदा आत्मा का अखण्ड वृत्ति से चिन्तन करनेवाले पुरुष के अन्तःकरण में उत्पन्न हुई विशुद्ध भावना तुरन्त ही कारकादि के सहित अविद्या का नाश कर देती है, जिस प्रकार नियमानुसार सेवन की हुई औषध रोग को नष्ट कर डालती है ॥ ४३-४५ ॥

विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो विनिर्जितात्मा विमलान्तराशयः ।
विभावयेदेकमनन्यसाधनो विज्ञानदृक्केवल आत्मसंस्थितः ॥४६॥
विश्वं यदेतत्परमात्मदर्शनं विलापयेदात्मनि सर्वकारणे ।
पूर्णश्चिदानन्दमयोऽवतिष्ठते न वेद बाह्यं न च किञ्चिदान्तरम् ॥४७॥

आत्मचिन्तन करनेवाले पुरुष को चाहिये कि एकान्त देश में इन्द्रियों को उन के विषयों से हटाकर और अन्तःकरण को अपने अधीन करके बैठे तथा आत्मा में स्थित होकर और किसी साधन का आश्रय न लेकर शुद्ध चित्त हो केवल ज्ञानदृष्टि द्वारा एक आत्मा की ही भावना करे। यह विश्व परमात्मस्वरूप है ऐसा समझकर

इसे सब के कारणरूप आत्मा में लीन करे। इस प्रकार जो पूर्ण चिदानन्दस्वरूप से स्थित हो जाता है उसे बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता ॥ ४६-४७ ॥

पूर्वं समाधेरखिलं विचिन्तयेदोङ्कारमात्रं सचराचरं जगत् ।
तदेव वाच्यं प्रणवो हि वाचको विभाव्यतेऽज्ञानवशान्न बोधतः ॥४८॥
अकारसंज्ञः पुरुषो हि विश्वको ह्युकारकस्तैजस ईर्यते क्रमात् ।
प्राज्ञो मकारः परिपठ्यतेऽखिलैः समाधिपूर्वं न तु तत्त्वतो भवेत् ॥४९॥

समाधि प्राप्त होने के पूर्व ऐसा चिन्तन करे कि सम्पूर्ण चराचर जगत् केवल ओंकार मात्र है। यह संसार वाच्य है और ओंकार इस का वाचक है। अज्ञान के कारण ही इस की प्रतीति होती है, ज्ञान होने पर इस का कुछ भी नहीं रहता। ओंकार के अ, उ, म इन तीन वर्णों में से अकार जागृति के अभिमानी विश्व (जीव) का वाचक हैं, उकार स्वप्न का अभिमानी तैजस (जीव) कहलाता है और मकार सुषुप्ति केअभिमानी प्राज्ञ (जीव) को कहते हैं। यह व्यवस्था समाधिलाभ से पहले की है, तत्त्वदृष्टि से ऐसा कोई भेद नहीं है ॥ ४८-४९ ॥

विश्वं त्वकारं पुरुषं विलापयेदुकारमध्ये बहुधा व्यवस्थितम् ।
ततो मकारे प्रविलाप्य तैजसं द्वितीयवर्णं प्रणवस्य चान्तिमे ॥५०॥
मकारमप्यात्मनि चिद्घने परे विलापयेत्प्राज्ञमपीह कारणम् ।
सोऽहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तिमद्विज्ञानदृङ् मुक्त उपाधितोऽमलः ॥५१॥

ओंकार के नाना प्रकार से स्थित अकाररूप विश्व पुरुष को उकार में लीन करे और उस के द्वितीय वर्ण तैजसरूप उकार को उस के अन्तिम वर्ण मकार में लीन करे। फिर कारणात्मा प्राज्ञरूप मकार को भी चिद्घनरूप परमात्मा में लीन करे और ऐसी भावना करे कि वह नित्यमुक्त विज्ञानस्वरूप उपाधिहीन निर्मल परब्रह्म मैं ही हूँ ॥५०-५१॥

एवं सदा जातपरात्मभावनः स्वानन्दतुष्टः परिविस्मृताखिलः ।
आस्ते स नित्यात्मसुखप्रकाशकः साक्षाद्विमुक्तोऽचलवारिसिन्धुवत् ॥५२॥
एवं सदाभ्यस्तसमाधियोगिनो निवृत्तसर्वेन्द्रियगोचरस्य हि ।
विनिर्जिताशेषरिपोरहं सदा दृश्यो भवेयं जितषड्गुणात्मनः ॥५३॥

इस प्रकार निरन्तर परमात्मभावना करते करते जो आत्मानन्द में मग्न हो

गया है तथा जिसे सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च विस्मृत हो गया है, वह नित्य आत्मानन्द का अनुभव करनेवाला जीवन्मुक्त योगी निस्तरंग समुद्र के समान साक्षात् मुक्तस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार जो निरन्तर समाधियोग का अभ्यास करता है, जिस के सम्पूर्ण इन्द्रियगोचर विषय निवृत्त हो गये हैं तथा जिस ने काम क्रोधादि सम्पूर्ण शत्रुओं को परास्त कर दिया है, मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों को जीतनेवाले उस महात्मा को मेरा निरन्तर साक्षात्कार होता है ॥ ५२-५३ ॥

ध्यात्वैवमात्मानमहर्निशं मुनिस्तिष्ठेत्सदा मुक्तसमस्तबन्धनः ।
प्रारब्धमश्नन्नभिमानवर्जितो मय्येव साक्षात्प्रविलीयते ततः ॥५४॥
अदौ च मध्ये च तथैव चान्ततो भवं विदित्वा भयशोककारणम् ।
हित्वा समस्तं विधिवादचोदितं भजेत्स्वमात्मानमथाखिलात्मनाम् ॥५५॥

इस प्रकार अहर्निश आत्मा का ही चिन्तन करता हुआ मुनि सर्वदा समस्त बन्धनों से मुक्त होकर रहे तथा कर्ता भोक्तापन के अभिमान को छोड़कर प्रारब्धफल भोगता रहे। इस से वह अन्त में साक्षात् मुझ ही में लीन हो जाता है। संसार को आदि, अन्त और मध्य में सब प्रकार भय और शोक का ही कारण जानकर मुमुक्षु समस्त वेदविहित कर्मों को त्याग दे तथा सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तरात्मारूप अपने आत्मा का भजन करे ॥ ५४-५५ ॥

आत्मन्यभेदेन विभावयन्निदं भवत्यभेदेन मयात्मना तदा ।
यथा जलं वारिनिधौ यथा पयः क्षीरे वियद्व्योम्न्यनिले यथानिलः ॥५६॥

जिस प्रकार समुद्र में जल, दूध में दूध, महाकाश में घटाकाशादि और वायु में वायु मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार इस सम्पूर्ण प्रपञ्च को अपने आत्मा के साथ अभिन्नरूप से चिन्तन करने से जीव मुझ परमात्मा के साथ अभिन्नभाव से स्थित हो जाता है ॥ ५६ ॥

रा० च०—प्रभुप्रेमियो, श्री रामचन्द्रजी अपने समस्त पूर्व कथन का निष्कर्ष बतलाते हैं, कि प्राणी निरन्तर अद्वैत ज्ञान के अभ्यास से शुद्ध सच्चिदानन्द भाव को प्राप्त हो जाता है। इस अभेदज्ञान के अभ्यास का क्रम पहले बतलाया गया है, जो संक्षेप में यह है कि मन की वासना और अहंकार का त्याग कर दिया जाय तथा शरीर के स्थूल सूक्ष्म भेदों को मिथ्या समझकर उन से आसक्ति हटा ली जाय। इस के पञ्चकोषों के विचार के साथ 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का दृढ निश्चय करना चाहिए। उपासक व्यक्ति उक्त पद्धति से जीव का

परमात्मा से अभेद चिन्तन करके कृतकृत्य हो जाता है। उस को किसी प्रकार के आध्यात्मिक आधिदैविक दुःख का लेशमात्र भी संबन्ध नहीं रहता। यही सुखी जीवन या शान्ति का मार्ग है।

इस के साथ ही यह भी समझना चाहिए कि विवेक, विचार के बिना जितने साधन किये जायँगे वे सब बन्धन के कारण हो जायँगे। त्याग वैराग्य होने पर भी मन में यह अभिमान की मात्रा जम जाती है कि मैं त्यागी हूँ, औरों से श्रेष्ठ हूँ, सब कोई मुझे मानें, सत्कार करें। यह अभिमान ही बढ़कर फिर दुःख का और तत्स्वरूप संसारबन्धन का कारण हो जाता है। इस लिए विवेक विचार मुमुक्षु के निरन्तर के साथी रहने चाहिएँ। जब तक अहंकाररूपी बादल दूर न होंगे तब तक हृदयाकाश निर्मल नहीं हो सकता, फिर ब्रह्मात्मैक्यरूपी सूर्य कैसे चमक सकता है? जब अपने हृदयदेश के चैतन्यरूपी दर्पण में केवल आत्मज्योति का ही दर्शन हो, संकल्प विकल्पों का कणमात्र न दिखाई दे, तब अहंभाव निवृत्त हो गया जानना चाहिए। संसार में जो कुछ सुख दुख मिलता है वह सब अहंकार की 'मैं ऐसा हूँ, यह मेरा है' इस भावना का विकार है। अहंकार नामक मनोवृत्ति के क्षीण हो जाने पर कोई भी संकल्प विकल्प मन को इस प्रकार स्पर्श नहीं करते जैसे जल कमल को। निरहंकार के चेहरे पर प्रसन्नता और निर्मलता चमकती रहती है। उस की वासनाओं की गाँठ खुल जाती, किसी प्रकार का खेद नहीं होता, सुख दुःख दोनों शान्त हो जाते हैं, शीतलताप्रदायक समता उस के सब ओर फैली रहती है। ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए या स्थितप्रज्ञ, योगारूढ महात्मा का ऐसा ही स्वभाव हो जाता है। उस की सब वृत्तियाँ ब्रह्माकारित, विशाल, निःशान्त रहती हैं। जैसे नदियाँ समुद्र में जाकर अपने नाम रूप को विलीन कर समुद्र के साथ एक हो जाती हैं, उसी प्रकार समभावापन्न, असंग ज्ञानी अपने नाम रूपों के अभिमान को कतई छोड़कर परात्पर पुरुष आनन्दमय ब्रह्म के स्वरूप में स्थित रहता है।

मित्रो, ऐसी अवस्था की प्राप्ति ही प्रभुसाक्षात्कार, परमात्मा का दर्शन या भगवान् का मिलना कहा जाता है। इस जीवन का, मनुष्य होने का यही एक मात्र उद्देश्य है। रामगीता की तरह भगवद्गीता का भी यही तात्पर्य है।

ऐसे निरहंकार, संकल्पशून्य, वासनारहित हो जाने पर जीवन्मुक्ति की अवस्था हो जाती है। इस में शरीर धारण के लिए जो कर्म होते हैं, वे संसार के लिए आदर्श होते हैं, मुख से न कहने पर भी वे पक्के उपदेशवचन हो जाते हैं। संसार परमात्मा के रूप में उस को, और वह परमात्मा के रूप में संसार को देखता है। इसी विषय को उपसंहाररूप से भगवान् राम आगे कह रहे हैं—

इत्थं यदीक्षेत हि लोकसंस्थितो जगन्मृषैवेति विभावयन्मुनिः ।
निराकृतत्वाच्छ्रुतियुक्तिमानतो यथेन्दुभेदो दिशि दिग्भ्रमादयः ॥५७॥
यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं तावन्मदाराधनतत्परो भवेत् ।
श्रद्धालुरत्यूर्जितभक्तिलक्षणो यस्तस्य दृश्योऽहमहर्निशं हृदि ॥५८॥

यह जो जगत् है वह श्रुति, युक्ति और प्रमाण से बाधित होने के कारण चन्द्र-भेद और दिशाओं में होनेवाले दिग्भ्रम के समान मिथ्या ही है—ऐसी भावना करता हुआ लोक (व्यवहार) में स्थित मुनि इस को देखे। जब तक सारा संसार मेरा ही रूप दिखलायी न दे तब तक निरन्तर मेरी आराधना करता रहे। जो श्रद्धालु और उत्कट भक्त होता है उसे अपने हृदय में सर्वदा मेरा ही साक्षात्कार होता है ॥५७-५८॥

रहस्यमेतच्छ्रुतिसारसङ्ग्रहं मया विनिश्चित्य तवोदितं प्रिय ।
यस्त्वेतदालोचयतीह बुद्धिमान् स मुच्यते पातकराशिभिः क्षणात् ॥५९॥
भ्रातर्यदीदं परिदृश्यते जगन्मायैव सर्वं परिहृत्य चेतसा ।
मद्भावनाभावितशुद्धमानसः सुखी भवानन्दमयो निरामयः ॥६०॥

हे प्रिय, सम्पूर्ण श्रुतियों के साररूप इस गुप्त रहस्य को मैंने निश्चय करके तुम से कहा है। जो बुद्धिमान् इस का मनन करेगा वह तत्काल समस्त पापों से मुक्त हो जायगा। भाई, यह जो कुछ जगत् दिखायी देता है वह सब माया है। इसे अपने चित्त से निकालकर मेरी भावना से शुद्धचित्त और सुखी होकर आनन्द-पूर्ण और क्लेशशून्य हो जाओ ॥ ५९-६० ॥

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम् ।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन् पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः ॥६१॥

जो पुरुष अपने चित्त से मुझ गुणातीत निर्गुण का अथवा कभी कभी मेरे सगुण स्वरूप का भी सेवन करता है वह मेरा ही स्वरूप है। वह अपनी चरणरज के स्पर्श से सूर्य के समान सम्पूर्ण त्रिलोकी को पवित्र कर देता है ॥ ६१ ॥

विज्ञानमेतदखिलं श्रुतिसारमेकं वेदान्तवेद्यचरणेन मयैव गीतम् ।
यः श्रद्धया परिपठेद्गुरुभक्तियुक्तो मद्रूपमेति यदि मद्वचनेषु भक्तिः ॥६२॥

यह अद्वितीय ज्ञान समस्त श्रुतियों का एकमात्र सार है, इसे वेदान्तवेद्य भग-वत्पाद मैंने ही कहा है। जो गुरुभक्तिसम्पन्न पुरुष इस का श्रद्धापूर्वक पाठ करेगा उस की यदि मेरे वचनों में प्रीति होगी तो वह मेरा ही रूप हो जायगा ॥ ६२ ॥

रा० च०—प्रिय मित्रो, जिन भगवान् राम का चरित्र वेदान्तशास्त्रों के विचार से ही जाना जा सकता है, उन्होंने रामगीता का विज्ञान हम प्राणियों का भी उद्धार करने के उद्देश्य से लक्ष्मणजी को सुनाया है। संक्षेप में वह यही है कि पहले अपने वर्ण और आश्रम के कर्म अध्ययन, यज्ञ, दान, तप को करके चित्तशुद्धि करनी चाहिए। अध्ययनादि कर चुकने पर मनुष्य को संपत्ति और सुखभोग के साधनों की इच्छा होती है और वह इन्हें एकत्र करने यानी कमाने खाने में लग जाता है। शरीर धारण के लिए ऐसा होना उचित ही है। परंतु शरीर धारण का उद्देश्य, प्रयोजन संसारी सुखभोग नहीं। संसारी सुखों में सुखत्व मानना भ्रम है, यह स्पष्ट हो गया है। शरीर धारण का प्रयोजन है परम सुखरूप परमात्मा को प्राप्त करना। इस के लिए साधन और संपत्ति जुटाना ही असली कमाना खाना है। उस साधन सपत्ति का नाम है विवेक, वैराग्य, मुमुक्षुता तथा शम दम तितिक्षा आदि। इस संपत्ति को लेकर गुरुदेव से सलाह लेनी चाहिए कि महाराज, इस का उपयोग हम कैसे करें? उस संपत्ति से योग्य अधिकारी देखकर गुरुदेव 'अयमात्मा ब्रह्म' 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' इन दिव्य महावाक्यों के उपदेश से जिज्ञासु को दीक्षित करते हैं। महावाक्य विचार से परमात्मा का अनुभव, सब दुःखों का छूटना, संसार की असारता और सब के अन्त में सब की सारभूत 'वासुदेवः सर्वम्' इस प्रकार की भगवद्भक्ति मिल जाती है।

भगवान् की रामगीता का यही विज्ञान श्रुतियों का सार यहाँ बतलाया गया है। भगवान् के इन वचनों में श्रद्धा रखकर उन को पालन करना ही हमारे मनुष्यपने का उद्देश्य है। साधनधाम, दुर्लभ इस मनुष्यशरीर को पाकर परलोक नहीं सुधारा तो इस लोक में तो दुःख मिला ही है, फिर शरीरान्त के बाद कठोर दुःख मिलने पर व्यर्थ गँवाये हुए जीवन-धन की सुध आती है तब रो रोकर पछताना पड़ता है। अतः पहले से ही सावधान हो प्रभु के मार्ग में लग जाना अच्छा है। रामजी ने कोई घर द्वार छोड़ने का आदेश नहीं दिया, अतः जंगल पहाड़ों में भटकने के क्लेश उठाने की जरूरत नहीं। आसक्ति और वासना हटाकर अपने पराये सब में ब्रह्मभावना रखना अर्थात् सब को प्रभुमय देखना; यही भगवान् का आदेश है। इस प्रकार जो हम उपशान्त हो जायँ, रागद्वेष छूट जायँ तो घर ही तपोवन हो जायगा। यहाँ निष्काम भाव से प्रभुप्रीति के लिए संसार के व्यवहार करते रहने को कोई निषेध नहीं करता। रामगीता और भगवद्गीता दोनों के मिलान से यही सार निकलता है।

इस रामगीता के चिन्तन और विचार से भगवान् राम का दर्शन, सगुण निर्गुण जिस रूप की कामना हो वैसा हो, अवश्य होगा और रामदर्शन के प्रभावपूर्ण आवेग में मनुष्य अपना निजत्व विलीन कर अपने को राममय ही देखेंगे।

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड
के पञ्चम सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का
प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ॥ ५॥

ॐ
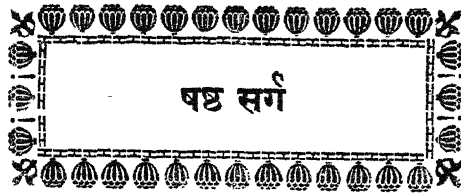
षष्ठ सर्ग

शत्रुघ्नजी द्वारा लवणासुर वध, भगवान् राम के यज्ञ में पधारकर महर्षि वाल्मीकि का लवकुश को ज्ञानोपदेश ।

श्रीमहादेव उवाच—

एकदा मुनयः सर्वे यमुनातीरवासिनः ।
आजग्मू राघवं द्रष्टुं भयाल्लवणरक्षसः ॥ १ ॥
कृत्वाग्रे तु मुनिश्रेष्ठं भार्गवं च्यवनं द्विजाः ।
असङ्ख्याताः समायाता रामादभयकाङ्क्षिणः ॥ २ ॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, एक दिन यमुनातट पर रहनेवाले समस्त मुनिजन लवण राक्षस से भयभीत होकर श्री रामचन्द्रजी का दर्शन करने के लिए आये। उन अगणित मुनिगणों का आगमन भृगुपुत्र मुनिश्रेष्ठ च्यवन को आगे कर भगवान् राम से अभय लाभ करने की इच्छा से हुआ था ॥ १-२ ॥

तान्पूजयित्वा परया भक्त्या रघुकुलोत्तमः ।
उवाच मधुरं वाक्यं हर्षयन्मुनिमण्डलम् ॥ ३ ॥
करवाणि मुनिश्रेष्ठाः किमागमनकारणम् ।
धन्योऽस्मि यदि यूयं मां प्रीत्या द्रष्टुमिहागताः ॥ ४ ॥
दुष्करं चापि यत्कार्यं भवतां तत्करोम्यहम् ।
आज्ञापयन्तु मां भृत्यं ब्राह्मणा दैवतं हि मे ॥ ५ ॥

रघुकुलश्रेष्ठ रामजी ने उन मुनीश्वरों का अत्यन्त भक्तिभाव से पूजन कर उन्हें प्रसन्न करते हुए मधुर वाणी से कहा—हे मुनिश्रेष्ठगण, आप के यहाँ पधारने का क्या कारण है ? मेरे लिए जो आप की आज्ञा होगी मैं वैसा ही करूँगा। यदि आप लोग मुझे

प्रीतिपूर्वक देखने के लिए ही यहाँ आये हैं, तो मैं धन्य हूँ। आप का जो अत्यन्त दुष्कर कार्य होगा वह भी मैं अवश्य करूँगा। आप मुझ सेवक को आज्ञा दीजिये, ब्राह्मण ही मेरे इष्टदेव हैं ॥ ३-५ ॥

तच्छ्रुत्वा सहसा हृष्टश्च्यवनो वाक्यमब्रवीत्।
मधुनामा महादैत्यः पुरा कृतयुगे प्रभो ॥ ६ ॥
आसीदतीव धर्मात्मा देवब्राह्मणपूजकः।
तस्य तुष्टो महादेवो ददौ शूलमनुत्तमम् ॥ ७ ॥
प्राह चानेन यं हंसि स तु भस्मीभविष्यति।
रावणस्यानुजा भार्या तस्य कुम्भीनसी श्रुता ॥ ८ ॥

भगवान् राम के ये वचन सुनकर महर्षि च्यवन ने सहसा प्रसन्न होकर कहा—प्रभो, पहले सत्युग में मधु नामक एक बड़ा ही धर्मात्मा और देवता तथा ब्राह्मणों का भक्त महादैत्य था। उस से प्रसन्न होकर श्री महादेवजी ने उसे एक अत्युत्तम त्रिशूल दिया और कहा कि इस से तू जिस पर प्रहार करेगा वही भस्मीभूत हो जायगा। सुना जाता है, रावण की छोटी बहिन कुम्भीनसी उस की भार्या थी ॥ ६-८ ॥

तस्यां तु लवणो नाम राक्षसो भीमविक्रमः।
आसीद्दुरात्मा दुर्धर्षो देवब्राह्मणहिंसकः ॥ ९ ॥
पीडितास्तेन राजेन्द्र वयं त्वां शरणं गताः।
तच्छ्रुत्वा राघवोऽप्याह मा भैष्ट मुनिपुङ्गवाः ॥१०॥
लवणं नाशयिष्यामि गच्छन्तु विगतज्वराः।

उस से उस के लवण नामक एक महापराक्रमी, दुष्टचित्त, दुर्जय और देवता ब्राह्मणों को दुःख देनेवाला राक्षस उत्पन्न हुआ। हे राजेन्द्र, उस से अत्यन्त पीडित

होकर हम आप की शरण आये हैं। यह सुनकर श्री रघुनाथजी ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठो, आप लोग किसी प्रकार भय न करें। आप निश्चिन्त होकर पधारें, मैं लवण को अवश्य मार डालूँगा ॥ ९-१० ॥

इत्युक्त्वा प्राह रामोऽपि भ्रातॄन् को वा हनिष्यति ॥११॥
लवणं राक्षसं दद्याद् ब्राह्मणेभ्योऽभयं महत् ।
तच्छ्रुत्वा प्राञ्जलिः प्राह भरतो राघवाय वै ॥१२॥

मुनीश्वरों से ऐसा कहकर भगवान् राम ने अपने भाइयों से पूछा—तुम में से कौन लवण राक्षस को मारेगा और ब्राह्मणों को महान् अभय देगा ? यह सुनकर भरतजी ने श्री रघुनाथजी से हाथ जोड़कर कहा—देव, लवण को मैं ही मारूँगा। प्रभो, इस के लिए मुझे ही आज्ञा दीजिये ॥ ११-१२ ॥

अहमेव हनिष्यामि देवाज्ञापय मां प्रभो ।
ततो रामं नमस्कृत्य शत्रुघ्नो वाक्यमब्रवीत् ॥१३॥
लक्ष्मणेन महत्कार्यं कृतं राघव संयुगे ।
नन्दिग्रामे महाबुद्धिर्भरतो दुःखमन्वभूत् ॥१४॥
अहमेव गमिष्यामि लवणस्य वधाय च ।
त्वत्प्रसादाद्रघुश्रेष्ठ हन्यां तं राक्षसं युधि ॥१५॥

फिर शत्रुघ्नजी ने श्री रामचन्द्रजी को प्रणाम करके कहा—हे राघव, श्री लक्ष्मणजी युद्ध में बड़ा भारी कार्य कर चुके हैं, महामति भरतजी ने भी नन्दिग्राम में रहकर बहुत कष्ट सहा है। अब लवण का वध करने के लिए तो मैं ही जाऊँगा। हे रघुश्रेष्ठ, आप की कृपा से मैं उस राक्षस को युद्ध में अवश्य मार डालूँगा ॥१३-१५॥

तच्छ्रुत्वा स्वाङ्कमारोप्य शत्रुघ्नं शत्रुसूदनः ।
प्राहाद्यैवाभिषेक्ष्यामि मथुराराज्यकारणात् ॥१६॥
आनाय्य च सुसम्भारांल्लक्ष्मणेनाभिषेचने ।
अनिच्छन्तमपि स्नेहादभिषेकमकारयत् ॥१७॥

शत्रुघ्न के ये वचन सुनकर शत्रुदमन रघुनाथजी ने उन्हें अपनी गोद में उठा लिया और कहा—मैं आज ही तुम्हारा लवण की राजधानी मथुरा के राज्य पर अभिषेक करूँगा। ऐसा कह लक्ष्मणजी से अभिषेक की सामग्री मँगा शत्रुघ्नजी की

इच्छा न होने पर भी श्री रामचन्द्रजी ने उन का प्रीतिपूर्वक अभिषेक कर दिया ॥ १६-१७ ॥

दत्त्वा तस्मै शरं दिव्यं रामः शत्रुघ्नमब्रवीत् ।
अनेन जहि बाणेन लवणं लोककण्टकम् ॥१८॥
स तु सम्पूज्य तच्छूलं गेहे गच्छति काननम् ।
भक्षणार्थं तु जन्तूनां नानाप्राणिवधाय च ॥१९॥
स तु नायाति सदनं यावद्वनचरो भवेत् ।
तावदेव पुरद्वारि तिष्ठ त्वं धृतकार्मुकः ॥२०॥
योत्स्यते स त्वया क्रुद्धस्तदा वध्यो भविष्यति ।

फिर श्री राम ने उन्हें एक दिव्य बाण देकर कहा—तुम संसार के कण्टकरूप लवण को इस बाण से मार डालना। राक्षस लवण अपने घर में ही उस त्रिशूल की पूजा कर नाना प्रकार के जीवों को खाने और मारने के लिए वन को जाया करता है। अतः जबतक वह लौटकर घर न आवे, वन ही में रहे, उस से पूर्व ही तुम नगर के द्वार पर धनुष धारण कर खड़े हो जाना। लौटने पर वह क्रोधपूर्वक तुम से लडेगा और उसी समय मारा जायगा ॥ १८-२० ॥

तं हत्वा लवणं क्रूरं तद्वनं मधुसंज्ञितम् ॥२१॥
निवेश्य नगरं तत्र तिष्ठ त्वं मेऽनुशासनात् ।
अश्वानां पञ्चसाहस्रं रथानां च तदर्धकम् ॥२२॥
गजानां षट् शतानीह पत्तीनामयुतत्रयम् ।
आगमिष्यति पश्चात्त्वमग्रे साधय राक्षसम् ॥२३॥

इस प्रकार महाक्रूर लवणासुर को मारकर उस के मधुवन में नगर बसाकर

मेरी आज्ञा से वहीं रहो। तुम पहले जाकर उस राक्षस को ठीक करो, फिर तुम्हारे पीछे वहाँ पाँच हजार घोड़े, उन से आधे रथ, छः सौ हाथी और तीस हजार पैदल भी पहुँचेंगे ॥ २१-२३ ॥

इत्युक्त्वा मूर्ध्न्यवघ्राय प्रेषयामास राघवः ।
शत्रुघ्नं मुनिभिः सार्धमाशीर्भिरभिनन्द्य च ॥२४॥
शत्रुघ्नोऽपि तथा चक्रे यथा रामेण चोदितः ।
हत्वा मधुसुतं युद्धे मथुरामकरोत्पुरीम् ॥२५॥
स्फीतां जनपदां चक्रे मथुरां दानमानतः ।

ऐसा कह श्री रघुनाथजी ने शत्रुघ्न का शिर सूँघकर तथा मुनियों के सहित आशीर्वाद से उन का अभिनन्दन कर उन्हें बिदा किया। शत्रुघ्नजी ने भी भगवान् राम ने जैसी आज्ञा दी थी वैसा ही किया। उन्होंने मधुपुत्र लवणासुर को मारकर मथुरापुरी बसायी और दान मान से लोगों को सन्तुष्ट कर उन्होंने मथुरा को एक समृद्धिशाली नगर बना दिया ॥ २४-२५ ॥

सीतापि सुषुवे पुत्रौ द्वौ वाल्मीकेरथाश्रमे ॥२६॥
मुनिस्तयोर्नाम चक्रे कुशो ज्येष्ठोऽनुजो लवः ।
क्रमेण विद्यासम्पन्नौ सीतापुत्रौ बभूवतुः ॥२७॥

इस बीच में श्री सीताजी को बाल्मीकि मुनि के आश्रम में दो पुत्र उत्पन्न हुए। मुनि ने उन में से बड़े का नाम कुश और छोटे का लव रखा। (वे दोनों युग्म [एक ही साथ] हुए थे, सीताजी उन्हें गोदी में खिलाती हुईं बालसुख का अनुभव करते हुए अपने वियोगदुःख को दूर करती रहीं।) धीरे धीरे सीताजी के वे दोनों पुत्र विद्यासम्पन्न हो गये ॥ २६-२७ ॥

उपनीतौ च मुनिना वेदाध्ययनतत्परौ ।
कृत्स्नं रामायणं प्राह काव्यं बालकयोर्मुनिः ॥२८॥
शङ्करेण पुरा प्रोक्तं पार्वत्यै पुरहारिणा ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥२९॥

मुनि के उपनयन संस्कार करने पर वे वेदाध्ययन में तत्पर हुए। श्री वाल्मीकिजी ने उन दोनों बालकों को सम्पूर्ण रामायणकाव्य पढ़ा दिया। पूर्वकाल में इसे त्रिपुरविनाशक भगवान् शंकर ने पार्वतीजी को सुनाया था। उसी आख्यान को समर्थ मुनि वाल्मीकि ने वेदों का विस्तृत ज्ञान कराने के लिए उन बालकों को पढाया ॥ २८—२९ ॥

कुमारौ स्वरसम्पन्नौ सुन्दरावश्विनाविव ।
तन्त्रीतालसमायुक्तौ गायन्तौ चेरतुर्वने ॥३०॥
तत्र तत्र मुनीनां तौ समाजे सुररूपिणौ ।
गायन्तावभितो दृष्ट्वा विस्मिता मुनयोऽब्रुवन् ॥३१॥

वे अश्विनीकुमार के समान अति सुन्दर कुमार उस काव्य को बीणा बजाकर स्वरसहित गाते हुए वन में विचरा करते थे। उन देवस्वरूप बालकों को जहाँ तहाँ मुनियों के समाज में गाते देख वे मुनिगण अत्यन्त विस्मित हो आपस में इस प्रकार कहने लगते थे ॥ ३०-३१ ॥

गन्धर्वेष्विव किन्नरेषु भुवि वा देवेषु देवालये
पातालेष्वथवा चतुर्मुखगृहे लोकेषु सर्वेषु च ।
अस्माभिश्चिरजीविभिश्चिरतरं दृष्ट्वा दिशः सर्वतो
नाज्ञायीदृशगीतवाद्यगरिमा नादर्शि नाश्रावि च ॥३२॥
एवं स्तुवद्भिरखिलैर्मुनिभिः प्रतिवासरम् ।
आसाते सुखमेकान्ते वाल्मीकेराश्रमे चिरम् ॥३३॥

हम चिरजीवियों ने बहुत दिनों से सभी दिशाएँ देखीं, किन्तु गन्धर्व, किन्नर, भूर्लोक, देवलोक, देवालय, पाताल अथवा ब्रह्मलोक आदि किसी भी लोक में गाने बजाने की ऐसी कुशलता न कभी जानी, न देखी और न सुनी ही है। इस प्रकार प्रतिदिन प्रशंसा करनेवाले समस्त मुनियों के साथ वे दोनों बालक बहुत समय तक श्री वाल्मीकिजी के एकान्त आश्रम में सुखपूर्वक रहे ॥ ३२-३३ ॥

अथ रामोऽश्वमेधादींश्चकार बहुदक्षिणान् ।
यज्ञान् स्वर्णमयीं सीतां विधाय विपुलद्युतिः ॥३४॥
तस्मिन्विताने ऋषयः सर्वे राजर्षयस्तथा ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः समाजग्मुर्दिदृक्षवः ॥३५॥
वाल्मीकिरपि सङ्गृह्य गायन्तौ तौ कुशीलवौ ।
जगाम ऋषिवाटस्य समीपं मुनिपुङ्गवः ॥३६॥

इधर परम तेजस्वी श्री रामचन्द्रजी ने सुवर्ण की सीता बनाकर अश्वमेध आदि बहुत से बड़ी बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञ किये। उस यज्ञशाला में यज्ञोत्सव देखने के लिए उत्सुक होकर सभी ऋषि, राजर्षि, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि आये थे। मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकिजी भी गान करते हुए कुश और लव को साथ ले वहाँ आये और जहाँ मुनियों के ठहरने का स्थान था वहाँ उतरे ॥ ३४-३६ ॥

तत्रैकान्ते स्थितं शान्तं समाधिविरमे मुनिम् ।
कुशः पप्रच्छ वाल्मीकिं ज्ञानशास्त्रं कथान्तरे ॥३७॥
भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि सङ्क्षेपाद्भवतोऽखिलम् ।
देहिनः संसृतिर्बन्धः कथमुत्पद्यते दृढः ॥३८॥

कथं विमुच्यते देही दृढबन्धाद्भवाभिधात् ।
वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ मह्यं शिष्याय ते मुने ॥३९॥

वहाँ एक दिन एकान्त में शान्त भाव से बैठे हुए वाल्मीकि मुनि से उन की समाधि खुलने पर कुश ने कथा के बीच में ही ज्ञानशास्त्र के विषय में पूछा कि भगवन्, मैं आप के मुखारविन्द से संक्षेप में यह बात सुनना चाहता हूँ कि जीव को यह सुदृढ़ संसारबन्धन किस प्रकार प्राप्त होता है ? और फिर इस संसार नामक दृढ़ बन्धन से उसे छुटकारा कैसे मिलता है ? हे मुने, आप सर्वज्ञ हैं, मुझ प्रणत शिष्य से आप यह सम्पूर्ण रहस्य कहिये ॥ ३७-३९ ॥

वाल्मीकिरुवाच—

शृणु वक्ष्यामि ते सर्वं सङ्क्षेपाद्बन्धमोक्षयोः ।
स्वरूपं साधनं चापि मत्तः श्रुत्वा यथोदितम् ॥४०॥
तथैवाचर भद्रं ते जीवन्मुक्तो भविष्यसि ।

वाल्मीकिजी बोले—हे वत्स, सुन, मैं तुझे संक्षेप से साधन के सहित बन्ध और मोक्ष का सम्पूर्ण स्वरूप सुनाता हूँ। मैं जैसा कहूँ वह सब सुनकर तू उसी प्रकार आचरण कर। इस से तेरा कल्याण होगा और तू जीवन्मुक्त हो जायगा ॥ ४० ॥

देह एव महागेहमदेहस्य चिदात्मनः ॥ ४१ ॥
तस्याहङ्कार एवास्मिन्मन्त्री तेनैव कल्पितः ।
देहगेहाभिमानं स्वं समारोप्य चिदात्मनि ॥ ४२ ॥
तेन तादात्म्यमापन्नः स्वचेष्टितमशेषतः ।
विदधाति चिदानन्दे तद्वासितवपुः स्वयम् ॥ ४३ ॥

देहहीन चेतन आत्मा का यह देह ही बड़ा भारी घर है, इस में उस ने अहंकार को ही अपना मन्त्री बना रक्खा है। यह अहंकाररूप मन्त्री देहगेहाभिमानरूप अपने आप को चेतन आत्मा में आरोपित कर उस से एक रूप होकर अपनी सारी चेष्टाओं का आरोप उस चिदानन्दरूप आत्मा में ही करता है ॥ ४१-४३ ॥

तेन सङ्कल्पितो देही सङ्कल्पनिगडावृतः ।
पुत्रदारगृहादीनि सङ्कल्पयति चानिशम् ॥ ४४ ॥

सङ्कल्पयन्स्वयं देही परिशोचति सर्वदा ।

उस अहंकार से व्याप्त हुआ देही जीव उसी के संकल्प से प्रेरित होकर संकल्परूपी बेड़ियों से बँधता है और फिर रात दिन पुत्र. स्त्री और गृह आदि के लिए संकल्प विकल्प करता रहता है। संकल्प करने से जीव स्वयं ही सदा शोक करता है ॥ ४४ ॥

त्रयस्तस्याहमो देहा अधमोत्तममध्यमाः ॥ ४५ ॥
तमःसत्त्वरजःसंज्ञा जगतः कारणं स्थितेः ।
तमोरूपाद्धि सङ्कल्पान्नित्यं तामसचेष्टया ॥ ४६ ॥
अत्यन्तं तामसो भूत्वा कृमिकीटत्वमाप्नुयात् ।
सत्त्वरूपो हि सङ्कल्पो धर्मज्ञानपरायणः ॥ ४७ ॥
अदूरमोक्षसाम्राज्यः सुखरूपो हि तिष्ठति ।
रजोरूपो हि सङ्कल्पो लोके स व्यवहारवान् ॥४८॥
परितिष्ठति संसारे पुत्रदारानुरञ्जितः ।

इस अहंकार के सत्त्व, रज, तम नामक उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के देह हैं। ये ही तीनों संसार की स्थिति के कारण हैं। इन में से तामस संकल्प से नित्य प्रति तामसिक चेष्टाएँ करने से ही जीव अत्यन्त तमोगुणी होकर कीड़े मकोड़े आदि योनियों को प्राप्त होता है। जो सात्त्विक संकल्पवाला होता है वह धर्म और ज्ञान में ही तत्पर रहने के कारण मोक्षसाम्राज्य के पास ही सुखपूर्वक रहता है। तथा राजस संकल्प होने से लोकव्यवहार करता हुआ संसार में पुत्र, स्त्री आदि में अनुरक्त रहता है ॥ ४५-४८ ॥

त्रिविधं तु परित्यज्य रूपमेतन्महामते ॥ ४९ ॥
सङ्कल्पं परमाप्नोति पदमात्मपरिक्षये ।
दृष्टीः सर्वाः परित्यज्य नियम्य मनसा मनः ॥५०॥
सबाह्याभ्यन्तरार्थस्य सङ्कल्पस्य क्षयं कुरु ।
यदि वर्षसहस्राणि तपश्चरसि दारुणम् ॥ ५१ ॥
पातालस्थस्य भूस्थस्य स्वर्गस्थस्यापि तेऽनघ ।
नान्यः कश्चिदुपायोऽस्ति सङ्कल्पोपशमादृते ॥५२॥

हे महामते, जो पुरुष इन तीनों प्रकार के संकल्पों को छोड़ देता है वह चित्त के लीन होने पर परमपद प्राप्त कर लेता है। इस लिए तू समस्त विचारों को

छोड़कर और अपने मन से ही मन का संयम कर बाहर भीतर के सम्पूर्ण संकल्पों का क्षय कर दे। हे अनघ, यदि तू पाताल, पृथिवी अथवा स्वर्ग आदि में कहीं भी रहकर हजारों वर्ष कठोर तपस्या भी करे तो भी संसार बन्धन से मुक्त होने का तो तेरे लिए संकल्पनाश के अतिरिक्त और कोई उपाय है ही नहीं ॥ ४९-५२ ॥

अनाबाधेऽविकारे स्वे सुखे परमपावने ।
सङ्कल्पोपशमे यत्नं पौरुषेण परं कुरु ॥ ५३ ॥
सङ्कल्पतन्तौ निखिला भावाः प्रोताः किलानघ ।
छिन्ने तन्तौ न जानीमः क्व यान्ति विभवाः पराः ॥५४॥
निःसङ्कल्पो यथाप्राप्तव्यवहारपरो भव ।
क्षये सङ्कल्पजालस्य जीवो ब्रह्मत्वमाप्नुयात् ॥५५॥

इस लिए जो दुःखहीन, विकारहीन, स्वानन्दस्वरूप और परम पवित्र है, उस संकल्पशान्ति के लिए तू पुरुषार्थ-पूर्वक पूर्ण प्रयत्न कर। हे अनघ, ये जितने भाव पदार्थ हैं, वे सब संकल्प के तागे में पिरोये हुए हैं। जिस समय वह तागा टूट जाता है उस समय पता भी नहीं चलता कि संसार के ये परम वैभव कहाँ चले जाते हैं ? अतः संकल्प-विकल्प को छोड़कर प्रारब्ध प्रवाह से प्राप्त हुए व्यवहार में तत्पर रह। संकल्पजाल के क्षीण हो जाने पर जीव को ब्रह्मत्व प्राप्त हो जाता है॥५३-५५॥

अधिगतपरमार्थतामुपेत्य प्रसभमपास्य विकल्पजालमुच्चैः ।
अधिगमय पदं तदद्वितीयं विततसुखाय सुषुप्तचित्तवृत्तिः ॥ ५६ ॥

परमार्थज्ञान से सम्पन्न होकर तू हठपूर्वक सम्पूर्ण विकल्पजाल को त्याग दे और पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिए चित्तवृत्ति को लीन करके उस अद्वितीय पद को प्राप्त कर ले ॥ ५६ ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड के षष्ठम सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

सप्तम सर्ग

श्रीराम के यज्ञ में कुश और लव का गान, सीताजी का पातालप्रवेश, रामचन्द्रजी का माता को उपदेश ।

श्री महादेव उवाच—

वाल्मीकिना बोधितोऽसौ कुशः सद्यो गतभ्रमः ।
अन्तर्मुक्तो बहिः सर्वमनुकुर्वंश्चचार सः ॥ १ ॥
वाल्मीकिरपि तौ प्राह सीतापुत्रौ महाधियौ ।
तत्र तत्र च गायन्तौ पुरे वीथिषु सर्वतः ॥ २ ॥
रामस्याग्रे प्रगायेतां शुश्रूषुर्यदि राघवः ।
न ग्राह्यं वै युवाभ्यां तद्यदि किञ्चित्प्रदास्यति ॥ ३ ॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, वाल्मीकि मुनि के इस प्रकार समझाने पर तुरन्त ही कुश का सारा भ्रम जाता रहा और अपने अन्तःकरण से मुक्त होकर वे बाहर से सम्पूर्ण क्रियाएँ करते हुए विचरने लगे । तब वाल्मीकिजी ने उन दोनों महाबुद्धिमान् सीतापुत्रों से कहा—तुम दोनों जहाँ तहाँ नगर की गलियों में सब ओर गाते हुए विचरो और यदि महाराज राम की सुनने की इच्छा हो तो उन के सामने भी गाओ, परन्तु वे कुछ देने लगें तो लेना मत ॥ १-३ ॥

इति तौ चोदितौ तत्र गायमानौ विचेरतुः ।
यथोक्तमृषिणा पूर्वं तत्र तत्राभ्यगायताम् ॥ ४ ॥
तां स शुश्राव काकुत्स्थः पूर्वचर्यां ततस्ततः ।
अपूर्वपाठजातिं च गेयेन समभिप्लुताम् ॥ ५ ॥

बालयो राघवः श्रुत्वा कौतूहलमुपेयिवान् ।

मुनि की ऐसी आज्ञा होने पर वे गाते हुए विचरने लगे । ऋषि ने जहाँ जहाँ गान करने को पहले कहा था, उन्हीं उन्हीं स्थानों पर उन्होंने गान किया । तब ककुत्स्थनन्दन रघुनाथजी ने जहाँ तहाँ अपने पूर्व चरित्र के गाये जाने का समाचार सुना । भगवान् राम को यह सुनकर कि, उन बालकों की गानविधि निराले ही ढंग की और स्वरतालसम्पन्न है, बड़ा ही कुतूहल हुआ ॥ ४-५ ॥

अथ कर्मान्तरे राजा समाहूय महामुनीन् ॥ ६ ॥

राज्ञश्चैव नरव्याघ्रः पण्डितांश्चैव नैगमान् ।
पौराणिकाञ्छब्दविदो ये च वृद्धा द्विजातयः ॥ ७ ॥

एतान्सर्वान्समाहूय गायकौ समवेशत् ।
ते सर्वे हृष्टमनसो राजानो ब्राह्मणादयः ॥ ८ ॥

रामं तौ दारकौ दृष्ट्वा विस्मिता ह्यनिमेषणाः ।

नरशार्दूल महाराज राम ने यज्ञकर्म के विश्राम समय में सम्पूर्ण मुनीश्वरों, राजाओं, पण्डितों, शास्त्रज्ञों, पौराणिकों, शब्दशास्त्रियों, बड़े बूढ़ों और द्विजातियों को बुलाया, इन सब को बुला चुकने पर उन्होंने गानेवाले बालकों को बुलाया । वे सब राजा और ब्राह्मण आदि प्रसन्न चित्त से महाराज राम और उन दोनों बालकों को देखकर आश्चर्यचकित हो गये और उन की टकटकी बँध गयीं ॥ ६-८ ॥

अवोचन् सर्व एवैते परस्परमथागताः ॥ ९ ॥

इमौ रामस्य सदृशौ बिम्बाद्बिम्बमिवोदितौ ।
जटिलौ यदि न स्यातां न च वल्कलधारिणौ ॥१०॥

विशेषं नाधिगच्छामो राघवस्यानयोस्तदा ।
एवं संवदतां तेषां विस्मितानां परस्परम् ॥११॥

उपचक्रमतुर्गातुं तावुभौ मुनिदारकौ ।
ततः प्रवृत्तं मधुरं गान्धर्वमतिमानुषम् ॥१२॥

तब वहाँ एकत्रित हुए वे सब लोग आपस में कहने लगे-ये दोनों तो, बिम्ब से प्रकट हुए प्रतिबिम्ब के समान, श्री रामचन्द्रजी के समान ही दिखायी देते हैं। यदि ये जटाजूट और वल्कल धारण किये न होते तो इन में और रघुनाथजी में कोई अन्तर ही न जान पड़ता। इस प्रकार जब वे सब लोग आश्चर्य से चकित होकर आपस में विवाद कर रहे थे, उन दोनों मुनिकुमारों ने गाने की तैयारी की और कुछ ही देर में वहाँ अत्यन्त मधुर एवं अलौकिक गान होने लगा ॥ ९-१२ ॥

श्रुत्वा तन्मधुरं गीतमपराह्णे रघूत्तमः ।
उवाच भरतं चाभ्यां दीयतामयुतं वसु ॥ १३ ॥
दीयमानं सुवर्णं तु न तज्जगृहतुस्तदा ।
किमनेन सुवर्णेन राजन्नौ वन्यभोजनौ ॥ १४ ॥
इति सन्त्यज्य सन्दत्तं जग्मतुर्मुनिसन्निधिम् ।

वह मधुर गान सुनकर श्री रघुनाथजी ने दिन ढलने पर भरतजी से कहा—इन्हें दस सहस्र सुवर्णमुद्रा दो। किंतु उन बालकों ने उस दिये हुए सुवर्ण को ग्रहण न किया। वे ऐसा कहकर कि हे राजन्, हम तो वन के कन्द मूल फलादि खानेवाले हैं, हम यह द्रव्य लेकर क्या करेंगे, उस दिये हुए सुवर्ण को वहीं छोड़कर मुनि के निकट चले आये ॥ १३–१४ ॥

एवं श्रुत्वा तु चरितं रामः स्वस्यैव विस्मितः ॥१५॥
ज्ञात्वा सीताकुमारौ तौ शत्रुघ्नं चेदमब्रवीत् ।
हनूमन्तं सुषेणं च विभीषणमथाङ्गदम् ॥१६॥
भगवन्तं महात्मानं वाल्मीकिं मुनिसत्तमम् ।
आनयध्वं मुनिवरं ससीतं देवसम्मितम् ॥१७॥

अस्यास्तु पर्षदो मध्ये प्रत्ययं जनकात्मजा ।
करोतु शपथं सर्वे जानन्तु गतकल्मषाम् ॥१८॥

इस प्रकार भगवान् राम अपना ही चरित्र सुनकर विस्मित हो गये और उन्हें सीताजी के पुत्र जानकर शत्रुघ्न, हनुमान्, सुषेण विभीषण और अंगदादि से कहा—देवतुल्य महानुभाव मुनिश्रेष्ठ भगवान् श्री वाल्मीकि मुनि को सीताजी के सहित लाओ। इस सभा में जानकीजी सब को विश्वास कराने के लिए शपथ करें, जिस से सब लोग सीता को निष्कलंक जान जायँ॥ १५-१८ ॥

सीतां तद्वचनं श्रुत्वा गताः सर्वेऽतिविस्मिताः ।
ऊचुर्यथोक्तं रामेण वाल्मीकिं रामपार्षदाः ॥१९॥
रामस्य हृद्गतं सर्वं ज्ञात्वा वाल्मीकिरब्रवीत् ।
श्वः करिष्यति वै सीता शपथं जनसंसदि ॥२०॥
योषितां परमं दैवं पतिरेव न संशयः ।

भगवान् राम के ये वचन सुनकर उन के वे सब दूत अति आश्चर्यचकित हो वाल्मीकिजी के पास गये और जैसा श्री रामचन्द्रजी ने कहा था यह सब उन से कह दिया। इस से भगवान् राम का आशय जानकर श्री वाल्मीकिजी ने कहा—सीताजी कल जनसाधारण में शपथ करेंगी। इस में सन्देह नहीं, स्त्रियों के लिए सब से बड़ा देव पति ही है॥ १९–२० ॥

तच्छ्रुत्वा सहसा गत्वा सर्वे प्रोचुर्मुनेर्वचः ॥२१॥
राघवस्यापि रामोऽपि श्रुत्वा मुनिवचस्तथा ।
राजानो मुनयः सर्वे शृणुध्वमिति चाब्रवीत् ॥२२॥
सीतायाः शपथं लोका विजानन्तु शुभाशुभम् ।

मुनि के ये वचन सुनकर उन सब ने सहसा जाकर वे सब बातें रघुनाथजी से कह दीं। तब श्री रामचन्द्रजी ने मुनि का सन्देश सुनकर कहा—हे नृपतिगण और मुनिजन, अब आप सब लोग सीताजी की शपथ सुनें और उस से उन का शुभाशुभ जान लें॥ २१–२२ ॥

इत्युक्ता राघवेणाथ लोकाः सर्वे दिदृक्षवः ॥२३॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव महर्षयः ।
वानराश्च समाजग्मुः कौतूहलसमन्विताः ॥२४॥

ततो मुनिवरस्तूर्णं ससीतः समुपागमत् ।
अग्रतस्तमृषिं कृत्वायान्ती किञ्चिदवाङ्मुखी ॥२५॥
कृताञ्जलिर्बाष्पकण्ठा सीता यज्ञं विवेश तम् ।

भगवान् राम के इस प्रकार कहने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, महर्षि और वानर आदि सभी लोग कुतूहल-वश सीताजी की शपथ देखने के लिए आये । तब तुरन्त ही सीताजी के सहित मुनीश्वर भी आये । श्री सीताजी ने वाल्मीकि मुनि को आगे कर, मुख कुछ नीचा किये, हाथ जोड़े गद्गद कण्ठ से यज्ञशाला में प्रवेश किया ॥ २३-२५ ॥

दृष्ट्वा लक्ष्मीमिवायान्तीं ब्रह्माणमनुयायिनीम् ॥२६॥
वाल्मीकेः पृष्ठतः सीतां साधुवादो महानभूत् ।
तदा मध्ये जनौघस्य प्रविश्य मुनिपुङ्गवः ॥२७॥
सीतासहायो वाल्मीकिरिति प्राह च राघवम् ।
इयं दाशरथे सीता सुव्रता धर्मचारिणी ॥२८॥
अपापा ते पुरा त्यक्ता ममाश्रमसमीपतः ।
लोकापवादभीतेन त्वया राम महावने ॥२९॥

ब्रह्माजी के पीछे आती हुई लक्ष्मीजी के समान सीताजी को वाल्मीकि मुनि के पीछे आती देखकर उस जनसमाज में बड़ा भारी 'धन्य है, धन्य है' ऐसा शब्द होने लगा । तब सीताजी के सहित मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि ने उस जनसमूह में घुसकर श्री रघुनाथजी से कहा—हे दशरथनन्दन, इस पतिव्रता धर्मपरायण निष्कलङ्क सीता को तुम ने कुछ समय हुआ, लोकापवाद से डरकर भयंकर वन में मेरे आश्रम के पास छोड़ दिया था ॥ २५-२९ ॥

प्रत्ययं दास्यते सीता तदनुज्ञातुमर्हसि ।
इमौ तु सीतातनयाविमौ यमलजातकौ ॥३०॥
सुतौ तु तव दुर्धर्षौ तथ्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो रघुकुलोद्वह ॥३१॥
अनृतं न स्मराम्युक्तं यथेमौ तव पुत्रकौ ।
बहून्वर्षगणान् सम्यक्तपश्चर्या मया कृता ॥३२॥
नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली ।

अब वह अपनी पतिव्रतता का प्रमाण देना चाहती है, आप उसे आज्ञा दीजिये। ये दोनों कुश और लव एक साथ उत्पन्न हुए सीता के पुत्र हैं। मैं सच कहता हूँ, ये दोनों दुर्जय वीर आप ही की सन्तान हैं। हे राघव, मैं प्रजापति प्रचेता का दसवाँ पुत्र हूँ। मैं ने कभी मिथ्या भाषण किया हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं है। वही मैं आप से कहता हूँ कि ये बालक आप ही के पुत्र हैं। मैं ने अनेकों वर्ष तक खूब तपस्या की है। यदि इस मिथिलेशकुमारी में कोई दोष हो तो मुझे उस तपस्या का कोई फल न मिले ॥ ३०-३२ ॥

वाल्मीकिनैवमुक्तस्तु राघवः प्रत्यभाषत ।३३॥
एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि सुव्रत ।
प्रत्ययो जनितो मह्यं तव वाक्यैरकिल्बिषैः ॥३४॥
लङ्कायामपि दत्तो मे वैदेह्या प्रत्ययो महान् ।
देवानां पुरतस्तेन मन्दिरे सम्प्रवेशिता ॥३५॥
सेयं लोकभयाद्ब्रह्मन्नपापापि सती पुरा ।
सीता मया परित्यक्ता भवांस्तत्क्षन्तुमर्हति ॥३६॥

वाल्मीकिजी के इस प्रकार कहने पर श्री रघुनाथजी बोले—हे महाप्राज्ञ, हे सुव्रत, आप जैसा कहते हैं, बात ऐसी ही है। मुझे तो आप के निर्दोष वाक्यों से ही विश्वास हो गया। जानकीजी ने लंका में भी देवताओं के सामने बड़ी विकट परीक्षा दी थी, इसी लिए मैंने उन्हें अपने घर में रख लिया था। किन्तु हे ब्रह्मन्, उन्हीं सती सीताजी को सर्वथा निर्दोष होते हुए भी मैंने लोकनिन्दा के भय से कुछ दिन हुए छोड़ दिया, सो आप मेरा यह अपराध क्षमा करें ॥ ३३-३६ ॥

ममैव जातौ जानामि पुत्रावेतौ कुशीलवौ ।
शुद्धायां जगतीमध्ये सीतायां प्रीतिरस्तु मे ॥३७॥
देवाः सर्वे परिज्ञाय रामाभिप्रायमुत्सुकाः ।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा समाजग्मुः सहस्रशः ॥३८॥

मैं यह भी जानता हूँ कि ये दोनों पुत्र कुश और लव मुझ ही से उत्पन्न हुए हैं। संसार में परम साध्वी सीता में मेरी प्रीति हो। उस समय, रामजी का अभिप्राय जानकर समस्त देवगण अति उत्सुक हो ब्रह्माजी को आगे कर सहस्रों की संख्या में वहाँ आये तथा बहुत से प्रजाजन भी प्रसन्नचित्त से वहाँ एकत्रित हो गये ॥ ३७-३८ ॥

प्रजाः समागमन्हृष्टाः सीता कौशेयवासिनी ।
उदङ्मुखी ह्यधोदृष्टिः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥३९॥
रामादन्यं यथाहं वै मनसापि न चिन्तये ।
तथा मे धरणी देवी विवरं दातुमर्हति ॥४०॥

तब रेशमी वस्त्र धारण किये, उत्तर की ओर मुख और नीचे को नेत्र किये खड़ी हुई श्री सीताजी ने हाथ जोड़कर कहा—यदि मैं भगवान् राम के अतिरिक्त अन्य पुरुष का मन से भी चिन्तन नहीं करती, तो पृथिवीदेवी मुझे आश्रय दे ॥ ३९-४० ॥

तथा शपन्त्याः सीतायाः प्रादुरासीन्महाद्भुतम् ।
भूतलाद्दिव्यमत्यर्थं सिंहासनमनुत्तमम् ॥४१॥
नागेन्द्रैर्ध्रियमाणं च दिव्यदेहै रविप्रभम् ।
भूदेवी जानकीं दोर्भ्यां गृहीत्वा स्नेहसंयुता ॥४२॥
स्वागतं तामुवाचैनामासने संन्यवेशयत् ।
सिंहासनस्थां वैदेहीं प्रविशन्तीं रसातलम् ॥४३॥
निरन्तरा पुष्पवृष्टिर्दिव्या सीतामवाकिरत् ।
साधुवादश्च सुमहान् देवानां परमाद्भुतः ॥४४॥

श्री सीताजी के इस प्रकार शपथ करते ही भूमितल से एक अति अद्भुत, परम दिव्य और अत्यन्त श्रेष्ठ सिंहासन प्रकट हुआ। वह सूर्य के समान तेजस्वी सिंहासन दिव्यशरीरधारी नागराजों द्वारा धारण किया गया था। तब पृथिवीदेवी ने जानकीजी को अपनी दोनों भुजाओं से प्रेमपूर्वक ग्रहण कर उन का स्वागत किया और उन्हें आसन पर बिठा लिया। जब श्री सीताजी सिंहासन पर बैठकर रसातल को जाने लगीं तो उन पर दिव्य पुष्पों की निरन्तर वर्षा होने लगी और देवताओं के मुख से साधुवाद का अति अद्भुत और महान् घोष होने लगा ॥ ४१-४४ ॥

ऊचुश्च बहुधा वाचो ह्यन्तरिक्षगताः सुराः ।
अन्तरिक्षे च भूमौ च सर्वे स्थावरजङ्गमाः ॥४५॥
वानराश्च महाकायाः सीताशपथकारणात् ।
केचिच्चिन्तापरास्तस्य केचिद्ध्यानपरायणाः ॥४६॥
केचिद्रामं निरीक्षन्तः केचित्सीतामचेतसः ।
मुहूर्तमात्रं तत्सर्वं तूष्णीं भूतमचेतनम् ॥४७॥

आकाश में स्थित देवगण नाना प्रकार के सुवचन बोलने लगे। सीताजी के शपथ करने से आकाश और पृथिवीतल के समस्त स्थावर जंगम प्राणियों और बड़े बड़े डीलवाले वानरों में से कोई चिन्ता करने लगे, कोई ध्यानस्थ हो गये तथा कोई रामजी की और कोई सीताजी की ओर देखकर अचेत हो गये। एक मुहूर्त के लिए वह सारा समाज स्तब्ध और चेतनाशून्य हो गया ॥ ४५-४७ ॥

सीताप्रवेशनं दृष्ट्वा सर्वं सम्मोहितं जगत् ।
रामस्तु सर्वं ज्ञात्वैव भविष्यत्कार्यगौरवम् ॥४८॥
अजानन्निव दुःखेन शुशोच जनकात्मजाम् ।

ब्रह्मणा ऋषिभिः सार्धं बोधितो रघुनन्दनः ॥४९॥
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नाच्चकारानन्तराः क्रियाः ।
विससर्ज ऋषीन् सर्वानृत्विजो ये समागताः ॥५०॥
तान् सर्वान् धनरत्नाद्यैस्तोषयामास भूरिशः ।

सीताजी का पाताल में प्रवेश देखकर सारा संसार मोहित हो गया । भगवान् राम आगामी कार्य का सम्पूर्ण महत्त्व जानते थे, तथापि अनजान के समान सीताजी के लिए शोक करने लगे। तब ऋषियों के सहित ब्रह्माजी ने रघुनाथजी को समझाया । तदनन्तर उन्होंने सोकर उठे हुए के समान यज्ञ का अवशेष कर्म समाप्त किया और यज्ञ के ऋत्विक् होकर जो ऋषिगण आये थे, उन सब को रत्न और धन आदि से भली प्रकार सन्तुष्ट कर विदा किया ॥ ४८-५२ ॥

उपादाय कुमारौ तावयोध्यामगमत्प्रभुः ॥५१॥
तदादि निःस्पृहो रामः सर्वभोगेषु सर्वदा ।
आत्मचिन्तापरो नित्यमेकान्ते समुपस्थितः ॥५२॥

फिर प्रभु राम उन दोनों कुमारों को साथ लेकर अयोध्यापुरी में आये । तब से श्री रामचन्द्रजी सब भोगों से विरक्त होकर निरन्तर आत्मचिन्तन करते हुए एकान्त में रहने लगे ॥ ५१-५२ ॥

रा० च०—सज्जनो, भगवान् रामचन्द्रजी की लीलाएँ कल्पभेद से कई कई तरह की हैं । एक कल्प में भी अनेकों मन्वन्तर तथा बहुत सी चतुर्युगी होती हैं एवं किसी न किसी चतुर्युगी में क्रम से भगवान् के चौबीस अवतारों में से कोई न कोई होता रहता है । इस प्रकार चौबीस अवतारों का चक्र एक सा चलता रहता है पर उन की लीलाओं में कोई नई विशेषता आती ही रहती है । पुराणरचयिता ऋषियों ने योगदृष्टि से सब कल्पों की लीलाओं को देखने की सामर्थ्य पाई थी, और जिस ऋषि को जो लीला या उस का कोई विशेष चरित्र मनभावना लगा, उस को पुराणों के संवाद में उस ऋषि ने श्रोता को उसे सुना दिया है । इसलिए विभिन्न पुराणों और इतिहासों में एक ही अवतारकथा के विभिन्न रूप देखे जाते हैं । एवं यही बात रामचन्द्रजी महाराज की कथा के विषय में भी है । इस विषय पर तुलसीदासजी कहते हैं—

कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी ❋ नहिं आचरज करहिं अस जानी ॥
नाना भाँति राम अवतारा ❋ रामायन सतकोटि अपारा ॥

कल्पभेद हरि चरित सुहाये ॐ नाना भाँति मुनीसन्ह गाये ॥
करिय न संसय अस उर आनी ॐ सुनिय कथा सादर रतिमानी ॥

इस प्रकार एक ही अवतार की विभिन्न कथाओं को सुनकर आश्चर्य न मानते हुए श्रद्धापूर्वक भगवान् की लीलाओं को कहते सुनते समय का सदुपयोग करना चाहिये। श्री रामचन्द्रजी की लीलाओं का इतिहास सौ करोड श्लोकों में बतलाता जाता है—

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमत्तरं पुंसां महापातकनाशनम् ॥

अस्तु, यहाँ अध्यात्मरामायण में शिवजी ने पार्वती को (तथा वेदव्यासजी व सूतजी ने अन्य श्रोताओं को) जो लव कुश कुमारों का चरित्र सुनाया है, वह बहुत संक्षिप्त है, यही बात वाल्मीकीय रामायण में भी है। किंतु अन्य रामायणों में यह कथा बड़े ही मनोहर ओजस्वी ढँग से कही गई है। रामचन्द्रजी से संबन्ध रखनेवाली उस प्रभावशाली कथा का यहाँ वर्णन अप्रासंगिक न होगा। इस कथान्तर का आरम्भ रामकुमारों के जन्म से भी पूर्व सीतावनबास से ही होता है, यथा—

लोकापवाद से रामचन्द्रजी ने जब सीता को लक्ष्मण के द्वारा वाल्मीकि के तपोवन में भेजा, तब उन्हें वहाँ अकेली छोड़ते हुए लक्ष्मणजी को गहरी मर्मवेदना हुई। लंकायुद्ध में संजीवनी बूँटी लाकर जीवनदान देनेवाले हनुमानजी पर भी उन्हें रोष आया कि आज का कठोर कर्म करने के लिए मुझे जीवित कर उन्होंने अच्छा नहीं किया। लक्ष्मणजी को ऐसे विषण्ण देख सुमन्त्रजी ने कहा—सुमित्रानन्दन, आप सीताजी के लिए संतप्त न हों, यह बात ब्राह्मणों ने आप के पिताजी के सामने भी कही थी। उस समय दुर्वासाजी की कही हुई यह बात आप से या भरतजी से कहने के लिए महाराज ने मुझ से मना कर दिया था। यद्यपि यह वृत्तान्त अकथनीय है तथापि आप के शोकापनोदन के लिए कहता हूँ।

लक्ष्मणजी, पहले युग में अत्रि के पुत्र दुर्वासाजी ने वर्षा के चार मास व्यतीत किये थे। उसी बीच सत्संग के लिए उन के पास जाकर महाराज दशरथ ने उन से यह भी प्रश्न किया कि भगवन्, मेरा वंश कितने काल तक चलेगा, मेरे राम की कितनी आयु होगी तथा अन्यान्य पुत्र पौत्रों की भी क्या स्थिति होगी ? तब महातेजस्वी दुर्वासाजी ने कहा—राजन्, एक समय देवासुरसंग्राम में असुरों ने देवताओं से पीडित होकर महर्षि भृगु की पत्नी की शरण ली और उन से अभय पाकर वे लोग बेखटके वहाँ रहने लगे। तब भृगुपत्नी ने दैत्यों को आश्रय दिया है; यह देखकर देवेश्वर भगवान् विष्णु ने अपने तीक्ष्ण चक्र से भृगुपत्नी का सिर काट डाला।

अपनी पत्नी का वध हुआ देख भृगुजी अत्यन्त कुपित हुए और उन्होंने भगवान्

विष्णु को शाप दिया कि जनार्दन, मेरी गृहिणी मारने योग्य न थी, तो भी तुम ने उसे मारा है। इस लिए तुम्हें मानवलोक में जन्म लेना पडेगा और वहाँ तुम अनेकों वर्ष पत्नी का वियोग सहते फिरोगे और अन्त में तुम उस के वियोग में ही क्षीण हो जाओगे। किंतु इस प्रकार शाप देने के अनन्तर भृगुजी के चित्त को बड़ा कष्ट हुआ, वे भगवान् की ही आराधना करने लगे। भक्तवत्सल भगवान् ने भी तप से प्रसन्न हो उन से कहा—महर्षे, लोकों का प्रिय करने के लिए मैं आप के शाप को ग्रहण करता हूँ।

हे लक्ष्मण, इस प्रकार महातेजस्वी भगवान् विष्णु को भृगुऋषि के शाप की कथा सुनाकर दुर्वासाजी ने महाराज से कहा कि राजन्, इस समय वे ही राम नाम से सर्वत्र विख्यात आप के पुत्र विष्णु रूप में पृथ्वी पर आये हैं। इस लिए जैसा दुर्वासाजी का कथन है, उस से यही ज्ञात होता है कि रघुनाथजी और सीताजी का वियोग पहले से नियत था, इस के लिए आप को दुखी न होकर धैर्य धारण करना चाहिए। क्यों कि दुर्वासाजी ने यह भविष्य भी कहा था फिर सीता के पुत्रों को पाकर भगवान् राम उन का राज्याभिषेक स्वयं कर जायँगे। इस प्रकार कहते सुनते लक्ष्मण और सुमन्त्र अयोध्या को लौट आये।

उधर विलाप करती हुई सीता को सान्त्वना देकर वाल्मीकिजी आश्रम में ले गये और तपस्विनियों के साथ उन्हें रख दिया। उन को संतान होने के लिए दो मास और शेष थे अतः तपस्विनी उन्हें बडे आराम से रखतीं थीं। समय आने पर श्रावण मास में अर्धरात्रि के समय सीताजी ने एक दिव्य पुत्ररत्न को जन्म दिया। महर्षि वाल्मीकिजी सावधान पहले से ही थे, उन्होंने आकर सब जातकर्मादि संस्कार कराये। ऋषिपत्नियों ने आनन्दबधाये गाये, दीप-मालिका रची, सुगन्धपूर्ण आरती उतारी। वाल्मीकिजी पर रामचन्द्र की इस थाती को सुरक्षित, सकुशल रखने की भारी जिंमेदारी थी, अतः वे 'रामरक्षा' नामक एक अद्भुत स्तोत्र की रचना कर गङ्गा के उत्तर तीर में उस का अनुष्ठान रात्रिभर जागरण कर दस दिन तक स्वयं करते रहे। और ग्यारहवें दिन नामकरण संस्कार करते हुए ऋषि ने (कुशाओं के मूँठे से शिशु का अब तक नित्य ही 'रामरक्षा' से मार्जन करने के कारण) 'कुश' यह नाम रखा। इस प्रकार वह बालक मुनि के तपोबल से सुरक्षित होकर माता की गोद में लालित होने लगा। महर्षि उन के रक्षण में सदा जागरूक शरीर से भी रहते थे।

शिशु कुश दो मास का हो चुका था, एक दिन कार्तिक मास के पर्व में सीताजी ने आश्रमप्रान्तीय तमसा नदी में स्नान का संकल्प किया, क्यों कि सभी ऋषिपत्नियाँ उस स्नान का मासव्रत लेनेवाली थीं। ऋषि ने एक दिन की आज्ञा सीता को दी और सब तपस्विनियों के साथ उन्हें स्नान को भेजते हुए कुश की पर्णशाला के आगे अपना आसन जमाकर 'रामरक्षा' स्तोत्र का जप करने लगे। सीताजी बच्चे को एक पालने पर सुख

से भुला गई थीं, पर नूतन पुत्र स्नेह, जो कि वन के पतिसौख्य का भी प्रतिनिधि था, उन में अत्यन्त प्रबल था। तमसा की ओर जाते हुए सीताजी ने देखा कि अनेकों वानरी अपने कोमल बच्चों को पेट से चिपकाये धर्मात्माओं से भोज्यपदार्थ पाने की इच्छा से झुण्ड की झुण्ड चली आ रही हैं। शिशुवती वानरियों को देख सीताजी के मन में हुआ कि मैं इन जानवरों से भी कठोर हूँ जो अपने शिशु को छोड अकेली घूम रही हूँ। बच्चे को साथ लाने की इच्छा से शीघ्र ही वे कुटी को लौटीं। ऋषि द्वार बंदकर एक ओर कुछ नित्यकृत्य कर रहे थे, सीता शीघ्रता से बच्चे को उठाकर नदी की ओर चल दीं। अब ऋषि ने आकर देखा कि बच्चा गायब है? मुनि भारी संकट में पडे, सीता को क्या आश्वासन देंगे? इस लिए तुरत सचेत होकर वाल्मीकि ने अपनी एक दिव्य गौ की पूँछ के रोमों को तपोबल से अभिमन्त्रित कर, उन से कुश जैसा ही दूसरा बालक तैयार कर पालने पर सुला दिया और गोपुच्छ के बाल, जिन का नाम 'लव' है, उन्हीं से बच्चे का मार्जन करने बैठ गये।

कुछ ही देर में पहले बच्चे को गोद में लिए सीताजी तमसास्नान से लौटीं तो पालने पर दूसरे शिशु को देख अत्यन्त चकित हुईं। गोद के बालक को देखकर यही दशा ऋषि की हुई, अन्त में दोनों ने अपनी अपनी करनी सुनाई और ऋषिआज्ञा से अपना द्वितीय बालक बनाकर सीता ने दूसरे शिशु को ग्रहण किया। लवों (गोपुच्छरोमों) से उत्पन्न होने के कारण नूतन बालक 'लव' कहा गया। धीरे धीरे बालक वयस्क हुए, ऋषि उन के सब संस्कार करते जाते थे, उन का उपनयन, धनुर्वेदारम्भ भी हो गया। वाल्मीकिजी ने इन सब घटनाओं से द्रवित होकर जो काव्यप्रबन्ध रचा था, उसे भी वे किसी उद्देश्य से सीताकुमारों को सुनाने और सिखाने लगे। अन्त में बालकों ने इस नादब्रह्म में ऐसी कुशलता पाई कि उन के रामायणगीत से चराचर सभी मोहित हो जाते थे।

पुत्रों को कुछ समर्थ देखकर सीता को आश्वासन मिलने लगा, पर वे अब सोचने लगीं कि ये राजकुमार क्या इसी प्रकार वनों में अनाथ की तरह दिन काटेंगे। रामदरबार में इन के प्रवेश का क्या रास्ता है? इसी चिन्ता को उन्होंने ऋषि के प्रति निवेदन किया। अपने जैसे यत्न में ऋषि स्वत: लगे थे, तो भी सीता के संतोषार्थ उन्होंने एक 'रामयोगव्रत' का उपदेश दिया, जिस को विधिपूर्वक करने से हर कोई रामजी का योग (मिलाप, दर्शन) पा सकता है। ऋषि ने उस को यह विधि बतलाई—

किसी भी मास की शुक्ल प्रतिपदा से नवमी तक यह व्रत होता है, सर्वप्रथम सोने या चाँदी की चरणपादुकाएँ रामचरणचिह्नों से युक्त बनवाकर स्थापित करो। फिर पहले दिन विधिवत् पञ्चगव्य स्रक् चन्दन आदि उपचारों से उन का पूजन कर नौ नील कमलों की पुष्पांजलि चढाओ और इन पुत्रों से रामायण की कथा (पारायण) सुनो। दूसरे दिन

अठारह कमलों को पुष्पांजलि और नियत पाठ सुनो, इसी तरह नौ नौ कमल बढ़ाते हुए नवमी को ८१ कमल चढ़ाकर रामायण और व्रत पूरा करो। पारण के दिन कमलों की संख्या के अनुसार ही ब्राह्मणदम्पतियों का भोजन या उतनी गिनती के फल मूलादि उन्हें प्रदान कर दक्षिणा दो। हे मैथिली, इस व्रत को गङ्गातट पर करो तो उत्तम होगा। यह 'रामयोगव्रत' अमोघ है, इस से अवश्य तुम्हारी कामना पूरी होगी।

सीता बोलीं कि भगवन्, इतने नील कमल इस तपोवन के आस पास तो कहीं हैं नहीं। यद्यपि अयोध्या के उपवनसरोवरों में नीलकमलों की कमी नहीं, पर वहाँ से कौन ला सकता है, और रक्षक भी उन की यत्नपूर्वक रक्षा करते हैं। आप चिन्ता में पड़े कि जो उपदेश दिया है, उसे कार्यरूप में कैसे परिणत किया जाय? अस्तु, उन्होंने अन्यान्य आश्रमों में घुमा फिराकर लव कुश को अयोध्या प्रदेश के उपवनों की भी यात्रा करा दी थी, इसलिए तेजस्वी लव बोला कि माता, आप खुशी से व्रत आरम्भ कीजिये, नीलकमलवन मैं ने देखे हैं, मैं चाहे जितने ला सकता हूँ। ऋषि भीतर से ऐसा चाहते ही थे, उन्होंने कहा कि हाँ, इन की संगीतसरिता में डूबकर रक्षक लोग अवश्य कमल ले आने देंगे। उधर श्री रामचन्द्रजी का विशाल अश्वमेध यज्ञ आरम्भ हो रहा था। इस के लिए वसिष्ठादि ऋषियों ने गङ्गातट की पवित्र भूमि में ही यज्ञनगर बसाया था। उस के दूसरे तट पर वहाँ से कुछ दूर वाल्मीकिजी भी रामयोगव्रत का यज्ञ कराने के लिए अपनी यजमान सीता को लेकर आ गये थे। दोनों यज्ञ आरम्भ हो चले, छोटे कुमार लव अपना धनुर्बाण लेकर गङ्गापार जाते और उधर के जिन सरोवरों में नीलकमल थे, वहाँ से बिना किसी से पूछे, कमलों का एक गट्ठर बाँधकर उठा लाते। फिर माता का पूजन समाप्त होने पर ऋषिआज्ञा से दोनों बालक यज्ञभूमि में रामायण गाने चले जाते थे।

नीलकमल तोड़ते समय सात दिन तक तो यज्ञ के ही हल्ले में रक्षकों ने लव को न देख पाया था। परंतु सुन्दर कमलों के भंग हो जाने से, क्योंकि लव कमल तोड़ते समय बंदरों की तरह बहुत से कमलों को पानी में ही नष्ट कर देते थे, सरोवरों की शोभा खंडित हो गई अतएव रक्षक सावधान हो गये। आठवें दिन कमल तोड़ने ज्यों ही लव तालाब में घुसे कि रक्षकों से सामना हो गया। किंतु धनुर्धारी रामकुमार के सामने किसी की क्या सामर्थ्य उन्हें रोकने की थी? वे सब उन के शराघातों से पीड़ित हो रामचन्द्रजी की शरण में भाग गये और लव नियत कमल ले आये, उन्होंने अपने पराक्रम का वृत्तान्त भी सुनाया। इस से सीता को बड़ा आतङ्क हुआ पर ऋषि ने शान्त कर कुश को भी अब साथ जाने की आज्ञा दी। व्रत में एक ही दिन की कमी थी और उस दिन रामाज्ञा से रक्षकों में सैनिक भी डटे थे। कुमारों के वहाँ आने पर सेनाध्यक्ष ने कहा कि तुम लोग रामजी की

बिना आज्ञा के कमल लेकर भी रक्षकों को मारते हो, अतः हम तुम्हें पकड़कर रामजी के पास ले चलते हैं। लव ने बड़ी तेजस्विता से कहा कि दूर हटो, निरपराध पत्नी के त्यागी तुम्हारे राम में क्या पुरुषार्थ है, जो वह लव का कुछ कर सके, उस का जोर तो अबला सीता पर ही चला था। इतना कहते ही दोनों ओर से युद्ध आरम्भ हो गया, किन्तु मुनि के 'राम॰ रक्षाकीलन' के कारण लव कुश को कुछ भी क्षति न हुई। सैनिकों में अनेक घायल हुए, अनेक मूर्च्छित हुए तथा कुछ रामजी की दुहाई बोलते हुए भागकर उन के पास पहुँचे। इधर लव ने आवश्यक यथेच्छ फूल ले जाकर माता का व्रत पूर्ण कराया।

शेष सैनिकों से भगवान् राम ने जब बालकों का अद्भुत पराक्रम सुना तो उन्हें बड़ा कौतूहल हुआ कि जरा से मुनिदारकों का ऐसा उग्र स्वभाव है जो हमें भी फटकार सुनाते हैं! अन्त में कुछ दूतों से पता चला कि वे वाल्मीकिआश्रम की ओर से गङ्गा पार कर आते हैं। रामजी ने जानकर, अपनी निष्पक्षता दिखाने के लिए अब तक वाल्मीकिजी को नहीं बुलाया था। आज दूतों के चर्चा करने पर तुरंत ही ब्राह्मणों द्वारा निमन्त्रण भेजा कि महर्षि हमारी भूल को क्षमाकर यज्ञ में पधारें, साथ ही शिष्यों को विनीत रखने का हलका सा आदेश देकर उन के देखने की इच्छा भी भगवान् ने प्रकट की। वाल्मीकिजी ऐसे सुयोग की तलाश में ही थे, वे चेलों को लेकर यज्ञनगर में आये और ऋषिमण्डल के आवास में एक तरफ उन के डेरा लग गये। वहाँ से ऋषि ने दोनों कुमारों को वीणा देकर नित्य की तरह गाने के लिए भेज दिया। इतने में ही सेनाध्यक्ष ने भगवान् से कहा कि महाराज देखिये, ये ही वे उपद्रवी बालक हैं जो आप को तृण जैसा भी नहीं समझकर कुवाच्य बोलते हैं, इस समय माँगने खाने के लिए ये दीन कपटमुनि बन गये हैं। रामजी ने बालकों को सभा में बुलवाया और कई दिन से जिस की प्रशंसा सुनी जाती थी, उस रामायण गान को ही प्रथम सुना। जैसा ऋषि ने समझाया था, वैसे ही सीतापरित्याग तक की कथा बच्चों ने अत्यन्त मधुर और करुण स्वरलहरी में सुनाकर सारी सभा को करुणा से विकल कर दिया। रामचन्द्रजी के आगे का भाग भी गाने को कहने पर बालक बोले कि हम को गुरुजी ने इतना ही पढ़ाया है। अस्तु, राम ने उन से कहा कि तुम ने हमारे कमलवन उजाड़े, सो तो ऋषिजी को फूलों की जरूरत पड़ी होगी इस लिए क्षम्य है, परंतु सैनिकों को विताड़ित कर उग्र अपराध किया है। वह भी हम ने तुम्हारे गायन से प्रसन्न होकर क्षमा कर दिया। अब तुम महर्षि से पूछकर अगला कथाभाग भी सुनाओ। भगवान् ने अतुलित स्वर्ण मुद्राएँ भी उन्हें अर्पित कीं।

लव कुश ने कहा—महाराज, वह सब उद्दण्डता हम ने आप के दर्शनों की खातिर ही की थी, सो अब आप की हम पर कृपा हो गई तो हमें और कुछ नहीं चाहिये। हम

कन्दमूलाहारी रुपया पैसा लेकर क्या करेंगे ? यह कहकर वे वाल्मीकिजी के पास लौट आये और सब वृत्तान्त उन्हें सुना दिया । वाल्मीकिजी ने मन में सोचा कि सीता का व्रत फलना ही चाहता है । अभी अगले दिन व्रत का पारण शेष था, इस लिए महर्षि ने बालकों को गङ्गापार सीता के पास ही भेज दिया और वे सीताजी को राम से मिलाने का उपक्रम सोचने लगे । सीता के पास जाकर दूसरे दिन कुश तो उन की पारणपरिचर्या में लगे और लव बच्चों के साथ खेलने निकल गये ।

भगवान् राम का मेध्य अश्व सब देशों में भ्रमण कर पश्चिमोत्तर दिशा से गङ्गाकिनारे होता हुआ अयोध्या को आ रहा था । उस के रक्षक चतुर्दिक की अपनी सफलता पर फूले न समाते हुए मस्तानी चाल से धीरे धीरे आ रहे थे । इतने में ही गङ्गा की रज में खेलते हुए बच्चों में शोर मचा कि राजा राम का घोडा आ रहा है । उसे देखने के कौतूहल से वे उधर दौडे तो एक व्यक्ति नगाडा बजाकर कह रहा था—'क्षत्रियों में सर्वोपरि एक वीर, त्रैलोक्यविजयी महाराजाधिराज राम की यह विजयपताका और मेध्याश्व आ रहा है, लोग सामने से हट जायँ ।' इस वीरघोषणा को सुनते ही लव का बाल क्षात्रतेज उद्दीप्त हो उठा, उन्होंने सैनिकों से कहा कि यह क्या बढ बढकर बातें बनाते हो, बालक हूँ तो क्या, एक क्षत्रिय मैं भी तुम्हारे सामने खडा हूँ, मुझे राम ने कभी नहीं जीता और न मैं उन्हें बडा वीर समझता हूँ । रक्षक बालक की खिल्ली उडाते हुए हँसने लगे, बोले कि पतंगे की तरह तुम रामसेना की आग में क्यों गिरना चाहते हो ? लव ने कहा—मैं अभी अपने बाण से तुम्हारी विजयध्वजा गिराकर उस अग्नि को बुझाता हूँ । इतना कह लव ने अपना धनुष सज्य किया और एक ही बाण से उन की ध्वजा काट गिराई । जिन सैनिकों ने सामना किया उन की भी यही गति हुई । लव ने अब उस घोडे की बागडोर साथी बालकों देते हुए कहा कि इसे आश्रम में ले चलो, अपने काले भूरे हिरनों के बीच यह विचारा भी स्वच्छन्द चरता रहेगा । ब्राह्मणकुमार डरते डरते उस घोडे को आश्रम की ओर ले गये । रामसेना के महारथी लक्ष्मणनन्दन चन्द्रकेतु, अङ्गद, हनुमान् आदि सुभट धीरे धीरे पीछे आ रहे थे, उन्होंने गङ्गातट की ओर विजयपताका को गिरती देख कदम बढाये तो साक्षात् वीररसरूपी लव को देखकर उन के आश्चर्य का ठिकाना न रहा । बालक पर सहसा प्रहार की इच्छा न होती थी, अतः पहले उन लोगों ने छोटेसे बालक को पकडने के लिए सैनिकों को भेजा, पर लव ने शरप्रहारों से सब को भगा दिया । अब तो सब सैनिक आँधी के समान उन की ओर झपटकर बढने लगे । लव ने यह सोचकर कि इतनों का व्यर्थ संहार क्यों हो, एक साधारण शर को वायव्यअस्त्र से अभिमन्त्रित कर सैनिकों पर छोड दिया । उस से वे सब धूल की तरह त्रस्त वित्रस्त होकर इधर उधर जा पडे । अब बडे महारथियों की पारी

आयी, नल नील अङ्गद हनुमान् चन्द्रकेतु, सभो ने चढाई की। लव ने उन की तरफ से मुँह फेरते हुए कहा कि इन नीचों को धिक्कार है जो क्षत्रियों की वीरघोषणा करते हुए भी एक बार हारकर फिर सामने आ रहे हैं। फिर भी वे सँभलकर सामना करने लगे और सब से एक साथ छुटकारा पाने के लिए उन्होंने संमोहनास्त्र से पूरी रामसेना को संमोहित कर दिया। अब कुमार लव ने उन सब अचेत पडे हुए सैनिकों को पास में जाकर देखा कि सब मृतकों के समान पड़े थे, एक पवनपुत्र हनुमान्जी कुछ सचेष्ट होकर भी अकर्मण्य हो रहे थे। लव उन को धनुष की डोरी से बाँधकर लड़कों के बीच खेलने के लिए आश्रम की ओर ले चलने लगे।

जो मुनिकुमार मेध्य अश्व को आश्रम की ओर हाँक ले गये थे, उन से इस महत्काण्ड की खबर पाकर कुमार कुश भी लव की सहायतार्थ दौड आये, तो वे क्या देखते हैं कि अपनी विजय के उपहार एक अद्भुत बंदर को अपने धनुष में फसाये हुए लव मदारी की तरह आश्रम को लौट रहे हैं। उसे देख दोनों को बडा कौतूहल हुआ, दोनों भाइयों ने अर्धचेतन हनुमानजी को ले जाकर आश्रम के एक पेड में बाँध दिया और अपनी बहादुरी दिखाने के लिए शीघ्र ही सीताजी के पास दौड गये, जो अपने व्रत का शेष कृत्य पूरा कर रहीं थी। सीताजी ने आकर पेड से बँधे हनुमान् को देखा तो उन के अचरज का ठिकाना न रहा कि यह तो लव कुश से भी प्यारा उन का वही पुत्र है जिसे अपनी अनर्घ्य सहायता करने के बदले सीताजी कभी अजर, अमर, गुणनिधान आदि होने का वरदान दे चुकीं थीं। उन्होंने शीघ्र ही हनुमान् को छुडाकर स्वस्थ कराया तथा सान्त्वना दी। साथ ही बच्चों से कहा कि समस्त सेना पर से संमोहनास्त्र का निवारण कर दो।

घर की देहली पर जो यह अपूर्व पराजय हुई और मेध्याश्व छिन गया, इस का समाचार यज्ञक्षेत्र में तेजी से फैल चुका था, वहाँ से लक्ष्मणादि सब योधा दुर्दम बालकों के दमनार्थ चल पडे। फिर तो यज्ञदीक्षा ग्रहण किये हुए रामचन्द्रजी को भी दण्डकमण्डलु त्याग कर संग्रामभूमि में शस्त्र ले उन बच्चों से लोहा लेना पड गया। उन अप्रतिभट रघुकुलकुमार बालकों के व्याज से वाल्मीकि मुनि की तपस्या ही डटकर राम तक का सामना कर रही थी। उन भटों के प्रति लव की यह उक्ति यथार्थ ही थी कि "सीता-दुःखापनोदार्थं मुनिना निर्मितस्त्वहम्।" सीता के दुःख का बदला चुकाने के लिए ही मुझे गोपुच्छों से रचा गया है। अस्तु, अन्त में वाल्मीकिजी के पास यह सब शिकायत पहुँची, वे बैठे बैठे सब बात की टोह ले रहे थे। वाल्मीकिजी ने शिष्यों के द्वारा बालकों को शान्त कराके सीतासमेत अपने पास बुलवा लिया और रामदूतों से कहा कि शेष रामायण सुनने का आमन्त्रण जो महाराज दे चुके हैं, उस के प्रसंग में कल वे बालक रामजी के दरबार में

वेश होंगे। रामायणगान से बालकों के सीताकुमार सिद्ध हो जाने के कारण सब की इच्छा सीताजी के दर्शनों की हुई, अतः महर्षि ने व्यवस्था की कि कल ही सीताजी भी विशुद्धभाव से रामजी का दर्शन करेंगी।

सज्जनो, शतकोटिरामायण का जो यह कथान्तर सुनाया गया, इस के साथ अध्यात्मरामायण का भेद यहाँ तक है। फिर सीताजी का राजसभा में शपथ करना, पृथ्वीदेवी का सीताजी को पाताल में विलीन करना, यह प्रसंग एक सा ही है। किंतु पूर्वोक्त चरित्र के समकालीन रसिक भक्तों को यह इष्ट न था कि भगवान् राम अपनी नित्यसहचरी, अभिन्नात्मा, आह्लादिनी शक्ति सीताजी से ऊपरी तौर पर लोकदिखावे के लिए भी पृथक् हों। अतः प्रेमियों की अभिलाषापूर्ति के लिए भगवान् राम ने पृथ्वी पर कोप किया और धनुर्बाण चढ़ाकर उसे दण्ड देने को उद्यत हुए। अतः पुनः सीताजी को भूमिमाता ने प्रकट कर रामजी को समर्पित किया और सीतादेवी भगवान् राम की अर्धाङ्गिनी बनकर सोने की सीताप्रतिमा के बदले स्वयं यज्ञशाला में आसीन हुई एवं सदा के लिए भगवान् के गृहमेधीय कर्मों की सहधर्मिणी बन भक्तों को सुख देती रहीं। अस्तु, इन भक्तों का हमें धन्यवाद करना चाहिए जिन की प्रभुपरायणता से आज हम प्रत्येक मन्दिर में जानकी समेत रामजी का दर्शन कर रहे हैं। इन की प्रेरणा से पुनः जानकीजी प्रकट न होतीं तो आज हम नीरस अकेले उदासीन राम का दर्शन करते।

संग्राम, मैत्री, संबन्ध तथा अन्य व्यवहारों में भगवान् ने अपने निज प्रेमियों को घनिष्ठ विश्वस्त आलापों से संतुष्ट कर मन भर दिया था। अन्तरङ्गप्रेमी माताओं के साथ ऐसे सौभाग्य का अवसर अभी न आया था, अतः उन के संतोष के लिए भी भगवान् ने यह घटना रची—

एकान्ते ध्याननिरते एकदा राघवे सति।
ज्ञात्वा नारायणं साक्षात्कौसल्या प्रियवादिनी ॥५३॥
भक्त्यागत्य प्रसन्नं तं प्रणता प्राह हृष्टधीः।
राम त्वं जगतामादिरादिमध्यान्तवर्जितः ॥५४॥
परमात्मा परानन्दः पूर्णः पुरुष ईश्वरः।
जातोऽसि मे गर्भगृहे मम पुण्यातिरेकतः ॥५५॥

एक दिन जब श्री रघुनाथजी एकान्त में ध्यानमग्न बैठे थे, तब प्रियभाषिणी श्री कौसल्याजी ने उन्हें साक्षात् नारायण जानकर अति भक्तिभाव से उन के पास आ उन्हें प्रसन्न जान अति हर्ष से विनय पूर्वक कहा—हे राम, तुम संसार के आदि

कारण हो, तथा स्वयं आदि, अन्त और मध्य से रहित हो। तुम परमात्मा, परानन्द-स्वरूप, सर्वत्र पूर्ण, जीवरूप से शरीररूप पुर में शयन करनेवाले और सब के स्वामी हो; मेरे प्रबल पुण्य के उदय होने से ही तुम ने मेरे गर्भ से जन्म लिया है ॥५३-५५॥

अवसाने ममाप्यद्य समयोऽभूद्रघूत्तम।
नाद्याप्यबोधजः कृत्स्नो भवबन्धो निवर्तते ॥५६॥
इदानीमपि मे ज्ञानं भवबन्धनिवर्तकम्।
यथा सङ्क्षेपतो भूयात्तथा बोधय मां विभो ॥५७॥

हे रघुश्रेष्ठ, अब अन्त समय में मुझे आप से कुछ पूछने का समय मिला है। अभी तक मेरा अज्ञानजन्य संसारबन्धन पूर्णतया नहीं टूटा। हे विभो, मुझे संक्षेप में कोई ऐसा उपदेश दीजिये जिस से अब भी मुझे भवबन्धन का काटनेवाला ज्ञान हो जाय ॥ ५६-५७ ॥

निर्वेदवादिनीमेवं मातरं मातृवत्सलः।
दयालुः प्राह धर्मात्मा जराजर्जरितां शुभाम् ॥५८॥
मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ताः पुरा मोक्षाप्तिसाधकाः।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च शाश्वतः ॥५९॥
भक्तिर्विभिद्यते मातस्त्रिविधा गुणभेदतः।
स्वभावो यस्य यस्तेन तस्य भक्तिर्विभिद्यते ॥६०॥

तब मातृभक्त, दयामय, धर्मपरायण भगवान् राम ने इस प्रकार वैराग्यपूर्ण वचन कहनेवाली अपनी जराजर्जरित शुभलक्षणा माता से कहा—मैंने पूर्वकाल में मोक्षप्राप्ति के साधनरूप तीन मार्ग बतलाये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और सनातन भक्तियोग। हे मातः, साधक के गुणानुसार भक्ति के तीन भेद हैं। जिस का जैसा स्वभाव होता है उस की भक्ति भी वैसे ही भेदवाली हो जाती है ॥ ५८-६० ॥

यस्तु हिंसां समुद्दिश्य दम्भं मात्सर्यमेव वा ।
भेददृष्टिश्च संरम्भी भक्तो मे तामसः स्मृतः ॥ ६१ ॥
फलाभिसन्धिर्भोगार्थी धनकामो यशस्तथा ।
अर्चादौ भेदबुद्ध्या मां पूजयेत्स तु राजसः ॥ ६२ ॥
परस्मिन्नर्पितं यस्तु कर्म निर्हरणाय वा ।
कर्तव्यमिति वा कुर्याद्भेदबुद्ध्या स सात्त्विकः ॥ ६३ ॥

जो पुरुष हिंसा, दम्भ या मात्सर्य के उद्देश्य से भक्ति करता है, तथा जो भेद दृष्टिवाला और क्रोधी होता है वह तामस भक्त माना गया है। जो फल की इच्छावाला, भोग चाहनेवाला तथा धन और यश की कामनावाला होता है और भेद बुद्धि से अर्चा आदि में मेरी पूजा करता है वह रजोगुणी होता है। तथा जो पुरुष परमात्मा को अर्पण किये हुए कर्म सम्पादन करने के लिए अथवा 'करना चाहिये' इस लिए भेद बुद्धि से कर्म करता है वह सात्त्विक है ॥ ६१-६३ ॥

मद्गुणाश्रयणादेव मय्यनन्तगुणालये ।
अविच्छिन्ना मनोवृत्तिर्यथा गङ्गाम्बुनोऽम्बुधौ ॥ ६४ ॥
तदेव भक्तियोगस्य लक्षणं निर्गुणस्य हि ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिर्मयि जायते ॥ ६५ ॥
सा मे सालोक्यसामीप्यसार्ष्टिसायुज्यमेव वा ।
ददात्यपि न गृह्णन्ति भक्ता मत्सेवनं विना ॥ ६६ ॥

जिस प्रकार गंगाजी का जल समुद्र में लीन हो जाता है, उसी प्रकार जब मनोवृत्ति मेरे गुणों के आश्रय से मुझ अनन्त गुणधाम में निरन्तर लगी रहे, तो वही मेरे निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है। मेरे प्रति जो निष्काम और अखण्ड भक्ति उत्पन्न होती है वह साधक को सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य चार प्रकार की मुक्ति देती है; किन्तु उस के देने पर भी वे भक्तजन मेरी सेवा के अतिरिक्त और कुछ ग्रहण नहीं करते ॥ ६४-६६ ॥

स एवात्यन्तिको योगो भक्तिमार्गस्य भामिनि ।
मद्भावं प्राप्नुयात्तेन अतिक्रम्य गुणत्रयम् ॥ ६७ ॥

महता कामहीनेन स्वधर्माचरणेन च ।
कर्मयोगेन शस्तेन वर्जितेन विहिंसनात् ॥ ६८ ॥
मद्दर्शनस्तुतिमहापूजाभिः स्मृतिवन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सङ्गेनासत्यवर्जनैः ॥ ६९ ॥
बहुमानेन महतां दुःखिनामनुकम्पया ।
स्वसमानेषु मैत्र्या च यमादीनां निषेवया ॥ ७० ॥
वेदान्तवाक्यश्रवणान्मम नामानुकीर्तनात् ।
सत्सङ्गेनार्जवेनैव ह्यहमः परिवर्जनात् ॥ ७१ ॥
काङ्क्षया मम धर्मस्य परिशुद्धान्तरो जनः ।
मद्गुणश्रवणादेव याति मामञ्जसा जनः ॥ ७२ ॥

हे मातः, भक्तिमार्ग का असली योग यही है। इस के द्वारा भक्त तीनों गुणों को पार कर मेरा ही रूप हो जाता है। और निर्गुण भक्ति का साधन यह है कि अपने धर्म का अत्यन्त निष्काम भाव से आचरण करने से, अत्युत्तम हिंसाहीन कर्मयोग से, मेरे दर्शन, स्तुति, महापूजा, स्मरण और वन्दन से, प्राणियों में मेरी भावना करने से, असत्य के त्याग और सत्सङ्ग से, महापुरुषों का अत्यन्त मान करने से, दुःखियों पर दया करने से, अपने समान पुरुषों से मैत्री करने से, यम नियमादि का सेवन करने से, वेदान्तवाक्यों का श्रवण करने से, मेरा नाम संकीर्तन करने से, सत्सङ्ग और कोमलता से, अहङ्कार का त्याग करने से, और मेरे भागवत धर्मों की इच्छा करने से जिस का चित्त शुद्ध हो गया है; वह पुरुष मेरे गुणों का श्रवण करने से ही अति सुगमता से मुझे प्राप्त कर लेता है ॥ ६७-७२ ॥

यथा वायुवशाद्गन्धः स्वाश्रयाद्घ्राणमाविशत् ।
योगाभ्यासरतं चित्तमेवमात्मानमाविशेत् ॥ ७३ ॥
सर्वेषु प्राणिजातेषु ह्यहमात्मा व्यवस्थितः ।
तमज्ञात्वा विमूढात्मा कुरुते केवलं बहिः ॥ ७४ ॥
क्रियोत्पन्नैर्नैकभेदैर्द्रव्यैर्मे नाम्ब तोषणम् ।
भूतावमानिनार्चायामर्चितोऽहं न पूजितः ॥ ७५ ॥

जिस प्रकार वायु के द्वारा गन्ध अपने आश्रय को छोड़कर घ्राणेन्द्रिय में प्रविष्ट होता है उसी प्रकार योगाभ्यास में लगा हुआ चित्त आत्मा में लीन हो जाता है। समस्त प्राणियों में आत्मारूप से मैं ही स्थित हूँ, हे मातः, उसे न जानकर मूढ पुरुष केवल बाह्य भावना करता है। किन्तु क्रिया से उत्पन्न हुए अनेक पदार्थों से भी मेरा सन्तोष नहीं होता। अन्य जीवों का तिरस्कार करनेवाले प्राणियों से प्रतिमा में पूजित होकर भी मैं वास्तव में पूजित नहीं होता ॥ ७३-७५ ॥

तावन्मामर्चयेद्देवं प्रतिमादौ स्वकर्मभिः।
यावत्सर्वेषु भूतेषु स्थितं चात्मनि न स्मरेत् ॥ ७६ ॥

यस्तु भेदं प्रकुरुते स्वात्मनश्च परस्य च।
भिन्नदृष्टेर्भयं मृत्युस्तस्य कुर्यान्न संशयः ॥ ७७ ॥

मुझ परमात्मदेव का अपने कर्मों द्वारा प्रतिमा आदि में तभी तक पूजन करना चाहिये जब तक कि समस्त प्राणियों में और अपने आप में मुझे स्थित न जाने। जो अपने आत्मा और परमात्मा में भेद बुद्धि करता है उस भेददर्शी को मृत्यु अवश्य भय उत्पन्न करती है, इस में सन्देह नहीं ॥ ७६-७७ ॥

मामतः सर्वभूतेषु परिच्छिन्नेषु संस्थितम्।
एकं ज्ञानेन मानेन मैत्र्या चार्चेदभिन्नधीः ॥७८॥

चेतसैवानिशं सर्वभूतानि प्रणमेत्सुधीः।
ज्ञात्वा मां चेतनं शुद्धं जीवरूपेण संस्थितम् ॥७९॥

तस्मात्कदाचिन्नेक्षेत भेदमीश्वरजीवयोः।

इसलिए अभेददर्शी भक्त समस्त परिच्छिन्न प्राणियों में स्थित मुझ एकमात्र परमात्मा का पूजन ज्ञान, मान और मैत्री आदि से करे। इस प्रकार मुझ शुद्ध चेतन को ही जीवरूप से स्थित जानकर बुद्धिमान् पुरुष अहर्निश सब प्राणियों को चित्त से ही प्रणाम करे। इसलिए जीव और ईश्वर का भेद कभी न देखना चाहिए ॥७८-८०॥

भक्तियोगो ज्ञानयोगो मया मातरुदीरितः ॥८०॥

आलम्ब्यैकतरं वापि पुरुषः शुभमृच्छति।
ततो मां भक्तियोगेन मातः सर्वहृदि स्थितम् ॥८१॥

पुत्ररूपेण वा नित्यं स्मृत्वा शान्तिमवाप्स्यसि ।

हे मातः, मैं ने तुम से यह भक्तियोग और ज्ञानयोग का वर्णन किया है। इन में से एक का भी अवलम्बन करने से पुरुष आत्यन्तिक शुभ प्राप्त कर लेता है। अतः हे मातः, मुझे सब प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित जानते हुए अथवा पुत्ररूप से भक्तियोग के द्वारा नित्यप्रति स्मरण करते रहने से तुम शान्ति प्राप्त करोगी ॥८०-८१॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं कौसल्यानन्दसंयुता ॥८२॥
रामं सदा हृदि ध्यात्वा छित्त्वा संसारबन्धनम् ।
अतिक्रम्य गतीस्तिस्रोऽप्यवाप परमां गतिम् ॥८३॥

भगवान् राम के ये वचन सुनकर कौसल्याजी आनन्द से भर गयीं और हृदय में निरन्तर श्री रामचन्द्रजी का ध्यान करती हुई संसारबन्धन को काटकर, तीनों प्रकार की गतियों को पारकर परम गति को प्राप्त हुईं ॥ ८२-८३ ॥

कैकेयी चापि योगं रघुपतिगदितं पूर्वमेवाधिगम्य
श्रद्धाभक्तिप्रशान्ता हृदि रघुतिलकं भावयन्ती गतासुः ।
गत्वा स्वर्गं स्फुरन्ती दशरथसहिता मोदमानावतस्थे
माता श्रीलक्ष्मणस्याप्यतिविमलमतिः प्राप भर्तुः समीपम् ॥८४॥

कैकेयी ने भी रघुनाथजी द्वारा पहले चित्रकूट पर्वत पर कहे हुए योग को हृदयङ्गम कर श्रद्धा और भक्तिभाव से शान्तिपूर्वक हृदय में रघुकुलतिलक भगवान् राम का ध्यान करते हुए प्राणत्याग किया और स्वर्गलोक में जाकर दशरथजी के साथ सुशोभित हो आनन्दपूर्वक रहने लगीं। इसी प्रकार श्री लक्ष्मणजी की माता, अत्यन्त विमल बुद्धिवाली सुमित्रा ने भी अपने पति का सामीप्य प्राप्त किया ॥ ८४ ॥

रा० च०—प्रिय प्रभुप्रेमियो, बहुत पहले कहा गया था कि प्राणियों के आदि माता पिता कश्यप अदिति या मनु शतरूपा मानुषी सृष्टि को प्रारम्भ कर पुत्र पौत्रादियों से भरपूर देख चुके, तब उन्होंने भगवद्दर्शन के लिए संसार से निवृत्त होकर अति घोर तप किये थे। तप से प्रसन्न हो जब भगवान् ने उन्हें दर्शन दिया, तब मनु या कश्यप ने श्रीचरणों में अविचल प्रेम, सुदृढ अनुराग, जैसा मीन का जल के साथ होता है, माँगा था। उन से 'एवमस्तु' कहकर प्रभु ने जब माताजी से उन की अभिलाषा पूछी तो बुढिया भगवत्स्वरूप को देख सुध बुध भूल गई और कहा कि मैं तो तुम्हें गोदी में खिलाना चाहती हूँ। भगवान् को वही करार करना पड़ा और अन्यान्य घटनाओं को मिलाकर इन दोनों वृद्धों को भगवान् ने दशरथ

कौशल्या बनाकर इन को बालसुख का खूब अनुभव कराया। आगे अपनी वरप्राप्ति की प्रतिज्ञानुसार दशरथजी ने वनगमन द्वारा भगवान् राम का वियोग होने पर अपना शरीर तृण के समान त्याग दिया और अपने यथार्थ सत्यप्रेम को प्रमाणित किया। पर बुढिया माई ने प्रभु के पुत्रसुख का भरपूर अनुभव करना चाहा, इसलिए अब सब के अन्त में अपने परमधाम पधारने से पहले भगवान् माता के स्नेहपाश का निराकरण कर तत्त्वज्ञान का उपदेश दे रहे हैं। जैसे लखनलालजी भगवान् के सदा अनुचर रहे, वैसे ही माता सुमित्रा कौसल्या की सहचरी बनी रहीं, इसलिए जो कुछ भगवान् ने कौसल्याजी को कहा, वह इन के लिए भी समझना चाहिए। और कैकेयीजी को तो वनवास के समय चित्रकूट में ही ज्ञानोपदेश हो चुका था, वे तदनुसार अबतक भगवदाराधना करती रहीं।

इन तीनों माताओं की पहले जन्मों की तपस्या में जो अन्तर था, उस के अनुसार तपोमर्यादार्थ भगवान् को इन की सद्गति में तारतम्य करना पड़ा। इसीलिए अब माता कौसल्याजी त्रिगुणात्मिक तीनों लोकान्तरप्राप्तियों का अतिक्रमण कर निस्त्रैगुण्य भाव से परमात्मा में लीन हो गईं। शेष दो माताएँ राजर्षि दशरथ की सहचरी स्वर्ग में जाकर हुईं। अर्थात् कौसल्याजी लययोग की विधि से जहाँ की तहाँ ब्रह्माकार हो गईं थी और शेष दो माताओं की सात्विक उत्क्रान्ति गीता के शब्दों में 'अग्निर्ज्योतिः' इत्यादि वर्णित 'अर्चिरादिमार्ग' से हुई थी। उपनिषदों का कथन है—

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्ति, अत्रैव समवलीयन्ते।—बृह०

'ब्रह्मज्ञानी महात्मा के प्राण उत्क्रान्ति को नहीं प्राप्त होते, यहीं पर ब्रह्मभाव में लय हो जाते हैं।' माताजी को भगवान् ने मुख्यतः अद्वैत ब्रह्मतत्त्व और यह क्लिष्ट लगे तो योग, समभाव, भक्ति और वात्सल्यभाव की उपासना का भी उपदेश दिया। किंतु उन्होंने अब तक यह सब कुछ कर चुकने पर अन्त में ब्रह्मज्ञान को ही स्वीकार कर त्रिगुणों की गति से ऊपर 'परमा गति' पायी, यानी भगवान् के सामने ही ब्रह्मभाव में अपने को मिला दिया।

कौसल्याजी के लिए यहाँ कहा गया है कि वे तीनों गतियों का अतिक्रमण कर चौथी परम गति से परमात्मभाव को प्राप्त हुईं, किंतु गीता में दो ही, शुक्ल और कृष्ण गति बतलायी गई हैं—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ ८–२६

इस की संगति यों है कि यहाँ भगवान् ने सात्विकी राजसी दो ही गतियों का वर्णन किया है, जो कि सगुणभाव की परमात्मोपासना से भक्त को मिलती हैं। क्योंकि गति आगति

ऐसे ही लोगों की होती हैं, तत्त्वज्ञानी की नहीं। इन दो गतियों के कुछ ही पहले अर्जुन को भी भगवान् ने 'परमा गति' का प्रकार बतलाया है, जो कि कौसल्याजी को प्राप्त हुई, यथा—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ —अ० ८,१३

यही निर्गुणगति है, इस के अतिरिक्त गीता के इस प्रकरण में 'अक्षरब्रह्मयोग' का निरूपण हो रहा था, इसलिए भगवान् ने तामसी गति का वर्णन करना अप्रासंगिक माना। लखचौरासी के चक्कर की जन्ममरणरूपी तामसी गति सब को सदा ही सुपरिचित और सुलभ है इसलिए उस का कहना ही क्या? कौसल्याजी की जैसी गति ही असली गति है और गीता या रामायण के प्रेमियों को उसे ही प्राप्त करने का लक्ष्य रख साधना करनी चाहिए। उस गति का सहज प्रकार यह है—

मन को शान्त, इन्द्रियों को वश में करके उपरतियुक्त होकर सब तरह के कर्मों को त्याग देना चाहिए। फिर इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर श्रद्धायुक्त हो चित्त की वृत्तियों को भी वश में कर ले। फिर कोमल आसन पर बैठे और जब तक मन शान्त न हो तबतक 'ॐ' का जप करने लगे। तब अन्तःकरण की शुद्धि के लिए प्राणायाम करना चाहिये और धीरे धीरे इन्द्रियों को आकर्षण कर अन्तर्दृष्टि में लगाना चाहिये। देह इन्द्रिय मन बुद्धि और क्षेत्रज्ञ (जीव) का जिस जिस तत्त्व से उदय हुआ है, उन को उस उस तत्त्व में विलीन करना चाहिये। इस के लिए प्रथम विराट स्वरूप में अपने को स्थित करे, अनन्तर क्रम से आत्मा में, अव्याकृत में, कारण में बढता जाय। शरीर के मांस आदि पार्थिव भाग को पृथ्वी में विलीन करे, रक्त आदि जलभाग को जल में, अग्नि से बने हुए भागों को अग्नि में, वायु से बने हुए भाग को वायु में और आकाश से बने हुए भाग को आकाश में लीन करना चाहिये। अर्थात् जो भाग जिस तत्त्व से बना है, उस में उस तत्त्व की दृष्टि उत्पन्न करे, उस भाग की दृष्टि को विलीन कर दे। कौन भाग किस तत्त्व का बना है, यह पञ्चीकरण की विधि से जाना जाता है जो पूर्वगत प्रसंगों में स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय में जिस तत्त्व से वह बनी है उस तत्त्व के होने की भावना करे। कानों को दिशा में, त्वचा को विद्युत में, नेत्र को सूर्य में, जिह्वा को जल में, घ्राण को वायु में, वाक् को अग्नि में, हाथ को इन्द्र में, पैर को विष्णु में, पायु को मित्र में, उपस्थ को कश्यप में, मन को चन्द्रमा में, बुद्धि को ब्रह्मा में मिलाना चाहिये। अर्थात् जो जो ज्ञानेन्द्रिय कर्म-

न्द्रिय जिस जिस तत्त्व से बनी है, उस को वह इन्द्रिय न मानकर मूलकारण ही माने। क्योंकि प्रत्येक कार्य में उस का उपादान कारण रहता है, जैसे घट में मिट्टी और कंकण में सुवर्ण। जैसे घट और कंकण में मिट्टी और सुवर्ण की स्थिति ज्ञात होती है, वैसे ही प्रत्येक अङ्ग में उस के कारणतत्त्व की दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये। ऊपर दर्शित देवता इन सब के कारण ही हैं। इस प्रकार अपने शरीर को ब्रह्माण्ड के समष्टिशरीर में विलीन करके 'मैं विराट हूँ' ऐसी भावना का अभ्यास करे।

अनन्तर पृथ्वी को उस के कारणतत्त्व जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को महाकाश में; जो कि समस्त पदार्थों की उत्पत्ति का कारण है, विलीन कर दे। इस दशा में आकर कारणशरीर धारण किया हुआ योगी कुछ काल उस तत्त्व में स्थित रहकर सब का सिंहावलोकन करे। फिर सूक्ष्म और कारणशरीरों को अव्याकृत और अव्यक्त तत्त्व में विलीन कर देना चाहिए। अनन्तर ब्रह्माण्ड से भी अतीत होकर यह अनुभव करना चाहिए कि मैं ही भीतर बाहर चतुर्दिक् सब कुछ हूँ।

सज्जनो, जिस तत्त्व में यह जगत् नामरूप से मुक्त होकर स्थित रहता है उसे कोई प्रकृति कहता है, कोई माया, परमाणु, अविद्या आदि भी कहते हैं। उस तत्त्व में लीन होकर सब पदार्थ अव्यक्तरूप से स्थित रहते हैं। निःसंबन्ध और निरनुभव होकर समस्त जगज्जाल सृष्टि उदय होने के पूर्व उस में तदाकार होकर ही रहता है। इस लिए स्थूल, सूक्ष्म, कारण; इन तीन अवस्थाओं से परे की चौथी अव्यक्त अवस्था का ध्यान करके एवं सब सूक्ष्म भावों को वहीं विलीन करके, सब प्रकार के स्थूल सूक्ष्म यावत्पदार्थों को असत्य मानकर चिन्मात्र ब्रह्मदृष्टि कर लेनी चाहिये। अपने आत्मा को परम आत्मा में विलीन कर तन्मय हो, ब्रह्मभाव अनुभव में आने की, बस यही अन्तिम स्थिति है।

भाव यह है कि प्रत्येक वस्तु को अपने विचार द्वारा उस के कारण में लय करके मन में वस्तुभाव न रखकर कारणभाव को स्थिर कर लो। व्यष्टि की दृष्टि हटाकर समष्टि की दृष्टि, और कार्य की दृष्टि को हटाकार कारण की दृष्टि शरीर और संसार में सर्वत्र स्थापित कर लो, तो ब्रह्मभाव के विकास में बड़ी सुगमता हो जाय। ऐसा अनुभव अन्त समय तक निश्चित कर लेने से परम कारण, परम व्यापक, सत्तासामान्य जो शुद्ध चेतन ब्रह्म है, व्यक्ति उसी में तन्मय हो जाता है।

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड
के सप्तम सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का
प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥७॥

अष्टम सर्ग
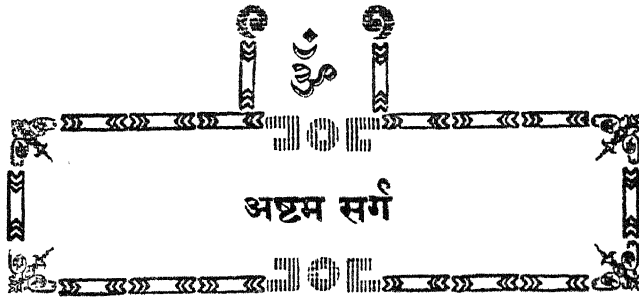
भगवान् राम द्वारा अपनी विभूति संवरण का उपक्रम ।

श्रीमहादेव उवाच—

अथ काले गते कस्मिन् भरतो भीमविक्रमः ।
युधाजिता मातुलेन ह्याहूतोऽगात्ससैनिकः ॥१॥
रामाज्ञया गतस्तत्र हत्वा गन्धर्वनायकान् ।
तिस्रः कोटीः पुरे द्वे तु निवेश्य रघुनन्दनः ॥२॥

श्री महादेवजी बोले—हे पार्वति, कुछ काल बीतने पर उग्रपराक्रमी भरतजी अपने मामा युधाजित् द्वारा बुलाये जाने पर भगवान् राम की आज्ञा लेकर सेनासहित उन के यहाँ गये। वहाँ पहुँचकर रघुकुलनन्दन भरतजी ने तीन करोड़ प्रमुख गन्धर्वों को हराकर दो नगर बसाये ॥ १-२ ॥

पुष्करं पुष्करावत्यां तक्षं तक्षशिलाह्वये ।
अभिषिच्य सुतौ तत्र धनधान्यसुहृद्वृतौ ॥३॥
पुनरागत्य भरतो रामसेवापरोऽभवत् ।

उन में से पुष्करावती में पुष्कर और तक्षशिला में तक्ष नामक अपने दोनों पुत्रों को अभिषिक्त कर और उन्हें धनधान्य तथा मित्रमण्डल से सम्पन्न कर वे लौट आये और भगवान् राम की सेवा में तत्पर हो गये ॥ ३ ॥

ततः प्रीतो रघुश्रेष्ठो लक्ष्मणं प्राह सादरम् ॥४॥
उभौ कुमारौ सौमित्रे गृहीत्वा पश्चिमां दिशम् ।
तत्र भिल्लान्विनिर्जित्य दुष्टान् सर्वोपकारिणः ॥५॥

अङ्गदश्चित्रकेतुश्च महासत्त्वपराक्रमौ ।
द्वयोर्द्वे नगरे कृत्वा गजाश्वधनरत्नकैः ॥६॥
अभिषिच्य सुतौ तत्र शीघ्रमागच्छ मां पुनः ।

तब रघुनाथजी ने प्रसन्न होकर आदरपूर्वक लक्ष्मणजी से कहा—हे सुमित्रा-नन्दन, तुम अपने दोनों कुमारों को लेकर पश्चिम दिशा में जाओ और वहाँ सब का अपकार करनेवाले दुष्ट भीलों को जीतकर दोनों के लिए दो नगर बसाओ और उन में महाबलवान् और पराक्रमी अङ्गद तथा चित्रकेतु का हाथी, घोड़े, धन और रत्नादि उपकरणों से राजतिलक कर फिर तुरन्त ही मेरे पास लौट आओ ॥ ४-६ ॥

रामस्याज्ञां पुरस्कृत्य गजाश्वबलवाहनः ॥७॥
गत्वा हत्वा रिपून् सर्वान् स्थापयित्वा कुमारकौ ।
सौमित्रिः पुनरागत्य रामसेवापरोऽभवत् ॥८॥

भगवान् राम की इस आज्ञा को शिरोधार्य कर लक्ष्मणजी हाथी घोड़े आदि दल बल के सहित गये और समस्त शत्रुओं को मारकर दोनों कुमारों को राजपद पर नियुक्त कर लौट आये तथा फिर रामसेवा में तत्पर हो गये ॥ ७-८ ॥

ततस्तु काले महति प्रयाते रामं सदा धर्मपथे स्थितं हरिम् ।
द्रष्टुं समागादृषिवेषधारी कालस्ततो लक्ष्मणमित्युवाच ॥९॥
निवेदयस्वातिबलस्य दूतं मां द्रष्टुकामं पुरुषोत्तमाय ।
रामाय विज्ञापनमस्ति तस्य महर्षिमुख्यस्य चिराय धीमन् ॥१०॥

तदनन्तर बहुत सा काल व्यतीत होने पर सर्वदा धर्ममार्ग का अवलम्बन करने-वाले भगवान् राम का दर्शन करने के लिए ऋषिवेष धारण कर काल आया और लक्ष्मणजी से यों बोला—हे बुद्धिमन्, तुम पुरुषोत्तम महाराज राम से निवेदन करो कि महर्षि अतिबल का दूत आप के दर्शन की इच्छा से आया है। मुझे उन को बहुत देर तक उन महर्षिश्रेष्ठ का सन्देश सुनाना है ॥ ९-१० ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमित्रिस्त्वरयान्वितः ।
आचचक्षेऽथ रामाय स सम्प्राप्तं तपोधनम् ॥११॥
एवं ब्रुवन्तं प्रोवाच लक्ष्मणं राघवो वचः ।
शीघ्रं प्रवेश्यतां तात मुनिः सत्कारपूर्वकम् ॥१२॥

लक्ष्मणस्तु तथेत्युक्त्वा प्रावेशयत तापसम् ।
स्वतेजसा ज्वलन्तं तं घृतसिक्तं यथानलम् ॥१३॥

उस के ये वचन सुनकर लक्ष्मणजी ने बड़ी शीघ्रता से श्री रघुनाथजी को उस तपोधन के आने की सूचना दी। लक्ष्मणजी के ऐसा कहने पर श्री रघुनाथजी ने उन से कहा—भैया, मुनिराज को तुरन्त ही बड़े सत्कार-पूर्वक भीतर ले आओ। तब लक्ष्मणजी 'बहुत अच्छा' कह घृताहुति से प्रज्वलित हुए अग्नि के समान अपने तेज से देदीप्यमान उस तपस्वी को भीतर ले आए॥ ११-१३ ॥

सोऽभिगम्य रघुश्रेष्ठं दीप्यमानः स्वतेजसा ।
मुनिर्मधुरवाक्येन वर्धस्वेत्याह राघवम् ॥ १४ ॥
तस्मै स मुनये रामः पूजां कृत्वा यथाविधि ।
पृष्ट्वानामयमव्यग्रो रामः पृष्टोऽथ तेन सः ॥ १५ ॥

अपनी कान्ति से प्रकाशमान उस मुनि ने श्री रघुनाथजी के पास पहुँचने पर उन से अति मधुर वाणी में 'आप का अभ्युदय हो' इस प्रकार कहा। तब श्री रामचन्द्रजी ने उस मुनि की विधिपूर्वक पूजा की और फिर शान्त भाव से रामचन्द्रजी ने मुनि से और मुनि ने रामचन्द्रजी से कुशल पूछा॥ १४-१५ ॥

दिव्यासने समासीनो रामः प्रोवाच तापसम् ।
यदर्थमागतोऽसि त्वमिह तत्प्रापयस्व मे ॥ १६ ॥
वाक्येन चोदितस्तेन रामेणाह मुनिर्वचः ।
द्वन्द्वमेव मयोक्तव्यमनालक्ष्यं तु तद्वचः ॥ १७ ॥
नान्येन चैतच्छ्रोतव्यं नाख्यातव्यं च कस्यचित् ।
शृणुयाद्वा निरीक्षेद्वा यः स बध्यस्त्वया प्रभो ॥१८॥

तदनन्तर दिव्यासन पर विराजमान महाराज राम ने मुनि से कहा—आप जिस लिए यहाँ पधारे हैं वह मुझ से कहिये। भगवान् राम के इस वाक्य से प्रेरित होकर मुनि ने कहा—वह बात किसी दूसरे को प्रकट न करते हुए हम दोनों के बीच ही कही जा सकती है। उसे न तो कोई सुने और न वह किसी के प्रति कही जाय। यदि उसे कोई सुने अथवा देखे तो हे प्रभो, आप को उसे मारना होगा ॥ १६-१८ ॥

तथेति च प्रतिज्ञाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
तिष्ठ त्वं द्वारि सौमित्रे नायात्वत्र जनो रहः ॥१९॥
यद्यागच्छति को वापि स बध्यो मे न संशयः।
ततः प्राह मुनिं रामो येन वा त्वं विसर्जितः ॥२०॥
यत्ते मनीषितं वाक्यं तद्वदस्व ममाग्रतः।

तब रामचन्द्रजी ने 'बहुत अच्छा' कह लक्ष्मणजी से कहा—लक्ष्मण, तुम द्वार पर रहो, इस एकान्त स्थान में मेरे पास कोई न आये। यदि यहाँ कोई भी आया तो इस में सन्देह नहीं, वह अवश्य मेरे हाथ से मारा जायगा। फिर उन्होंने मुनि से कहा—तुम्हें जिस ने भेजा है और तुम्हारे मन में जो बात है वह सब मुझ से कहो ॥ १९-२० ॥

ततः प्राह मुनिर्वाक्यं शृणु राम यथातथम् ॥२१॥
ब्रह्मणा प्रेषितोऽस्मीश कार्यार्थे तेऽन्तिकं प्रभो।
अहं हि पूर्वजो देव तव पुत्रः परन्तप ॥२२॥
मायासङ्गमजो वीर कालः सर्वहरः स्मृतः।

तब मुनि ने कहा—हे राम, जो वास्तविक बात है सो सुनिये। हे ईश, हे प्रभो, मुझे एक कार्य के लिए ब्रह्माजी ने आप के पास भेजा है। हे देव, हे शत्रुदमन, मैं आप का ज्येष्ठ पुत्र हूँ। हे वीर, माया के साथ आप का सङ्गम होने पर मैं प्रकट हुआ था। मैं सब का नाश करनेवाला हूँ और काल नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥ २१-२२ ॥

ब्रह्मा त्वामाह भगवान् सर्वदेवर्षिपूजितः ॥२३॥
रक्षितुं स्वर्गलोकस्य समयस्ते महामते।
पुरा त्वमेक एवासीर्लोकान् संहृत्य मायया ॥२४॥

भार्यया सहितस्त्वं मामादौ पुत्रमजीजनः ।
तथा भोगवतं नागमनन्तमुदकेशयम् ॥२५॥

समस्त देवर्षियों से पूजित भगवान् ब्रह्माजी ने आप के लिए कहा है कि हे महामते, अब आप का स्वर्गलोक की रक्षा करने का समय है। पूर्वकाल में समस्त लोकों का संहार कर एकमात्र आप ही रह गये थे, फिर आप ने अपनी भार्या माया के संयोग से सब से पहले अपने पुत्र मुझ को तथा जल में शयन करनेवाले अनन्त नामक सहस्रों फणधारी शेषनाग को रचा था ॥ २३-२५ ॥

मायया जनयित्वा त्वं द्वौ ससत्त्वौ महाबलौ ।
मधुकैटभकौ दैत्यौ हत्वा मेदोऽस्थिसञ्चयम् ॥२६॥
इमां पर्वतसम्बद्धां मेदिनीं पुरुषर्षभ ।
पद्मे दिव्यार्कसङ्काशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि ॥२७॥
मां विधाय प्रजाध्यक्षं मयि सर्वं न्यवेदयत् ।

इस प्रकार माया से हमें उत्पन्न कर आप ने महाबली और बड़े शूरवीर दो मधु कैटभ नामक दैत्यों को मारा तथा उन के मेद और अस्थियों के समूहरूप इस पर्वतादि से युक्त पृथिवी को रचा। हे पुरुषश्रेष्ठ, फिर अपनी नाभि से प्रकट हुए दिव्य सूर्य के समान तेजस्वी कमल से मुझे उत्पन्न कर और मुझे ही प्रजापति बनाकर आप ने सृष्टि रचना का सारा भार मुझे ही सौंप दिया ॥ २६-२७ ॥

सोऽहं संयुक्तसम्भारस्त्वामवोचं जगत्पते ॥२८॥
रक्षां विधत्स्व भूतेभ्यो ये मे वीर्यापहारिणः ।
ततस्त्वं कश्यपाज्जातो विष्णुर्वामनरूपधृक् ॥२९॥
हृतवानसि भूभारं वधाद्रक्षोगणस्य च ।

हे जगत्पते, इस प्रकार भार ग्रहण करने पर मैं आप से बोला—जो प्राणी मेरी प्रजा का नाश करनेवाले हैं उन से रक्षा कीजिये। तब आप कश्यपजी के यहाँ वामनरूपधारी विष्णुभगवान् होकर प्रकट हुए और राक्षसों का नाश करके आप ने पृथिवी का भार उतारा ॥ २८-२९ ॥

सर्वासूत्सार्यमाणासु प्रजासु धरणीधर ॥३०॥

रावणस्य वधाकाङ्क्षी मर्त्यलोकमुपागतः ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥३१॥
कृत्वा वासस्य समयं त्रिदशेष्वात्मनः पुरा ।
स ते मनोरथः पूर्णः पूर्णे चायुषि ते नृषु ॥३२॥

हे धरणीधर, इस समय भी सारी प्रजा को उच्छिन्न होते देख आप रावण का वध करने के लिए मर्त्यलोक में पधारे थे । यहाँ रहने के लिए आप ने पूर्वकाल में देवताओं में ग्यारह सहस्र वर्ष का समय निश्चित किया था, सो आप की मानव-शरीर की आयु पूर्ण होने के साथ ही आप का वह मनोरथ पूर्ण हो चुका है ॥३०-३२॥

कालस्तापसरूपेण त्वत्समीपमुपागमत् ।
ततो भूयश्च ते बुद्धिर्यदि राज्यमुपासितुम् ॥३३॥
तत्तथा भव भद्रं ते एवमाह पितामहः ।
यदि ते गमने बुद्धिर्देवलोकं जितेन्द्रिय ॥३४॥
सनाथा विष्णुना देवा भवन्तु विगतज्वराः ;

अब तापसरूप से काल आप के पास आया है । यदि अभी आप का विचार कुछ दिन और राज्य करने का हो तो आप का शुभ हो, वैसा ही कीजिये । प्रभो, यही पितामह ब्रह्माजी का कहा संदेश है । हे जितेन्द्रिय, यदि आप का विचार भी देवलोक चलने का हो तो आप विष्णुभगवान् से सनाथ होकर देवगण निश्चिन्त हो जायँ ३३-३४

चतुर्मुखस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा कालेन भाषितम् ॥३५॥
हसन् रामस्तदा वाक्यं कृत्स्नस्यान्तकमब्रवीत् ।
श्रुतं तव वचो मेऽद्य ममापीष्टतरं तु तत् ॥३६॥
सन्तोषः परमो ज्ञेयस्त्वदागमनकारणात् ।
त्रयाणामपि लोकानां कार्यार्थं मम सम्भवः ॥३७॥

काल के मुख से ब्रह्माजी के ये वचन सुनकर रामजी हँसे और सब का अन्त करनेवाले काल से बोले—मैंने तुम्हारी सब बातें सुन लीं, वे मुझे भी अत्यन्त इष्ट हैं । तुम्हारे आने के कारण मुझे बड़ा सन्तोष हुआ है । मेरा अवतार तीनों लोकों का कार्य करने के लिए ही हुआ करता है ॥ ३५-३७ ॥

भद्रं तेऽस्त्वागमिष्यामि यत एवाहमागतः ।
मनोरथस्तु सम्प्राप्तो न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥३८॥
मत्सेवकानां देवानां सर्वकार्येषु वै मया ।
स्थातव्यं मायया पुत्र यथा चाह प्रजापतिः ॥३९॥

तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं जहाँ से आया था वहीं फिर चला जाऊँगा। मेरा सारा मनोरथ पूर्ण हो गया, इस में मुझे कुछ विचारना नहीं है। हे पुत्र, देवगण मेरे सेवक हैं; मुझे जैसा कि ब्रह्माजी ने कहा है, माया से उन के सब कार्यों में अवश्य तत्पर रहना चाहिये ॥ ३८-३९ ॥

एवं तयोः कथयतोर्दुर्वासा मुनिरभ्यगात् ।
राजद्वारं राघवस्य दर्शनापेक्षया द्रुतम् ॥४०॥
मुनिर्लक्ष्मणमासाद्य दुर्वासा वाक्यमब्रवीत् ।
शीघ्रं दर्शय रामं मे कार्यं मेऽत्यन्तमाहितम् ॥४१॥
तच्छ्रुत्वा प्राह सौमित्रिर्मुनिं ज्वलनतेजसम् ।
रामेण कार्यं किं तेऽद्य किं तेऽभीष्टं करोम्यहम् ॥४२॥
राजा कार्यान्तरे व्यग्रो मुहूर्तं सम्प्रतीक्ष्यताम् ।

उन के इस प्रकार वार्तालाप करते समय मुनिवर दुर्वासाजी रघुनाथजी के दर्शन की इच्छा से शीघ्रता के साथ राजद्वार पर पहुँचे। वहाँ दुर्वासा मुनि ने लक्ष्मणजी के पास आकर कहा—मुझे तुरन्त ही महाराज राम से मिलाओ, मेरा उन से एक अत्यन्त आवश्यक कार्य आ पड़ा है। यह सुन श्री लक्ष्मणजी ने उन अग्नि के समान तेजस्वी मुनि से कहा—इस समय महाराज राम से आप को क्या काम है? आप की क्या इच्छा है? उसे मैं ही पूरा करूँगा, इस समय महाराज एक और कार्य में संलग्न हैं, कुछ देर ठहरिये ॥४०-४२॥
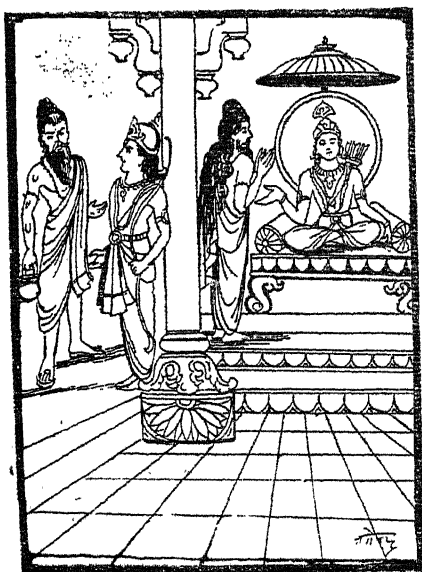
तच्छ्रुत्वा क्रोधसन्तप्तो मुनिः सौमित्रिमब्रवीत् ॥४३॥
अस्मिन् क्षणे तु सौमित्रे न दर्शयसि चेद्विभुम् ।
रामं सविषयं वंशं भस्मीकुर्यां न संशयः ॥४४॥
श्रुत्वा तद्वचनं घोरमृषेर्दुर्वाससो भृशम् ।
स्वरूपं तस्य वाक्यस्य चिन्तयित्वा स लक्ष्मणः ॥४५॥
सर्वनाशाद्वरं मेऽस्य नाशो ह्येकस्य कारणात् ।
निश्चित्यैवं ततो गत्वा रामाय प्राह लक्ष्मणः ॥४६॥

यह सुनते ही मुनि ने क्रोध से व्याकुल होकर लक्ष्मणजी से कहा— लक्ष्मण, यदि इसी क्षण तुम ने मुझे भगवान् राम से न मिलाया तो इस में सन्देह नहीं, मैं देश के सहित तुम्हारे वंश को अभी भस्म कर डालूँगा। दुर्वासा ऋषि का यह भयङ्कर वाक्य सुनकर लक्ष्मणजी ने उस के स्वरूप का भली भाँति विचार किया और यह निश्चय कर कि मुझ एक के कारण सब के वंशनाश से तो मेरा नष्ट होना ही अच्छा है, उन्होंने रामचन्द्रजी के पास जाकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया॥ ४३-४६ ॥

सौमित्रेर्वचनं श्रुत्वा रामः कालं व्यसर्जयत् ।
शीघ्रं निर्गम्य रामोऽपि ददर्शात्रेः सुतं मुनिम् ॥४७॥
रामोऽभिवाद्य सम्प्रीतो मुनिं पप्रच्छ सादरम् ।
किं कार्यं ते करोमीति मुनिमाह रघूत्तमः ॥४८॥
तच्छ्रुत्वा रामवचनं दुर्वासा राममब्रवीत् ।
अद्य वर्षसहस्राणामुपवाससमापनम् ॥४९॥
अतो भोजनमिच्छामि सिद्धं यत्ते रघूत्तम ।

लक्ष्मणजी के वचन सुनकर रामचन्द्रजी ने काल को विदा किया और शीघ्र ही बाहर आ अत्रिनन्दन दुर्वासाजी से मिले। रघुश्रेष्ठ श्री रामचन्द्रजी मुनि को प्रणाम कर चित्त में प्रसन्न हो उन से आदरपूर्वक मिले। राम ने मुनि से कहा—हे मुने, मैं आप का क्या कार्य करूँ ? श्री राम के ये वचन सुनकर दुर्वासाजी ने कहा—आज मेरा एक हजार वर्ष का उपवास समाप्त हुआ है, इस लिए हे रघुश्रेष्ठ, आप के यहाँ जो भोजन तैयार हो मुझे उसी की इच्छा है॥ ४७-४९ ॥

रामो मुनिवचः श्रुत्वा सन्तोषेण समन्वितः ॥५०॥

स सिद्धमन्नं मुनये यथावत्समुपाहरत् ।

मुनिर्भुक्त्वान्नममृतं सन्तुष्टः पुनरभ्यगात् ॥५१॥

मुनि के वचन सुन रामचन्द्रजी ने सन्तुष्ट हो उन्हें विधिपूर्वक पकाया हुआ भोज्य अन्न दिया और मुनि उस अमृततुल्य अन्न को खाकर व तृप्त होकर चले गये ५०-५१

स्वमाश्रमं गते तस्मिन् रामः सस्मार भाषितम् ।

कालेन शोकदुःखार्तो विमनाश्चातिविह्वलः ॥५२॥

अवाङ्मुखो दीनमना न शशाकाभिभाषितुम् ।

मनसा लक्ष्मणं ज्ञात्वा हतप्रायं रघूद्वहः ॥५३॥

जब दुर्वासा मुनि अपने आश्रम को चले गये तो रघुनाथजी को काल के कहे हुए वचनों का स्मरण हुआ। इस से वे शोक और दुःख से आर्त्त तथा अति उदास और व्याकुल हो गये। रघुकुलभूषण राम ने मन ही मन लक्ष्मण को मरा हुआ सा मान लिया, किन्तु वे दीन चित्त से नीचे को मुख किये बैठे रहे, उन से कुछ कह न सके ॥ ५२-५३ ॥

अवाङ्मुखो बभूवाथ तूष्णीमेवाखिलेश्वरः ।

ततो रामं विलोक्याह सौमित्रिर्दुःखसम्प्लुतम् ॥५४॥

तूष्णीम्भूतं चिन्तयन्तं गर्हन्तं स्नेहबन्धनम् ।

मत्कृते त्यज सन्तापं जहि मां रघुनन्दन ॥५५॥

सर्वेश्वर भगवान् राम नीचा मुख किये चुपचाप रह गये। तब उन को अत्यन्त दुःखातुर, मौन, चिन्तित और स्नेहबन्धन की निन्दा करते देख लक्ष्मणजी ने कहा— हे रघुनन्दन, मेरे लिए सन्ताप न कीजिये, मुझे शीघ्र ही मार डालिये ॥ ५४-५५ ॥

गतिः कालस्य कलिता पूर्वमेवेदृशी प्रभो ।

त्वयि हीनप्रतिज्ञे तु नरको मे ध्रुवं भवेत् ॥५६॥

मयि प्रीतिर्यदि भवेद्यद्यनुग्राह्यता तव ।

त्यक्त्वा शङ्कां जहि मां मा मा धर्मं त्यज प्रभो ॥५७॥

प्रभो, मैंने पहले ही निश्चय कर लिया था कि काल की गति ऐसी ही है। आप के प्रतिज्ञा भङ्ग करने से तो मुझे भी अवश्य नरक भोगना पड़ेगा। अतः यदि आप की

मुझ पर प्रीति है और यदि मैं अनुग्रह करने योग्य हूँ तो हे मतिमान् रामजी, शङ्का छोड़कर मुझे मार डालिये। प्रभो, धर्म का त्याग न कीजिये ॥ ५६-५७ ॥

सौमित्रिणोक्तं तच्छ्रुत्वा रामश्चलितमानसः ।
आहूय मन्त्रिणः सर्वान् वसिष्ठं चेदमब्रवीत् ॥५८॥
मुनेरागमनं यत्तु कालस्यापि हि भाषितम् ।
प्रतिज्ञामात्मनश्चैव सर्वमावेदयत्प्रभुः ॥५९॥
श्रुत्वा रामस्य वचनं मन्त्रिणः सपुरोहिताः ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे राममक्लिष्टकारिणम् ॥६०॥

लक्ष्मणजी का कथन सुनकर श्री रघुनाथजी का चित्त चञ्चल हो गया। उन्हों-ने सब मन्त्रियों को बुलाकर यह सब वृत्तान्त वसिष्ठजी को सुनाया। प्रभु राम ने दुर्वासा मुनि का आगमन, काल का भाषण और अपनी प्रतिज्ञा ये सब बातें उन से कह दीं। रामचन्द्रजी का कथन सुनकर पुरोहित वसिष्ठजी के सहित समस्त मन्त्रियों ने अनायास ही सब कार्य करनेवाले भगवान् राम से हाथ जोड़कर कहा ॥ ५८-६० ॥

पूर्वमेव हि निर्दिष्टं तव भूभारहारिणः ।
लक्ष्मणेन वियोगस्ते ज्ञातो विज्ञानचक्षुषा ॥६१॥
त्यजाशु लक्ष्मणं राम मा प्रतिज्ञां त्यज प्रभो ।
प्रतिज्ञाते परित्यक्ते धर्मो भवति निष्फलः ॥६२॥
धर्मे नष्टेऽखिले राम त्रैलोक्यं नश्यति ध्रुवम् ।
त्वं तु सर्वस्य लोकस्य पालकोऽसि रघूत्तम ॥६३॥
त्यक्त्वा लक्ष्मणमेवैकं त्रैलोक्यं त्रातुमर्हसि ।

प्रभो, पृथिवी का भार उतारनेवाले आप का लक्ष्मणजी से पहले ही वियोग होना निश्चित है, यह बात हम ने ज्ञानदृष्टि से जान ली है। अतः हे राम, तुरन्त ही लक्ष्मणजी को त्याग दीजिये। प्रभो, अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग न कीजिये, क्योंकि प्रतिज्ञा भङ्ग करने से सारा धर्म निष्फल हो जाता है और हे राम, सम्पूर्ण धर्म का नाश हो

जाने पर निश्चय ही त्रिलोकी का नाश हो जाता है। हे रघुश्रेष्ठ, आप तो सम्पूर्ण लोकों के रक्षक हैं, अतः अकेले लक्ष्मणजी को ही त्याग कर आप को त्रिलोकी की रक्षा करनी चाहिये ॥ ६१-६३ ॥

रामो धर्मार्थसहितं वाक्यं तेषामनिन्दितम् ॥६४॥
सभामध्ये समाश्रुत्य प्राह सौमित्रिमञ्जसा ।
यथेष्टं गच्छ सौमित्रे मा भूद्धर्मस्य संशयः ॥६५॥
परित्यागो वधो वापि सतामेवोभयं समम् ।
एवमुक्ते रघुश्रेष्ठे दुःखव्याकुलितेक्षणः ॥६६॥
रामं प्रणम्य सौमित्रिः शीघ्रं गृहमगात्स्वकम् ।

रघुनाथजी ने सभा में उन के धर्मार्थयुक्त और निर्दोष वचन सुनकर तुरन्त ही लक्ष्मणजी से कहा—लक्ष्मण, तुम्हारी जहाँ इच्छा हो वहाँ जाओ, जिस से धर्म में संशय उपस्थित न हो। सत्पुरुषों के लिए त्याग और वध दोनों समान ही हैं। रघुश्रेष्ठ भगवान् राम के ऐसा कहने पर लक्ष्मणजी की आँखें दुःख से डबडबा आयीं और वे शीघ्र ही उन्हें प्रणाम कर अपने घर आये ॥ ६४-६६ ॥

ततोऽगात्सरयूतीरमाचम्य स कृताञ्जलिः ॥६७॥
नव द्वाराणि संयम्य मूर्ध्नि प्राणमधारयत् ।
यदक्षरं परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ॥६८॥
पदं तत्परमं धाम चेतसा सोऽभ्यचिन्तयत् ।
वायुरोधेन संयुक्तं सर्वे देवाः सहर्षयः ॥६९॥
साग्नयो लक्ष्मणं पुष्पैस्तुष्टुवुश्च समाकिरन् ।
अदृश्यं विबुधैः कैश्चित्सशरीरं स वासवः ॥७०॥
गृहीत्वा लक्ष्मणं शक्रः स्वर्गलोकमथागमत् ।

वहाँ से वे सरयूतट पर पहुँचे और आचमन करने के अनन्तर उन्होंने हाथ जोड़ अपने नवों इन्द्रियगोलकों को रोक कर प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर किया। फिर जो वासुदेव नामक अव्यय और अविनाशी परब्रह्मपद है उस परम-धाम का चित्त में ध्यान किया। इस प्रकार प्राणनिरोध करने पर ऋषियों तथा अग्नि के सहित समस्त देवताओं ने लक्ष्मणजी पर पुष्प बरसाये और उन की स्तुति की। इसी समय इन्द्र किसी भी देवता को दिखायी न देते हुए उन्हें सशरीर लेकर स्वर्गलोक में चले आये ॥ ६७-७० ॥

ततो विष्णोश्चतुर्भागं तं देवं सुरसत्तमाः ।
सर्वे देवर्षयो दृष्ट्वा लक्ष्मणं समपूजयन् ॥७१॥

लक्ष्मणे हि दिवमागते हरौ सिद्धलोकगतयोगिनस्तदा ।
ब्रह्मणा सह समागमन्मुदा द्रष्टुमाहितमहाहिरूपकम् ॥७२॥

तब विष्णुभगवान् के चतुर्थांशरूप उन लक्ष्मणदेव को देखकर समस्त देवताओं और देवर्षियों ने उन का पूजन किया। भगवान् लक्ष्मणजी के स्वर्ग पधारने पर ब्रह्माजी के सहित सिद्धलोकनिवासी समस्त योगीजन अति प्रसन्न होकर शेषरूपधारी श्री लक्ष्मणजी का दर्शन करने के लिए आये ॥ ७२ ॥

रा० च०—प्यारे भक्तो, श्री लक्ष्मणजी महाराज की परमधाम प्राप्ति के प्रसंग में यहाँ कहा गया है कि वासुदेव विष्णु के चतुर्थभाग लक्ष्मणजी के निजधाम में आने पर ब्रह्मा आदि सिद्ध देवताओं ने उन के स्तुति पूजन आदि किये और लक्ष्मणजी अपने अनन्ताख्य शेषनाग रूप में वहाँ स्थित हो गये। अध्यात्मदृष्टि से देखने पर तो लक्ष्मणजी को इस कल्पित नामोपाधि को छोडकर परब्रह्मस्वरूप और उन में कोई भेद नहीं है। उन के 'शेष' और 'अनन्त' नाम इसी बात को सूचित करते हैं, कि समग्रदृष्टि का लय हो जाने पर जो कुछ अव्यक्त, अज्ञेय, अपार तत्त्व ज्ञानियों के यत्किंचित आकलन में आ सकता है, वही

शेषनाग भगवान् हैं—'भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः'। इन से परे और भी अगोचर जो परम सूक्ष्म परतत्त्व है वे ही विष्णु भगवान् शेषनाग पर सो रहे हैं। अर्थात् कुछ कम अज्ञेय जो अव्यक्त या परमात्मतत्त्व है, उस का आवरण हमारी दृष्टि से कुछ स्थूल है और अत्यन्त अज्ञेय परात्पर ब्रह्मतत्त्व उस आवरण के भी परे, उस में समाया या सोया हुआ है। हम अपनी बुद्धि में जँचाने के लिए इस तत्त्व को शेषशायी महाविष्णु कहते और संकलन कर माने हुए उन के इस दृश्य स्वरूप की उपासना कर कृतार्थ होते हैं। इसी पर वैष्णवों के 'व्यूह-वाद सिद्धान्त' में भगवान् के वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध ये चार प्रकार माने गये हैं, जो कि प्रकृत रामावतार में चारों भाई और कृष्णावतार में कृष्ण, बलराम, कृष्णपुत्र और कृष्णपौत्र हैं। भगवान् भोलानाथ शंकरजी के परिकर में यह विभूति शंकर, वीरभद्र, गणेश, नन्दी आदि के स्वरूप में देखनी चाहिये।

श्री लक्ष्मणजी के उक्त शेषाख्य परम स्वरूप का लोकगुरु महानुभावों ने मनोरुचि और इष्टसिद्धि के लिए जो व्यक्तभाव में संकलन किया है, उस की भी एक झाँकी देखनी चाहिये। कहते हैं कि इस लोक से हजारों योजन नीचे या दूर (क्योंकि इस लोक से आगे जाने पर 'नीचे ऊपर' आदि व्यवहार झूँठे या विनष्ट हो जाते हैं) पाताल प्रदेश में, यानी सब के आधार स्थान में, अनन्त नाम से विख्यात भगवान् की तामसी नित्यकला है। यह अहंकाररूप (जो सांख्यों के यहाँ 'अव्यक्त' का दूसरा विकार है) होने से द्रष्टा और दृश्य को एक कर देती है इसलिए भक्तजन इन्हें संकर्षण कहते हैं। इन भगवान् अनन्त के एक सहस्र मस्तक या फण हैं, उन में से एक फण पर रखा हुआ यह भूमण्डल सरसों के दाने के समान दिखाई देता है। प्रलयकाल उपस्थित होने पर जब इन्हें इस विश्व का संहार करने की इच्छा होती है, तो इन की क्रोधवश घूमती हुई भृकुटियों के मध्यभाग से संकर्षण नामक रुद्र प्रकट होते हैं जिन की व्यूहसंख्या एकादश है। भगवान् संकर्षण के चरणकमलों के गोल गोल नख मणिपंक्तियों के समान देदीप्यमान हैं। जब अनेक प्रधान प्रधान भक्तों के सहित बहुत से नागराज भक्तिभाव से उन्हें प्रणाम करते हैं तो उन्हे उन नखमणियों में अपने कुण्डल-कान्तिमण्डित कमनीय कपोलोंवाले मुखों की मनमोहनी झलक दीखती है। वे अनन्त गुणों के सागर आदिदेव भगवान् अनन्त अमर्ष (जहरीली फुँकार) और रोष के वेग को रोके हुए वहाँ समस्त लोकों के कल्याण के लिए विराजमान हैं। वहाँ देवता, असुर, नाग, सिद्ध, गन्धर्व और मुनिलोग निरन्तर भगवान् अनन्त के ध्यान में परायण रहते हैं। भगवान् अपने सुललित वचना-मृत से निज पार्षदों और देववृन्दों को संतुष्ट रखते हैं। उन के श्रीअङ्ग पर नीलाम्बर और कानों में कुण्डल दमकते रहते हैं तथा उन का बलिष्ठ हाथ हल की मूठ पर रखा रहता है, गले में वैजयन्ती माला जगमगाती रहती है। जिस की कान्ति कभी फीकी नहीं होती,

ऐसी नवीन तुलसी की गन्ध और मकरन्द से उन्मत्त हुए भ्रम निरन्तर गुंजार करते हुए वहाँ की शोभा बढ़ाते रहते हैं।

मित्रो, 'अनन्तव्रत' की असली कथा इसी को मानना चाहिए, क्यों कि इस प्रकार भगवान् अनन्त ध्यान और माहात्म्यश्रवण करनेवाले मुमुक्षुओं के हृदय में आविर्भूत होकर उन की अनादिकालीन कर्मवासनाओं से ग्रथित, त्रिगुणात्मक, अविद्यामयी हृदयग्रन्थि को सहज ही छिन्न कर देते हैं। उन लक्ष्मणरूप अनन्त भगवान् की दृष्टि पड़ने से ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय के हेतु सत्त्वादि गुण अपने अपने कार्य में समर्थ होते हैं। उन का स्वरूप अनादि और अनन्त है, जो अकेले ही इस नानात्मक प्रपञ्च को अपने में धारण किये हुए हैं, उन भगवान् संकर्षण के तत्त्व को कोई कैसे जान सकता है? जिन में यह कार्यकारणरूप समस्त प्रपञ्च भास रहा है, तथा अपने प्रिय भक्तजनों का चित्त आकर्षित करने के लिए रची गईं जिन की वीरतापूर्ण लीलाओं को पराक्रमी सिंह शार्दूलों ने आदर्श मानकर अपनाया है, उन संकर्षण भगवान् ने प्राणियों पर अत्यन्त कृपा कर यह विशुद्ध सत्त्वमय लक्ष्मणस्वरूप धारण किया था। उन के परंपरया भी सुने हुए नाम को कोई दीन या पापी व्यक्ति अकस्मात्, हँसी से भी उच्चारण कर ले, तो ऐसा व्यक्ति दूसरे पापियों के समस्त पापों को भी तत्काल नष्ट करने में समर्थ होता है। ऐसे शेष भगवान् को छोड़कर मोक्षकामी जन किस का आश्रय ले सकते हैं? पर्वत नदी समुद्रादि से पूर्ण यह संपूर्ण भूमण्डल उन सहस्रशीर्षा भगवान् के एक मस्तक पर किसी रजकण के समान रखा हुआ है। वे अनन्त हैं इस लिए उन के पराक्रम का कोई परिमाण नहीं, किसी के सहस्रों मुख हों तो भी वह उन सर्वव्यापक भगवान् के पराक्रमों की गणना करने का साहस कैसे कर सकता है? उन की शक्ति और महिमा अपरिमेय, अबोध्य है, उन के गुण प्रभाव असीम हैं। वे अपने निजाधार पर ही टिके हुए रहकर संपूर्ण लोकों की स्थिति के लिए लीला ही से इस जगन्मण्डल को थामे हुए हैं।

ये ही श्री अनन्त भगवान्, लीलाप्रिय प्रभु राम के साथ अनेकानेक कौतुकों से भक्तों का अनुरञ्जन करने के लिए सुमित्रानन्दन लखनलालजी हुए थे। रोषपूर्ण शेष का अवतार होने से ही इन की लीला में यत्र तत्र क्रोध की मात्रा भी देखी गई, किंतु पूरी रामायण पढ जाने पर ज्ञात होगा कि इन्होंने अपने लिए कभी किसी पर क्रोध नहीं किया। आदर्श भक्तभाव रखने के कारण इन्हें प्रभु को छोड़कर निज की खातिर कोई रुचि, लालसा, वासना छू भी नहीं गई थी। जब श्री लक्ष्मणजी आशा निराशा की परिधि से ऐसे मुक्त थे तो इन्हें क्रोध ही क्यों होता, किसी पर अपने लिए क्यों कुटिल होते? आप तो प्रभु की केवल छायामात्र, प्रतिबिम्बस्वरूप थे। यही भक्त का आदर्श है। अपने लिए कभी नहीं, पर जब कहीं इन्हें ज्ञात होता था (लोकदिखावे के लिए) भ्रम हो जाता था कि कोई प्रभु के प्रति अपमानसूचक कुछ कर रहा

है, फिर वह गुरु, पिता, माता तक क्यों न हो, जगत् से उस का नाम निशान मिटा देने को आप तत्पर हो जाते थे। फिर किस को सामर्थ्य थी कि इन के संमुख सिर उठाकर खड़ा हो सके? रामायण भर में कहीं भी इन की अपनी बात नहीं है। प्रभु क्या कहते हैं, क्या चाहते हैं, क्या करते हैं, इन्हीं बातों की ओर इन का सतत ध्यान रहता था। इन की बुद्धि बल तेज प्रताप पौरुष का प्रसाद इन से सब को माँगना चाहिए। प्रभुप्रेम के तो आप इतने उत्कटप्रती थे कि इस के आवेश में आकर आप ने सब धर्मों, निज कर्तव्यों का परित्याग कर उन की ही शरण ग्रहण की, हानि लाभ, मान अपमान कुछ नहीं गिना। वनवास क्या, रनवास क्या, सर्वत्र आप प्रभु के प्रेम में मतवाले रहे। यही प्रेमा भक्ति है। ऐसे भक्त को तो अवश्य ही भगवान् स्वयं भी भजते हैं। इसी से आज प्रत्येक राममन्दिर में एक ही व्यूह में आप का पूजन हो रहा है और भक्तजन चाह रहे हैं—

मेरे हृदयसदन सुखदायक ॐ बसहु लखन सिय सह रघुनायक ॥

इस प्रकार यह श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड के अष्टम सर्ग पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

ॐ
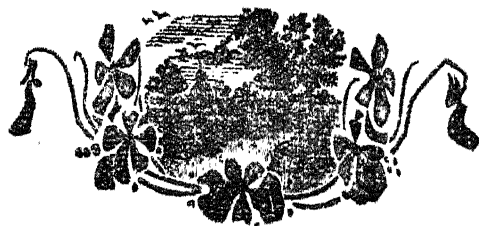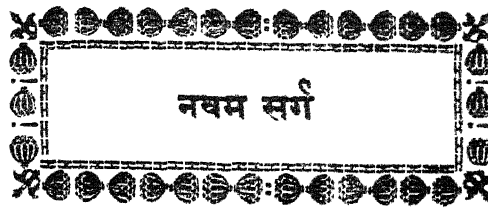
नवम सर्ग

सब अवधवासियों का स्वर्गारोहण ।

श्री महादेव उवाच

लक्ष्मणं तु परित्यज्य रामो दुःखसमन्वितः ।
मन्त्रिणो नैगमांश्चैव वसिष्ठं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥
अभिषेक्ष्यामि भरतमधिराज्ये महामतिम् ।
अद्य चाहं गमिष्यामि लक्ष्मणस्य पदानुगः ॥ २ ॥

श्री महादेवजी बोले–हे पार्वति, लक्ष्मणजी को त्याग देने पर रघुनाथजी ने अत्यन्त दुःखातुर हो मन्त्रियों, वेदवेत्ताओं और वसिष्ठजी से इस प्रकार कहा–आज महामति भरत को राजतिलक कर मैं भी लक्ष्मण के मार्ग का अनुसरण करूँगा ॥ १-२ ॥

एवमुक्ते रघुश्रेष्ठे पौरजानपदास्तदा ।
द्रुमा इवच्छिन्नमूला दुःखार्ताः पतिता भुवि ॥ ३ ॥
मूर्च्छितो भरतो वापि श्रुत्वा रामाभिभाषितम् ।
गर्हयामास राज्यं स प्राहेदं रामसन्निधौ ॥ ४ ॥
सत्येन च शपे नाहं त्वां विना दिवि वा भुवि ।
काङ्क्षे राज्यं रघुश्रेष्ठ शपे त्वत्पदयोः प्रभो ॥५॥

रघुनाथजी के इस प्रकार कहने पर पुरवासी तथा देशवासी लोग दुःखातुर होकर जड़ से कटे हुए वृक्ष के समान पृथिवी पर गिर पड़े। रामजी का कथन

सुनकर भरतजी को भी मूर्च्छा आ गयी। उन्होंने रघुनाथजी के निकट राज्य की निन्दा करते हुए इस प्रकार कहा-हे रघुश्रेष्ठ, मैं सत्य की शपथ करके कहता हूँ, हे प्रभो, मुझे आप के चरणों की सौगन्ध है, मैं आप के बिना स्वर्गलोक या भूर्लोक कहीं के भी राज्य की इच्छा नहीं करता ॥ ३-५ ॥

इमौ कुशलवौ राजन्नभिषिञ्चस्व राघव ।
कोशलेषु कुशं वीरमुत्तरेषु लवं तथा ॥ ६ ॥
गच्छन्तु दूतास्त्वरितं शत्रुघ्नानयनाय हि ।
अस्माकमेतद्गमनं स्ववासाय शृणोतु सः ॥ ७ ॥
भरतेनोदितं श्रुत्वा पतितास्ताः समीक्ष्य तम् ।
प्रजाश्च भयसंविग्ना रामविश्लेषकातराः ॥ ८ ॥

हे महाराज राम, इन कुश और लव को ही राजतिलक कीजिये, अवध में वीरवर कुश को और उत्तर में लव को राजा बनाइये। शीघ्र ही शत्रुघ्न को लाने के लिए दूत जाने चाहियें, जिस से वह भी हमारे स्वर्गवास के लिए जाने का वृत्तान्त सुन लें। भरतजी का कथन सुन उन की ओर देखकर सम्पूर्ण प्रजा भयभीत तथा रामजी के वियोग से व्याकुल हो पृथिवी पर गिर पड़ी ॥ ६-८ ॥

वसिष्ठो भगवान् राममुवाच सदयं वचः ।
पश्य तातादरात्सर्वाः पतिता भूतले प्रजाः ॥ ९ ॥
तासां भावानुगं राम प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
श्रुत्वा वसिष्ठवचनं ताः समुत्थाप्य पूज्य च ॥१०॥
सस्नेहो रघुनाथस्ताः किं करोमीति चाब्रवीत् ।

तब भगवान् वसिष्ठजी ने रघुनाथजी से करुणायुक्त वचन कहा—हे तात, सारी प्रजा पृथिवी पर पड़ी हुई है, उसे कृपादृष्टि से देखो। हे राम, इन के प्रेम भावानुसार तुम्हें इन पर भी कृपा करनी चाहिये। वसिष्ठजी के ये वचन सुनकर रघुनाथजी ने उन सबों को उठाया और उन का सत्कार कर उन से प्रेमपूर्व पूछा—कहो, मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ ? ॥ ९-१० ॥

ततः प्राञ्जलयः प्रोचुः प्रजा भक्त्या रघूद्वहम् ॥११॥
गन्तुमिच्छसि यत्र त्वमनुगच्छामहे वयम् ।
अस्माकमेषा परमा प्रीतिर्धर्मोऽयमक्षयः ॥ १२ ॥
तवानुगमने राम हृद्‌गता नो दृढा मतिः ।
पुत्रदारादिभिः सार्धमनुयामोऽद्य सर्वथा ॥ १३ ॥
तपोवनं वा स्वर्गं वा पुरं वा रघुनन्दन ।

तब प्रजाजन हाथ जोड़कर रघुनाथजी से भक्तिपूर्वक बोले—आप जहाँ जाना चाहते हैं हम भी वहीं आप का अनुगमन करेंगे। यही हमारी सब से बड़ी प्रसन्नता और अक्षय धर्म है। हे राम, हमारे हृदय में आप का अनुगमन करने का दृढ़ विचार है। अतः हे रघुनन्दन, आप तपोवन, नगर, स्वर्ग आदि कहीं भी जायँ अब हम स्त्री पुत्रादि के सहित सर्वथा आप का ही अनुगमन करेंगे ॥ ११-१३ ॥

ज्ञात्वा तेषां मनोदार्ढ्यं कालस्य वचनं तथा ॥१४॥
भक्तं पौरजनं चैव बाढमित्याह राघवः ।
कृत्वैवं निश्चयं रामस्तस्मिन्नेवाहनि प्रभुः ॥१५॥
प्रस्थापयामास च तौ रामभद्रः कुशीलवौ ।
अष्टौ रथसहस्राणि सहस्रं चैव दन्तिनाम् ॥१६॥
षष्टिं चाश्वसहस्राणामेकैकस्मै ददौ बलम् ।
बहुरत्नौ बहुधनौ हृष्टपुष्टजनावृतौ ॥१७॥

तब रघुनाथजी ने उन के मन की दृढ़ता और काल का वचन समझकर उन भक्त पुरवासियों से 'ऐसा ही करो' यह कह दिया। फिर ऐसा निश्चय कर प्रभु राम

ने उसी दिन कुश और लव को अपने अपने राज्य पर भेजा। उन में से प्रत्येक को आठ हजार रथ, एक हजार हाथी और साठ हजार घोड़े दिये तथा बहुत से रत्न, धन और हृष्ट पुष्ट मनुष्यों को साथ कर दिया ॥ १४-१७ ॥

अभिवाद्य गतौ रामं कृच्छ्रेण तु कुशीलवौ ।
शत्रुघ्नानयने दूतान्प्रेषयामास राघवः ॥ १८ ॥
ते दूतास्त्वरितं गत्वा शत्रुघ्नाय न्यवेदयन् ।
कालस्यागमनं पश्चादत्रिपुत्रस्य चेष्टितम् ॥ १९ ॥
लक्ष्मणस्य च निर्याणं प्रतिज्ञां राघवस्य च ।
पुत्राभिषेचनं चैव सर्वं रामचिकीर्षितम् ॥ २० ॥

कुश और लव रामजी को प्रणाम करके बड़ी कठिनता से चले गये। इसी समय रघुनाथजी ने शत्रुघ्नजी को लाने के लिए दूत भेजे। उन दूतों ने तुरन्त ही जाकर काल का आगमन, दुर्वासाजी की करतूत, लक्ष्मणजी का महाप्रयाण, रघुनाथ-जी की प्रतिज्ञा, पुत्रों का अभिषेक और अब राम क्या करना चाहते हैं; ये सब समाचार शत्रुघ्नजी से निवेदन कर दिये ॥ १८-२० ॥

श्रुत्वा तद्दूतवचनं शत्रुघ्नः कुलनाशनम् ।
व्यथितोऽपि धृतिं लब्ध्वा पुत्रावाहूय सत्वरः ।
अभिषिच्य सुबाहुं वै मथुरायां महाबलः ॥ २१ ॥
यूपकेतुं च विदिशानगरे शत्रुसूदनः ।
अयोध्यां त्वरितं प्रागात्स्वयं रामदिदृक्षया ॥२२॥

इस प्रकार दूतों के मुख से अपने कुल के नाश का समाचार सुनकर शत्रुघ्न-जी अति व्याकुल हुए। किन्तु फिर धैर्य धारण कर तुरन्त ही अपने दोनों पुत्रों को बुलाया और उन में से महाबली सुबाहु को मथुरा के और यूपकेतु को विदिशा नगरी के राज्य पर अभिषिक्त कर स्वयं बड़ी शीघ्रता से रघुनाथजी के दर्शन के लिए अयोध्या को चले ॥ २१-२२ ॥

ददर्श च महात्मानं तेजसा ज्वलनप्रभम् ।
दुकूलयुगसंवीतं ऋषिभिश्चाक्षयैर्वृतम् ॥ २३ ॥

अभिवाद्य रमानाथं शत्रुघ्नो रघुपुङ्गवम् ।
प्राञ्जलिर्धर्मसहितं वाक्यं प्राह महामतिः ॥ २४ ॥
अभिषिच्य सुतौ तत्र राज्ये राजीवलोचन ।
तवानुगमने राजन्विद्धि मां कृतनिश्चयम् ॥ २५ ॥
त्यक्तुं नार्हसि मां वीर भक्तं तव विशेषतः ।

वहाँ पहुँचने पर उन्होंने अपने तेज से अग्नि के समान देदीप्यमान महात्मा राम को दो वस्त्र धारण किये और चिरजीवी ऋषियों से घिरे हुए देखा। महामति शत्रुघ्नजी ने लक्ष्मीपति श्री रघुनाथजी को प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर ये धर्मयुक्त वाक्य कहे—हे कमलनयन, मैं अपने राज्य पर दोनों पुत्रों का अभिषेक कर आया हूँ। हे राजन्, अब मैं ने भी आप ही का अनुगमन करने का निश्चय कर लिया है; ऐसा आप जानें। हे वीर, मैं आप का भक्त हूँ, अतः आप को मुझे छोड़ना न चाहिये ॥ २३-२५ ॥

शत्रुघ्नस्य दृढां बुद्धिं विज्ञाय रघुनन्दनः ॥२६॥
सज्जीभवतु मध्याह्ने भवानित्यब्रवीद्वचः ।
अथ क्षणात्समुत्पेतुर्वानराः कामरूपिणः ॥२७॥
ऋक्षाश्च राक्षसाश्चैव गोपुच्छाश्च सहस्रशः ।

शत्रुघ्न का दृढ़ निश्चय जान श्री रघुनाथजी ने कहा—तुम आज दोपहर के सयम तैयार रहो। इसी समय इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानर, रीछ, राक्षस और लंगूर हजारों की संख्या में आ कूदे ॥ २६-२७ ॥

ऋषीणां देवतानां च पुत्रा रामस्य निर्गमम् ॥२८॥
श्रुत्वा प्रोचू रघुश्रेष्ठं सर्वे वानरराक्षसाः ।
तवानुगमने विद्धि निश्चितार्थान्हि नः प्रभो ॥२९॥
एतस्मिन्नन्तरे रामं सुग्रीवोऽपि महाबलः ।
यथावदभिवाद्याह राघवं भक्तवत्सलम् ॥ ३०॥

अभिषिच्याङ्गदं राज्ये आगतोऽस्मि महाबलम् ।
तवानुगमने राम विद्धि मां कृतनिश्चयम् ॥ ३१ ॥

ऋषि और देवताओं के पुत्ररूप वे समस्त वानर और राक्षसगण रघुनाथजी का निर्याण सुनकर उन से कहने लगे–प्रभो, आप हमें भी अपने पीछे चलने के लिए कटिबद्ध समझें। इतने ही में महाबली सुग्रीव ने भी यथावत् प्रणाम करके भक्त-वत्सल रघुनाथजी से कहा—हे राम, मैं महाबली अंगद को राजतिलक कर आप के साथ चलने का निश्चय करके आया हूँ ; ऐसा आप जानें ॥ २८-३१ ॥

श्रुत्वा तेषां दृढं वाक्यं ऋक्षवानररक्षसाम् ।
विभीषणमुवाचेदं वचनं मृदु सादरम् ॥ ३२ ॥

धरिष्यति धरा यावत्प्रजास्तावत्प्रशाधि मे ।
वचनाद्राक्षसं राज्यं शापितोऽसि ममोपरि ॥३३॥

न किञ्चिदुत्तरं वाच्यं त्वया मत्कृतकारणात् ।

तब उन रीछ, वानर और राक्षसों के ऐसे दृढ़ वाक्य सुनकर श्री रघुनाथजी ने विभीषण से आदरपूर्वक इस प्रकार मधुर वचन कहे—मैं तुम्हें अपनी शपथ कराता हूँ, जब तक पृथिवी प्रजा को धारण करे तब तक मेरे कहने से तुम राक्षसों का राज्य करो। अब तुम मेरी की हुई इस व्यवस्था के विषय में कुछ और उत्तर न देना ॥ ३२-३३ ॥

एवं विभीषणं तूक्त्वा हनूमन्तमथाब्रवीत् ॥३४॥

मारुते त्वं चिरञ्जीव ममाज्ञां मा मृषा कृथाः ।
जाम्बवन्तमथ प्राह तिष्ठ त्वं द्वापरान्तरे ॥३५॥

मया सार्धं भवेद्युद्धं यत्किञ्चित्कारणान्तरे ।
ततस्तान् राघवः प्राह ऋक्षराक्षसवानरान् ।
सर्वानेव मया सार्धं प्रयातेति दयान्वितः ॥३६॥

विभीषण से इस प्रकार कहकर फिर रामजी हनुमान्‌जी से बोले—हे मारुते, तुम चिरकाल तक जीवित रहो मेरी पूर्व आज्ञा को मिथ्या मत करो। फिर जाम्बवान् से कहा—तुम द्वापर के अन्त तक रहो, किसी कारण वश मेरे साथ तुम्हारा युद्ध होगा। फिर श्री रघुनाथजी ने शेष सब रीछ, वानर और राक्षसों से दयापूर्वक कहा—तुम सब लोग मेरे साथ चलो॥ ३४-३६॥

रा० च०—प्रभुप्रेमी सज्जनो, अपने परमधाम में पधारते समय भगवान् राम ने सभी प्राणियों; मनुष्यों की तो बात ही क्या, ऋक्ष वानर राक्षस भील आदि को भी साथ चलने की स्वीकृति दे दी थी। क्यों कि ये सब प्राणी रामकाज में सहायक होने के लिए लीलापरिकर बनकर तत्तत् देवांशों से उत्पन्न हुए थे। क्षीरसमुद्रतट पर भगवान् के रामअवतार लेने का उपक्रम बाँधते हुए सब देवताओं में ऐसा ही समझौता हुआ था। किंतु अब भगवान् के साथ न जाने के अपवाद हुए जामवन्त हनुमन्त विभीषण। ये तीनों भगवान् का साथ देने के लिए कम उत्सुक न थे पर श्रीमुख का आदेश हो गया तो इन को रहना ही पड़ा। लोकदृष्टि से इस का कारण यह था कि इतना भारी महायुद्धकाण्ड करके भगवान् ने दक्षिण दिशा के असभ्य जंगली राक्षसों को सुव्यवस्थित कर जो धर्मसेतु की मर्यादा बाँधी थी, वह विभीषणजी के न रहने से शीघ्र ही भंग हो जाती। क्यों कि रावण के मरने पर भी राक्षसों का हृदय-परिवर्तन होने में लम्बा समय चाहिये था। इस लिए भगवान् ने विभीषण को कड़ा आदेश देकर लंका में ही भेज दिया। अस्तु, हनुमानजी की बात कुछ निराली थी, ये भगवान् के परम विश्वस्त, हृदय के समान प्यारे भक्त थे। इधर दण्डकारण्य आदि से लेकर समग्र या आसेतुहिमाचल भारत में प्रेमी ऋषिमुनि भक्तों ने जो एक भक्ति का एकछत्र लोकतन्त्र राज्य कायम किया था और जिस के ही आकर्षण से भगवान् तेरह वर्ष से भी ऊपर घोर वन कान्तारों में भटकते हुए प्रत्येक ऋषिकुटीर के मधुर भक्तिरस को बार बार चखते रहे, उस भक्तिराज्य का नेता या कर्णधार सिवा हनुमन्तलालजी के कोई होने योग्य न था। इस लिए भगवान् ने इन को भी यहीं छोड़ा। इन से भगवान् ने कहा कि तुम उत्तराखण्ड के

उत्तुंग शिखरों पर आसन जमाकर बैठे हुए अखिलभारत का निरीक्षण करते रहो। भगवान् के जो मधुर चरित यहाँ हो चुके थे, वे अन्य लोकों में कहाँ? वहाँ तो ऐश्वर्य का रोबभरा दबदबा रहता है, दीन प्रेमी भक्त को इन मधुरलीलाओं के स्मरणचिन्तन में जो सुखरस मिलता है वह ऐश्वर्यभाव या रूखे निर्गुण निराकारादि की अपेक्षा लाख गुना अच्छा है। अतः हनुमानजी ने भूलोकवास के आदेश को सहर्ष माना, इसी प्रभुप्रेमव्रत के अनुसार आज भी भक्तों को हनुमानजी के स्वरूप की यह भावना अनुभूत होती है—

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं भावयामि पवमाननन्दनम्॥

अर्थात् यथार्थ भक्त उन का दर्शन इस तरह करते हैं कि जहाँ जहाँ श्री रघुनाथजी का नाम गुणकथन हो रहा हो वहाँ वहाँ, दीन भाव में मस्तक पर अञ्जलिमुद्रा बाँधे हुए और नेत्रों से प्रेमाश्रुधारा बहाते हुए श्री हनुमन्तलालजी विद्यमान हैं। वे तुलसीदासजी को काशी के कर्णघंटा स्थान पर रामकथा में कोढ़ी के रूप में मिले थे। वैसे तो हनुमानजी विग्रहान्तर से साकेतादि लोकों में भगवान् की साक्षात् चरणसेवा का सौभाग्य पाते ही हैं। अस्तु, रामजी के साथ इन के परमधाम न जाने का कारण यह भी है कि अन्यान्य वानर ऋक्ष आदि भगवान् के साथ भूलोक से जाकर अपने अपने देवस्वरूपों में समा जायँगे। हनुमानजी रुद्रावतार थे, इस लिए इन्हें महादेवजी की रुद्र मूर्ति में लीन होना पड़ता, चपलतापूर्ण भक्त वानरराज को यह कभी न सुहाता। इसलिए महादेव बाबा ने अपने को महावीर रूप में लोक में भी कायम रखा। क्योंकि कैलास में गणेश कार्तिकेय, पार्वती गङ्गा, बैल सिंह, सर्प चूहे आदि के विग्रहपूर्ण झंझटों की अपेक्षा उन्हें हनुमत्स्वरूप में निर्द्वंद्व, निवृत्तिमार्ग का संयमपूर्ण जीवन रामभक्ति के लिए बड़ा अच्छा लगा। अथ च अन्य देवताओं को अग्निकुण्ड में हवि खाने के सिवा भूलोक में कहीं ठिकाना न था, जब कि यहाँ हनुमत्रूपी शंकरजी के अनेकों ज्योतिर्धाम और परःसहस्र शिवालय कैलास से भी उत्तम विद्यमान हैं, अस्तु, यही सब समझकर भगवान् ने उत्तर दक्षिण दिशाओं में हनुमान् विभीषण को भारत में ही रहने दिया। कविकुलगुरु कालिदास ने अपनी रामायण में इस पर बड़ा अच्छा भाव प्रकट किया है—

निर्वर्त्यैवं दशमुखशिरश्छेदकार्यं सुराणाम्,
विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत् सर्वलोकप्रतिष्ठाम्।
लङ्कानाथं पवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा,
कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च॥

जिन भगवान् 'विष्वक्सेन' की सेना (शक्ति) सब तरफ सन्नद्ध है, वे लोक में देवकार्य पूराकर दक्षिण के त्रिकूटाचल और उत्तर के हिमाचल में अपने दो कीर्तिस्तम्भों

के समान विभीषण हनुमान को स्थापित कर अपने परम स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गये।' उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवतारों के समान ये दो रामप्रभु की कीर्तिपताकाएँ आज भी फहराती हुई लोक में आनन्दसंचार कर रही हैं।

एक तीसरे व्यक्ति, ब्रह्माजी के अवतार जामवन्तजी को भगवान् और छोड गये थे। इस में उन की बड़ी गहरी राजनीतिक दूरदर्शिता थी, भारतवर्ष का पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त सदा से ही अरक्षित, बर्बरों के आक्रमण से आतंकित रहा है। अभी रामचन्द्रजी ने केकय देश में भरतजी के द्वारा 'गन्धर्वों' यानी अभारतियों को पराजित कर, वहाँ सिन्धुनद के आर पार तक्षशिला और पुष्कलावती नगरी (वर्तमान रावलपिंडी, पेशावर प्रदेश) निर्माण कर उन में भरत के बलिष्ठ पुत्रों का राज्याभिषेक कराया था। इसी तरह लक्ष्मण के पुत्रों को ठेठ पश्चिम सीमा की ओर नियुक्त किया, लव कुश यहीं मध्यदेश में रहे और शत्रुघ्नपुत्र मथुरा में थे। पराक्रमी होते हुए भी ये सब बालक ही तो थे, इन्हें किसी विचक्षण राजनीतिज्ञ की आवश्यकता थी और 'जामवन्त मन्त्री अति बूढ़ा' से बढ़कर इस पद के लिए कोई उपयुक्त नहीं हो सकता था। भगवान् ने इन को अग्रणी सेनापति के समान बनाकर समुद्रदुर्ग द्वारका के पहाडों में रख छोड़ा, ताकि पश्चिम और उत्तर दिशास्थ कुमार संकट के समय इन से शीघ्र मिलकर परामर्श ले सकें। द्वीपान्तरों से यातायात के लिए भारत का द्वारकाप्रदेश पहले से ही द्वार के समान, जलमार्ग का प्रवर्तक रहा है। जलदस्यु भी अबतक अक्सर उधर से हो आते रहे, इसी लिए जैसा कि भगवान् कृष्ण ने देशरक्षा, द्वीपान्तरसंबन्ध के लिए उस प्रदेश का महत्व समझा, वैसे ही राजा राम ने भी पहले से ही समझकर वहाँ का सूबेदार जामवन्तजी को बना दिया, जिन की नियुक्ति काठियावाडी सिंहों के देश के योग्य ही थी। एक ऐसे ही सिंहघात के प्रसंग से श्री कृष्ण से मिलाप होकर इन का परमधाम पधारना होगा। अस्तु, इन दिशाओं की रक्षाव्यवस्था कर चौथी, पूर्व दिशा की ओर राम जी ने इस लिए ध्यान न दिया कि उधर ज्ञानी ऋषि मुनियों के भी सभाजनीय (सेवनीय) राजर्षि जनक का प्रभावक्षेत्र था। इधर से रामचन्द्रजी अपने श्वशुर की राज्यव्यवस्था के कारण निश्चिन्त थे। तथा सीतात्याग से जनकजी पहले से ही कुछ रोषकषायित रहे होंगे, फिर उस दिशा में राम कुछ राजनीतिक हस्तक्षेप करते तो शायद बात कहीं आगे बढ जाती। इस तरह भगवान् रामचन्द्र के साम्राज्य (सम्यक् सुराज्य) काल में स्वामी शंकराचार्य की तरह धर्मसेतु की मर्यादा चारों दिशाओं में सुस्थिर हो गई थी।

ततः प्रभाते रघुवंशनाथो

विशालवक्षाः सितकञ्जनेत्रः।

पुरोधसं प्राह वसिष्ठमार्य-
यान्त्वग्निहोत्राणि पुरो गुरो मे ॥३७॥
ततो वसिष्ठोऽपि चकार सर्वं
प्रास्थानिकं कर्म महद्विधानात् ।
क्षौमाम्बरो दर्भपवित्रपाणि-
र्महाप्रयाणाय गृहीतबुद्धिः ॥ ३८ ॥
निष्क्रम्य रामो नगरात्सिताभ्रा-
च्छशीव यातः शशिकोटिकान्तिः ।

दूसरे दिन सबेरे ही विशालहृदय कमलनयन भगवान् राम ने पूज्य पुरोहित वसिष्ठजी से कहा—हे गुरो, मेरे आगे अग्निहोत्र की आहवनीयादि अग्नियाँ चलें। तब वसिष्ठजी ने बड़े विधिपूर्वक समस्त प्रास्थानिक कर्म किये। उस समय करोड़ों चन्द्रमाओं के समान कान्तिमान् भगवान् राम रेशमी वस्त्र धारण किये, कुशा की पवित्री हाथ में पहने तथा महाप्रयाण में चित्त लगाये नगर से इस प्रकार निकले जैसे श्वेत बादलों में से चन्द्रमा निकलता हो ॥ ३७-३८ ॥

रामस्य सव्ये सितपद्महस्ता
पद्मा गता पद्मविशालनेत्रा ॥ ३९ ॥
पार्श्वेऽथ दक्षेऽरुणकञ्जहस्ता
श्यामा ययौ भूरपि दीप्यमाना ।
शास्त्राणि शस्त्राणि धनुश्च बाणा
जग्मुः पुरस्ताद्धृतविग्रहास्ते ॥ ४० ॥

उन की बायीं ओर हाथ में श्वेत कमल लिये कमल के समान विशाल नेत्रवाली लक्ष्मीजी चलीं तथा दायीं ओर हाथ में लाल कमल लिये अत्यन्त दीप्तिशालिनी श्यामवर्णा पृथिवी देवी चली। भगवान् के आगे सम्पूर्ण शास्त्र और उन के धनुष बाण भी मूर्तिमान् होकर चले ॥ ३९-४० ॥

वेदाश्च सर्वे धृतविग्रहाश्च
ययुश्च सर्वे मुनयश्च दिव्याः ।

माता श्रुतीनां प्रणवेन साध्वी
यथौ हरिं व्याहृतिभिः समेता ॥४१॥
गच्छन्तमेवानुगता जनास्ते
सपुत्रदाराः सह बन्धुवर्गैः ।
अनावृतद्वारमिवापवर्गं
रामं व्रजन्तं ययुरात्तकामाः ।
सान्तःपुरः सानुचरः सभार्यः
शत्रुघ्नयुक्तो भरतोऽनुयातः ॥४२॥

इसी प्रकार समस्त वेद, समस्त दिव्य मुनिजन तथा ॐकार और व्याहृतियों के सहित वेदमाता गायत्री; ये सब भी शरीर धारण कर श्री हरि के साथ चले। इस प्रकार रघुनाथजी के चलने पर अपने बन्धु बान्धव और स्त्री पुत्रादि के सहित समस्त पुरजन इस प्रकार चले, मानो सफल मनोरथ हो मोक्ष के खुले द्वार को जाते हों। फिर रनवास, सेवकगण, स्त्री और शत्रुघ्न के सहित भरतजी भी चले ॥ ४१-४२ ॥

गच्छन्तमालोक्य रमासमेतं
श्रीराघवं पौरजनाः समस्ताः ।
सबालवृद्धाश्च ययुर्द्विजाग्र्याः
सामात्यवर्गाश्च समन्त्रिणो ययुः ॥४३॥
सर्वे गताः क्षत्रमुखाः प्रहृष्टा
वैश्याश्च शूद्राश्च तथा परे च ।
सुग्रीवमुख्या हरिपुङ्गवाश्च
स्नाता विशुद्धाः शुभशब्दयुक्ताः ॥४४॥

रघुनाथजी को लक्ष्मीजी के सहित जाते देख बालक और वृद्धों के सहित समस्त पुरजन तथा अमात्य और मन्त्रियों के सहित समस्त ब्राह्मणगण चले। उन के पश्चात् मुख्य मुख्य क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्य अन्त्यजादि सभी लोग अति हर्ष पूर्वक चले। फिर सुग्रीवादि श्रेष्ठ वानरगण स्नानादि से शुद्ध हो मंगलमय जय जयकार के शब्द करते हुए चले ॥ ४३-४४ ॥

न कश्चिदासीद्भवदुःखयुक्तो
दीनोऽथवा बाह्यसुखेषु सक्तः।
आनन्दरूपानुगता विरक्ता
ययुश्च रामं पशुभृत्यवर्गैः ॥४५॥
भूतान्यदृश्यानि च यानि यत्र
ये प्राणिनः स्थावरजङ्गमाश्च।
साक्षात्परात्मानमनन्तशक्तिं
जग्मुर्विरक्ताः परमेकमीशम् ॥४६॥

उन में से कोई भी संसारदुःख से दुःखी, दीन अथवा बाह्य विषयों में आसक्त नहीं था। वे सभी परमानन्दस्वरूप भगवान् राम के अनुगामी संसार से उपराम होकर अपने पशु और नौकर चाकरों के सहित रघुनाथजी के साथ चले गये। जो प्राणी कभी दिखलायी नहीं पड़ते थे तथा जित ने स्थावर और जंगम जीव थे वे सभी संसार से विरक्त होकर एकमात्र परमेश्वर अनन्तशक्ति साक्षात् परमात्मा राम के साथ चले॥ ४५-४६॥

नासीदयोध्यानगरे तु जन्तुः
कश्चित्तदा राममना न यातः।
शून्यं बभूवाखिलमेव तत्र
पुरं गते राजनि रामचन्द्रे ॥४७॥
ततोऽतिदूरं नगरात्स गत्वा
दृष्ट्वा नदीं तां हरिनेत्रजाताम्।
ननन्द रामः स्मृतपावनोऽतो
ददर्श चाशेषमिदं हृदिस्थम् ॥४८॥

उस समय अयोध्या में ऐसा कोई जीव नहीं था जो भगवान् राम में चित्त लगाकर उन का अनुगामी न हुआ हो। महाराज रामचन्द्र के कूँच करते ही वह सारा नगर सूना हो गया। नगर से बहुत दूर निकल जाने पर श्री रघुनाथजी ने विष्णु भगवान् के नेत्र से प्रकट हुई सरयू नदी देखी। स्मरण करते ही पवित्र

करनेवाले भगवान् रामचन्द्रजी उसे देखकर बड़े प्रसन्न हुए और फिर इस सम्पूर्ण जगत् को अपने हृदय में देखने लगे ॥ ४७-४८ ॥

अथागतस्तत्र पितामहो महान्
देवाश्च सर्वे ऋषयश्च सिद्धाः ।
विमानकोटीभिरपारपारं
समावृतं खं सुरसेविताभिः ॥४९॥
रविप्रकाशाभिरभिस्फुरत्स्वं
ज्योतिर्मयं तत्र नभो बभूव ।
स्वयम्प्रकाशैर्महतां महद्भिः
समावृतं पुण्यकृतां वरिष्ठैः ॥५०॥

इसी समय वहाँ पितामह ब्रह्माजी तथा अन्य समस्त देवता, ऋषि और सिद्ध-गण आये। उस समय जिन में देवगण विराजमान थे, ऐसे सूर्य के समान तेजस्वी करोड़ों विमानों से अनन्तपार आकाश खचाखच भर गया। उन के प्रकाश से प्रज्वलित होकर वह आकाश स्वयं भी देदीप्यमान हो उठा। पुण्यलोकों से आये हुए पुण्यवानों में श्रेष्ठ तथा महात्माओं में महान् स्वयं प्रकाशमय दिव्य पुरुषों से भी आकाश ढक गया ॥ ४९-५० ॥

ववुश्च वाताश्च सुगन्धवन्तो
ववर्ष वृष्टिः कुसुमावलीनाम् ।
उपस्थिते देवमृदङ्गनादे
गायत्सु विद्याधरकिन्नरेषु ॥५१॥
रामस्तु पद्भ्यां सरयूजलं सकृत्
स्पृष्ट्वा परिक्रामदनन्तशक्तिः ।

उस समय सुगन्धमय वायु चलने लगा और कुसुमसमूहों की वर्षा होने लगी। तब देवताओं का मृदंगनाद और विद्याधर तथा किन्नरों का गान होते समय अनन्तशक्ति भगवान् राम ने एक बार सरयूजल का आचमन कर चरणों से उस की परिक्रमा की ॥ ५१ ॥

ब्रह्मा तदा प्राह कृताञ्जलिस्तं
रामं परात्मन् परमेश्वरस्त्वम् ॥५२॥

विष्णुः सदानन्दमयोऽसि पूर्णो
जानासि तत्त्वं निजमैशमेकम् ।
तथापि दासस्य ममाखिलेश
कृतं वचो भक्तपरोऽसि विद्वन् ॥५३॥

उस समय ब्रह्माजी हाथ जोड़कर भगवान् राम से कहने लगे—हे परमात्मन्, आप सब के स्वामी, नित्यानन्दमय, सर्वत्र परिपूर्ण और साक्षात् विष्णु भगवान् हैं। अपने एकमात्र ईश्वरीय तत्त्व को आप ही जानते हैं। तथापि हे अखिलेश्वर, आप ने मुझ दास का निवेदन पूर्ण कर दिया सो ठीक है, क्यों कि हे विद्वन्, आप भक्तवत्सल हैं ॥ ५२-५३ ॥

त्वं भ्रातृभिर्वैष्णवमेवमाद्यं
प्रविश्य देहं परिपाहि देवान् ।
यद्वा परो वा यदि रोचते तं
प्रविश्य देहं परिपाहि नस्त्वम् ॥५४॥
त्वमेव देवाधिपतिश्च विष्णु-
र्जानन्ति न त्वां पुरुषा विना माम् ।
सहस्रकृत्वस्तु नमो नमस्ते
प्रसीद देवेश पुनर्नमस्ते ॥५५॥

हे प्रभो, अब आप भाइयों सहित अपने आदिविग्रह विष्णुदेह में प्रविष्ट होकर देवताओं की रक्षा कीजिये, अथवा यदि आप को कोई और शरीर प्रिय हो तो उसी में प्रवेश करके हम सब का पालन कीजिये। आप ही देवाधिपति विष्णु भगवान् हैं। इस बात को मेरे सिवा और कोई पुरुष नहीं जानता। हे देवेश, आप को हजारों बार नमस्कार है, आप प्रसन्न होइये, आप को पुनः पुनः नमस्कार है ५४-५५

पितामहप्रार्थनया स रामः
पश्यत्सु देवेषु महाप्रकाशः ।
मुष्णंश्च चक्षूंषि दिवौकसां तदा
बभूव चक्रादिद्दतश्चतुर्भुजः ॥५६॥

पितामह ब्रह्माजी की प्रार्थना से महातेजोमय भगवान् राम सब देवताओं के देखते देखते, उन की दृष्टि में न आते हुए, चक्रादि आयुधों से युक्त चतुर्भुजरूप हो गये ॥ ५६ ॥

शेषो बभूवेश्वरतल्पभूतः
सौमित्रिरत्यद्भुतभोगधारी ।
बभूवतुश्चक्रदरौ च दिव्यौ
कैकेयिसूनुर्लवणान्तकश्च ॥ ५७ ॥
सीता च लक्ष्मीरभवत्पुरेव
रामो हि विष्णुः पुरुषः पुराणः ।
सहानुजः पूर्वशरीरकेण
बभूव तेजोमयदिव्यमूर्तिः ॥ ५८ ॥

तब लक्ष्मणजी अद्भुत फण धारण कर भगवान् की शय्यारूप शेषनाग हो गये तथा कैकेयीपुत्र भरत और लवणान्तक शत्रुघ्न दिव्य चक्र और शंख हो गये, सीताजी तो पहले ही लक्ष्मीजी हो गयीं थीं। भगवान् राम पुराणपुरुष विष्णुभगवान् ही हैं। वे भाइयों के सहित अपने पूर्व शरीर से तेजोमय दिव्यस्वरूपवाले हो गये ॥ ५८ ॥

विष्णुं समासाद्य सुरेन्द्रमुख्या
देवाश्च सिद्धा मुनयश्च यक्षाः ।
पितामहाद्याः परितः परेशं
स्तवैर्गृणन्तः परिपूजयन्तः ॥ ५९ ॥
आनन्दसम्प्लावितपूर्णचित्ता
बभूविरे प्राप्तमनोरथास्ते ।

फिर उन विष्णुभगवान् के पास चारों ओर से इन्द्रादि देवता, सिद्ध, मुनि, यक्ष और ब्रह्मा आदि प्रजापतिगण आकर उन परमेश्वर की स्तोत्रों द्वारा स्तुति करते हुए पूजा करने लगे एवं अपना मनोरथ पूर्ण हो जाने से मन ही मन आनन्दमग्न हो गये ॥ ५६ ॥

रा० च०—प्रिय मित्रो, भगवान् राम के परमधाम में स्थित होने का दृश्य बड़ा अद्भुत है। ऐसे अवसर पर तो बहुत कुछ चाहते हुए भी लोग परलोक जाते हुए प्राणप्यारे पुत्र, दारा, घनिष्ठ बन्धु के अनुगमन से पराङ्मुख ही रहते हैं। भगवान् राम का प्रजा पर कैसा अद्भुत स्नेह रहा होगा, कि जैसे नूतन बछड़े के पीछे गौ दौड़ती है वैसे ही स्नेहज्वार के साथ समस्त प्रजा जगत् के भोगों को तृण भी न समझकर राजा राम का अनुगमन करने को दौड़ी जा रही है। वे ऐसे प्यारे राजा हुए कि सब अवधवासी प्रजा अपने उन पति को यथार्थ पतिव्रता बनकर सती होने के लिए सरयू में जलसमाधि लेने चली थी। इस समय श्री राम ने अपने स्वरूप की छटा भी ऐसी मनोहारिणी, सब को वशीकरण करनेवाली बनाई थी कि उस को देखे बिना क्षणभर भी नहीं रहा जा सकता था। अब उन का वही स्वरूप हो गया था जो रावणवध के लिए देवताओं की प्रार्थना पर क्षीरसमुद्र पर ज्योतिर्मण्डल में से देदीप्यमान हुआ था। श्री लक्ष्मीदेवी और भूमिदेवी उस समय भी उन के अगल बगल प्रकट हुईं थीं और इस लीलाशरीर के तिरोधान के समय अब भी वैसी दिव्य सुन्दरी छबि में प्रकट हुईं। ब्रह्मादि देव अवतरण के समय भी प्रार्थना करने आये थे और इस समय भी आये हैं। इस समय भगवान् ने जो मनोहरस्वरूप धारण किया था उस की उपमा क्या ही हो सकती है? मनुष्य हरे भरे उद्यान में फूलों को देखकर लट्टू हो जाते हैं, किसी तपोमूर्ति, करुणाशील, तेजपूर्ण महानुभाव का दर्शन करते हैं तो उन से अघाते नहीं, किसी भोली, सुकुमार, दिव्य सुन्दरवेषवाली कुमारी या कुमार को देख उन के रूपसौन्दर्य से अतृप्त ही रहते हैं, सुमधुर तन्त्रीनाद पर हाव भाव विलासपूर्वक गायन करती हुई महिला को सिर आँखों चढ़ा लेते हैं। ऐसे सब सौन्दर्यों के अनन्तगुने समूह के पुञ्जीकृत सौन्दर्य माधुर्य सौगन्ध्य सौरस्य से रचित दिव्यातिदिव्य मानवाकृति में रमा-भूमिदेवियों समेत प्रभु की स्वरूपाकृति हम बना सकें, तो वह कुछ कुछ नमूने के तौर पर प्रभु राम की दिव्य छटा का आभास शायद करा सके। इसी से समस्त जड़ चेतन प्रजा का इन पर तन मन न्योछावर कर आकर्षित हो जाना स्वाभाविक हुआ। अस्तु,

इस भगवत्शोभा पर सब के मोहित होने का कारण है श्री राम का पूर्णतम पुरुषोत्तम सच्चिदानन्दकन्द होना। जो स्नेहकातरता मधुवन की व्रजगोपियों की श्री कृष्ण प्रभु के प्रति थी, वही या उस से भी विलक्षण यहाँ अवधवासियों को हुई। क्यों कि दोनों प्रभुछबियों

के रूपमाधुर्य में कोई तारतम्य था ही नहीं। यहाँ प्रसंग से यह भी कह देना चाहिये कि श्री राम और श्री कृष्ण की स्वरूपविभूति एक ही परिमाण की, पूर्ण सच्चिदानन्दघनमयी थी। आजकल कितने ही लोग अज्ञानवश इन में उत्कर्षापकर्ष की कल्पना कर अन्तः-करण को कलुषित कर लेते हैं। इस लिए ब्रह्माजी स्तुति करते हुए ऊपर कह आये हैं—

विष्णुः सदानन्दमयोऽसि पूर्णो जानासि तत्त्वं निजमैशमेकम्।
त्वमेव देवाधिपतिश्च विष्णुर्जानन्ति न त्वां पुरुषा विना माम्॥

इस कथन तक भगवान् राम ने अपना लौकिक विग्रह बदला नहीं था, उन्हीं को ब्रह्माजी 'आनन्दमय, एक चिन्मय ज्ञानस्वरूप, पूर्ण विष्णु' बताते हुए कहते हैं कि मेरे सिवा अन्य पुरुष आप के स्वरूप को यथार्थ नहीं जानते। ब्रह्मादि देव ऐसी प्रार्थना कर ही रहे थे कि उन की इच्छा-नुसार वे ही श्री राम महाविष्णुस्वरूप में दिखाई देने लग गये। किसी दूसरे आकार में जाकर वे समाये नहीं, वहाँ के वहीं बदल गये, रामलीला का सब परिकर लक्ष्मी, शेष, शंख, चक्र रूप में दिखाई देने लगी। इस से भी स्पष्ट है कि पूर्णतम पुरुषोत्तम महाविष्णु और श्री राम एक ही तत्त्व हैं और वही तत्त्व श्री कृष्ण भगवान् हैं।

जब कि एक तत्त्वज्ञानी ब्रह्मविद् 'परम गति' से जहाँ का तहीं ब्रह्माकार हो जाता है, तब ब्रह्मस्वरूप श्री राम या कृष्ण को ऐसी पूर्वोक्त घटनाओं से यह बतलाना कि वे इतने मात्रा के अवतार थे, पूर्ण थे या अपूर्ण थे, केवल हास्यास्पद है। किंतु ऐसे अक्षरों के बल पर ही कितने ही लोग उन के तारतम्य निर्धारण का साहस करते देखे जाते हैं। कितने ही लोग श्रीमद्भागवत के "एते चांशकलाः पुंसः" इत्यादि पद्य पर बहुत जोर देकर केवल श्री कृष्ण को ही पूर्णावतार मानने की जिद कर, वाल्मीकिजी द्वारा वैसा श्री राम के लिए कहीं कुछ उल्लेख न करना बताते हैं। किंतु श्रीमद्भागवत में ही श्री कृष्ण के लिए 'अंशेन अवतीर्णस्य' ऐसा कई जगह लिखा होने पर वे पूर्व पद्य के संगत्यर्थ ऐसे शब्दों का अर्थान्तर करते हैं। हम कहते हैं कि ऐसे वचनों से ही पूर्व पद्य को प्रायोवाद मानकर श्री राम को श्री कृष्ण के समकक्ष मानने में कोई क्षति नहीं। वाल्मीकीय तो सभी वादियों को मान्य है, उसी में लंकाकाण्ड के स्तुतिप्रसंग में देखना चाहिये—

व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः।
अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान्॥
तमसः परमो धाता शङ्खचक्रगदाधरः।
श्रीवत्सवक्षा नित्यश्रीरजय्यः शाश्वतो ध्रुवः॥

—यु० का० स० १११ श्लो० ११-१२

अध्यात्मरामायण के भी इसी प्रसंग में ब्रह्माजी ने भगवान् राम की स्तुति करते हुए

उन के दो महत्त्वपूर्ण विशेषण कहे हैं, एक तो 'वृन्दारण्ये वन्दितवृन्दारकवृन्द' और दूसरा 'मथुरेश'। इन विशेषणों से भी श्री राम और श्री कृष्ण की अभिन्नता बतलाई गई है। जिस काल में ब्रह्माजी ने यह स्तुति की, उस काल के युगक्रमानुसार भारत में तबतक मथुरा वृन्दावन की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी, पर लोकपितामह ब्रह्माजी का ज्ञान त्रिकाल से बाधित नहीं, वे स्पष्ट देखते हैं कि यही राम अगले युग में वृन्दावन में रमण करनेवाले और मथुरेश होकर प्रेमियों को माधुर्यरस में डुबो देंगे। मथुरापुरी की स्थापना तो इस स्तुति के कुछ काल बाद शत्रुघ्नजी ने लवणासुर को मारकर की थी, इस दृष्टि से रामचन्द्रजी भी भले ही मथुरेश कहे जा सकते हैं, तो भी वहाँ के राजा शत्रुघ्नजी थे।

वस्तुतः श्री राम को वृन्दावनवन्दित, मथुरेश आदि कहने का भाव यह है कि राम और कृष्ण में कोई भेद नहीं है। जो राम हैं सो ही कृष्ण हैं, इस लिए यह कहना कि राम राजा और कृष्ण राजभ्रष्ट थे, अथवा राम बारहकला के और कृष्ण सोलहकला के अवतार थे; ये सब अज्ञान की गप्पें हैं। जो यथार्थ भक्त हैं वे दोनों स्वरूपों को जरा भी न्यूनाधिक नहीं मानते। जो ब्रह्माजी अध्यात्म के युद्धकाण्ड की स्तुति में श्री राम को 'पर, एक, परिपूर्ण, प्रणवरूप' तथा 'मथुरेश' आदि कह रहे हैं, वे ही ब्रह्माजी वाल्मीकिमुनि के शब्दों में श्री राम को 'नारायण, अक्षर ब्रह्म, चतुर्भुज, शार्ङ्गधन्वा, विष्णु, कृष्ण, मधुसूदन, विष्वक्सेन, पद्मनाभ, वेदात्मा, परात्पर, विराट्त्वेन सर्वव्यापक' आदि कह रहे हैं, यथा—

भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव॥
शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः।
अजितः खड्गधृग् विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः॥
सहस्रशृङ्गो वेदात्मा शतशीर्षो महर्षभः।
त्वं त्रयाणां हि लोकानामादिकर्ता स्वयंप्रभुः॥
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोङ्कारः परात्परः।
प्रभवं निधनं चापि नो विदुः को भवानिति॥
निमेषस्ते स्मृता रात्रिरुन्मेषो दिवसस्तथा।
सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः॥

—वाल्मीकीय यु० स० ११७

फिर कृष्णावतार में ये ही ब्रह्माजी श्रीमद्भागवतस्थ बालकृष्ण प्रभु की स्तुति में उन से कहते हैं कि 'हे निरञ्जन, पूर्ण, अद्वय, नारायण, सर्वव्यापक, पहले युगों में बहुत से योगिजन आप की प्रेमभक्ति करके आप की परमगति को पहुँच गये हैं। आप देव मनुष्यादिकों में

अवतार ले चुके हैं, आप राक्षसद्रोही हैं।' भागवत और रामायण के इन संवादों (मिलान) से दोनों स्वरूपों की एकात्मता स्पष्ट सिद्ध है। इसी प्रकार वर्तमान युग के अत्यन्त आप्त सिद्धश्रेणि के भक्त श्री सूरदासजी, आदि भी ऐसा ही मानते हैं, जैसे—

एकबार बाललीला के प्रसंग में 'चन्द्रखिलोना' लेने के लिए माता आदि को बालकृष्ण ने काफी परेशान किया, खुद भी खूब मचले, किसी तरह बहकाकर, दुलराकर, मनाकर यशोदा सुलाने का उपक्रम करती हुई उन्हें ये लोरियाँ सुनाने लगीं—

पौढौ लाल कथा इक कहिहों अति मीठी स्रवनन कों प्यारी।
कमलनैन मन आनँद उपज्यौ चतुरसिरोमनि देत हुँकारी॥
दसरथ नृपति हुतौ रघुवंसी ताके प्रगट भये सुत चारी।
तिन में मुख्य राम जो कहियत जनकसुता ताकी वरनारी॥
तातवचन लगि राज तज्यौ तिन अनुज घरनि सँग भये वनचारी।
धावत कनकमृगा के पीछे राजिवलोचन परम उदारी॥
रावन हरन सिया कौ कीन्हौ, सुनि नँदनंदन नींद निवारी।
'चाप चाप' करि उठे सूर प्रभु 'लछिमन देहु' जननि भ्रमभारी॥
जसुमति मन में यहै विचारति।
खेलत में कोउ दीठि लगाई लै लै राई नौन उतारति।
साँझहि ते अति ही बिरुझानौ चन्द्रहि देखि करी अति आरति॥
बार बार कुलदेव मनावति दोउ कर जोर सिरहिं लै धारति।
सूरदास जसुमति नँदरानी निरखि वदन त्रयताप बिसारति॥

जिस प्रकार यहाँ व्रजरानी लाला कन्हैयाँ को किसी की 'दीठि' (दृष्टि, नजर) लग जाने के भ्रम में पड़कर टोना टोटका कर रही हैं, उसी प्रकार अन्य प्राणी भी उन की माया के भ्रम में पड़कर प्रभुस्वरूपों को छोटा बड़ा समझने की भूल करते हैं। अपने उपास्य को सर्वातिशायी महत्त्वशाली मानना तो बहुत अच्छा गुण है, पर जब यह विषय लोक में सिद्धान्त रूप से स्थापित किया जाता है तब यह उपासकों में कटुता और द्वेष की वृद्धि करता है। इस लिए सिद्धान्त यही उपादेय है कि प्रभु के सब स्वरूप एक ही तत्त्व, एक ही मात्रा के हैं। अध्यात्म की शुद्ध दृष्टि से तो 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना' यह सुनिश्चित है ही। भगवान् राम के लीलाकलेवरतिरोधान के इस अवसर पर यहाँ ब्रह्माजी ने अपनी स्तुति द्वारा भगवत्संबन्धी ऐसे भ्रमों का फिर निवारण किया है। फलस्तुति में भी वे कह चुके हैं कि जो प्राणी श्रद्धा-पूर्वक इस स्तुति को पढता है (मननपूर्वक विचारता है), उस के लिए पृथ्वी में सर्वत्र

ब्रह्मज्ञान विभासित हो जाता है, अर्थात् एक, अखण्ड, अद्वय, पूर्ण परब्रह्म राम सब चराचर में सदा रम रहा है, यह स्थिर बुद्धि हो जाती है।

यह भी विचारणीय है कि जिन वेदव्यासजी ने इस अध्यात्मरामायण में श्री राम को निर्लेप अखण्ड पूर्णब्रह्म कहा है, उन के महाभारत की रचना में सभापर्व के बीच जहाँ सब दिक्पालों की सभाओं का वर्णन दिखलाया गया है, वहाँ दक्षिण के दिक्पाल भगवान् धर्मराज यम की सभा में अन्यान्य सभ्यों के बीच रामजी भी बैठे बतलाये गये हैं। यदि रामचन्द्रजी पूर्णतम पुरुषोत्तम महाविष्णु ही हैं तो वे क्षुद्र देवों के साथ यमराज के यहाँ कैसे जा बैठे? इस आक्षेप पर कहा जाता है—वह दृश्य तो लोकमर्यादा की स्थापना के उद्देश्य से एक मायामय है। भगवान् के अवतार का मुख्य प्रयोजन धर्मग्लानि और अधर्माभ्युत्थान का निवारण बतलाया जाता है, अर्थात् एकमात्र धर्म के लिए ही यह सब नरलीला वे रचते हैं। वे इस लोक में धर्मपालन का आदर्श अपने चरित्र से जैसे सब को दिखाते हैं, वैसे ही उस का फल 'धर्मराज की सभा में उच्चासन का संमान पाना' इतना ही दिखाने के लिए भगवान् राम मायामयी लीला से यमसभा के सभ्य बन जाते हैं। क्यों कि धर्मात्मा और अधार्मिकों को ऊँचा नीचा पद, सब से पहले धर्मराज की सभा में ही मिलता है, इस संमान के लिए देवेन्द्र मुनीन्द्र भी लालायित रहते हैं।

धर्मराज की सभा का इतर सभाओं से कुछ निराला ही महत्त्व है, आजकल भी न्यायालयों का संमान बहुत ऊँचा, बादशाह से भी बढ़कर माना गया है, किसी अवसर पर बादशाह भी न्यायासन के समक्ष प्रार्थी के रूप में आता है, और अति सच्चरित्र समझे गये लोग भी आहूत होने पर न्यायाधीश के न्यायकर्म में 'जूरी' बनकर अपने को धन्य मानते हैं। इसी धर्ममर्यादा को दिखाने की लीला करने के लिए मर्यादापुरुषोत्तम राम ने यमसभा में बैठकर धार्मिकों को दर्शन दिया था। उद्देश्य यही था कि लोग धर्माचरण कर-के ऐसा ऊँचा संमान्य पद पाने को लालायित हों। इस प्रकार उन की पूर्ण पुरुषोत्तम मायाधीश परब्रह्मता और भी पुष्ट होती है, अस्तु।

इस प्रकार सरयूतट पर से भगवान् के अपने स्वरूप में स्थित हो जाने पर अवधवासी प्राणियों और लीलापरिकर वानर, राक्षस, निषाद, भील आदि को निजधाम में लाने के लिए परमात्मा राम की ओर से ब्रह्माजी को यह आदेश हुआ—

तदाह विष्णुर्द्रुहिणं महात्मा
एते हि भक्ता मयि चानुरक्ताः ॥ ६० ॥
यान्तं दिवं मामनुयान्ति सर्वे

तिर्यक्छरीरा अपि पुण्ययुक्ताः ।
वैकुण्ठसाम्यं परमं प्रयान्तु
समाविशस्त्वाशु ममाज्ञया त्वम् ॥ ६१ ॥

तब महात्मा विष्णुभगवान् ने ब्रह्माजी से कहा—ये सब मेरे भक्त और मुझ में प्रीति रखनेवाले हैं। ये सब भी स्वर्गलोक को मेरे साथ ही जाना चाहते हैं। इन में जो तिर्यक् शरीरधारी हैं वे भी बड़े पुण्यात्मा हैं। ये सब वैकुण्ठ के समान उत्तम लोकों को प्राप्त हों। मेरी आज्ञा से तुम शीघ्र वहाँ इन का प्रवेश करा दो ॥ ६०-६१ ॥

श्रुत्वा हरेर्वाक्यमथाब्रवीत्कः
सान्तानिकान्यान्तु विचित्रभोगान् ।
लोकान्मदीयोपरि दीप्यमानां-
स्त्वद्भावयुक्ताः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥ ६२ ॥
ये चापि ते राम पवित्रनाम
गृणन्ति मर्त्या लयकाल एव ।
अज्ञानतो वापि भजन्तु लोकां-
स्तानेव योगैरपि चाधिगम्यान् ॥ ६३ ॥

भगवान् के ये वचन सुनकर ब्रह्माजी ने कहा—भगवन्, आप की भक्ति से युक्त ये महापुण्यशाली लोग मेरे लोक से भी ऊपर अत्यन्त दीप्तिमान् और विचित्र भोगों से सम्पन्न सान्तानिक लोकों को प्राप्त हों। हे राम, और भी जो लोग मरने के समय ही आप का पवित्र नाम लेंगे अथवा भूलकर भी आप का भजन करेंगे, वे भी योगियों को प्राप्त होने योग्य उन्हीं लोकों को जायँगे ॥६२-६३॥

ततोऽतिहृष्टा हरिराक्षसाद्याः
स्पृष्ट्वा जलं त्यक्तकलेवरास्ते ।
प्रपेदिरे प्राक्तनमेव रूपं
यदंशजा ऋक्षहरीश्वरास्ते ॥ ६४ ॥

यह सुनकर समस्त वानर और राक्षसादि अति प्रसन्न हुए और जलस्पर्श करके शरीर छोड़ने लगे। वे रीछ और वानर आदि जिस जिस देवता के अंश से उत्पन्न हुए थे, उस उस देवता के पूर्वरूप को ही प्राप्त होते गये ॥ ६४ ॥

प्रभाकरं प्राप हरिप्रवीरः
सुग्रीव आदित्यजवीर्यवत्त्वात् ।
ततो विमग्नाः सरयूजलेषु
नराः परित्यज्य मनुष्यदेहम् ॥ ६५ ॥
आरुह्य दिव्याभरणा विमानं
प्रापुश्च ते सान्तनिकाख्यलोकान् ।
तिर्यक्प्रजाता अपि रामदृष्टा
जलं प्रविष्टा दिवमेव याताः ॥ ६६ ॥

वानरराज सुग्रीव सूर्य के अंश से उत्पन्न हुए थे अतः वे सूर्य में लीन हो गये, शेष बचे हुए अयोध्यानिवासी लोग सरयू के जल में डूब डूबकर मनुष्य देह को त्याग दिव्य आभूषणों से विभूषित हो विमानों पर चढ़कर सान्तानिकनामक लोकों में पहुँच गये। जो तिर्यक् योनियों में उत्पन्न हुए थे वे कूकर शूकर आदि भी भगवान् राम की दृष्टि पड़ने से जल में डूबकर स्वर्गलोक को ही चले गये ॥ ६५-६६ ॥

दिदृक्षवो जानपदाश्च लोका
रामं समालोक्य विमुक्तसङ्गाः ।
स्मृत्वा हरिं लोकगुरुं परेशं
स्पृष्ट्वा जलं स्वर्गमवापुरञ्जः ॥ ६७ ॥

जो देशवासी लोग यह सब कौतुक देखने के लिए आये थे, वे भी श्री रामचन्द्रजी का दर्शन कर संसार की आसक्ति को छोड़ लोकगुरु परमेश्वर भगवान् विष्णु का स्मरण करते हुए जलस्पर्श कर अनायास स्वर्ग को चले गये ॥ ६७ ॥

(श्री सूत उवाच)—

एतावदेवोत्तरमाह शम्भुः
श्रीरामचन्द्रस्य कथावशेषम् ।
यः पादमप्यत्र पठेत्स पापा-
द्विमुच्यते जन्मसहस्रजातात् ॥ ६८ ॥

(श्री सूतजी बोले कि हे महर्षियो) श्री महादेवजी ने भगवान् राम की कथा का परिशिष्टरूप यह इतना ही उत्तरकाण्ड कहा है। जो पुरुष इस का एक चौथाई श्लोक भी पढ़ता है वह अपने हजारों जन्मों के पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ६८ ॥

दिने दिने पापचयं प्रकुर्वन्
पठेन्नरः श्लोकमपीह भक्त्या ।
विमुक्तसर्वाघचयः प्रयाति
रामस्य सालोक्यमनन्यलभ्यम् ॥ ६९ ॥

नित्यप्रति अनेकों पाप करनेवाला पुरुष यदि भक्तिपूर्वक इस का एक श्लोक भी पढ़े तो सम्पूर्ण पापराशि से छूटकर श्री राम के सालोक्य पद को प्राप्त हो जाता है, जो दूसरों के लिए अलभ्य है ॥ ६९ ॥

आख्यानमेतद्रघुनायकस्य
कृतं पुरा राघवचोदितेन ।
महेश्वरेणाप्तभविष्यदर्थं
श्रुत्वा तु रामः परितोषमेति ॥७०॥

रामायणं काव्यमनन्तपुण्यं
श्रीशङ्करेणाभिहितं भवान्यै ।
भक्त्या पठेद्यः शृणुयात्स पापै-
र्विमुच्यते जन्मशतोद्भवैश्च ॥७१॥

श्री रघुनाथजी की प्रेरणा से उन की इस कथा को, जिस में भविष्य चरित्रों का भी वर्णन किया गया था, पहले श्री महादेवजी ने रचा था। इस को सुनकर श्री

रामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न होते हैं। रामायण नामक यह अनन्त पुण्यप्रद काव्य श्री शंकर भगवान् ने पार्वतीजी से कहा है। जो पुरुष इसे भक्तिपूर्वक पढ़ता अथवा सुनता है वह अपने सैकड़ों जन्मों के पापपुञ्ज से मुक्त हो जाता है ॥ ७०-७१ ॥

अध्यात्मरामं पठतश्च नित्यं
श्रोतुश्च भक्त्या लिखितुश्च रामः।
अतिप्रसन्नश्च सदा समीपे
सीतासमेतः श्रियमातनोति ॥७२॥
रामायणं जनमनोहरमादिकाव्यं
ब्रह्मादिभिः सुरवरैरपि संस्तुतं च।
श्रद्धान्वितः पठति यः शृणुयात्तु नित्यं
विष्णोः प्रयाति सदनं स विशुद्धदेहः ॥७३॥

इस अध्यात्मरामायण को नित्य-प्रति पढ़ने, सुनने अथवा भक्तिपूर्वक लिखनेवाले से अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् राम सीताजी के सहित उस के पास रहकर उस की श्रीवृद्धि करते हैं। ब्रह्मा आदि सुरश्रेष्ठों से प्रशंसित और मनुष्यों के मन को हरनेवाले इस आदिकाव्य रामायण को जो पुरुष नित्यप्रति श्रद्धापूर्वक पढ़ता या सुनता है वह विशुद्ध शरीर धारण कर भगवान् विष्णु के धाम को प्राप्त होता है ॥ ७२-७३ ॥

रा० च०—महानुभावो, सच्चिदानन्द भगवान् श्री रामचन्द्रजी का लोकलीलाकीर्तन यहाँ आकर समाप्त हो जाता है। कथाविश्राम सूतजी ने इसी पर किया कि भगवान् राम अपने दिव्य धाम में स्थित हो गये तथा समस्त निज भक्तों को ब्रह्मलोक से भी ऊँचे सांतानिक लोकों में पहुँचा दिया। इस रामायण का प्रकाश शंकरजी ने पार्वतीजी को यहीं तक किया था। एवं आदिकवि वाल्मीकिजी ने भी अपनी रचना की समाप्ति इसी स्थल पर की है।

पार्वतीजी ने आरम्भ में श्री रामचरित्र के बारे में जो जो संदेह उठाये थे उन सब का समाधान बीजरूप में रामकथा सुनाते हुए, उस का रहस्य बतलाने के लिए बालकाण्ड के आदि में 'रामहृदय' प्रकरण में कर दिया गया था। फिर पार्वतीजी के और पूछने पर शंकरजी ने संपूर्ण कथा विस्तार से सुनाई और तत्तत् स्थलों में विवेचन करते हुए रामरहस्य की आध्यात्मिकता पार्वतीजी को स्पष्ट समझा दी। इतना कह और सुन लेने पर मनुष्य विदितवेदितव्य हो जाता है, उसे कुछ जानने को बाकी नहीं रहता, इसी से 'एतावदुक्त्वोपरराम शम्भुः' इतना विवेचन सुनाकर शंकरजी उपराम हो गये। अस्तु,

इस कथन से यह न समझ लेना चाहिये कि भगवान् के लीलाविग्रह का जब से इस लोक से तिरोधान हो गया, तब से यह देश रामजी से वियुक्त हो गया। ऐसा समझा जाय तो कहना होगा कि अध्यात्मरामायण को सुना ही नहीं गया। इस उपाख्यान का निष्कर्ष ही यह है—

> साकेते लोकनाथप्रथितगुणगणो लोकसङ्गीतकीर्तिः
> श्रीरामः सीतयाऽऽस्तेऽखिलजननिकरानन्दसन्दोहमूर्तिः।
> नित्यश्रीर्निर्विकारो निरवधिविभवो नित्यमायानिरासो
> मायाकार्यानुसारी मनुज इव सदा भाति देवोऽखिलेशः॥

—अध्यात्म० रा० बालकाण्ड, स० ७, श्लो० ५७

'जिन के गुणगण ब्रह्मा आदि सकल लोकपालों में प्रसिद्ध हैं, जिन की कीर्ति संपूर्ण लोकों में गाई जाती है, जो सब मनुष्यों के आनन्दसमूह की मूर्ति हैं, जो शोभाधाम एकरस अनन्तवैभव और सदा मायातीत होकर भी मायाकार्यों का अनुसरण करते हुए मनुष्य के समान प्रतीत होते हैं, वे अखिलेश्वर भगवान् श्री राम सीताजी समेत साकेत धाम अयोध्या में नित्य विद्यमान हैं ('आस्ते')।' इस कथन से प्रतीत होता है कि भगवान् राम अयोध्या से कभी वियुक्त नहीं होते, राजा राम वहाँ राजसिंहासन पर बैठे हुए भक्तों को सुख देते रहते हैं, यदा कदा सरयूतीर, प्रमोदवन आदि में मनोविनोद करते भी देखे जाते हैं। यदि यह मान लिया जाय कि रामजी अब अयोध्या में नहीं हैं, तो वहाँ के भगवन्मन्दिरों में प्रति वर्ष लाखों की संख्या में जनता दर्शन करने ही क्यों जाय। जिस प्रकार देववृन्द और ऋषि मुनियों ने अपने हार्दिक सूक्तवचनों से प्रभु को अवतार लेने के लिए बाध्य किया था, उन को अपेक्षा भी अधिक उत्कट भावना से जो सहस्रों प्रेमी उपासक भगवद्दर्शन और भगवल्लीलाओं का साक्षात्कार करने के लिए निरन्तर चेष्टित हैं, उन के सच्चे अनुरोधवश भगवान् अयोध्या से कभी वियुक्त नहीं हो सकते। यदि देवताओं के अनुरोध से उस समय चले भी गये होंगे, तो फिर अयोध्या के नये भक्तों के आह्वान से उन्हें अयोध्या में अवश्य आना पड़ा होगा। यह हो सकता

है कि तब वह आगमन सर्वसाधारण के लिए न होकर प्रेमी भक्तों के साक्षात्कार के लिए ही हुआ हो।

अयोध्या में 'नित्यश्री' के साथ श्री राम के विराजमान रहने का पारमार्थिक पहलू तो यथार्थ ही है। जब वे इस प्रपञ्च के भीतर बाहर एकरस से सर्वत्र समाये हुए हैं और सर्वाधिष्ठान, सब के प्रेरक, सर्वसाक्षी हैं, तब अयोध्या में उन का नित्यवास बना बनाया है। वहाँ लीलाधाम और अनेक सामग्री उन के स्वरूप की स्मारक या उत्तेजक होने से, उन के स्वरूपसाक्षात्कार में बड़ी ही सुगमता होती है। और यही बात चित्रकूट, पञ्चवटी तथा अन्य प्रभुस्वरूपों के लिए वृन्दावन, द्वारका, काशी, बुद्धगया आदि के लिए समझनी चाहिए। नित्यसाकेतधाम (वैकुण्ठ से भी आगे) के विहारी होकर भी राम भूसाकेत अयोध्या में अब भी सौभाग्यशाली भक्तों को राजवेष में दर्शन देते देखे गये हैं, इसी प्रकार मथुरा आदि में प्रभु का साक्षात् हो रहा है। इस लिए 'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखा देहवद्भिरवाप्यते' ऐसा समझने वाले भक्तों को निराश होने का कोई आधार नहीं है। राम कृष्ण आदि स्वरूपों की पहली सी ही मनचाही लीला अब भी साक्षात् हो सकती है।

मित्रो, सब से टेढ़ा सवाल तो यही है कि अब वह प्रभुसाक्षात्कार हो कैसे? प्रभुप्रेम की सभी इच्छा करते हैं और उस की प्राप्ति के लिए चेष्टा भी बहुतेरे लोग देखे जाते हैं। पर उन में से किसी को सफलता मिली या नहीं, प्रायः यह अनिश्चित ही रहता है। गीता में कहा ही है कि 'हजारों मनुष्यों में से कोई विरला ही प्रभुप्रेम को सिद्ध करने का यत्न करता है, इन यत्न करनेवालों में कोई एक भी प्रभु का तत्त्वतः साक्षात् करनेवाला हो, यह बहुत कठिन है।' इस का कारण क्या है? यही कि मनुष्यों के सहजशत्रु, अविद्या के विकार काम, क्रोध, मोह, लोभ मत्सर साधक को पद पद पर बाधा पहुँचाते हैं।

अविद्या का स्वरूप इन्हीं विकारों को कहा गया है, वह 'पञ्चपर्वा अविद्या' पाँच गाँठोंवाली है। उस की पहली गाँठ है क्षुद्रकामनावश तम, अन्धकार छा जाना, यानी अपनी यथार्थ स्थिति पर परदा पड़ जाना। अविद्या की दूसरी गाँठ मोह है, इस से अपने देह में ही आत्मबुद्धि और स्वार्थपूर्ति की भावना, अहंकार में भरे रहने की होती है। तामिस्र तीसरी गाँठ है, अर्थात् भोगेच्छा का प्रतिघात होने पर क्रोध होना। चौथी गाँठ महामोहरूप लोभ है, जिसे पाप का बाप भी कहते हैं। पाँचवी गाँठ मात्सर्य की, अन्धतामिस्र है जिस में मनुष्य अपने सामने किसी को लगाता ही नहीं, द्वेष ईर्षा आदि इस के परिवार हैं। इस पञ्चपर्वा अविद्या से छुटकारा हो, तब प्राणी प्रभु के सन्मुख होने में समर्थ हो सकता है। इस के लिए ईश्वरांश जीव को अपने अंशी की प्राप्ति में लगना चाहिए। विषयों के वश होने से तो चौरासी लाख योनियों में शुभाशुभ पंखों के बल से चील कौओं की तरह

मँडराना पडेगा। इस में मनुष्यशरीर मिलने की पारी न जाने कब आयेगी ? अतः अब जो मानवदेह मिली है यही लखचौरासी के सागर से पार होने का मजबूत बेडा है। पहाडों में देवदारु आदि के लट्ठों को ऊपर से नीचे नदीमार्ग द्वारा ले जाने के लिए चालीस पचास लट्ठों को चुनकर रस्सी से बाँध देते हैं, इसी का नाम बेडा है, फिर इसे गन्तव्य स्थान को बहा ले जाते हैं। कामचलाऊ होने से बेडा बडा नाजुक होता है, बहानेवाला जरा सा असावधान होकर चूका कि नदी के प्रखर आघातों से टकराकर बेडा तुरत बिखर कर नष्ट हो जाता है। ठीक वैसा ही यह नरदेह है, संसारसागर से पार होने के लिए प्रभुप्रेमप्राप्ति की चेष्टा इस शरीर से मनुष्य करता है, इस प्रयत्न में वह पञ्चपर्वा अविद्या के वश से जरा भी चूका, तो इस अपार संसार में इस का बेडा गर्क हो जाता है। यह शरीररूपी बेडा संसार में न डूबे, यानी आसक्त न हो, इस के लिए भगवान् की कृपारूपी वायु की सहायता बहुत आवश्यक है। क्यों कि वायु की प्रतिकूलता ही बेडे को जलधारा के आघात से नष्ट करती है। उस भगवत्कृपारूपी अनुकूल वायु की प्राप्ति करानेवाला होता है बेडा छोडने की आज्ञा देनेवाला कर्णधार, अर्थात् गुरु। सद्गुरुरूपी कर्णधार ही शरीर के खेवैया को अनुकूल वायु की पहचान बता बताकर सफलता के तट पर पहुँचा सकता है। ऐसी सामग्रियों के प्राप्त होने पर तर जाना कुछ कठिन नहीं है, जैसे कि अभी सब अयोध्यावासी तर गये। आजकल भी उन की तरह की सच्ची भावभक्ति करने से लोग तरते ही हैं। किंतु चिन्ता का विषय तो उन के लिए है जो अविवेकी मनुष्य ऐसी सामग्रियों को पाकर भी, संसारसागर से नहीं तरते और विषयों में आसक्त होकर फिर उलटे बह आते हैं।

कबहुँक करि करुणा नरदेही ॐ देत ईश बिन हेतु सनेही।

निष्कारण स्नेह रखनेवाले प्रभु करुणावश हम को यह मनुष्य शरीर देते हैं और फिर भी दया कर रोग शोक आदि रहित, चतुर, स्वस्थ रखते हुए सद्विचार की सामर्थ्य भी वे मनुष्य को उपस्थित करते रहते हैं। सत्शास्त्रों का प्रसार, सत्संग का सुअवसर, नदी, तीर्थ, देवालय, सुन्दर सात्विक खाद्य पेय; इन सब की उत्पत्ति में प्रभुकृपा का ही तो विस्तार है। पर मनुष्य इन सब प्रभु की सुव्यवस्थाओं के खिलाफ ही मोर्चा लेकर दिन दिन भवसागर में गोते खाता जा रहा है। बँगले बगीचे बनाकर एवं स्वार्थ का संसारी प्रपंच फैलाकर तीर्थों को मनुष्य ने भ्रष्ट किया। सत्संग की जगह लडाई झगडे के घर अखबार, किस्से कहानी, सिनेमा से बुद्धि को भ्रष्ट कर डाला। देवालय भी उदरपूर्ति के साधन बनने लगे। चाय, सोडा, चाट, क्रीम, फ्रूटसाल्ट (फलक्षार) के नाम पर खान पान की स्वाभाविकता और सात्विकता भ्रष्ट कर डाली गयी। समय की पाबन्दी करने के लिए अहंकारी मनुष्य ने अलार्म

घड़ी के आविष्कार का दम्भ किया। किंतु उस ने ईश्वर की इस कृपा का कोई धन्यवाद न किया कि उस ने कृपा कर तुच्छ लगनेवाले जन्तु मुर्गा और गदहा के भीतर ठीक समय बताकर जगानेवाली कैसी सुन्दर चाबी भर दी है! आने दो आने में लाकर एक मुर्गा पाल लिया जाता तो वह स्वावलम्बी जन्तु बिना खर्च के मुहल्ले भर की घड़ी बन जाता। पर मनुष्य ने इस ईश्वर की कारीगरी के खिलाफ विद्रोह कर उस गरीब का भक्षण आरम्भ कर दिया! यह सब ईश्वर के प्रति मनुष्य की कितनी भारी कृतघ्नता है? श्रीमद्भागवत में इन्होंने स्वयं ऐसा कहा भी है—

> नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
> मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

मित्रो, इस लिए यदि तुम परलोक में शुभगति और इस लोक में यश, कीर्ति, सानन्द जीवन चाहते हो तो भगवान् की कृपा का आदर करो। वह प्रभु तुम्हें अरब के रेगिस्तान में जन्म दे सकता था, ध्रुवदेशों के हिमलोक में घृणित जीवन बिताने के लिए पटक सकता था। कोल, भिल्ल, कुमार्गी भी बना सकता था। पर तुम को कितना आराम, कितनी सुविधाएँ मिली हैं, तुम ने इस के लिए ईश्वर का क्या प्रत्युपकार किया? वह इतना ही चाहता है कि तुम अपने शुद्ध स्वरूप को समझ जाओ, विषयों में डूबकर आत्मा को नष्ट मत करो। तुम अपने को असमर्थ मत समझो, ईश्वर के ही अंश होने से तुम में महान् शक्ति है। अग्नि की चिनगारी जैसे घास फूँस के ढेर को जलाकर राख कर देती है, वैसे ही तुम अविद्याभरे प्रपञ्च को नष्ट कर सकते हो। अतः निश्छल, शीलवान् बनो, प्रीति और विरोध किसी से मत बढ़ाओ, प्रिय वचन बोलो, मान मद कुटिलता को त्यागो, यथालाभ सतुष्ट होकर, धर्म और समाज को जो क्षति पहुँचाये उस अधिक के लिए हाय हाय मत करो। इस प्रकार शुद्ध हुए मन को भगवान् के प्रति निवेदन कर उन्हीं के स्मरण, चिन्तन, दर्शन का प्रयत्न करो। इस अध्यात्मरामायण की रचना ऐसे ही प्रयोजन के लिए हुई है।

इस रामायण के श्रवण मनन से अन्तःकरण की शुद्धि और मनोबल बढ़ता है, उस दशा में की गई उपासना और भगवद्भक्ति के द्वारा लौकिक पारलौकिक सब कामना सफल होती हैं। सूतजी अन्त में फलस्तुति में कहते हैं कि इस रामायण का कोई भी अंश भक्ति-भाव से पढ़ने, यानी शुद्ध भाव से हृदय में धारण कर लेने पर सैकड़ों जन्मों के पाप नष्ट होकर प्रभुप्रेम प्राप्त होता है। यह उचित ही है, क्यों कि ज्ञानाग्नि सब संचित कर्मों को नष्ट कर देती है, यह प्रारब्ध जीवन प्रभुप्रेम से बन ही जाता है। भावी जीवन के लिए प्रभु की दिव्य मुस्कानभरी, आनन्दमयी मुखछबि आश्वासन देती नजर आती है।

सूतजी ने जो यह कहा है कि इस रामायण को पढ़नेवाला व्यक्ति प्रतिदिन कितना भी पाप इकट्ठा करे, वह सब इस रामायण के बल से नष्ट हो जाता है। सो इस का भाव यह है कि इस के अभ्यास से मनुष्य को सर्वत्र अध्यात्मदृष्टि हो जाती है, उस दशा में बल से कोई बुरा, पापकर्म मन से भी नहीं हो सकता। कदाचित् लोकमर्यादा और अधर्मनिग्रह के लिए परशुराम हनुमान् आदि की तरह कुछ करना भी पड़े तो वह क्रूरकर्म अहंकारभाव और निजफलासक्ति से रहित, अनिन्दित भाव से ही किया जाता है। अतः अध्यात्मरामायण का स्वाध्यायी दुष्टनिग्रहादि में तत्पर रहे, तो वह कर्मफल से निर्लिप्त ही रहता है। जैसा कि गीता (१८-१७) में भगवान् का आदेश है—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

इस प्रकार इस रामायण को श्री राम की प्रेरणा से शंकरजी ने पार्वतीजी को, ब्रह्माजी ने नारदजी को, वेदव्यासजी से पाकर सूतजी ने नैमिषारण्य में अठासी हजार ऋषियों को सुनाया था। हरिः ओं तत् सत्।

सीयावर रामचन्द्र की जय! पवनसुत हनुमान् की जय!!
उमापति महादेव की जय! बोलो भाई सब संतन की जय!!

—❀:❀:❀—

श्रीब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत अध्यात्मरामायण, एवं उस का उत्तरकाण्ड,
नवम सर्ग, तथा श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज का
प्रवचनरूप रामचर्चा नामक भाष्य समाप्त हुआ॥९॥

रामं विरामं विपदामुपास्महे

श्रीमद्रामायणकथा की महिमा

श्री नैमिषारण्य क्षेत्र में एक बार सत्संग के प्रसंग में ऋषियों ने पूछा कि हे सूतजी, इस संसारबन्धन को काटनेवाला कौन सा साधन है? आप ने बतलाया है कि कलियुग में वेदोक्त मार्ग नष्ट हो जायँगे। पाप में लगे हुए जीवों को जो यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं, उन का भी आप ने वर्णन किया। घोर कलियुग आने पर जब वैदिक मार्ग लुप्त हो जायँगे, उस समय संसार में केवल पाखण्ड का ही प्रचार रहेगा, यह बात भी आप के द्वारा मालूम हुई। सुना है, कलियुग के सभी मनुष्य कामी, नाटे शरीर के, लोभी और धर्म तथा ईश्वर का आश्रय छोड़कर परस्पर एक दूसरे पर ही निर्भर रहनेवाले होंगे। इस प्रकार घोर कलिकाल में सदा पापपरायण रहने के कारण जिन का अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो सकेगा, उन लोगों की मुक्ति कैसे होगी? तथा उन के ऊपर देवाधिदेव जगद्गुरु भगवान् श्री रामचन्द्रजी कैसे प्रसन्न होंगे? सूतजी, आप करुणा के सागर और सर्वज्ञ हैं। हमारी पूछी हुई सारी बातें बताने की कृपा कीजिये। आप के वचनामृतों का पान करने से हमें किसी तरह तृप्ति नहीं होती।

सूतजी ने कहा—मुनिवरो, सुनिये, आप लोग जो सुनना चाहते हैं, वह मैं बताता हूँ। महात्मा नारदजी ने सनत्कुमार को सम्पूर्ण वेदार्थों की सम्मति के अनुकूल बने हुए जिस रामायण नामक महाकाव्य का श्रवण कराया था, वह समस्त पापों का नाश और दुष्ट ग्रहों की बाधा का निवारण करनेवाला है। वह दुःस्वप्न का नाशक, प्रशंसा के योग्य तथा भोग और मोक्षरूप फल देनेवाला है। उस में भगवान् श्री रामचन्द्रजी के गुणों का वर्णन है। उस को पढ़ने और सुनने से समस्त कल्याण-मयी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वह महाकाव्य महान् फल देनेवाला है। महान् पातकों अथवा सम्पूर्ण उपपातकों से युक्त मनुष्य भी उस ऋषिकथित दिव्यकाव्य का श्रवण करने से शुद्ध हो जाता है। सम्पूर्ण जगत् के हितसाधन में लगे रहनेवाले जो सत्पुरुष रामायण में मन लगाते हैं, वे ही सम्पूर्ण शास्त्रों के मर्म को समझनेवाले और कृतार्थ हैं। विप्रवरो, रामायण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन परम अमृतरूप है, अतः सदा भक्तिपूर्वक उस का श्रवण करना चाहिये। यह बिल्कुल पक्की बात है कि जिस मनुष्य के पूर्वजन्मों के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, उसी का रामायण के प्रति अधिक प्रेम होता है। जो पाप के बन्धन में जकड़ा हुआ है, वह रामायण की कथा

आरम्भ होने पर उस की अवहेलना करके दूसरी दूसरी बातों में फँस जाता है, इस लिए ब्राह्मणो, आप लोग रामायण नाम के अत्युत्तम महाकाव्य का श्रवण करें। उस के सुनने से जन्म, जरा और मृत्यु के भय का नाश हो जाता है और श्रवण करनेवाला मनुष्य पाप से रहित होकर अच्युतस्वरूप हो जाता है। रामायणकाव्य अत्यन्त उत्तम, वन्दनीय, मनोवाञ्छित वर देनेवाला, श्रवण करने योग्य तथा अपने ज्ञानालोक से सम्पूर्ण जगत् को नूतन प्रकाश देनेवाला है। यह आदिकाव्य मनचाही वस्तु प्रदान करता है। जो मनुष्य इसे सुनता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो मन तथा जाति आदि विकल्पों से रहित, कार्य कारण से परे, वेदान्त शास्त्र के द्वारा जानने योग्य एवं स्वयंप्रकाश परमात्मा है, उस का समस्त पुराणों और वेदों के द्वारा साक्षात्कार होता है। एवं रामायण के श्रवण से भी उस की प्राप्ति होती है।

द्विजवरो, कार्तिक, माघ तथा चैत्रमास के शुक्लपक्ष में नौ दिनों में रामायण की अमृतमयी कथा का श्रवण करना चाहिये। जो इस प्रकार श्री रामचन्द्रजी के मङ्गलमय चरित्र का श्रवण करता है, वह इस लोक और परलोक में भी अपनी समस्त उत्तम कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। उस के सारे पाप दूर हो जाते हैं और वह भगवान् राम के परमधाम को प्राप्त होता है। इसलिए घोर कलियुग आने पर रामायण की परम पवित्र कथा का 'नवाह श्रवण' अवश्य करना चाहिये। जो लोग भयंकर कलिकाल में रामायण का आश्रय लेंगे, वे कृतार्थ हो जायँगे; कलियुग उन्हें बाधा नहीं पहुँचा सकेगा। जिस घर में प्रतिदिन रामायण की कथा होती है, वह तीर्थस्वरूप हो जाता है। वहाँ जाने से दुष्टों के पाप का नाश हो जाता है। तपोधनो, शरीर में तभी तक पाप रहते हैं, जबतक मनुष्य भली भाँति रामायण की कथा का श्रवण नहीं करता। संसार में रामायण की कथा अत्यन्त दुर्लभ है। जब करोड़ों जन्मों के पुण्यों का उदय होता है, तभी उस की प्राप्ति होती है। जो पुरुष श्री रामचन्द्रजी की भक्ति का आश्रय लेकर प्रेमपूर्वक इस कथा का श्रवण करता है, वह राशि राशि महापातकों और उपपातकों से मुक्त हो जाता है।

ऋषियों ने पूछा—हे सूतजी, देवर्षि नारदजी ने सनत्कुमारजी को रामायण सम्बन्धी सम्पूर्ण धर्मों का वर्णन किस प्रकार किया था? उन दोनों ब्रह्मवादी महात्माओं का किस क्षेत्र में समागम हुआ था? नारदजी ने उन से जो कुछ कहा, वह सब आप हम लोगों को बताइये।

सूतजी ने कहा—मुनिवरो, सनकादि ऋषि ब्रह्माजी के पुत्र हैं, वे सब के सब बड़े महात्मा माने गये हैं। ममता और अहंकार का तो उन में नाम भी नहीं है

तथा वे सभी ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) हैं। मैं आप लोगों से उन के नाम बताता हूँ, सुनिये—सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन; इन चारों को सनकादि कहते हैं। वे महात्मा भगवान् विष्णु के बड़े भक्त हैं, सदा ब्रह्म के चिन्तन में लगे रहते हैं, वे बड़े सत्यवादी हैं। एक दिन ये महातेजस्वी ब्रह्मपुत्र सनकादि ब्रह्माजी की सभा देखने के लिए मेरु पर्वत के शिखर पर गये। वहाँ भगवान् विष्णु के चरणों में प्रकट हुई परम पवित्र गङ्गा नदी, जिन्हें सीता भी कहते हैं, बह रही थीं। गङ्गाजी का दर्शन करके वे तेजस्वी महात्मा उन के जल में नहाने को उद्यत हुए। इतने में ही देवर्षि नारदजी भगवान् के नामों का उच्चारण करते हुए वहाँ आ पहुँचे। वे 'नारायण, अच्युत, अनन्त, वासुदेव, जनार्दन, यज्ञेश, यज्ञपुरुष, राम, विष्णो, आप को नमस्कार है' इस प्रकार भगवन्नाम का उच्चारण करके सम्पूर्ण जगत् को पवित्र बनाते हुए वहाँ आये। आने पर उन्होंने त्रिभुवन को पवित्र करनेवाली देवनदी गङ्गा का भी स्तवन किया। महान् तेजस्वी महर्षि सनकादिकों ने नारदजी को आये देख उन की यथोचित पूजा की तथा नारदजी ने भी उन मुनीश्वरों को प्रणाम किया।

तब सनत्कुमारजी ने पूछा—मुनियों को आदर देनेवाले महाप्राज्ञ नारदजी, आप को सभी विषयों का ज्ञान है, तथा आप सदा भगवान् की भक्ति में तन्मय रहते हैं इसलिए आप से बढ़कर दूसरा कोई नहीं है। अतः मैं पूछता हूँ; जिन से समस्त चराचर जगत् की उत्पत्ति हुई है तथा ये गङ्गाजी जिन के चरणों से प्रकट हुई हैं, उन श्री हरि के स्वरूप का कैसे ज्ञान होता है ? यदि आप की हम लोगों पर कृपा हो तो इस का ठीक ठीक उत्तर देने की कृपा कीजिये।

नारदजी ने कहा—जो पर से भी पर हैं, जिन का निवासस्थान (परमधाम) उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट है तथा जो सगुण और निर्गुणरूप हैं, उन परमात्मस्वरूप भगवान् को नमस्कार है। पृथ्वी का भार उतारने में जिन का मनोरञ्जन होता है, जो एक होकर भी चार स्वरूपों में अवतीर्ण होते हैं, जिन्होंने वानरों को साथ लेकर राक्षस-सेना का संहार किया है, उन दशरथनन्दन श्री रामचन्द्रजी का मैं भजन करता हूँ। भगवान् श्री राम के ऐसे ऐसे अनेकों चरित्र हैं, जिन के नाम करोड़ों वर्षों में भी नहीं गिनाये जा सकते। जिन के नाम की महिमा का मनु और मुनीन्द्र भी नहीं पार पा सके तथा जिन के नाम के श्रवणमात्र से बड़े से बड़े पातकी भी पवित्र हो जाते हैं, उन परमात्मा का स्तवन मेरे जैसा तुच्छ बुद्धिवाला प्राणी कैसे कर सकता है ?

सनत्कुमारजी, भगवान् की महिमा को जानने के लिए तो कार्तिक, माघ और चैत्र के शुक्ल पक्ष में रामायण की अमृतमयी कथा का नवाह श्रवण करना चाहिये।

सनत्कुमारजी ने कहा—नारदजी, आप रामायण के माहात्म्य का वर्णन कीजिये। आप के अमृतमय वचन सुनने से हमें तृप्ति नहीं होती।

नारदजी ने कहा—महर्षियो, आप सब लोग निश्चय ही बड़े भाग्यशाली और कृतार्थ हैं, क्योंकि आप भक्तिपूर्वक भगवान् राम का प्रभाव सुनने को उद्यत हुए हैं। ब्रह्मवादी मुनियों ने भगवान् राम के माहात्म्य काश्रवण पुण्यात्मा पुरुषों के लिए भी अत्यन्त दुर्लभ बतलाया है। इसलिए आप लोग सुदर्शनचक्र धारण करनेवाले देवाधिदेव श्री नारायण की रामायणकथा सुनें। यह कामधेनु के समान बतायी गयी है। माघ मास के शुक्ल पक्ष में यत्नपूर्वक रामायणकथा का नवाह (नौ दिन का) पाठ सुनना चाहिये। वह सम्पूर्ण धर्मों का फल देनेवाला है। जो सब पापों का नाश करनेवाले इस पवित्र उपाख्यान का पाठ या श्रवण करता है, वह भगवान् राम का भक्त होता है।
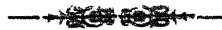
पार्वत्यै परमेश्वरेण गदिते ह्यध्यात्मरामायणे
काण्डैः सप्तभिरन्वितेऽतिशुभदे सर्गाश्चतुःषष्टिकाः।
श्लोकानान्तु शतद्वयेन सहितान्युक्तानि चत्वारि वै
साहस्राणि समाप्तितः श्रुतिशतान्युक्तानि तत्त्वार्थतः॥

परमेश्वर श्री महादेवजी द्वारा पार्वतीजी के प्रति कहे हुए, सात काण्डों से युक्त इस शुभप्रद अध्यात्मरामायण में चौंसठ सर्ग हैं। इस में समाप्तिपर्यन्त कुल चार हजार दो सौ श्लोक कहे गये हैं तथा तत्त्वार्थ का विवेचन करते हुए सैकड़ों श्रुतियाँ कही गयी हैं।

श्री रामायणजी की आरती

आरति श्री रामायनजी की,
कीरति कलित ललित सीय पीय की ॥

गावत ब्रह्मादिक मुनि नारद,
बालमीकि बिज्ञान बिसारद।
सुक सनकादि सेष अरु सारद,
बरनि पवनसुत कीरति नीकी ॥१॥

गावत बेद पुरान अष्टदस,
छओं सास्त्र सब ग्रन्थन कौ रस।
मुनि जन धन संतन कौ सरबस,
सार अंस संमत सब ही की ॥२॥

गावत संतत संभु भवानी,
अरु घटसंभव मुनि बिज्ञानी।
व्यास आदि कविवर्य बखानी,
कागभुसुंडि गरुड के हिय की ॥३॥

कलिमल हरनि विषय रस फीकी,
सुभग सिंगार भक्तिजुवती की।
दलन रोग भव मूरि अमी की,
तात मात सब बिधि 'तुलसी' की ॥४॥

श्रीरामः शरणम्

श्रीरामरक्षास्तोत्रम्

आकस्मिक पीडा, भय, भूतबाधा तथा बालसंकट आदि की निवृत्ति के लिए यह स्तोत्र प्रामाणिक माना जाता है। औषध आदि उपायों से पहले, उन के साथ, तथा निष्फल हो जाने पर भी इस स्तोत्र का आश्रय लेना चाहिये। देह शुद्धि कर पवित्रता के साथ इस के पाठ किये जायँ और अभिमन्त्रित जल पीडित को दिया जाय तो रामकृपा से अवश्य लाभ होता है,—

श्री गणेशाय नमः। अस्य श्रीरामरक्षास्तोत्रमन्त्रस्य बुधकौशिक ऋषिः, श्रीसीतारामचन्द्रो देवता, अनुष्टुप्छन्दः, श्रीसीता शक्तिः, श्रीमद्हनुमान् कीलकम्, श्रीरामचन्द्रप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।

अथ ध्यानम्—

ध्यायेदाजानुबाहुं धृतशरधनुषं बद्धपद्मासनस्थम्।
पीतं वासो वसानं नवकमलदलस्पर्धिनेत्रं प्रसन्नम्॥
वामाङ्कारूढसीतामुखकमलमिलल्लोचनं नीरदाभम्।
नानालङ्कारदीप्तं दधतमुरुजटामण्डलं रामचन्द्रम्॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥ १॥
ध्यात्वा नीलोत्पलश्यामं रामं राजीवलोचनम्।
जानकीलक्ष्मणोपेतं जटामुकुटमण्डितम्॥ २॥
सासितूणधनुर्बाणपाणिं नक्तञ्चरान्तकम्।
स्वलीलया जगत्त्रातुमाविर्भूतमजं विभुम्॥ ३॥
रामरक्षां पठेत्प्राज्ञः पापघ्नीं सर्वकामदाम्।
ॐ शिरो मे राघवः पातु भालं दशरथात्मजः॥ ४॥
कौशल्येयो दृशौ पातु विश्वामित्रप्रियः श्रुती।
घ्राणं पातु मखत्राता मुखं सौमित्रिवत्सलः॥ ५॥

जिह्वां विद्यानिधिः पातु कण्ठं भरतवन्दितः ।
स्कन्धौ दिव्यायुधः पातु भुजौ भग्नेशकार्मुकः ॥ ६ ॥
करौ सीतापतिः पातु हृदयं जामदग्न्यजित् ।
मध्यं पातु खरध्वंसो नाभिं जाम्बवदाश्रयः ॥ ७ ॥
सुग्रीवेशः कटिं पातु सक्थिनी हनुमत्प्रभुः ।
ऊरू रघूत्तमः पातु रक्षःकुलविनाशकृत् ॥ ८ ॥
जानुनी सेतुकृत् पातु जङ्घे दशमुखान्तकः ।
पादौ बिभीषणश्रीदः पातु रामोऽखिलं वपुः ॥ ९ ॥
एतां रामबलोपेतां रक्षां यः सुकृती पठेत् ।
स चिरायुः सुखी पुत्री विजयी विनयी भवेत् ॥१०॥
पातालभूतलव्योमचारिणश्छद्मचारिणः ।
न द्रष्टुमपि शक्तास्ते रक्षितं रामनामभिः ॥११॥
रामेति रामभद्रेति रामचन्द्रेति वा स्मरन् ।
नरो न लिप्यते पापैर्भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति ॥१२॥
जगज्जैत्रैकमन्त्रेण रामनाम्नाभिरक्षितम् ।
यः कण्ठे धारयेत्तस्य करस्थाः सर्वसिद्धयः ॥१३॥
वज्रपञ्जरनामेदं यो रामकवचं स्मरेत् ।
अव्याहताज्ञः सर्वत्र लभते जयमङ्गलम् ॥१४॥

आदिष्टवान् यथा स्वप्ने रामरक्षामिमां हरः ।
तथा लिखितवान् प्रातः प्रबुद्धो बुधकौशिकः ॥१५॥
आरामः कल्पवृक्षाणां विरामः सकलापदाम् ।
अभिरामस्त्रिलोकानां रामः श्रीमान् स नः प्रभुः ॥१६॥
तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ॥१७॥

फलमूलाशिनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ ।
पुत्रौ दशरथस्यैतौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥१८॥

शरण्यौ सर्वसत्त्वानां श्रेष्ठौ सर्वधनुष्मताम् ।
रक्षःकुलनिहन्तारौ त्रायेतां नो रघूत्तमौ ॥१९॥

आत्तसज्जधनुषाविषुस्पृशावक्षयाशुगनिषङ्गसङ्गिनौ ।
रक्षणाय मम रामलक्ष्मणावग्रतः पथि सदैव गच्छताम् ॥२०॥

सन्नद्धः कवची खड्गी चापबाणधरो युवा ।
गच्छन् मनोरथोऽस्माकं रामः पातु सलक्ष्मणः ॥२१॥

रामो दाशरथिः शूरो लक्ष्मणानुचरो बली ।
काकुत्स्थः पुरुषः पूर्णः कौशल्येयो रघूत्तमः ॥२२॥

वेदान्तवेद्यो यज्ञेशः पुराणपुरुषोत्तमः ।
जानकीवल्लभः श्रीमान् अप्रमेयपराक्रमः ॥२३॥

इत्येतानि जपन्नित्यं मद्भक्तः श्रद्धयान्वितः ।
अश्वमेधायुतं पुण्यं संप्राप्नोति न संशयः ॥२४॥

रामं दूर्वादलश्यामं पद्माक्षं पीतवाससम् ।
स्तुवन्ति नामभिर्दिव्यैर्न ते संसारिणो नराः ॥२५॥

रामं लक्ष्मणपूर्वजं रघुवरं सीतापतिं सुन्दरम्
काकुत्स्थं करुणार्णवं गुणनिधिं विप्रप्रियं धार्मिकम् ।
राजेन्द्रं सत्यसन्धं दशरथतनयं श्यामलं शान्तमूर्तिम्
वन्दे लोकाभिरामं रघुकुलतिलकं राघवं रावणारिम् ॥२६॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥२७॥

श्रीराम राम रघुनन्दन राम राम,
श्रीराम राम भरताग्रज राम राम !

श्रीराम राम रणकर्कश राम राम,
श्रीराम राम शरणं भव राम राम ॥२८॥

श्रीरामचन्द्रचरणौ मनसा स्मरामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ वचसा गृणामि ।
श्रीरामचन्द्रचरणौ शिरसा नमामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये ॥२६॥

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः
स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः ।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्
नान्यं जाने नैव जाने न जाने ॥३०॥

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे तु जनकात्मजा ।
पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥३१॥

लोकाभिरामं रणरङ्गधीरं
राजीवनेत्रं रघुवंशनाथम् ।
कारुण्यरूपं करुणाकरं तं
श्रीरामचन्द्रं शरणं प्रपद्ये ॥३२॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मज वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥३४॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥३५॥

भर्जनं भवबीजानाम् अर्जनं सुखसम्पदाम् ।
तर्जनं यमदूतानां रामरामेति गर्जनम् ॥ ३६ ॥

रामो राजमणिःसदा विजयते रामं रामेशं भजे
रामेणाभिहता निशाचरचमू रामाय कार्यं नमः ।
रामान्नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहम्
रामे चित्तलयः सदा भवतु मे भो राम मामुद्धर ॥३७॥

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे ।
सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने ॥ ३८ ॥

धन्याऽयोध्या दशरथनृपः सा च माता च धन्या
धन्यो वंशो रघुपतिभवो यत्र रामावतारः ।
धन्या वाणी कविवरमुखे रामनामप्रपन्ना
धन्यो लोकः प्रतिदिनमसौ रामवृत्तं शृणोति ॥३९॥

इति श्रीबुधकौशिकविरचितं रामरक्षास्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

रामेणोपनिषत्सिन्धुमुन्मथ्योत्पादितां मुदा ।
लक्ष्मणायार्पितां गीतासुधां पीत्वामरो भवेत् ॥

श्री रामजी ने उपनिषदों के समुद्रमन्थन द्वारा निकाला हुआ रामगीतामृत हर्ष के साथ लक्ष्मणजी को दिया था, इसे पीकर अमर हो जाओ ।

ॐ

अथ षट्रामायणम्

(अध्यात्मज्ञानपोटिका)

[सं०—चिरंजीवलाल]

अथ सा जानकी रामं विनयाल्लज्जिताब्रवीत् ।
राम राजीवपत्राक्ष किञ्चित् प्रष्टुं मम प्रभो ॥ १ ॥
वाञ्छास्ति चेत्करोष्याज्ञां तर्हि पृच्छाम्यहं तव ।

एक समय अयोध्या के राजमहल में सुखासीन श्री राम के प्रति नम्रता से लज्जित होती हुई सीताजी ने कहा कि हे कमलनेत्र प्रभो, मुझे कुछ पूछने की इच्छा है, यदि आप आज्ञा दें तो मैं पूछूँ ।

तत्सीतावचनं श्रुत्वा राघवः प्राह जानकीम् ॥ २ ॥
पृच्छस्व सीते यत्तेऽस्ति प्रष्टव्यं मां सुखेन तत् ।
मा शङ्कां भज रम्भोरु गुह्यं चापि वदामि ते ॥ ३ ॥
तद्रामवचनं श्रुत्वा नत्वा तं प्राह जानकी ।
राम राम महाबाहो किञ्चिदुपदिशस्व माम् ॥ ४ ॥
येन मां तव संज्ञानं भविष्यति महोज्ज्वलम् ।
तत्सीतावचनं श्रुत्वा रामचन्द्रोऽब्रवीद् वचः ॥ ५ ॥
सम्यक् पृष्टं त्वया सीते शृणुष्वैकाग्रमानसा ।
मम ज्ञानाय ते वच्मि परं कौतूहलं शुभम् ॥ ६ ॥

सीताजी का वचन सुनकर रामचन्द्रजी बोले कि हे जानकि, जो कुछ तुम पूछना चाहो, बड़ी प्रसन्नता से पूछ सकती हो । हे सुन्दरि, अति गुप्त विषय भी तुम्हें बतलाऊँगा । श्री राम की आज्ञा पाकर सीताजी बोलीं कि हे महाप्राज्ञ रामचन्द्रजी, कृपा कर मुझ को कुछ उपदेश दीजिये, जिस से मुझे आप के दिव्य स्वरूप का ज्ञान भली प्रकार हो जाय । सीताजी का कथन सुनकर रामचन्द्रजी ने कहा—हे सीता देवि,

तुम ने बहुत अच्छा प्रश्न किया। अब मन को एकाग्र कर सुनो, मेरे ज्ञान के लिए तुम्हें, मैं एक अति कौतूहलपूर्ण शुभ वस्तु प्रदान करता हूँ।

श्री रामचन्द्र उवाच—

सच्चिदानन्दरूपाख्यसागरस्य तदिच्छया।
तरङ्गरूपयाऽऽत्मांशबिन्दुः शुद्धो विनिर्गतः॥ ७॥

सच्चिदानन्दरूपी महासागर की इच्छारूप तरङ्गचालन से उस का एक अंशभूत आत्मारूपी शुद्ध बिन्दु सागर से उछलकर अलग हो गया।

बालकाण्ड

आत्मनामा मातृभूतबुद्धेर्जठरसंभवः।
शुद्धसत्त्वान्तःकरणं पिता चात्मन ईरितः॥ ८॥
तस्यात्मनश्च चत्वारो भेदास्ते बन्धवः स्मृताः।
तुर्यावस्थस्तत्र परस्ततो जाग्रदवस्थकः॥ ९॥
स्वप्नावस्थस्तृतीयश्चावरः सुषुप्त्यवस्थकः।

शुद्धसत्त्व अन्तःकरणरूप पिता और बुद्धिरूपी माता के यहाँ एक ही अंश से आत्मा नामक चार भाई स्थित हुए। उन में तुर्यावस्थ (तुरीय अवस्था का अभिमानी जीव) सब में ज्येष्ठ था, उस से छोटा सुषुप्तिअवस्थक (प्राज्ञ जीव), उस से भी छोटा स्वप्नावस्थक (तैजस जीव) और सब से छोटा जाग्रदवस्थक (विश्व जीव) था।

अयोध्याकाण्ड

हृदयाकाशस्तत्स्थानं मनोवेगो बहिर्गमः॥ १०॥
मनोदुर्वृत्तिघातश्च मनोवेगस्य खण्डनम्।
मायायोगस्ततस्तस्य पूर्वसंस्कारनिग्रहः॥ ११॥
ततः कुबुद्धिहेतोर्हि भवारण्येऽटनं चिरम्।

हृदयाकाश ही उन चारों का निवास स्थान हुआ, फिर वहाँ से उन का मनोवेगरूप विदेश प्रवास हुआ। अनन्तर उन में से एक ने वहाँ मन की दुर्वृत्तियों का हनन तथा मनोवेग को भंग कर डाला। फिर उस के साथ माया का संबन्ध हुआ, एवं उस ने पूर्व संस्कारों का निग्रह भी कर लिया। किंतु कुबुद्धि के कारण उस को बहुत काल तक भवारण्य (संसाररूपी वन) में भटकना पड़ा।

अरण्यकाण्ड

दम्भस्य निग्रहस्तत्र पञ्चभूतात्मिका स्थिरा ॥ १२ ॥
आत्मनः पर्णकुटिका विश्रान्तिस्थानमीरिता ।
कामक्रोधलोभजयस्तत्राशाकृन्तनं स्मृतम् ॥१३॥
मोहस्य निग्रहस्तत्र शुद्धमायाश्रयस्ततः ।
रजोरूपा तु या माया जठराग्नौ तदा स्मृता ॥ १४ ॥
तामस्याश्चैव मायाया वियोगश्च तदा स्मृतः ।
सुखालाभो महान् क्लेशः शोकभङ्गस्ततः परम् ॥ १५ ॥

भवारण्य में आकर आत्मा ने दम्भ का विनाश किया और पञ्च भूतों की मजबूत पर्णकुटी अपने विश्राम के लिए उस ने बनाई। पर्णकुटी में रहते हुए आत्मा ने काम, क्रोध, लोभ आदि के ऊपर विजय पायी तथा दुराशा को भी कतर दिया। फिर मोह का विनाश कर उस ने सात्विकी माया को अपने शुद्ध स्वरूप में रखा, राजसी माया को जठराग्नि में छोड दिया और तामसी माया का उस से वियोग हो गया। फिर उस आत्मा को सुख चैन न मिलने से महान् क्लेश हुआ, फिर शोक कुछ निवृत्त भी हो गया।

किष्किन्धा और सुन्दरकाण्ड

विवेकस्याश्रयस्तत्र भक्त्युद्रेकसमागमः ।
अविवेकवधश्चापि ह्युत्साहेन समागमः ॥ १६ ॥
अज्ञानतरणोपायस्त्रिगुणाश्रयसद्मनि ।

फिर आत्मा का विवेक से मिलाप हुआ और इस मिलन में भक्ति का आवेग भी बढ गया। तब आत्मा ने अविवेक का नाश किया और एक अच्छे साथी उत्साह को पाया। फिर अज्ञान के सागर को पार करने पर त्रिगुणात्मक पर्वतीय उपवन में तामसी माया का पता चला।

युद्धकाण्ड

लिङ्गाख्यनिग्रहस्तत्र मदस्य संप्रकीर्तितः ॥ १७ ॥
निग्रहो मत्सरस्यापि ततोऽहङ्कारनिग्रहः ।

वियोगो लिङ्गदेहस्य मायानामैक्यता ततः ॥ १८ ॥
हृदयाकाशगमनमानन्दैकसुखं ततः ।

वहाँ लिङ्गदेह को नष्ट कर मद का भी नाश किया, एवं मत्सर तथा अहंकार का भी वध कर दिया गया। फिर लिङ्गदेह से निकाल कर माया साथ में ली। अनन्तर हृदयाकाश में गमन कर आत्मा अति आनन्दपूर्ण सुख को प्राप्त हुआ।

उत्तरकाण्ड

मायात्यागस्ततश्चैव सात्त्विक्या ग्रहणं स्मृतम् ॥ १९ ॥
सात्त्विक्या मायया सार्धं हृदयाकाशमुत्तमम् ।
महाकाशे प्रयापनं सच्चिदानन्दसंज्ञके ॥ २० ॥
प्रवेशनं सागरे हि मुक्तिर्ज्ञेयात्मनः शुभा ।
सायुज्या सा परिज्ञेया मुक्तिर्मुक्तिचतुष्टये ॥ २१ ॥

आनन्दभोग में अडचन आने के कारण आत्मा ने माया का त्याग कर दिया, फिर केवल उस के सात्विक अंश को ही ग्रहण किया। सात्विकी माया के साथ हृदयाकाश में उस ने कुछ सत्प्रयत्न किये, फिर हृदयाकाश से निकलकर सच्चिदानन्द नामक महाकाश में जाकर आत्मा पहले के आनन्दसागर में विलीन हो गया। चारो मुक्तियों के बीच में आत्मारूपी बिन्दु की यह सायुज्य (एकीभाव) मुक्ति हो गई।

एवं मयेयं ते प्रीत्या सीते संज्ञानपेटिका ।
गूढार्थैर्वेदसारार्थैरज्ञानमतिनाशकैः ॥ २२ ॥
मज्ज्ञानदैः पञ्चदश श्लोकरत्नैः प्रपूरिता ।
समर्पिता गृहाण त्वमस्यां बुद्ध्यावलोकय ॥ २३ ॥
भविष्यति मम ज्ञानमस्याः सम्यग् विचारतः ।

हे सीतादेवि, इस प्रकार मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें यह ज्ञान की पिटारी समर्पण करता हूँ। इस के भीतर ऐसे श्लोकरूपी पंद्रह रत्न रखे हुए हैं, जो गूढ अर्थ से पूर्ण, वेद के सारभूत, अज्ञानबुद्धि के नाशक और मेरे स्वरूप के प्रकाशक हैं। तुम इस पिटारी के खोलने पर भली प्रकार परखकर देखोगी तो इन रत्नों से तुम्हें मेरा ज्ञान हो जायगा।

तद् रामवचनं श्रुत्वा सीता संज्ञानपेटिकाम् ॥ २४ ॥

निजहृन्मन्दिरे स्थाप्य सूक्ष्मदृष्ट्या मुहुर्मुहुः ।
सम्यगुद्घाट्य तूष्णीं सा मुहूर्तमवलोकयत् ॥ २५ ॥

तदा ज्ञात्वाथ सकलां निजक्रीडां विदेहजा ।
विहस्य रघुवीरस्य सा ननामाङ्घ्रिपङ्कजे ॥ २६ ॥

आनन्दनिर्भरा जाता सानन्दाश्रुसमन्विता ।
आनन्दोत्फुल्लरोमाञ्चा तूष्णीमासीत्तदा क्षणम् ॥२७॥

रामचन्द्रजी का वचन सुनकर सीताजी ने उस पेटी को अपने (हृदयरूपी) महल में ले जाकर खूब देखा, यत्नपूर्वक उसे खोलकर देखने पर वे चकित हो गईं। सीताजी ने उस में अपनी ही माया की संपूर्ण क्रीडा देखी और हँसकर श्री रामचन्द्र-जी के चरणकमलों में प्रणाम किया। उस समय सीताजी को हर्षातिरेक से आनन्दाश्रु आ रहे थे, इस लिए मुख से कुछ कहते न बना।

आनन्दनिर्भरां सीतां दृष्ट्वा तां राघवोऽब्रवीत् ।
पेटिकायां त्वया सीते किं दृष्टं तोषकारणम् ॥ २८ ॥

कच्चिद् गतं तवाज्ञानं कच्चिल्लब्धं मम त्वया ।
संज्ञानं वद मां सीते यथा ज्ञातं त्वया हृदि ॥ २९ ॥

ज्ञातं त्वया वा न ज्ञातं वेत्तुमिच्छामि त्वन्मुखात् ।
यदि किंचित्त्वया नास्यां ज्ञातं तद्बोधयाम्यहम् ॥ ३० ॥

इति रामवचः श्रुत्वा निमग्नानन्दसागरे ।
मञ्चकस्थं रामचन्द्रं जानकी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

सीताजी को आनन्द में मग्न देखकर श्री राम बोले कि हे सीतादेवि, इस पेटी में क्या देखकर तुम इतनी प्रसन्न हुई हो ? क्या इसे देखने से तुम्हारा अज्ञान चला गया, और तुम्हें मेरे शुद्ध स्वरूप का बोध हो गया ? इस से तुम ने हृदय में क्या समझा और क्या निश्चय किया, यह मैं सुनना चाहता हूँ, क्योंकि तुम ठीक से न जान सकी हो तो मैं समझाऊँ। श्री राम के ये भावभरे वचन सुनकर आनन्दरस परिप्लावित हो सीताजी सिंहासनासीन श्री रामचन्द्रजी से इस प्रकार कहने लगीं—

श्रीसीतोवाच—

राम रावणदर्पघ्न त्वद्दत्ता ज्ञानपेटिका ।
मयावलोकिता बुद्ध्या लब्धं ज्ञानं तव प्रभो ॥ ३२ ॥
निर्गुणो निर्विकारस्त्वं क्रीडेयं सकला त्वया ।
मत्संगाद्दर्शिता भूम्यां कृत्वा लोकहिताय हि ॥ ३३ ॥
पेटिकायां यथा ज्ञातं मया तत्प्रवदामि ते ।
त्वया पञ्चदशश्लोकैर्यदुक्तं गुह्यमुत्तमम् ॥ ३४ ॥
प्रकटं तत् करोम्यद्य तवाग्रे रघुनन्दन ।
सर्वेषां मन्दबुद्धीनां हिताय ज्ञानसिद्धये ॥ ३५ ॥
जनानां संबोधयितुं चरित्रं भवतात्र यत् ।
कृतं तस्य विचारेण ह्यात्मज्ञानं लभेन्नरः ॥ ३६ ॥

सीताजी ने कहा—हे रावणघातक राम, हे प्रभो, आप की दी हुई ज्ञानपेटिका मैंने विचारपूर्वक देखी और उस से मुझे आप के निर्गुण निर्विकार स्वरूप का ज्ञान हो गया। यह सब क्रीडा भूलोक में आप ने मुझ माया के संग से लोकहित के लिए दिखाई थी। इस पिटारी के पंदरह श्लोक रत्नों के भीतर जो गूढ रहस्य भरा है, उसे सब मन्दबुद्धि अपनी ज्ञानसिद्धि के लिए उपयोग करें, इस वास्ते हे रघुनन्दन, आप के सामने मैं उस का तत्त्व प्रकट करती हूँ। मनुष्यों को आत्मबोध कराने के लिए आप ने इस में जो अपना चरित्र दिखाया है, उस के विचार से अवश्य आत्मज्ञान हो जाता है, यथा—

अथ बालकाण्डम्

सच्चिदानन्दरूपो यो विष्णुर्ज्ञेयः स सागरः ।
भूभारहरणादीच्छा विष्णोर्या जायते शुभा ॥ ३७ ॥
स वै ज्ञेयस्तरङ्गोत्र तयात्मांशलवः शुभः ।
बहिः कृतः सागरात् स आत्माख्यः कथ्यते भुवि ॥३८।

सच्चिदानन्दरूपी जो सागर कहा गया है, वे ही परमात्मा श्री विष्णु हैं, उन की भूभारहरण अथवा अदृष्ट भोग लीला आदि की जो इच्छा है,वही समुद्र में तरंग

उठना है। विष्णु के अंशभूत जीवों का पृथ्वी पर आगमन ही समुद्र से बिन्दु का अलग उछट जाना है।

तस्य बुद्धिस्तु जननी कौशल्या सात्र कथ्यते।
शुद्धसत्त्वान्तःकरणं पिता तस्यात्मनः स्मृतः ॥ ३९ ॥
राजा दशरथो ज्ञेयः श्रीमान् सत्यपराक्रमः।
तस्यात्मनश्च चत्वारो भेदास्ते बन्धवः स्मृताः ॥ ४० ॥
रामसौमित्रिभरतशत्रुघ्ना एव चात्र हि।
तुर्यावस्थस्तेषु वरः स त्वं दशरथात्मजः ॥ ४१ ॥
ततो जाग्रदवस्थश्च लक्ष्मणः सोत्र कथ्यते।
स्वप्नावस्थस्तृतीयश्च भरतोऽपि निगद्यते ॥ ४२ ॥
अवरः सुषुप्त्यवस्थो ज्ञेयः शत्रुघ्न एव सः।
हृदयाकाशं तत्स्थानमयोध्यात्र स्मृता तु सा ॥ ४३ ॥

परमात्मा के अंशभूत सभी जीव अविद्याविशिष्ट बुद्धि और अन्तःकरण (अर्थात् कारणशरीर) में आकर सर्वप्रथम ठहरते या प्रतिबिम्बित होते हैं। इसलिए सीताजी कहती हैं कि उन सभी आत्मांशों के पिता सत्यव्रती राजा दशरथरूपी शुद्ध-सत्त्वान्तःकरण हैं एवं कौशल्यारूपी बुद्धि ही माता हैं। जीवात्मा के चार भेद ही चारों दशरथपुत्र भाई हैं। तुरीय अवस्था का अभिमानी तुरीय जीव ही बड़े भाई राम हैं। सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी प्राज्ञ जीव ही लक्ष्मणजी हैं, स्वप्न अवस्था का अभिमानी तैजस जीव ही भरत एवं जाग्रत अवस्थाभिमानी प्राज्ञ ही शत्रुघ्न हैं। इन का निवासस्थान जो हृदयाकाश, वही अयोध्या है।

अयोध्याकाण्ड

मनोवेगो बहिर्यात्रा विश्वामित्राध्वरे गमः।
मनोदुर्वृत्तिघातश्च ताटकाया वधोत्र सः ॥ ४४ ॥
मनोवेगस्य यो भङ्गः स धनुर्भङ्ग उच्यते।
मायायोगस्ततस्तस्य मत्पाणिग्रहणं स्मृतम् ॥ ४५ ॥
पूर्वसंस्कारनिग्राहो जामदग्न्यविनिग्रहः।

ततः कुबुद्धिहेतोर्हि कैकेय्या वरदानतः ॥ ४६ ॥
भवारण्येऽटनं प्रोक्तमटनं दण्डकेऽत्र वै ।

प्रारब्ध संस्कारादि के कारण संसार के सुख दुख भोगार्थ गर्भ में वास करने के लिए जाना ही इस जीवरूपी राम का विश्वामित्र के यज्ञ में जाना है। वहाँ मन की कुवासना का नाश ही ताडकावध है। एवं मनोवेग का भंग ही धनुष तोडना है। (अर्थात् यहाँ तक यह बताया गया कि जीव को गर्भ में प्रभुदर्शन से कुछ शम दम हो जाता है।) फिर संसारी भोगममतारूपी माया का योग होना ही सीतास्वयंवर है। जीव जो पूर्व संस्कारों का दमन करता है और सत्कर्मों की प्रतिज्ञा करता है वही परशुरामजी को वश में करना है। फिर कुवासना तथा कुबुद्धिरूपी मन्थरा कैकेयी की मन्त्रणा द्वारा गर्भवास से भवसागररूपी भयानक दण्डकवन में जीव को निकलकर बाहर के नाना क्लेश सहनरूप बनवास भोगना पडता है।

अरण्यकाण्ड

दम्भस्य निग्रहस्तत्र विराधस्यात्र निग्रहः ॥ ४७ ॥
आत्मनः पर्णकुटिका पञ्चभूतात्मकश्चलः ।
देहोऽयं पञ्चवटिका विश्रान्त्यर्थं तवात्र सा ॥ ४८ ॥
कामस्य निग्रहः प्रोक्तः खरस्यात्र विनिग्रहः ।
क्रोधस्य निग्रहश्चापि दूषणस्यात्र निग्रहः ॥ ४९ ॥
लोभस्य मर्दनं तत्र त्रिशिरोमर्दनं तथा ।
तत्राशाकृन्तनं प्रोक्तं बाणेनात्र विरूपणम् ॥ ५० ॥
तस्याः शूर्पणखायाश्च मोहस्य निग्रहः स्मृतः ।
मृगमारीचघातोऽत्र शुद्धमायाश्रयस्ततः ॥ ५१ ॥

जीव के द्वारा दम्भ को नष्ट करना ही राम का विराधवध है, पञ्चभूतात्मक शरीर की तुष्टि पुष्टि में रहना ही पञ्चवटी निवास है। उस में रहते हुए जीव जो काम, क्रोध, लोभ का मर्दन करता है, यही राम का खर, दूषण, त्रिशिरा को मारना है। जीवरूपी राम के द्वारा आशा का छेदन ही शूर्पणखा के नाक कान काटना है। मोह का नाश ही मारीच मृग का वध है।

ममाश्रयस्ते वामाङ्के सात्त्विक्या दण्डके वने ।
रजोरूपा तु या माया जठराग्नौ स्मृता शुभा ॥ ५२ ॥
मम रजःस्वरूपायाः प्रवेशश्चानलेऽत्र सः ।
तामस्याश्चैव मायाया वियोगश्च तदा स्मृतः ॥ ५३ ॥
मम तमःस्वरूपाया हरणं रावणेन हि ।
सुखालाभो महान् क्लेशस्त्वत्तो मद्विरहस्तत्र ॥ ५४ ॥
शोकभङ्गस्ततः प्रोक्तः कबन्धस्य वधोऽत्र सः ।

सत्त्ववृत्तिरूपी जो माया जीव के साथ (अन्तःकरण में) रहती है, यही राम के साथ गुप्तरूप से सात्विकी सीता का रहना है । जठराग्नि में रजोगुणी माया का रहना ही राजसी सीता का अग्नि में वास है । लोकव्यवहारवृत्तिरूपी तमोगुणी माया का उस समय हट जाना या महान् अहंकार के वेग में दब जाना ही तामसी सीता का हरण है । फिर जीव को संसारी सुख न मिलने से क्लेश, असंतोप होना ही रामजी की विरहव्यथा है । कुछ धीरज द्वारा शोक भंग करना ही कबन्ध राक्षस को मारना है ।

किष्किन्धाकाण्ड

विवेकस्याश्रयस्तत्र सुग्रीवस्याश्रयो मतः ॥ ५५ ॥
भक्त्युद्रेकप्रलाभश्च तत्र लाभो हनूमतः ।
अविवेकवधः प्रोक्तश्चात्र वालिवधस्तथा ॥ ५६ ॥
उत्साहेन ततः संगः सा विभीषणमैत्रिकी ।

जीवरूपी राम को विवेक का आश्रय लेना ही सुग्रीवमित्रता और प्रभुभक्ति भरे उत्साह का मिलना हनुमानमिलाप तथा अविवेक का नाश ही वालिवध कहा जाता है । उत्साह का संग होना विभीषण का शरण आना है ।

सुन्दर तथा युद्धकाण्ड

अज्ञानतरणोपायः सेतुबन्धो महोदधौ ॥ ५७ ॥
त्रिगुणाश्रयगेहे वै लिङ्गदेहाह्वये शुभे ।
त्रिकूटाचलसंस्थायां लङ्कायां रघुनन्दन ॥ ५८ ॥

मदस्य निग्रहस्तत्र कुम्भकर्णवधस्तथा ।
निग्रहो मत्सरस्यापि मेघनादवधोत्र सः ॥ ५९ ॥
तत्राहङ्कारघातश्च रावणस्य वधस्त्वया ।
मायानामैक्यता चापि त्रिविधाया ममैक्यता ॥ ६० ॥
वियोगो लिङ्गदेहस्य लङ्कात्यागस्त्वयात्र सः ।
हृदयाकाशगमनमयोध्यागमनं पुनः ॥ ६१ ॥

अज्ञान तरण का उपाय ही सेतुबन्धन है। त्रिगुणात्मक, अविद्यावच्छिन्न जो कारणशरीर है वही त्रिकूटपर्वत के ऊपर लंकापुरी है, वहाँ मद, मत्सर, अहंकार को नष्ट करना ही कुम्भकर्ण, मेघनाद तथा रावण को मारना है। फिर सात्विकी, राजसी, तामसी तीनों मायाओं का एक हो जाना सीतामिलन और लिङ्गशरीर से जीव का छूट जाना अर्थात् जीवन्मुक्त होने से देह का भान नहीं रहना, यही राम का लंका से आना है। फिर हृदयाकाश में विहार, प्रभु की ध्यान धारणा करना ही अयोध्या आगमन माना जाता है।

उत्तरकाण्ड

आनन्दैकसुखं तत्र राज्यभोगस्त्वयात्र हि ।
मायात्यागस्ततश्चैव वाल्मीकेराश्रमे मम ॥ ६२ ॥
त्यागोऽग्रभावी श्रीराम त्वया सोत्र प्रकाशितः ।
सात्त्विक्या ग्रहणं यच्च पुनर्मे ग्रहणं स्मृतम् ॥ ६३ ॥
सात्त्विक्यया मया सार्धं तवोद्योगो मया सह ।
ततश्च हृदयाकाशं महाकाशे विलापयेत् ॥ ६४ ॥
अयोध्यानगरीस्थानां वैकुण्ठं प्रति प्रेषणम् ।
प्रवेशनं सागरे हि सच्चिदानन्दसंज्ञके ॥ ६५ ॥
नररूपं परित्यज्य विष्णुरूपप्रदर्शनम् ।
नृणां त्वया सैव मुक्तिः सायुज्यात्मन ईरिता ॥ ६६ ॥

आत्मानन्द का अनुभव ही अयोध्या का राज्यभोग है, माया को छोडना ही सीतात्याग है,(विदेह मुक्ति के समय ब्रह्मलीन होने के लिए) कुछ सात्विकी माया का आश्रय लेना ही सोने की सीता को रखकर यज्ञादि कर्म करना है। इस प्रकार ब्रह्म-विद् जीव जो हृदयाकाश को महाकाश में मिलाता है, यही समस्त अयोध्या

(वासियों) का वैकुण्ठ जाना है। इस रीति से जलबिन्दुवत् अंशरूप जीव सच्चिदानन्दरूप महासागर में जो अपने को विलीन कर तदाकार सायुज्यमुक्त हो जाता है, यही मानो श्री राम का विष्णुरूप से वैकुण्ठ में विराजमान होना है।

एवं यद्यत् त्वया राम कृतं कर्म शुभाभम्।
तत्सर्वं जनबोधाय सर्वेषां च हिताय वै ॥ ६७ ॥
कर्तव्यमप्यकर्तव्यं कर्मातीतस्य किं तव।
निर्गुणस्यात्मरूपस्य सच्चिदानन्दरूपिणः ॥ ६८ ॥
इत्थं त्वयोपदिष्टा मे शुभा संज्ञानपेटिका।
अहं तस्या विचारेण जीवन्मुक्ता न संशयः ॥ ६९ ॥

हे श्री राम, इस प्रकार देह में आप ने जो शुभाशुभ कर्म किये हैं, वे मनुष्यों को हितकारक ज्ञान कराने के लिए समर्थ हैं। हे रामजी, आप तो सच्चिदानन्दरूप, सजातीय विजातीय स्वगत भेदरहित, निर्गुण और कर्मातीत हैं, अतः कर्तव्य अकर्तव्य से आप का कुछ संबन्ध नहीं। आप ने जो बडी अच्छी, अध्यात्मज्ञानपेटिका मुझ को दर्शाई है, मैं उस के विचार से निःसंशय जीवन्मुक्त हो गई हूँ।

देहे रामायणं सर्वं यत्त्वया मम दर्शितम्।
पञ्चदश श्लोकरत्नैः कण्ठे तद्ध हारवत् कृतम् ॥७०॥
श्लोकरत्नमयं यो वै कण्ठे हारं बिभर्ति हि।
जीवन्मुक्तः क्षणादेव भविष्यति नरोत्तमः ॥ ७१ ॥
देहरामायणं नाम राम यत्कथितं त्वया।
नेदृशं कथितं केन न कोप्यग्रे वदिष्यति ॥ ७२ ॥
मम प्रीत्योपदिष्टं हि त्वयैतद्रघुनन्दन।
इत्थं कोऽपि न जानाति ब्रह्मादीनामगोचरम् ॥ ७३ ॥
गुह्यं रम्यं सुदुर्बोधं स्वरूपं ज्ञानप्रकाशितम्।
देहरामायणं चैतच्छ्रवणात् पातकापहम् ॥ ७४ ॥

श्लोकरूपी रत्नों से रचित इस हार को जो कोई गले में धारण करेगा, वह श्रेष्ठ मनुष्य शीघ्र ही जीवन्मुक्त हो जायगा। हे राम, आप ने जो यह प्राणियों के देह के भीतर ही पूरी रामायण बतलाई, ऐसी व्याख्या अब तक न किसी ने की, न

कोई करेगा। ब्रह्मादिक भी देह (घट) के भीतर की इस रामायण को नहीं जानते. आप ने मेरे प्रेम के कारण ही इस का उपदेश दिया है। रहस्यभूत, मनोरञ्जक, सब की समझ में न आने योग्य, छोटी सी, यह देहरामायण ज्ञान की ज्योति से जगमगा रही है। सुननेवालों के पाप को यह तुरंत दूर करती है।

इति सीतावचः श्रुत्वा प्रहस्य राघवोऽब्रवीत् ।
विदेहतनये साध्वि धन्यासि गजगामिनि ॥ ७५ ॥
सम्यग्विचारिता बुद्धया त्वया संज्ञानपेटिका ।
किंचिन्न्यूनं त्वया नैव दृष्टमस्यां यथास्थितम् ॥ ७६ ॥
बुद्धया ज्ञानं मम ज्ञानं मोहजालनिकृन्तनम् ।
देहरामायणं नाम कथनीयं न कस्यचित् ॥ ७७ ॥

सीताजी के अध्यात्मपेटिकासंबन्धी वर्णन को सुनकर हँसते हुए रामचन्द्रजी बोले कि हे गजगामिनि, आखिर तो तुम राजर्षि विदेहजनक की साध्वी पुत्री हो, तुम्हारी ऐसी सूक्ष्म विचारवाली बुद्धि के लिए धन्यवाद है, तुम ने इस में पूरा ज्ञान देख लिया। इस प्रकार बुद्धि में मेरा यह ज्ञान स्थित हो जाय तो इस से मनुष्य को कभी भी शोक मोह नहीं व्याप सकता। यह अनधिकारी को नहीं सुनाना चाहिये।

एतद् गुह्यतमं प्रोक्तं तव प्रीत्या विदेहजे ।
दाम्भिकाय न दातव्यं नास्तिकाय शठाय च ॥ ७८ ॥
अभक्ताय द्विजद्वेष्ट्रे परदाररताय च ।
मलिनायातिक्रूराय निन्दकाय जडाय च ॥ ७९ ॥
कलौ चैतत्तु गुह्यं वै भविष्यति न संशयः ।
सहस्रेषु नरः कश्चिज्ज्ञास्यत्येतन्न संशयः ॥ ८० ॥
सर्ववेदान्तसारं हि मया ते समुदीरितम् ।
देहरामायणं चैतद् भुक्तिमुक्तिप्रदं वरम् ॥ ८१ ॥

हे विदेहपुत्रि, प्रेमवश यह रहस्य मैने तुम्हें सुनाया है। इसे पाखंडी, नास्तिक, धूर्त, विषयासक्त, द्विजद्वेषी, व्यभिचारी, क्रूर, क्षुद्रबुद्धि, अशुद्ध, निन्दक और मूर्ख को न देना (सुनाना) चाहिये। कलियुग (कलहपूर्ण और स्वार्थी घरों) में इस का प्रसार नहीं हो सकेगा, हजारों में कोई एकाध व्यक्ति इसे जानने में समर्थ होगा। यह देह (घट) रामायण जो मैने तुम से कही है, वह भुक्ति और मुक्ति को देनेवाली तथा सब वेदान्तों का सार है।

गीताधर्मकार्यालय का दिग्दर्शन

१—'गीताधर्म'—(मासिक पत्र) इस का विशेषाङ्क पक्की जिल्द और अनेक बहुरंगे चित्रों के साथ ६०० पृष्ठ का होता है। यह पत्र परमार्थसेवियों का सच्चा मित्र, धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, भक्ति, विशेषतः गीतासंबन्धी विषयों से सुशोभित हिंदी और गुजराती में पृथक् पृथक् प्रकाशित होता है। वार्षिक मू० ५—०—०, विदेश में ७—८—०

२—अध्यात्मरामायणाङ्क—प्रथम और दूसरा भाग। गीताधर्म के वार्षिक विशेषांकरूप में श्लोकों के सरल भावार्थ और वेदान्तिक व रामचरित्र के प्रसंगों पर सरल सुबोध 'रामचर्चा' नामक विशेष व्याख्यान समेत इस रामायण के दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं, यह तीसरा भाग पाठकों के हाथ में है, उन का आकार प्रकार ऐसा ही है। इस भाग के अध्यात्मभाववाले स्थलों के बोध के लिए पिछले भागों की 'रामचर्चा' को पढ़ना अत्यन्त उपयोगी है। प्रत्येक का मूल्य ५—०—०

३—गीतागौरवाङ्क—उक्त मासिक पत्र के विशेपाङ्क रूप से पाँच भागों में पूरी गीता को रोचक ढंग से सरल भाषा में समझानेवाला साहित्य; (हिंदी व गुजराती में अलग अलग) अब हिंदी के पाँचों भाग फिर तैयार हो गये हैं।

प्रथम भाग; पृ० ४५०, पक्की जिल्द, एकरंगे बहुरंगे सैकड़ों चित्र समेत मू० ३—८—०

दूसरे चार भाग पृ० ६०० , ,, ,, ,, ,, प्रत्येक का मू० ४—०—०

४—त्रैभाषिक गीता—हिंदी गुजराती व अंग्रेजी तीनों भाषाओं में मूल और अर्थ सहित, सुबोध, सजिल्द, सचित्र पुस्तकाकार, पृ० ३०० मू० २—८—० डाकखर्च नौ आना

५—गीता अलबम—प्रतिपृष्ठ सचित्र, आर्टपेपर पर छपी, सटीक, सुन्दर सजिल्द।
मूल्य २—०—० डाकखर्च नौ आना

६—विश्वधर्माङ्क—गीताधर्म के दूसरे वर्ष का विशेषांक, जिस में संसार के प्रचलित सभी धर्मों पर अनुभवी विद्वानों के निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। विविध धर्मों की विवेचना, परस्पर में समन्वय तथा विशेषताओं पर पूरा विचार किया गया है। धर्मतत्त्व जिज्ञासुओं को यह अवश्य संग्राह्य है। मूल्य १—८—०

७—मासिक विशेषांक—गीताधर्म के आरम्भिक वर्षों में कुछ मासिक विशेषांक भी प्रकाशित हुए थे। उन के कुछ अंक, 'गंगांक' 'शंकरांक' 'गीतांक' आदि थोड़े से बचे हैं। एवं आरम्भिक कुछ वर्षों के पुराने साधारण अंक भी मिल सकते हैं।

विशेष विवरण के लिए पूछिए—

व्यवस्थापक—गीताधर्म कार्यालय, काशी।